श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला
सम्पादक और नियामक
डॉ० दरबारीलाल कोठिया

●

प्रकाशक
मन्त्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला
१।१२ , डुमरॉवबाग, अस्सी
वाराणसी–५

●

प्रथम संस्करण ११०० प्रति,
वि० सं० २०२६, ई० १९६९
द्वितीय संस्करण ११०० प्रति
फाल्गुनी अष्टान्हिका पूर्णिमा, वि० सं० २०३१,
वी० नि० सं० २५०१

●

मूल्य .... 30-पैसे

भगवान महावीरकी निर्वाण रजतशती
तथा वर्णी शताब्दि के मङ्गलप्रसङ्गपर

●

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहर नगर कॉलोनी
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी–१

कर अनन्त संसार का पात्र बनता है— यह एकत्व सुन्दर नहीं

गाथा 3 एयत्तनिश्चयगओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए
बंध कहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई

अर्थ जो समय (पदार्थ) एकत्व में निश्चित हो रहा है वही पदार्थ लोक में सर्व लोक में सुन्दर है इसी हेतु से एकपने में जो बन्ध की कथा है वह विसंवाद करनेवाली है अर्थात् निन्द्य है— प्राय: लोक में भी देखा जाता है जब तक यह मनुष्य अपने जीवन में रहकर गुरुकुल में विद्याध्ययन करता है सर्व आपत्तियों से विनिर्मुक्त होकर ब्रह्मचारी होकर सानन्द जीवन रूप से अपने समय को शान्ति से सानन्द बिताता है। और जब स्नातक होकर घर में प्रवेश करता है तथा मातापिता के आग्रह से विवाह बन्धन को स्वीकार करता है तब द्विपद से चतुष्पद होता है दैवयोग से बालक हो गया तब षट्पद (भौरा) हो जाता है बालक का जब विवाह संस्कार हो गया तब अष्टपद (मकड़ी) हो जाता है और अपने ही जाल में आप ही मरण को प्राप्त हो जाता है, इस से यह तत्त्व निकला जो पर का सम्बन्ध ही इस संसार में आपत्तियों की खान है—

इस गाथा में जो समय शब्द आया है उसका अर्थ यहां पर आत्मा नहीं है किन्तु सामान्य पदार्थ है अतएव उसकी व्युत्पत्ति यहां पर श्री अमृतचन्द्र महाराज ने इस रूप से की है समयते एकत्वेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः— अर्थात् जो एकपने कर स्वकीय गुणपर्यायों को प्राप्त होता है उसे समय कहते हैं अतः समय शब्द से धर्म अधर्म आकाश काल पुद्गल जीव ये छह लिये जाते हैं इन्हीं छह द्रव्यों का समुदाय ही लोक है इस लोक में जो भी द्रव्य हैं वह अपने अनन्त धर्मों को चुम्बते रहते हैं अर्थात् अपने अनन्त धर्मों से तन्मय हैं एक द्रव्य कदापि काल में परद्रव्य के धर्मों को चुम्बन नहीं करते— यद्यपि द्रव्य अत्यन्त प्रत्यासत्ति होने पर भी स्वस्वरूप से पतित नहीं होते अर्थात् पररूप से परिणमन नहीं करते इसी से उनके अनन्त व्यतिकर को कभी भी प्राप्त नहीं होते तथापि विरुद्ध और अविरुद्ध कार्यों में उपकार होकर भी विश्व का उपकार कर रहे हैं किन्तु निश्चय से एकत्व रूप करके ही सुन्दरता को पाते हैं यदि इन

समयसारकी महिमा

श्री कुन्दकुन्द आचार्यको वारम्बार नमस्कार हो। उन्हीका यह वास्तविक महोपकार है जो आज इस भारतभूमिमें अध्यात्मका विस्तारसे प्रचार हो रहा है। जिन्होने उनके द्वारा निर्मित समयसारादि शास्त्रोका अवलोकन किया, उन्होने वास्तविक आत्मस्वरूपका अनुभव किया।

जिनकी बुद्धि सूक्ष्म है—वे तो समयसारकी प्रथम गाथामे ही सर्ववस्तुस्वरूप जाननेके सुपात्र हो जाते है। प्रथम गाथामें सर्व सिद्ध-भगवान्‌को नमस्कार किया। इससे यह तत्त्व दृष्टिमें आता है कि प्रत्येक आत्मामें सिद्धपर्याय शक्तिरूपसे विद्यमान है। तथा नमस्कार करनेसे यह तत्त्व समझमें आता है कि आत्मा सर्वथा शुद्ध नही। आत्मानामक वस्तु एक है। उसकी २ अवस्थाएँ है—१ सिद्धपर्यायरूप और २ असिद्ध पर्यायरूप।

परमार्थदृष्टिसे आत्मा अनुपम और अखण्ड है। परन्तु जब पर्यायदृष्टिसे विचार किया जाता है तब अनेक प्रकारसे उस आत्माका निरूपण होता है।

यही 'ससारिणो मुक्ताश्च' [त० सू० २-१०] सूत्रमें जीवकी दो अवस्थाओ द्वारा सब अवस्थाओका वर्णन किया है। वह कथन पर्यायदृष्टिसे आत्मतत्त्वका है। केवल द्रव्यदृष्टिसे किया हुआ अनुभव यथार्थ नही है।

दूसरी गाथामें इसका विस्तारसे वर्णन है। वह इस प्रकार है—

जीवो चरित्त-दसण-णाणट्ठिओ हि ससमय जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठिय च त जाण परसमय ॥ २ ॥

इस गाथामें यह दिखाया गया है कि जो जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें स्थित है उसे स्वसमय कहते हैं और जो पुद्‌गलकर्मप्रदेशोमें स्थित है उसे परसमय कहते हैं। ये दोनो पर्याय है—जिनमें वही जीव है। यद्यपि ये दोनो पर्यायें जीवकी हैं, परन्तु इनमें एक पर्याय आत्माको आकुलताकी जननी होनेसे त्याज्य है और दूसरी पर्याय उपादेय है। उसीकी प्राप्तिका उपाय रत्नत्रयरूप पुरुषार्थ है।

समयसारग्रन्थ अपूर्व आत्मप्राप्तिका साधन है। सर्वसे प्रथम समय (आत्म)—सार प्राप्तिके लिये आत्म-तत्त्वको जाननेकी आवश्यकता है। उसका मूल उपाय 'अह प्रत्यय' है।

अहम्प्रत्ययवेद्यता ही आत्मतत्त्वकी ज्ञापक (साधक) है। 'अह सुखी', 'अहं दु खी'—मैं सुखी हूँ, मैं दु खी हूँ—ऐसा बोध जिसमें होता है, वही तो 'अह' पद वाच्य आत्मा है।

यह प्रत्यय मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी दोनोके होता है। भेद इतना है—जो सम्यग्ज्ञानी जीव केवल आत्माकी श्रद्धा करता है, और मिथ्यात्वी द्रव्यान्तरके मिलाप सहित आत्माका अनुभव करता है।

समयसारपर लिखना अथवा प्रवचन करना सामान्य नही। मैंने जो कुछ लिखा, प्रवचन किया सो दुर्बल अवस्थामें। समय यदि अच्छा आया, कुछ करूँगा, परन्तु आना कठिन है।

गणेश वर्णी

प्रकाशकीय

(प्रथम संस्करण)

गत अक्तूबर १९६८ में श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमालामे 'आदिपुराणमें प्रतिपादित भारत' नामका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। विद्वत्संसार और सामान्य पाठक-जगत्में इस ग्रन्थका जो समादर एव स्वागत हुआ वह उल्लेखनीय तथा प्रसन्नतावर्धक है। मार्च १९६९ में 'सत्यकी ओर' कृतिका ग्रन्थमालाने प्रकाशन किया। यह एक छोटी-सी रचना है, पर समाजमें इसकी इतनी माँग हुई कि एक वर्ष भी पूरा नहीं हुआ कि यह संस्करण समाप्तप्राय है।

हमें अत्यधिक प्रसन्नता है कि जिन प्रशममूर्ति आध्यात्मिक सन्तके प्रति कृतज्ञता ख्यापन एव स्मृतिमें ग्रन्थमाला संस्थापित हुई उन्ही ज्ञानप्रसारक परोपकारी महामना श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णी (अन्तिमावस्थामें मुनिराज गणेशकीर्ति) का 'समयसार-प्रवचन' आज प्रकट हो रहा है।

इस प्रकार ग्रन्थमाला एक वर्षके भीतर अपने पाठको एव संरक्षक-सदस्योंको तीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ देनेमें समर्थ हो सकी है। हम नही जानते कि इतने जल्दी इन ग्रन्थ रत्नोके प्रस्तुत करनेमें कौन-सी दैवी शक्ति काम कर रही है। हमें तो लगता है कि पूज्य वर्णीजीका परोक्ष प्रभावपूर्ण पुण्य कार्य कर रहा है, जिसके कारण समाजके उदार सज्जन संकेत या प्रेरणा पाते ही अपना आर्थिक सहकार सदा देनेको तैयार रहते है। हमारा अनुभव दृढ होता जाता है कि समाज उचित दिशामें आर्थिक सहायता दिल खोलकर देती है।

समयसार-प्रवचनके प्रकाशनके साथ एक कहानी है। वर्णीजी इसे प्रकाशित नही करना चाहते थे। उनके निकट सूत्र जब उसके प्रकाशनके लिए उनपर जोर देते थे, तो वे इतना ही कहकर उन्हें टाल देते थे कि भैया! कुन्दकुन्द महाराज और अमृतचन्द्रस्वामीकी सूर्य-चन्द्र प्रकाशको तरह प्रकाशक कृतियोंके सामने मेरा जुगुनूसे भी कम प्रकाशक प्रवचन क्या लाभदायी होगा?—उससे कोई लाभ नहीं होगा। जब उनसे पुन कुछ काल बीतनेपर कहा जाता, तब भी वे वही उपर्युक्त उत्तर देते थे। इससे कुछ लोगोंकी यह धारणा हो गयी थी कि वर्णीजी जब उसका प्रकाशन नही चाहते और उसे न्यून बतलाते हैं तो उसे प्रकाशमें नही लाना चाहिए। किन्तु एक दूसरा पक्ष था, जो उसे प्रकाशमें लानेके लिए उत्सुक था। इस पक्षका कहना था कि जब सावनकी अन्धेरीमें चन्द्रका प्रकाश नही होता तब पथिक जुगुनूके अल्प प्रकाशके सहारे अपना मार्ग तय कर लेते है। आपका प्रवचन भले ही विद्वानोंके लिए उपयोगी न हो, किन्तु सैकडों ऐसे व्यक्ति हैं जो कुन्दकुन्द महाराज और अमृतचन्द्रस्वामीकी कृतियोका रसास्वाद लेना चाहते हैं, पर अपनी बुद्धिमन्दताके कारण वे उनका रसास्वाद नही ले पाते—वे उससे वञ्चित रहते हैं। आपकी कृतिके सहारे वे उसका भी रसास्वाद ले सकेंगे। वर्णीजी इन्हें भी टाल देते थे। अन्ततो गत्वा उनके समक्ष समयसार-प्रवचनका प्रकाशन न हो सका।

डॉ० नरेन्द्रकुमारजी एम० ए०, साहित्याचार्य पूज्य वर्णीजीके उपदेशों और पत्रोका सम्पादन कर चुके थे और उनका प्रकाशन 'वर्णी-वाणी' के नामसे अनेक भागोमें वर्णी-ग्रन्थमाला कर चुकी थी। उनकी तीव्र भावना थी कि वर्णीजीका समयसार-प्रवचन अवश्य प्रकाशित होना चाहिए। इसके लिए उन्होंने ला० फिरोजीलालजी दिल्लीको प्रेरित किया और उनके आर्थिक द्रव्यसे मूल ग्रन्थको फोटो-कापी लिवायी। ला०

प्रकाशकीय

फिरोजीलालजीने पुत्र-गोदकी रस्मपर १० मई १९६७ को हमें दिल्ली बुलाया। डॉ० नरेन्द्रकुमारजी भी पहुँच गये थे। तय हुआ कि समयसार-प्रवचनका प्रकाशन वर्णी-ग्रन्थमालाके तत्त्वावधानमें लालाजी अपने 'वर्णी अहिंसा प्रतिष्ठान' से करें और मूल प्रति पार्श्वनाथ दि० जैन उदासीनाश्रम ईसरीसे हम मगा लें।

परन्तु कुछ महीनो बाद दुर्भाग्यवश उक्त व्यवस्था टूट गयी और हम निराश होकर चुप हो गये। दो वर्ष बाद लोगोकी प्रेरणासे, जिसमें सम्पादकजीकी प्रेरणा विशेष थी, वर्णी-ग्रन्थमालासे उसे प्रकाशित करनेका निश्चय किया गया। जैसा कि सम्पादकीयमें सम्पादकजीने उल्लेख किया है कि सम्पादित पाण्डु-लिपिका मूल ग्रन्थसे मिलान और सशोधनका कार्य श्रीमान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनीने किया है। निस्सन्देह उनका यह योगदान स्तुत्य है।

अनेक ग्रन्थोके सुयोग्य सशोधक, टीकाकार और सम्पागक श्रीमान् पण्डित पन्नालालजी वसन्त, साहित्याचार्यने पूज्य वर्णीजीकी 'मेरी जीवनगाथा' के दोनो भागोकी तरह इसका भी तत्परता, परिश्रम और सच्चे साहित्यकारकी भाँति सम्पादन किया है। यद्यपि उनकी यह सम्पादित पाण्डुलिपि कुछ महीनोमें ही तैयार हो गयीं थी, किन्तु ग्रन्थमालाके सामने तत्काल आर्थिक कठिनाई होने और नयी व्यवस्था-के जमानेमें श्रम और समय अपेक्षित होनेसे कुछ विलम्ब हो गया। साहित्याचार्यजी, लिए हुए किसी भी दायित्वमें प्रमाद करना नही जानते। विद्वानोकी नयी पीढीमें दो ही साहित्यिक विद्वान् नजर आते हैं जो तत्परता और शीघ्रतासे साहित्यिक कार्योको गति देते और उन्हें मूर्त रूप प्रदान करते हैं। वे हैं साहित्याचार्य-जी और डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री आरा। हमें इन विद्वानोपर गर्व है और खुशीकी बात यह है कि ग्रन्थ-मालाको इन दोनो विद्वानोका सहकार प्राप्त है। डॉ० नेमिचन्द्रजी तो सहयोगी मन्त्री भी है।

प्रस्तावनामें सम्पादकजीने कुन्दकुन्दस्वामी, उनके समयसार एव अन्य ग्रन्थो, टीकाकारो टीकाग्रन्थो और ग्रन्थ-विषयका विस्तारसे परिचयात्मक ऊहापोह किया है। अत इस सम्बन्धमें और विशेष कहनेकी आवश्यकता नही है। हाँ, एक अन्वेषकदृष्टिसे कुन्दकुन्दके विदेह-गमनके प्रकाशक प्रमाणोकी खोज निरन्तर जारी रहना चाहिए। साथ ही देवसेनके दर्शनसारगत उल्लेखपर, जिसमें कुन्दकुन्दके विदेहगमनका स्पष्ट निर्देश है, सन्देह नही किया जाना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्दका 'सुय-केवली-भणिय' (१-१) विशेषण विशेष ध्यातव्य है। अमृतचन्द्रसूरिने इसका अर्थ 'श्रुतप्रकाशित और केवलीभणित' किया है, जिसका तात्पर्य है कि कुन्दकुन्द ऐसे 'समय-पाहुड' की रचना कर रहे है जो श्रुत (श्रुतकेवली अथवा आगम) और केवली प्रतिपादित है। इससे जहाँ उसमें स्वरुचिविरचितत्त्वका परिहार किया गया है, वहाँ श्रुतकेवली प्रकाशित और केवली कथित तत्त्व होनेसे प्रामाणिकता भी प्रकट की गयी है। अतएव समीक्षको एव ऐति-हासिकोके लिए कुन्दकुन्दका यह विशेषण और अमृतचन्द्रसूरि कृत उसका व्याख्यान उपेक्षणीय नही है। प्रमाणोके सामने आनेपर कुन्दकुन्दके विदेहगमन पर और अधिक प्रकाश पड सकता है।

ऊपर कहा गया है कि वर्णी-ग्रन्थमाला समाजके आर्थिक सहकारपर निभर है। अतएव इसके प्रका-शनकी एक योजना बनायी गयी कि यदि कुछ महानुभाव प्रस्तुत ग्रन्थकी १००, ५०, २५, १० आदि प्रतियाँ खरीद लें या उतनी प्रकाशन-सहायता दे दें तो यह ग्रन्थ सरलतासे प्रकाशमें आ जायेगा। तदनुसार हमने कुछ पत्र लिखे और कुछ स्थानोपर गये। हमें प्रसन्नता है कि लगभग ३००-४०० प्रतियोके पेशगी ग्राहक या सहायक हो गये। आज इन्ही उदार सज्जनोके सहयोगसे केवल साढे तीन माहमें ग्रन्थ छपकर तैयार हो गया। हम इन सभी आर्थिक सहयोगियोंके आभारी हैं।

यदि ला फिरोजीलालजी, जो पूज्य वर्णीजीके परमभक्तोंमेंसे है और बडे उदार प्रकृतिके हैं तथा डॉ०

नरेन्द्रकुमारजी, जिन्होने इस ग्रन्थके प्रकाशनमें सर्वप्रथम पहल की और जिनकी भावना इसे शीघ्र प्रकाशमें लानेकी रही, मूल ग्रन्थकी फोटो-कापी न कराते एव प्रकाशनके लिए आगे न आते, तो शायद यह अभी प्रकाशमें न आ पाता। अत हम इन दोनों ही महानुभावोको हृदयसे धन्यवाद दिये विना नही रह सकते।

आदरणीय प० जगन्मोहनलालजी शास्त्री, उपाध्यक्ष वर्णी-ग्रन्थमालाने हमारे अनुरोधपर पाडुलिपिका वाचन किया और अपने मूल्यवान् परामर्श दिये। और प्राक्कथन लिख देनेकी कृपा की, अत हम उनके भी आभारी है। बन्धुवर प० पन्नालालजी साहित्याचार्यने पूज्य वर्णीजीका एक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सम्पादितकर ग्रन्थमालाको दिया और शतश पाठकोको लाभान्वित किया, एतदर्थ उन्हें हार्दिक धन्यवाद है।

ग्रन्थके सुन्दर और शीघ्र मुद्रणके लिए प्रिय बाबूलालजी फागुल्ल सचालक महावीर प्रेस और उनका परिकर भी धन्यवादार्ह है।

(डॉ) दरबारी लाल कोठिया
मंत्री

भाद्रशुक्ल ५
वी० नि० २४९५
१५-९-६९

द्वितीय संस्करण

हमें हर्ष है कि पूज्य वर्णीजी (मुनि गणेश कीर्ति) महाराजके इस समयसार-प्रवचनको पाठकोने अत्यधिक पसन्द किया। वीर-निर्वाण सवत् २४९५ में इसका प्रथम सस्करण निकला था और वह एक वर्ष पूर्व ही समाप्त हो गया था। पाठकोकी निरन्तर माँग आ रही थी।

अत आज द्वितीय सस्करणको प्रकाशित करते हुए हमें उतनी ही प्रसन्नता है जितनी प्रथम सस्करणके प्रकाशनके समय थी। आशा है अब पाठकोकी माँगको हम पूरा करनेमें सक्षम हो सकेंगे।

इस समय ग्रन्थमाला आर्थिक सकटमें चल रही है। वर्णी-वाणी, जैनदर्शन, सत्यकी ओर, अध्यात्म-पत्रावली और समयसार-प्रवचनके पूर्व सस्करण समाप्त हो जानेसे उनका पुन प्रकाशन कराया गया है और जिनमें लगभग तीस हजार रुपया लग चुका है। हमें तत्काल दस हजार रुपयोंकी और जरूरत है, जिससे प्रेस आदिका बकाया रुपया चुकाया जा सके। अनुरोध है कि समाजके साहित्यानुरागी ग्रन्थमालके सरक्षक-सदस्य एव ग्राहक बनकर हमें सहायता करें तथा उदारदानी ग्रन्थमालाको दान देकर सहयोग करें।

सबके आभार सहित

(डॉ०) दरबारी लाल कोठिया
मंत्री

चमेली कुटीर, डुमराँव बाग
अस्सी, वाराणसी—५
२७ मार्च, १९७५

प्राक्कथन

प्रस्तुत 'समयपाहुड' (समयसार) श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत अनुपम अध्यात्मग्रन्थ है। इसकी एक आत्मख्याति नामकी संस्कृत-टीका आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा तथा दूसरी तात्पर्यवृत्ति नामकी संस्कृत-टीका, उनके बाद जयसेनाचार्य द्वारा रची गयी है। इसका सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद पण्डितप्रवर जयचन्द्रजीने किया है। यह अनुवाद अमृतचन्द्राचार्यकृत टीकापर आधृत है। इसका नाम 'आत्मख्याति-समयसार' है।

समयसारके अध्येता उसकी रचनाकालके बादसे ही प्रायः अनेक आचार्य होते आये हैं। अनेक मनीषियोने कुन्दकुन्दाचार्यको अपने ग्रन्थोमें बहुमान देकर स्मरण किया है। भगवान महावीर तथा गौतम गणधरके बाद यदि किसी आचार्यका उल्लेख मंगलाचरणमें मंगलप्रदाताके रूपमें किया गया है तो वह भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यका ही है।[1]

यद्यपि धर्मोपदेष्टा अन्य अनेक आचार्य भी हुए हैं तथापि श्रीकुन्दकुन्दका नाम उनके उत्तरवर्ती सभी आचार्योंकी जिह्वापर नृत्य करता आया है।

आचार्य अमृतचन्द्र और जयसेनके उत्तरवर्तियोमें इस ग्रन्थके अध्ययन करनेवालोमें हिन्दीके कविवर बनारसीदासका नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होने अपने "अर्धकथानक" में इसके अध्ययनकी चर्चा की है। इसके अतिरिक्त कविवरने "नाटक समयसार" नामसे छन्दोबद्ध रचना करके तो समयसारको हिन्दी जगतमें आदृत बनाया है। हिन्दीके जैन कवियोमें कविवर दौलतराम, द्यानतराय, भागचन्द्र आदिकी रचनाओमें जो अध्यात्मके दर्शन होते हैं वह सब कुन्दकुन्दके समयसारका ही प्रभाव है। प्रतीत होता है कि ये विद्वान् उक्त महान ग्रथके गहरे स्वाध्यायी थे।

पूज्य श्री १०५ वर्णी गणेशप्रसादजी महाराजने अपने जीवनके करीब ५० वर्ष इस महान् ग्रथके पारायणमें व्यतीत किये हैं। अपने अध्ययनकालसे लेकर मेरा सम्पर्क पूज्य वर्णीजीसे था। यद्यपि हमारे न्यायशास्त्रके विद्यागुरु स्व०श्रीमान् आदरणीय प०अम्बादासजी शास्त्री थे, जो पूज्य वर्णीजीके भी विद्यागुरु थे, तथापि हम अपने सहाध्यायियोंके साथ वर्णीजीके पास भी उक्त विषय पढते थे, इस नाते तथा सप्तम प्रतिमाधारी विद्वान ब्रह्मचारी होनेके नाते भी हम सब उन्हें अपना गुरु ही मानते थे। वर्णीजीका मुझपर अत्यधिक स्नेह इस कारण भी था कि उन्होने सप्तम प्रतिमाकी दीक्षा मेरे पूज्य पिता ब्रह्मचारी गोकुलप्रसादजीके पास ली थी। ऐसे महान् सन्तका स्नेहभाजन होना मेरा परम सौभाग्य था।

पूज्य वर्णीजीके मुखारविन्दसे मुझे समयसारके प्रवचन सुननेका अवसर प्राय सदा मिलता था। मैं उन्हें प्राय समयसारका ही स्वाध्याय करते पाता था। ग्रथराज उनके लिए 'सुधानिधि' थे। वे कभी-कभी स्वप्नमें भी समयसारका स्वाध्याय किया करते थे और उनके समीप रहनेवाले उनके मुखसे सोते समय पक्तियोका पाठ सुनते थे।

---

१ मगल भगवान् वीरो मगल गौतमो गणी।
मगलम् कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मगलम् ॥

इसी युगमें ब्र० शीतलप्रसादजी तथा कारंजाके भट्टारक श्रीवीरसेनस्वामी भी समयसारके अध्येता हुए हैं। पर इस अमृतका स्वाद वे शायद अपने तक ही सीमित रख सके। ब्र० शीतलप्रसादजीने इस विषयपर कुछ पुस्तकें भी लिखी हैं।

श्री कानजीस्वामी तो समयसारसे इतने प्रभावित हैं कि वे अहर्निश प्राय इसीका स्वाध्याय एव प्रवचन करते हैं। उन्होंने समयसारके अध्ययनके आधारपर स्वयको तथा अपने हजारों शिष्योंको अध्यात्मकी ओर मोड दिया है।

पूज्य वर्णीजी अध्यात्मरसके रसिक थे। दूसरोको भी उसका रसास्वाद करानेमें उनकी माधुरी वाणी समर्थ थी। जब पूज्यश्रीका प्रवचन होता था, तो ऐसा लगता था कि इनकी वाणी कैसे पकडकर रख ली जाय, जो कालान्तरमें भी हमारे हृदयमें सुधा-सिंचन करती रहे। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए अनेक बार वर्णीजीसे प्रार्थना की कि वे समयसारपर कुछ लिखें।

वर्णीजीने अनेक श्रोताओंके आग्रहवश चुपचाप लिखना भी प्रारम्भ कर दिया था। उनके स्वर्ग प्रयाणके बाद शोध हुई तो उनके लिखे समयसार-प्रवचनकी पाण्डुलिपि पायी गयी। वर्णीजीकी भाषा बुन्देलखण्डी मिश्रित थी, अत उनका समयसार-प्रवचन भी स्वाभावत वैसी ही भाषामें लिखा गया। सर्वसाधारणकी, जो खडी हिन्दीसे परिचित हैं, कठिनाई भी हल हो सके, इस अभिप्रायसे यह आवश्यक समझा कि इसे खडी भाषामें अवतरित किया जाय। यह कार्य श्री प० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागरने करना स्वीकर किया और उसे बहुत सुन्दर स्वरूप दिया, जो वर्णी-ग्रथमाला द्वारा प्रकट होकर आज आपके सामने आ रहा है।

१० सितम्बर १९६९,
कटनी

जगन्मोहनलाल शास्त्री

सम्पादकीय

श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज, जिन्होने ईसरीमे अन्तिम समय दिगम्बर मुनि-दीक्षा धारण कर श्री १०८ गणेशकीर्ति महाराज नामसे भाद्रपद कृष्ण ११ वि० स २०१८ को स्वर्गारोहण किया था, समयसारके माने हुए विद्वान् और कुशल प्रवक्ता थे। वे न्यायके आचार्य थे और सस्कृतभाषापर पूर्ण अधिकार रखते थे। कुन्दकुन्दस्वामीके द्वारा विरचित समयसार आत्म-तत्त्वका वर्णन करनेवाला सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। श्रीअमृतचन्द्रसूरि और जयसेनाचार्यने उसपर सस्कृत-टीकाएँ लिखकर उसके गम्भीर भावको सरलतासे समझाकर जनसाधारणका बहुत उपकार किया है। यह समयसार वर्णीजी महाराजको अत्यन्त प्रिय था। जीवनके अन्तिम वर्षोमे तो वे 'सर्वं त्यज, एकं भज' के सिद्धान्तानुसार अन्य ग्रन्थोंसे अपना उपयोग हटाकर एक समयसार पर ही अपना उपयोग केन्द्रित करने लगे थे। उन्हे अमृतचन्द्रसूरि द्वारा विरचित आत्मख्याति सहित समयसार कण्ठस्थ था। उनके मुखारबिन्दसे समयसारका प्रवचन सुनते समय श्रोताको जो आनन्द प्राप्त होता था उसका वर्णन वही कर सकता है जिसने कि उस प्रवचनको मनोयोगपूर्वक साक्षात् सुना है। समयसारका सस्कार उनके हृदयमे इतना अधिक आरूढ हो गया था कि वे स्वप्नमे भी इसका प्रवचन करते थे। ईसरीमे उनके समीप रहनेवाले लोगोके मुखसे सुना है कि पूज्य वर्णीजी स्वप्नमे भी अमृतचन्द्रसूरिकी आत्मख्यातिके साथ समयसारकी कितनी ही गाथाएँ अविकल बोलते रहते थे। उनकी यह क्रिया स्वप्नमे जब कभी २०-२५ मिनिट तक अविरल चलती रहती थी।

इस समय समयसारके स्वाध्यायमे पर्याप्त वृद्धि हो रही है। जो 'समयसार' शब्दका अर्थ नही समझते है, निश्चय और व्यवहार नयका स्वरूप नही जानते है वे भी हाथमे समयसार लिये देखे जाते हैं। कहना चाहिये कि यह समयसारका युग है। कुन्दकुन्द महाराजके हृदय-हिमालयसे जो अध्यात्मकी मन्दाकिनी प्रवाहित हुई, उसकी सरस-शीतल धारामे अवगाहनकर ससार-भ्रमणसे सतप्त मानव परमशान्तिका अनुभव करे, यह बडी प्रसन्नताकी बात है। समयसारने अनगिनत जीवोका कल्याण किया है। उसका स्वाध्याय कर अन्य अनेक धर्मी लोग शाश्वत कल्याणकारी दिगम्बर धर्ममे दीक्षित हुए है। कविवर बनारसीदासजी, शतावधानी रायचन्द्रजी और सोनगढके श्रीकानजी स्वामी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

सपर्कमे रहनेवाले लोगोने पूज्य वर्णीजी महाराजसे जब इस बातका आग्रह किया कि महाराज! आप समयसारके अधिकारी विद्वान् है, अधिकारी इसलिये कि आप न केवल हिन्दी टीकाओके आधारसे इसके ज्ञाता हुए है किन्तु प्राकृत और सस्कृत भाषामे विरचित मूलग्रन्थ तथा उसकी सस्कृत-टीकाओंके एक-एक पदका विश्लेषणकर उसके ज्ञाता हुए हैं, साथ ही आपकी प्रवचन-शैली भी आकर्षक एव उच्चकोटिकी है, जिससे साधारण-से-साधारण श्रोता भी गहन तत्त्वको सरलतासे हृदयगम कर लेता है। अत. आपके द्वारा इसकी टीका लिखी जावे—इसपर प्रवचन किये जावें, जिससे भविष्यमे भी जनता लाभान्वित होती रहे। तब लोगोकी प्रार्थना सुनकर

वे सहजभावसे यह कहकर टाल देते थे कि 'भैया मिश्रीके चखनेमे ही आनन्द है उसके गुणवर्णन-मे नहीं।' फिर भी इस ओर उन्होने ध्यान दिया और अपनी दिव्य लेखनीसे समयसारकी टीका लिखकर अपनी स्वाध्याय-मञ्जूषामे रख ली।

जब जबलपुरमे महाराजश्रीका चातुर्मास हो रहा था, तब हमारे एक मित्रने पत्र लिखा कि पूज्य वर्णीजी महाराजने अपनी आत्मकथा और समयसारकी टीका लिखकर पूर्ण कर ली है, इसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करो। प्रयत्न करनेपर भी ये अमूल्य रत्न उन्होने प्रदान नही किये। प्रत्येक कार्य समय आनेपर ही सिद्ध होता है। जबलपुरसे सागरकी ओर विहार करते हुए आप मलहरा आ गये थे। उसी वर्ष सागरमे भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्की ओरसे द्वितीय शिक्षण शिविरका आयोजन हो रहा था। इसका निमन्त्रण देनेके लिए मैं स्वय मलहरा गया था। मध्याह्न-की सामायिकके बाद उन्होने आत्मकथाका वह प्रकरण उपस्थित जनताके समक्ष स्वय सुनाया, जिसमे उन्होंने अपनी धर्ममाता पूज्या चिरोजाबाईजीके जीवनपर प्रकाश डाला था। उसे सुनकर सबका हृदय गद्गद हो गया। मैं आत्मकथाकी उन कापियोको प्राप्त करनेके लिए प्रयास करता रहा। फलत वे उन्होने मुझे दे दी। शिक्षण-शिविरके कार्यक्रमसे निवृत्त होते ही मैं उनकी पाण्डु-लिपिमे सलग्न हो गया और ३-४ माहके भीतर उसका एक व्यवस्थित रूप सामने आ गया। 'मेरी जीवन-गाथा' के नामसे 'वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी' के द्वारा उसका प्रकाशन हो गया। इस तरह एक रत्न तो सामने आ गया था। परन्तु दूसरा रत्न 'समयसारकी टीका' को उन्होने प्रकाशमे नही आने दिया।

समाधिमरणके बाद जब उनकी स्वाध्याय-सामग्री देखी गई तब उसमे यह टीका प्राप्त हुई। इसके प्रकाशनके लिये श्रीनरेन्द्रकुमारजी एम० ए०, साहित्याचार्यने, जो अब पी-एच० डी० भी हैं, बडा प्रयत्न किया। ला० फिरोजीलालजी दिल्लीको प्रेरित करके उनके आर्थिक सहकारसे इसके समस्त पृष्ठोको टाईप कराकर उन्होने ४-६ प्रतियाँ तैयार कराईं और विद्वानोके पास भेजी। फिर भी उसके प्रकाशनका सुयोग नही बना। पिछले वर्षोंमे ईसरीमे होनेवाली मन्दिरप्रतिष्ठाके अवसरपर श्री प० कैलाशचन्द्रजी, प० जगन्मोहनलालजी तथा खुशालचन्द्रजीके साथ मैं भी वहाँ गया था। प्रसन्नताकी बात है कि वर्णी ग्रन्थमालाके मत्री डॉ० दरबारीलालजी कोठियाने प० कैलाशचन्द्रजी द्वारा मूलकापी ग्रन्थमालासे प्रकाशित करनेके विचारसे वाराणसी मगवा ली और वह उनकी तथा प० जगन्मोहनलालजीको सलाहसे संपादनार्थ मुझे भेज दी।

वर्णीजी द्वारा लिखित समयसारको देखनेकी उत्सुकता बहुत पहलेसे हृदयमे विद्यमान थी, अत इसका अध्ययन शुरू कर दिया। देखनेपर ऐसा लगा कि यह टीका एक प्रवचनके रूपमे है, जिसमे उन्होंने अधिकाश अमृतचन्द्रसूरिकी आत्मख्यातिटीका, कही-कही जयसेनाचार्यकृत तात्पर्य-वृत्ति और अनेक शास्त्रोंके अध्ययनसे प्राप्त अपने जिनागम-सम्बन्धी अनुभवका आश्रय लिया है। समयसारके गूढ भावको उन्होने बडी सरलतासे अनेक दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है। साथ ही अमृत-चन्द्रसूरि द्वारा निर्मित कलश-काव्योका भी कही अर्थरूपमे और कही भावार्थरूपमे व्याख्यान किया है। यह प्रवचन उन्होने नातिविस्तर और नातिसक्षेपकी पद्धतिसे लिखा है। इस प्रवचनके आधारपर श्रोता श्रीकुन्दकुन्दस्वामी और अमृतचन्द्रसूरि द्वारा प्रतिपादित तत्त्वको सरलतासे ग्रहण कर सकता है। कितने ही प्रवचन मूल लक्ष्यसे भटककर प्रवाहमे अन्यत्र वह जाते हैं परन्तु पूज्य वर्णीजीका यह प्रवचन मूलानुगामी है।

बादमे इसे सपादित करनेका कार्य शुरू किया। सपादन करते समय समयसारकी दोनो सस्कृत-टीकाओ तथा प० जयचन्द्रजी कृत हिन्दी टीकाको सामने रखा गया तथा पूज्य वर्णीजीने जो लिखा है उसका उनसे मिलान किया गया। उन्होने अपने इस प्रवचनमे अमृतचन्द्रसूरिके कलशोपर व्याख्यान तो किया था—कही अर्थके रूपमे और कही भावार्थके रूपमे, परन्तु मूल श्लोकोको उद्धृत नही किया था। आज समयसारके अध्येताओमे कलशोके स्वाध्यायका भी प्रचार बढ रहा है। इसके ऊपर स्वतन्त्र टीकाएँ भी प्रकाशित हुई है पर बीच-बीचमे समयसारकी गाथाओका सदर्भ टूट जानेसे वे अपूर्ण-सी दिखती है। अत मैने कलशोके मूल श्लोक भी तत् तत् प्रकरणोमे उद्धृत कर दिये तथा जहाँ जैसा आवश्यक दिखा उसके अर्थ और भावार्थको स्पष्ट कर दिया। वर्णीजीके द्वारा लिखित प्रतिमे अन्तके स्याद्वादाधिकारके प्रवचनके पृष्ठ नही मिले। ये पृष्ठ कही गुम गये या लिखे ही नही गये, इसका निर्णय नही हो सका। ग्रन्थ अपूर्ण न रहे, इस भावनासे मैने श्रीजयचन्द्रजीकी हिन्दी-टीकाके आधारपर स्याद्वादाधिकारका हिन्दी-व्याख्यान स्वय लिखकर जोड दिया है। वर्णीजीकी भाषा अपनी एक शैली स्वय रखती है, उसमे यद्यपि आधुनिक खडी बोली और सस्कृतबहुल शब्दोका आश्रय कम हैं तथापि उसमे माधुर्य है, आकर्षण है और हृदयगत भावको प्रकट करनेकी अद्भुत क्षमता है। इसलिये परिमार्जनके नामपर उसमे उतना ही परिमार्जन किया गया है जितना कि अत्यन्त आवश्यक दिखा। कही-कही कुछ उदाहरण एकसे अधिक बार आ गये थे उन्हे अलग कर दिया।

इस ग्रन्थका सपादन करते समय अन्तरङ्गमे बडा आह्लाद था, ऐसा लगता था कि एक अपूर्व ग्रन्थ जनकल्याणके लिये सामने आ रहा है, इसलिये दिनभर सस्थाओके कार्योंमे व्यस्त रहनेके बावजूद भी रात्रिके दो-दो बजे तक अथवा जब नीद खुल गई तभी यह कार्य होता रहा। ऐसा लगता था कि जैसे कोई अदृश्य शक्ति इस कार्यमे मुझे शक्ति प्रदान कर रही है।

ग्रन्थ तैयार होनेपर मुझे लगा कि इस ग्रन्थका सम्बन्ध एक ऐसे उच्च सयमी एव ख्याति-प्राप्त विद्वान्के साथ है जो समाजमे जन-जनकी श्रद्धाके भाजन थे और वर्तमानमे विद्यमान नही हैं। 'जीवन-गाथाके' दोनो भागोका सपादनकर उनकी पाण्डुलिपियाँ उन्हे दिखाकर तथा अक्षरश उन्हे सुनाकर अपने दायित्वसे मुक्त हो गया था। पर यह सस्करण उनके अभावमे प्रकाशित हो रहा है, अत. चिन्तित था कि ग्रन्थमे कही कोई त्रुटि न रह जावे। फलत मैने इसे अन्य विद्वानोको भी दिखा लेना उचित समझा। श्री प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री और प० दरबारीलालजी कोठियाकी समत्यनुसार सपादित पाण्डुलिपि श्रीमान् प० जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनीके पास भेज दी। हर्षकी बात है कि उन्होने पूज्य वर्णीजी द्वारा लिखित मूल प्रति तथा समयसारकी अन्य प्रतियोको सामने रखकर अक्षरश उसका अवलोकन किया तथा जहाँ सुधार आवश्यक समझा उसकी एक सूची बनाई और उसे लेकर सागर पधारे। यहाँ ५ दिन रहे तथा सपादित पाण्डुलिपि-का पुन वाचन कराकर ऊहापोहपूर्वक आवश्यक सुधारोको यथास्थान आयोजित कराया। मै पण्डित-जीकी इस तल्लीनतासे मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हो रहा था। इस तरह पण्डितजीके निरीक्षणके बाद पाण्डुलिपिकी पूर्णताके विषयमे मै आश्वस्त हो सका। पण्डित जगन्मोहनलालजी एक-एक शब्द-विन्यासको बडी बारीकीसे परखते हैं। समयसारका अनुभव भी आपका उत्तम है। इस कार्यमे उन्होने जो सहयोग प्रदान किया उसके लिये मै अत्यन्त आभारी हूँ।

संपादनके पूर्व इसके प्रकाशनकी जो व्यवस्था निश्चित हुई थी वह विघटित हो गई, इसलिए नवीन व्यवस्थाके लिए वर्णी-ग्रन्थमालाको प्रयास करना पडा और इसमे कुछ समय भी लग गया। पर मेरा हृदय इस ग्रन्थको जहाँसे प्रकाशित करना चाहता था वहीसे इसका प्रकाशन हो रहा है, यह प्रसन्नताकी बात है। वर्णी-ग्रन्थमाला पूज्य वर्णीजीके नामसे सम्बद्ध है तथा उन्हीके वरद हस्त एव शुभाशीर्वादसे इसका कार्य प्रारम्भ हुआ था। सर्वप्रथम 'मेरी जीवन-गाथा'के नामसे वर्णीजीकी आत्मकथाका प्रथम भाग इस ग्रन्थमालासे प्रकाशित हुआ था। उसके बाद वर्णीजीसे सम्बद्ध मेरी जीवनगाथा द्वितीय भाग, वर्णी-वाणी ४ भाग आदि अनेक ग्रन्थ और भी इस ग्रन्थमालाने प्रकाशित किये हैं। वर्तमानमे उसके उत्साही मन्त्री श्री डॉ० दरबारीलालजी कोठिया ग्रन्थमालाके सचालनमे बडा श्रम, समय और मनोयोग देते हैं। प्रूफ देखने आदिका कार्य भी आप नि:स्पृहभावसे स्वय निपटा लेते हैं। उन्हीके परिश्रमस्वरूप इस ग्रन्थका प्रकाशन वर्णी-ग्रन्थमालासे हो रहा है, अत वे धन्यवादके पात्र हैं। धन्यवादके प्रकरणमे श्री नरेन्द्रकुमारजीका नाम अविस्मरणीय है, क्योकि उनके प्रयत्नके फलस्वरूप ही यह ग्रन्थरत्न प्रकट हो रहा है।

अन्तमे इस ग्रन्थके सपादनमे हुई त्रुटियोका उत्तरदायित्व मुझपर है और मैं इसके लिये विद्वत्समाजसे क्षमाप्रार्थी हूँ। भावना है कि घर-घरमे इसका प्रचार हो और सभी लोग इसके माध्यमसे श्रीकुन्दकुन्दस्वामीकी देशनाको समझनेका प्रयत्न करें।

विनीत
पन्नालाल जैन

प्रस्तावना

ग्रन्थकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य और उनका प्रभाव

इस समयप्राभृत अथवा समयसारके मूलकर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य हैं। ये दिगम्बर जैनाचार्योंमें सर्वाधिक वाङ्मयप्रभावक एव प्रसिद्धिको प्राप्त आचार्य हैं।

मङ्गल भगवान् वीरो मङ्गल गौतमो गणी।
मङ्गल कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥

इस मङ्गल-पद्यके द्वारा भगवान् महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतमके बाद कुन्दकुन्दस्वामीको मङ्गल कहा गया है। इनकी प्रशस्तिमें कविवर वृन्दावनका निम्नाङ्कित सवैया अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसमें बतलाया है कि मुनीन्द्र कुन्दकुन्द-सा आचार्य न हुआ, न है और न होगा—

जासके मुखारविन्दतें प्रकाश भास वृन्द
स्याद्वाद जैन बैन इंद कुन्दकुन्दसे
तासके अभ्यास तैं विकास भेदज्ञान हो
मूढ सो लखे नही कुबुद्धि कुन्दकुन्दसे।
देत है अशीस शीस नाय इंद चंद जाहि
मोह मार खंड मार तंड कुन्दकुन्दसे
विशुद्धि-बुद्धि-वृद्धिदा प्रसिद्ध-ऋद्धि-सिद्धिदा
हुए न हैं न होंहिंगे मुनिंद कुन्दकुन्दसे ॥

श्रीकुन्दकुन्दस्वामीके इस गुणस्तवनका कारण है उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुतत्त्वका विशेषतया आत्मतत्त्वका विशद वर्णन। समयसार आदि ग्रन्थोंमें उन्होने परसे भिन्न तथा स्वकीय गुण-पर्यायोंसे अभिन्न आत्माका जो वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होने इसमें अध्यात्मधारारूप जिस मन्दाकिनीको प्रवाहित किया है उसके शीतल प्रवाहमें अवगाहनकर भवभ्रमण श्रान्त पुरुष आत्मशान्तिको प्राप्त करते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्यका विदेहगमन

श्रीकुन्दकुन्दस्वामीके विषयमें यह मान्यता प्रचलित है कि वे विदेहक्षेत्र गये थे और सीमन्धरस्वामीकी दिव्यध्वनिसे उन्होने आत्मतत्त्वका स्वरूप प्राप्त किया था। विदेहगमनका सर्वप्रथम उल्लेख करनेवाले आचार्य देवसेन (वि० स० की १० वी शती) हैं। जैसा कि उनके दर्शनसारसे प्रकट है—

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कह सुमग्ग पयाणंति ॥ ४३ ॥

दर्शनसार

इसमें कहा गया है कि यदि पद्मनन्दिनाथ, सीमन्धरस्वामी द्वारा प्राप्त दिव्यज्ञानसे बोध न देते तो श्रमण—मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते।

देवसेनके बाद ईसाकी बारहवी शताब्दीके विद्वान् जयसेनाचार्यने भी पञ्चास्तिकायकी टीकाके आरम्भमें निम्नलिखित अवतरण-पुष्पिकामें कुन्दकुन्दस्वामीके विदेहगमनकी चर्चा की है—

'अथ श्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यै प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञश्रीमदरस्वामितीर्थंकरपरमदेव दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतै श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थं अथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वकं तात्पर्यव्याख्यानं कथ्यते।'

'जो कुमारनन्दि सिद्धान्तदेवके शिष्य थे, प्रसिद्ध कथाके अनुसार जिन्होंने पूर्वविदेहक्षेत्र जाकर वीतराग-सर्वज्ञ श्रीमदरस्वामी तीर्थंकर परमदेवके दर्शनकर तथा उनके मुखकमलसे विनिर्गत दिव्यध्वनिके श्रवणसे अवधारित पदार्थोंसे शुद्ध आत्मतत्त्व आदि सारभूत अर्थको ग्रहणकर जो पुनः वापिस आये थे तथा पद्मनन्दी आदि जिनके दूसरे नाम थे ऐसे श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवके द्वारा अन्तस्तत्त्वकी मुख्यरूपसे और बहिस्तत्त्वकी गौणरूपसे प्रतिपत्ति करानेके लिये अथवा शिवकुमार महाराज आदि संक्षेपरुचिवाले शिष्योंको समझानेके लिये पञ्चास्तिकाय प्राभृतशास्त्र रचा ।'

षट्प्राभृतके संस्कृत-टीकाकार श्रीश्रुतसागरसूरिने अपनी टीकाके अन्तमें भी कुन्दकुन्दस्वामीके विदेहगमनका उल्लेख किया है—

'श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन चतुरङ्गुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितश्रीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेन तत्श्रुतज्ञानसम्बोधितभरतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे—'

'पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामोंसे जो युक्त थे, चार अङ्गुल ऊपर आकाशगमनकी ऋद्धि जिन्हें प्राप्त थी, पूर्वविदेहक्षेत्रके पुण्डरीकिणी नगरमें जाकर श्रीमन्धर अपर नाम स्वयंप्रभ जिनेन्द्रकी जिन्होंने वन्दना की थी, उनसे प्राप्त श्रुतज्ञानके द्वारा जिन्होंने भरतक्षेत्रके भव्यजीवोंको संबोधित किया था, जो जिनचन्द्रसूरि भट्टारकके पट्टके आभूषणरूप थे तथा कलिकालके सर्वज्ञ थे, ऐसे कुन्दकुन्दाचार्यद्वारा विरचित षट्प्राभृत ग्रन्थमें—'

उपर्युक्त उल्लेखोंसे साक्षात् सर्वज्ञदेवकी वाणी सुननेके कारण कुन्दकुन्दस्वामीकी अपूर्व महत्ता प्रख्यापित की गई है। किन्तु कुन्दकुन्दस्वामीके ग्रन्थोंमें उनके स्वमुखसे कहीं विदेहगमनकी चर्चा उपलब्ध नहीं होती। उन्होंने समयप्राभृतके प्रारम्भमें सिद्धोंकी वन्दनापूर्वक निम्न प्रतिज्ञा की है—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥ १ ॥

इसमें कहा गया कि मैं श्रुतकेवलीके द्वारा भणित समयप्राभृतको कहूँगा। यदि सीमंधरस्वामीकी दिव्यध्वनि सुननेका सुयोग उन्हें प्राप्त होता तो उसका उल्लेख वे अवश्य करते। फिर भी देवसेन आदिके उल्लेख सर्वथा अकारण नहीं हो सकते।

कुन्दकुन्दाचार्यके नाम

पञ्चास्तिकायके टीकाकार जयसेनाचार्यने कुन्दकुन्द, पद्मनन्दी आदि अपर नामोंका उल्लेख किया है,

पट्प्राभृतके टीकाकार श्रुतसागरसूरिने पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामोका निर्देश किया है। नन्दिसघसे सम्बद्ध विजयनगरके शिलालेखमे भी, जो लगभग १३८६ ई० का है, उक्त पाँच नाम बतलाये गये हैं। नन्दिसघकी पट्टावलीमें भी उपर्युक्त पाँच नाम निर्दिष्ट है परन्तु अन्य शिलालेखोंसे पद्मनन्दी और कुन्दकुन्द अथवा कोण्डकुन्द इन दो नामोका ही उल्लेख मिलता है।

कुन्दकुन्दका जन्मस्थान

इन्द्रनन्दी आचार्यने पद्मनन्दीको कुण्डकुन्दपुरका बतलाया है। इसीलिये श्रवणबेलगोलाके कितने ही शिलालेखोमें उनका कोण्डकुन्द नाम लिखा है। श्री पी० बी० देसाईने 'जैनिज्म इन साउथ इण्डिया'में लिखा है कि गुण्टकल रेलवे स्टेशनसे दक्षिणकी ओर लगभग ४ मीलपर एक कोनकुण्डल नामका स्थान है जो अनन्तपुर जिलेके गुटीतालुकेमें स्थित है। शिलालेखमें इसका प्राचीन नाम 'कोण्डकुन्दे' मिलता है। यहाँके निवासी इसे आज भी 'कोण्डकुन्दि' कहते हैं। बहुत कुछ सभव है कि कुन्दकुन्दाचार्यका जन्मस्थान यही हो।

कुन्दकुन्दके गुरु

ससारसे नि:स्पृह वीतराग साधुओके माता-पिताके नाम सुरक्षित रखने—लेखबद्ध करनेकी परम्परा प्राय: नही रही है। यही कारण है कि समस्त आचार्योंके माता-पिता विषयक इतिहासकी उपलब्धि नही है। हाँ, इनके गुरुओके नाम किसी-न-किसी रूपमें उपलब्ध होते हैं। पञ्चास्तिकायकी तात्पर्यवृत्तिमें जयसेनाचार्यने कुन्दकुन्दस्वामीके गुरुका नाम कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव लिखा है और नन्दिसघकी पट्टावलीमें उन्हें जिनचन्द्रका शिष्य बतलाया गया है। परन्तु कुन्दकुन्दाचार्यने बोधपाहुडके अन्तमें अपने गुरुके रूपमें भद्रबाहुका स्मरण किया है और अपने आपको भद्रबाहुका शिष्य बतलाया है। बोधपाहुडकी गाथाएँ इस प्रकार हैं—

सद्द-वियारो हूओ भासासुत्तेसु ज जिणे कहियं।
सो तह कहियं णाण सीसेण य भद्दबाहुस्स॥ ६१॥
बारसअगवियाण चउदसपुव्वगविउलवित्थरण।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयओ॥ ६२॥

प्रथम गाथामें कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान् महावीरने अर्थरूपसे जो कथन किया है वह भाषासूत्रोमें शब्द-विकारको प्राप्त हुआ अर्थात् अनेक प्रकारके शब्दोमें ग्रथित किया गया है। भद्रबाहुके शिष्यने उसको उसी रूपमें जाना है और कथन किया है। द्वितीय गाथामें कहा गया है कि बारह अगो और चौदह पूर्वोंके विपुल विस्तारके वेत्ता गमकगुरु भगवान् श्रुतकेवली भद्रबाहु जयवत हो।

ये दोनो गाथाएँ परस्परमें सबद्ध हैं। पहली गाथामें कुन्दकुन्दने अपनेको जिन भद्रबाहुका शिष्य कहा है, दूसरी गाथामें उन्हीका जयघोष किया है। यहाँ भद्रबाहुसे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही ग्राह्य जान पडते हैं क्योंकि द्वादश अङ्ग और चतुर्दश पूर्वका विपुल विस्तार उन्हीसे सभव था। इसका समर्थन समयप्राभृतके पूर्वोक्त प्रतिज्ञावाक्य 'वदित्तु सव्वसिद्धे—' मे भी होता है, जिसमें उन्होने कहा है कि मैं श्रुतकेवलीके द्वारा प्रतिपादित समयप्राभृतको कहूँगा। श्रवणबेलगोलाके अनेक शिलालेखोमें यह उल्लेख मिलता है कि अपने शिष्य चन्द्रगुप्तके साथ भद्रबाहु वहाँ पधारे और वही एक गुफामें उनका स्वर्गवास हुआ। इस घटनाको आज ऐतिहासिक तथ्यके रूपमें स्वीकृत किया जा चुका है।

बोधपाहुडके सस्कृत-टीकाकार श्रीश्रुतसागरसूरिने—

'भद्रबाहुशिष्येण अर्हद्‌बलिगुप्तिगुप्तापरनामद्वयेन विशाखाचार्यनाम्ना दशपूर्वधारिणामेकादशानामाचार्याणा मध्ये प्रथमेन ज्ञातम्' ।

इन पक्तियो द्वारा कहा है कि यहाँ भद्रबाहुके शिष्यसे विशाखाचार्यका ग्रहण है । इन विशाखाचार्यके अर्हद्‌बलि और गुप्तिगुप्त ये दो नाम और भी हैं तथा ये दशपूर्वके धारक ग्यारह आचार्योके मध्य प्रथम आचार्य थे । वही श्रुतसागरसूरि ६२ वीं गाथाकी टीकामें भद्रबाहुको 'पञ्चाना श्रुतकेवलिना मध्येऽन्त्यो भद्रबाहु' इन शब्दो द्वारा पाँच श्रुतकेवलियोंमें अन्तिम श्रुतकेवली प्रकट करते है ।

अब विचारणीय बात यह रहती है कि यदि कुन्दकुन्दको अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुका साक्षात् शिष्य माना जाता है तो वे विक्रम शताब्दीसे ३०० वर्ष पूर्व ठहरते है और उस समय जब कि ग्यारह अग तथा चौदह पूर्वोके जानकार आचार्योकी परम्परा विद्यमान थी, तब उनके रहते कुन्दकुन्दस्वामीकी इतनी प्रतिष्ठा कैसे सभव हो सकती है और कैसे उनका अन्वय चल सकता है ? इस स्थितिमें कुन्दकुन्दको उनका परम्पराशिष्य ही माना जा सकता हैं, साक्षात् नहीं । श्रुतकेवली भद्रबाहुके द्वारा उपदिष्ट तत्त्व उन्हें गुरुपरम्परासे प्राप्त रहा होगा, उसीके आधारपर उन्होंने अपने आपको भद्रबाहुका शिष्य घोषित किया है । भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे । अत उनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वको उनके शिष्य विशाखाचार्यने जाना । उसकी परम्परा आगे चलती रही । गमकगुरुका अर्थ श्रुतसागरजीने उपाध्याय किया है, सो विशाखाचार्यके लिये यह विशेषण उचित ही है ।

कुन्दकुन्दका समय

कुन्दकुन्दस्वामीके समय-निर्धारणपर प्रवचनसारकी प्रस्तावनामें डा० ए० एन० उपाध्येने, समन्तभद्रकी प्रस्तावनामें जुगलकिशोरजी मुख्तारने, पञ्चास्तिकायकी प्रस्तावनामें डा० ए० चक्रवर्तीने तथा कुन्दकुन्द-प्राभृतसग्रहकी प्रस्तावनामें प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने विस्तारसे चर्चा की है । लेख-विस्तारके भयसे मैं उन सब चर्चाओंके अवतरण नहीं देना चाहता । जिज्ञासु पाठकोंको तत् तत् ग्रन्थोंसे जाननेकी प्रेरणा करता हुआ कुन्दकुन्दस्वामीके समय-निर्धारणके विषयमें मात्र दो मान्यताओका उल्लेख कर रहा हूँ । एक मान्यता प्रो० हर्नोल द्वारा सपादित नन्दिसघकी पट्टावलियोंके आधारपर यह है कि कुन्दकुन्द विक्रमकी पहली शताब्दीके विद्वान् थे । वि० स० ४९ में वे आचार्यपदपर प्रतिष्ठित हुए, ४४ वर्षकी अवस्थामें उन्हें आचार्यपद मिला, ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पदपर प्रतिष्ठित रहे और उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० माह १५ दिनकी थी । डा० ए० चक्रवर्तीने पञ्चास्तिकायकी प्रस्तावनामें अपना यही अभिप्राय प्रकट किया है और दूसरी मान्यता यह है कि वे विक्रमकी तीसरी शताब्दीके प्रारम्भके विद्वान् हैं, जिसका समर्थन जुगलकिशोरजी मुख्तार, डॉ० ए० एन० उपाध्ये, नाथूरामजी प्रेमी तथा प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री आदि इतिहासज्ञ विद्वान् करते आये हैं ।

कुन्दकुन्दके ग्रन्थ और उनकी महत्ता

दिगम्बर जैन ग्रन्थोंमें कुन्दकुन्द द्वारा रचित ग्रन्थ अपना अलग प्रभाव रखते हैं । उनकी वर्णन-शैली ही इस प्रकारकी है कि पाठक उससे वस्तुस्वरूपका अनुगम बडी सरलतासे प्राप्त कर लेता है । निम्नाकित ग्रन्थ कुन्दकुन्दस्वामीके द्वारा रचित निर्विवाद रूपसे माने जाते हैं तथा जैन समाजमें उनका सर्वोपरि मान है—

१ नियमसार, २ पञ्चास्तिकाय, ३ प्रवचनसार, ४ सययसार (समयप्राभृत), ५ बारस-अणुवेक्खा, ६ दसणपाहुड, ७ चारित्रपाहुड, ८ सुत्तपाहुड, ९ बोधपाहुड, १० भावपाहुड, ११ मोक्खपाहुड, १२ सीलपाहुड, १३ लिंगपाहुड, १४ दसभत्तिसगहो ।

इनके सिवाय रयणसार नामका ग्रन्थ भी कुन्दकुन्दस्वामीके द्वारा रचित प्रसिद्ध है। परन्तु उसके अनेक पाठभेद देखकर विचारक विद्वानोका मत है कि यह कुन्दकुन्दके द्वारा रचित नही है अथवा इसके अन्दर अन्य लोगोकी गाथाएँ भी सम्मिलित हो गई हैं। इन्द्रनन्दीके श्रुतावतारके अनुसार षट्खण्डागमके आद्य भागपर कुन्दकुन्दस्वामीके द्वारा रचित परिकर्मग्रन्थका उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थका उल्लेख षट्खण्डागमके विशिष्ट व्याख्याकार आचार्य वीरसेनने अपनी टीकामें कई जगह किया है। इससे पता चलता है कि उनके समय तो वह उपलब्ध रहा, परन्तु आजकल उसकी उपलब्धि नही है। शास्त्रभण्डारो—खासकर दक्षिणके शास्त्रभण्डारोमें इसकी खोज की जानी चाहिये। मूलाचार भी कुन्दकुन्दस्वामीके द्वारा रचित माना जाने लगा है क्योकि उसकी अन्तिम पुष्पिकामें ('इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलचाराख्यविवृत्ति) कृतिरिय वसुनन्दिन श्रमणस्य' यह उल्लेख पाया जाता है।

कुन्दकुन्दस्वामीके समस्त ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। अत उनका परिचय अनावश्यक मालूम होता है। समयसार या समयप्राभृत पाठकोके हाथमें हैं अत उसका परिचय देना आवश्यक जान पडता है।

समयप्राभृत (समयसार) नामकी सार्थकता

'वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणिय' इस प्रतिज्ञावाक्यके 'मम परमविशुद्धि शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूते.' इस कलशाके तृतीय श्लोकमें तथा 'जोसमयपाहुडमिम पढिहूणं अत्थतच्चवो णाउ' इस समारोपात्मक अन्तिम गाथाके अनुसार प्रकृत ग्रन्थका नाम 'समयप्राभृत' है, 'समयसार' नही। किन्तु पीछे चलकर नियमसार और प्रवचनसारके अनुसार इसका नाम भी 'समयसार' प्रचलित हो गया। समयसार नाम प्रचलित होनेमें अमृतचन्द्रस्वामी द्वारा रचित आत्मख्याति टीकाके 'नम समयसाराय' इस 'मङ्गलश्लोकमें समयसारशब्दका प्रयोग भी एक कारण है। अमृतचन्द्रस्वामीने समयका अर्थ जीव किया है—'टङ्कोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थ स समय। समयत एकत्वे युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्ते' अर्थात् टङ्कोत्कीर्ण चित्स्वभाववाला जो जीव नामका पदार्थ है वह समय कहलाता है। जो एक साथ समस्त पदार्थोंको जाने वह समय हैं ऐसी समय-शब्द की निरुक्ति है। जयसेनाचार्यने भी 'सम्यग् अय' बोधो यस्य भवति स समयः आत्मा अथवा सम एकभावेनायन गमन समय.' इस व्युत्पत्तिके अनुसार समयका अर्थ आत्मा किया है। इन्ही जयसेनाचार्यने 'प्राभृत'का व्याख्यान करते हुए लिखा—'प्राभृत सार सार शुद्धावस्था, समयस्य आत्मनः प्राभृत समयप्राभृतं, अथवा समय एव प्राभृत समयप्राभृतम्'। अर्थात् प्राभृतका अर्थ सार हैं, सार शुद्ध अवस्थाको कहते हैं, अत आत्माकी शुद्ध अवस्थाका नाम समयप्राभृत है। सस्कृत कोषोमें प्राभृतका एक अर्थ उपहार या भेंट भी बतलाया गया है, आत्माकी जो भेंट है वह समयप्राभृत है। अथवा 'सम्-एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् अयते गच्छति' अर्थात् जो अपने गुण और पर्यायोके साथ एकीभावको प्राप्त हो वह समय है। इस निरुक्तिके अनुसार समयका अर्थ समस्त पदार्थ होता है। उनमें प्राभृत अर्थात् सारभूत पदार्थ जीवपदार्थ है। प्राभृतका एक अर्थ शास्त्र भी होता है, अत समयप्राभृतका अर्थ आत्माका शास्त्र है। 'प्रकर्षेण आ समन्तात् भृतम् इति प्राभृतम्' अर्थात् जो उत्कृष्टताके साथ सब ओरसे भरा हुआ हो—जिसमें पदार्थका पूर्वापरविरोध रहित साङ्गोपाङ्ग वर्णन हो उसे प्राभृत कहते हैं। इस ग्रन्थमें समय अर्थात् आत्मा अथवा समस्त पदार्थो—नव पदार्थोका साङ्गोपाङ्ग वर्णन है इसलिये यह समयप्राभृत है।

समयके भेद

कुन्दकुन्दस्वामीने समय अर्थात् आत्माके 'स्वसमय' और परसमय' की अपेक्षा दो भेद किये हैं। जो

जीव अपने दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वभावमें स्थित है वह स्व-समय है और जो पुद्गल कर्मप्रदेशोमें स्थित है वह परसमय है। पुद्गल कर्मप्रदेशोंमें स्थित होनेका अर्थ उन्हें आत्मस्वरूप मानना है। जब तक यह जीव परमाणुमात्र भी पुद्गलद्रव्यको आत्मस्वरूप मानता रहता है तब तक वह परसमय ही कहलाता है। ससारके समस्त प्राणी इन्ही दो भेदोमें विभक्त हैं।

समयप्राभृतकी वस्तु-व्यवस्था एवं वर्णनीय पदार्थ

समयसारमें कुन्दकुन्दस्वामीने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन पदार्थोंको वर्णनीय पदार्थ माना है। इन्हीको यथार्थरूपसे जानना सम्यग्दर्शन कहा है। यथा—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पाव च।
आसव संवर णिज्जर बधो मोक्खो य सम्मत्त ॥

अर्थात् भूतार्थनयसे जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष सम्यक्त्व है। यहाँ कारणमें कार्यका उपचार कर सम्यक्त्वका वर्णन किया गया है। अर्थात् जीवाजीवादि पदार्थ सम्यक्त्वके कारण हैं और सम्यक्त्व कार्य है। इन्हीं नौ पदार्थोंका विशद वर्णन इस ग्रन्थमें किया गया है। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामीने इन नौ पदार्थोंमेंसे पुण्य और पापको आस्रवमें गतार्थ कर सात ही तत्त्व माने हैं तथा उनके क्रमको भी परिवर्तित कर दिया है। जैसे 'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्' अर्थात् जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व है। इनका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है—

'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्'

जीव और अजीव तत्त्वका क्रम कुन्दकुन्द और उमास्वामीकी मान्यताके अनुसार एक-सा है। परन्तु आस्रवके बाद कुन्दकुन्दस्वामीने उसके विरोधी सवरका पाठ रखा है और उमास्वामीने आस्रवके बाद होनेके कारण उसके बाद बन्धका पाठ रखा है। सवरपूर्वक ही निर्जरा कार्य-कारिणी होती है, इस दृष्टिसे कुन्दकुन्दस्वामीने सवरके बाद निर्जराका पाठ रखा है। उमास्वामीने भी सवर और निर्जराका यही क्रम स्वीकृत किया है। कुन्दकुन्दने निर्जराके बाद बन्ध और उसके बाद बन्धके विरोधी मोक्षतत्त्वका पाठ रखा है। अपनी-अपनी विवक्षाओंके अनुसार दोनो मान्यताएँ ठीक हैं। पुण्य और पापके विषयमें अधिक भ्रान्ति होती है, अत कुन्दकुन्दस्वामीने उस भ्रान्तिको दूर करनेके लिये अलगसे उनका वर्णन करना उचित समझा, पर उमास्वामीने उन्हें आस्रवका ही एक विशेष रूप समझकर उनका स्वतन्त्र वर्णन करना ठीक नही समझा। उमास्वामीके द्वारा स्वीकृत क्रमका समर्थन करते हुए पूज्यपाद और अकलकस्वामीने सर्वार्थसिद्धि एव राजवार्तिकमें कहा है कि जीवतत्त्व सब तत्त्वोमें प्रमुख है अत. उसका पहले कथन किया है। उसके बाद जीवके विरोधी अजीवतत्त्वका वर्णन किया है। जीव और अजीवके सयोगसे जीवकी ससारदशा होती है। उसके कारण आस्रव और बन्ध हैं। मोक्ष उपादेय तत्त्व है और उसकी प्राप्ति सवर और निर्जरापूर्वक होती है, अत बन्धके बाद संवर और निर्जराका कथन है। अन्तमें प्राप्त होनेके कारण सबसे अन्तमें मोक्षतत्त्वका कथन है।

इन पदार्थोंका विशद वर्णन करनेके लिए कुन्दकुन्दमहाराजने समयप्राभृतको निम्नलिखित दश अधिकारोंमें विभाजित किया है—१ पूर्वरङ्ग, २ जीवाजीवाधिकार, ३ कर्तृकर्माधिकार, ४ पुण्य-पापाधिकार, ५ आस्रवाधिकार, ६ सवराधिकार, ७ निर्जराधिकार, ८ बधाधिकार, ९ मोक्षाधिकार और १० सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार। नयोका सामञ्जस्य बैठानेके लिये अमृतचन्द्रस्वामीने पीछेसे स्याद्वादाधिकार नामका एक स्वतन्त्र अधिकार और जोड़ा है। अमृतख्याति टीकाके अनुसार समग्र ग्रन्थ ४१५ गाथाओंमें समाप्त हुआ है।

तात्पर्यवृत्तिके अनुसार कुछ गाथाएँ अधिक हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य सम्मत नयव्यवस्था

कुन्दकुन्दस्वामीने निश्चयनय और व्यवहारनयके भेदसे सिर्फ दो नय स्वीकृत किये हैं। वस्तुके एक-अभिन्न और स्वाश्रित—परनिरपेक्ष परिणमनको जाननेवाला निश्चयनय है और अनेक-भेदरूप तथा पराश्रित—परसापेक्ष परिणमनको जाननेवाला व्यवहारनय है। यद्यपि अन्य आचार्योंने निश्चयनयके शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय इस प्रकार दो भेद किये हैं। और व्यवहारनयके सद्भूत, असद्भूत, उपचरित, अनुपचरित आदिके भेदसे अनेक भेद स्वीकृत किये हैं। परन्तु कुन्दकुन्दस्वामीने इन भेदोंके चक्रमें न पड़कर सिर्फ उपर्युक्त दो भेद स्वीकृत किये हैं। अपने गुण-पर्यायोंसे अभिन्न आत्माकी परिणतिके कथनको उन्होंने निश्चयनयका विषय माना है और कर्मके निमित्तसे होनेवाली आत्माकी परिणतिको व्यवहारनयका विषय माना है। निश्चयनय आत्मामें काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारोंको स्वीकृत नहीं करता। वे पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे होते हैं, इसलिये उन्हें सीधे पुद्गलके कह दिये हैं। इसी तरह गुणस्थान तथा मार्गणा आदिके विकल्प जीवके स्वभाव नहीं है, अतः निश्चयनय उन्हें स्वीकार नहीं करता। इन सबको आत्माके कहना व्यवहारनयका विषय है। निश्चयनय स्वभावको विषय करता है, विभावको नहीं। जो स्वमें स्वके निमित्तसे होता है वह स्वभाव है, जैसे जीवके ज्ञानादि, और जो स्वमें परके निमित्तसे होते हैं वे विभाव हैं, जैसे जीवमें क्रोधादि। ये विभाव चूँकि आत्मामें ही परके निमित्तसे होते हैं, इसलिये इन्हें कथंचित् आत्माके स्वीकृत करनेके लिये परवर्ती आचार्योंने निश्चयनयमें शुद्ध और अशुद्ध निश्चयका विकल्प स्वीकार किया है। परन्तु कुन्दकुन्द महाराज विभावको आत्माका मानना स्वीकृत नहीं करते—वे उसे व्यवहारनयका ही विषय मानते हैं।

निश्चय और व्यवहारनयमें भूतार्थग्राही होनेसे निश्चयनयको भूतार्थ और अभूतार्थग्राही होनेसे व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा है। यहाँ व्यवहारनयकी अभूतार्थता निश्चयनयकी अपेक्षा है। स्वरूप और स्वप्रयोजनके अपेक्षा नहीं। उसे सर्वथा अभूतार्थ माननेमें बड़ी आपत्ति दिखती है। श्रीअमृतचन्द्रस्वामीने ४६वीं गाथाकी टीकामें लिखा है—

'व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशङ्कमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद् भवत्येव बन्धस्याभावः। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः।'

यही भाव तात्पर्यवृत्तिमें जयसेनाचार्यने भी दिखलाया है—

'यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यालम्बनत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्यालम्बनरहित-विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्वावलम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद् दर्शयितुमुचितो भवति। यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्तीति मत्वा निःशङ्कोपमर्दनं कुर्वन्ति जनाः। ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येकं दूषणं, तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहितः पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोऽपि न करोति ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणम्। तस्माद् व्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्रायः।'

इन अवतरणोंका भाव यह है—

यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तो भी जिस प्रकार म्लेच्छोको समझानेके लिए म्लेच्छ भाषाका अगीकार करना उचित है उसी प्रकार व्यवहारी जीवोको परमार्थका प्रतिपादक होनेसे तीर्थकी प्रवृत्तिके निमित्त अपरमार्थ होनेपर भी व्यवहारनयका दिखलाना न्यायसगत है। अर्थात् व्यवहारनय सर्वथा असत्य नही है। अत उसके आलम्बनसे पदार्थका प्रतिपादन करना उचित है। अन्यथा व्यवहारके विना परमार्थनयसे जीव शरीरसे सर्वथा भिन्न दिखाया गया है, इस दशामें जिस प्रकार भस्मका उपमर्दन करनेसे हिंसा नही होती उसी प्रकार त्रस-स्थावर जीवोंका नि शङ्क उपमर्दन करनेसे हिंसा नही होगी और हिंसाके न होनेसे बन्धका अभाव हो जायगा, बन्धके अभावसे ससारका अभाव हो जायगा। इसके अतिरिक्त रागी, द्वेष और मोही जीव बन्धको प्राप्त होता है अत उसे ऐसा उपदेश देना चाहिए कि जिससे वह राग, द्वेष, मोहसे छूट जाये, यह जो आचार्योंने मोक्षका उपाय बताया है वह व्यर्थ हो जावेगा, क्योंकि परमार्थसे जीव राग, द्वेष, मोहसे भिन्न ही दिखाया जाता है। जब भिन्न है तब मोक्षका उपाय स्वीकार करना असगत होगा और इस तरह मोक्षका भी अभाव हो जायगा।

नय परार्थश्रुतज्ञानके भेद है। परार्थका तात्पर्य यह है जिससे दूसरेकी अज्ञाननिवृत्ति हो। इससे सिद्ध होता है कि नयोका प्रयोग पात्रभेदकी अपेक्षा रखता है। एक ही नयसे सब पात्रोका कल्याण नही हो सकता। कुन्दकुन्दस्वामीने स्वय भी बारहवी गाथामें इसका विभाग किया है कि शुद्धनय किसके लिए और अशुद्धनय किसके लिए आवश्यक है। शुद्धनयसे तात्पर्य निश्चयनयका और अशुद्धनयसे तात्पर्य व्यवहारनयका लिया गया है। गाथा इस प्रकार है—

'सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे॥ १२॥

अर्थात् जो परम भावको देखनेवाले हैं उनके द्वारा शुद्धतत्त्वका कथन करनेवाला शुद्धनय जाननेके योग्य है और जो अपरम भावमें स्थित हैं उनके लिए व्यवहारनयका उपदेश कार्यकारी है।

नयोंके विसवादसे मुक्त होनेके लिए कहा गया है—

'जइ जिणमअ पवज्जह तो मा ववहारणिच्छए मुयह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण पुण तच्च॥'

अर्थात् यदि जिनेन्द्र भगवान्‌के मतकी प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनो ही नयोको मत त्यागो, क्योकि यदि व्यवहारनयको त्याग दोगे, तो तीर्थकी प्रवृत्तिका लोप हो जावेगा अर्थात् धर्मका उपदेश ही नही हो सकेगा। फलत धर्मतीर्थका लोप हो जावेगा और यदि निश्चयको त्याग दोगे, तो तत्त्वके स्वरूपका ही लोप हो जावेगा, क्योकि तत्त्वको कहनेवाला तो वही है।

यही भाव श्रीअमृतचन्द्रसूरिने भी कलशकाव्यमें दरशाया है—

उभयनयविरोधध्वसिनि स्यात्पदाके
जिनवचसि रमन्ते ये स्वय वान्तमोहा।
सपदि समयसार ते पर ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव॥ १४॥

अर्थात् जो जीव स्वय मोहका वमन कर निश्चय और व्यवहारनयके विरोधको ध्वस्त करनेवाले एव स्यात्पदसे चिह्नित जिनवचनमें रमण करते हैं वे शीघ्र ही उस समयसारका अवलोकन करते है जो कि परम

ज्योतिस्वरूप है, नवीन नही अर्थात् द्रव्य-दृष्टिसे नित्य है और अनयपक्ष—एकान्तपक्षसे जिसका खण्डन नही हो सकता ।

सम्यक्दृष्टि जीव वस्तुस्वरूपका परिज्ञान प्राप्त करनेके लिए दोनों नयोका आलम्बन लेता है । परन्तु श्रद्धामें वह अशुद्धनयके आलम्बनको हेय समझता है । यही कारण है कि वस्तु-स्वरूपका यथार्थ परिज्ञान होने पर अशुद्धनयका आलम्बन स्वय छूट जाता है । कुन्दकुन्दस्वामीने उभय नयोके आलम्बनसे वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन किया है, इसलिए वह निर्विवाद रूपसे सर्वग्राह्य है ।

समयप्राभृतके अधिकारोका प्रतिपाद्य विषय

(१) पूर्वरङ्ग—कुन्दकुन्दस्वामीने स्वय पूर्वरङ्ग नामका कोई अधिकार सूचित नही किया है । परन्तु सस्कृतटीकाकार अमृतचन्द्रसूरिने ३८ वी गाथाकी समाप्ति पर पूर्वरङ्ग समाप्तिकी सूचना दी है । इन ३८ गाथाओमे प्रारम्भकी १२ गाथाएँ पीठिकारूपमें है, जिनमें ग्रन्थकर्त्ताने मङ्गलाचरण, ग्रन्थ-प्रतिज्ञा, स्व-समय-परसमयका व्याख्यान तथा शुद्धनय और अशुद्धनयके स्वरूपका दिग्दर्शन कराया है । इन नयोके ज्ञान विना समयप्राभृतको समझना अशक्य है । पीठिकाके बाद ३८वी गाथा तक पूर्वरङ्ग नामका अधिकार है, जिसमें आत्माके शुद्ध स्वरूपका निदर्शन कराया गया है । शुद्धनय आत्मामें जहाँ द्रव्यजनित विभाव-भावको स्वीकृत नही करता वहाँ वह अपने गुण और पर्यायोके साथ भेद भी स्वीकृत नही करता । वह इस बातको भी स्वीकृत नही करता कि आत्माके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र ये गुण है क्योकि इनमें गुण और गुणीका भेद सिद्ध होता है । वह यह घोषित करता है कि आत्मा सम्यग्दर्शनादिरूप है । आत्मा प्रमत्त है और आत्मा अप्रमत्त है, इस कथनको भी शुद्धनय स्वीकृत नही करता, क्योकि इस कथनसे आत्मा प्रमत्त और अप्रमत्त पर्यायोमें विभक्त होता है । वह तो आत्माको एक ज्ञायक ही स्वीकृत करता है । जीवाधिकारमे जीवके निज स्वरूपका कथन कर उसे परपदार्थों और परपदार्थोंके निमित्तसे जायमान विभावोंसे पृथक् निरूपित किया है । नोकर्म मेरा नही है, द्रव्यकर्म मेरा नही है और भावकर्म भी मेरा नही है, इस तरह इन पदार्थोंसे आत्म-तत्त्वको पृथक सिद्धकर ज्ञेय-ज्ञायकभाव एव भाव्य-भावकभावकी अपेक्षा भी आत्माको ज्ञेय तथा भाव्यसे पृथक् सिद्ध किया है । जिस प्रकार दर्पण अपनेमें प्रतिबिम्बित मयूरसे भिन्न है उसी प्रकार आत्मा अपने ज्ञानमें आये हुए घट-पटादि ज्ञेयोसे भिन्न है और जिस प्रकार दर्पण ज्वालाओके प्रतिबिम्बसे सयुक्त होनेपर भी तज्जन्य तापसे उन्मुक्त रहता है, उसी प्रकार आत्मा अपने अस्तित्वमें रहते कर्म-कर्मफलके अनुभवसे रहित है । इस तरह प्रत्येक परपदार्थसे भिन्न आत्माके अस्तित्वका श्रद्धान करना जीवतत्त्वके निरूपणका लक्ष्य है । इस प्रकरणके अन्तमें कुन्दकुन्दस्वामीने उद्‌घोष किया है—

अहमिक्को खलु सुद्धो दसणणाणमइओ सदारूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्ण परमाणुमित्तं पि ॥ ३८ ॥

अर्थात् निश्चयसे मैं एक हूँ, दर्शन-ज्ञानसे तन्मय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य परमाणुमात्र भी मेरा नही है ।

इस सब कथनका तात्पर्य यह है कि यह जीव पुद्‌गलद्रव्यके सयोगसे उत्पन्न हुई सयोगज पर्यायमें आत्मबुद्धि कर उनकी इष्ट-अनिष्ट परिणतिमें हर्ष-विषादका अनुभव करता हुआ व्यर्थ ही रागी, द्वेषी होता है और उनके निमित्तसे नवीन कर्मबन्धकर अपने ससारकी वृद्धि करता है । जब यह जीव परपदार्थोंसे भिन्न निज शुद्ध स्वरूपकी ओर लक्ष्य करने लगता है तब परपदार्थोंसे इसका ममत्वभाव स्वयमेव दूर होने लगता है ।

(२) जीवाजीवाधिकार

जीवके साथ अनादिकालसे कर्म और नोकर्मरूप पुद्गलद्रव्यका सम्बन्ध चला आ रहा है। मिथ्यात्व-दशामें यह जीव शरीररूप नोकर्मकी परिणतिको आत्माकी परिणति मानकर उसमें अहकार करता है, इस रूप ही मैं हूँ, ऐसा मानता है, अत सर्वप्रथम इसकी शरीरसे पृथक्ता सिद्ध की है। उसके बाद ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्म और रागादिक भावकर्मोंसे इसका पृथक्त्व दिखाया गया है। आचार्य महाराजने कहा है कि हे भाई— ये सब भाव पुद्गलद्रव्यके परिणमनसे निष्पन्न हैं, अत पुद्गलके हैं, तूं इन्हें जीव क्यो मान रहा है। यथा—

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ॥ ४४ ॥

जो स्पष्ट ही अजीव हैं, उनके अजीव कहनेमें तो कोई खास बात नही है। परन्तु जो अजीवाश्रित परिणमन जीवके साथ घुलमिलकर अनित्य तन्मयीभावसे तादात्म्य जैसी अवस्थाको प्राप्त हो रहे हैं उन्हें अजीव सिद्ध करना इस अधिकारकी विशेषता है। 'रागादिक भाव अजीव है, गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास आदि भाव अजीव है। यह बात यहाँ तक सिद्ध की गई है। अजीव हैं—इसका यह तात्पर्य नही है कि ये घटपटादिके समान अजीव है। यहाँ 'अजीव है' इसका इतना तात्पर्य है कि ये जीवकी निज परिणति नही हैं। यदि जीवकी निज परिणति होती तो त्रिकालमे इनका अभाव नही होता। परन्तु जिस पौद्गलिक कर्मकी उदयावस्थामें ये भाव होते हैं उसका अभाव होनेपर ये स्वय विलीन हो जाते है। अग्निके ससर्गसे पानीमें उष्णता आती है, परन्तु वह उष्णता सदाके लिए नही आती है। अग्निका सम्बन्ध दूर होते ही दूर हो जाती है। इसी प्रकार क्रोधादि कर्मोके उदयकालमें होनेवाले रागादि भाव आत्मामें अनुभूत होते है परन्तु वे सयोगज भाव होनेसे आत्माके विभाव भाव है, स्वभाव नहीं, इसीलिए उनका अभाव हो जाता है। ये रागादिक भाव आत्माको छोड़-कर अन्य जड पदार्थोंमें नही होते किन्तु आत्माके उपादानसे आत्मामें उत्पन्न होते हैं, इसलिए उन्हें आत्माके कहनेके लिए अन्य आचार्योंने एक अशुद्ध निश्चयनयकी कल्पना की है। वे शुद्ध निश्चयनयसे आत्माके नही हैं। परन्तु अशुद्ध निश्चयनयसे आत्माके है, ऐसा कथन करते हैं। परन्तु कुन्दकुन्दस्वामी तो बेदाग और बेलाग बात कहना पसन्द करते हैं। वे विभावको आत्माके माननेके लिए तैयार नही है। उन्हें आत्माके कहना इसे वे व्यवहारनयका विषय मानते है और उस व्यवहारका, जिसे कि उन्होंने अभूतार्थ कहा है। व्यवहारको अभूतार्थ कहनेका तात्पर्य इतना ही हैं कि वह अन्य द्रव्याश्रित परिणमनको अन्य द्रव्यका परिणमन मानता है। 'व्यवहार-नय अभूतार्थ है' इसका यह अर्थ ग्राह्य नही है कि वह अनुपादेय है। पात्रकी योग्यताके अनुसार व्यवहारकी उपादेयताका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यहाँ इतनी बात खासकर ध्यानस्थ करना आवश्यक है कि यह कथन निमित्तप्रधान दृष्टिका है उपादानप्रधान दृष्टिका नही। उपादानप्रधान दृष्टिमें रागादिकका उपादान आत्मा ही है, कर्मरूप पुद्गल नही।

इसी प्रसङ्गमें जीवका स्वरूप बतलाते हुए कुन्दकुन्दस्वामीने कहा है—

अरसमरूवमगंध अव्वत्त चेदणागुणमसद्द ।
जाण अलिंगग्गहण जीवमणिदिट्ठसंठाणं ॥४९॥

अर्थात् हे भव्य ! तू आत्माको ऐसा जान कि वह रसरहित हैं, रूपरहित है, गन्धरहित है, अव्यक्त अर्थात् स्पर्शरहित है, शब्दरहित है, अलिङ्ग ग्रहण है अर्थात् किसी खास लिङ्गसे उसका ग्रहण नही होता तथा जिसका कोई आकार निर्दिष्ट नही किया गया है, ऐसा है, किन्तु चेतनागुणवाला है।

यहाँ चेतनागुण जीवका स्वरूप है और रस, गन्ध आदि उसके स्वरूप नही है। परपदार्थसे उसका

पृथक्त्व सिद्ध करनेके लिए ही यहाँ उनका उल्लेख किया गया है। वर्णादिक और रागादिक सभी जीवसे भिन्न हैं—जीवेतर हैं। इस तरह इस जीवाजीवाधिकारमें आचार्यने मुमुक्षु प्राणीके लिये परपदार्थसे भिन्न जीवके शुद्ध स्वरूपका दर्शन कराया है। साथ ही उससे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थको अजीव दिखलाया है। वस्तुत यह संसार जीव और अजीवमय ही तो है। यह जीवाजीवाधिकार ३८वीं गाथासे लेकर ६८वीं गाथा तक चला है।

(२) कर्तृकर्माधिकार

जीव और अजीव (पौद्गलिककर्म) अनादिकालसे सम्बद्ध अवस्थाको प्राप्त हैं, इसलिए प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इनके अनादि सम्बन्धका कारण क्या है? जीवने कर्मको किया या कर्मने जीवको किया? यदि जीवने कर्मको किया तो जीवमें ऐसी कौन-सी विशेषता थी कि जिससे उसने कर्मको किया। यदि बिना विशेषताके ही किया तो सिद्ध महाराज भी कर्मको करें, इसमें क्या आपत्ति है? और कर्मने जीवको किया तो कर्ममें ऐसी विशेषता कहाँसे आई कि वह जीवको कर सके—उसमें रागादिक भाव उत्पन्न कर सके। बिना विशेषताके ही यदि कर्म रागादिक करते हैं तो कर्मके अस्तित्वकालमें सदा रागादिक उत्पन्न होना चाहिए। इस प्रश्नावलीसे बचनेके लिए यह समाधान किया गया है कि जीवके रागादि परिणामोंसे पुद्गलद्रव्यमें कर्मरूप परिणमन होता है और पुद्गलके कर्मरूप परिणमन—उनकी उदयावस्थाका निमित्त पाकर आत्मामें रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं। इस समाधानमें जो अन्योन्याश्रय दोष आता है उसे अनादि संयोग मानकर दूर किया गया है। इस कर्तृकर्माधिकारमें कुन्दकुन्दस्वामीने इसी बातका बड़ी सूक्ष्मतासे निरूपण किया है। इस वर्णनको समझनेके लिए सबसे पहले उपादानोपादेय भाव और निमित्त-नैमित्तिकभावको समझना आवश्यक है। इनके बिना कर्तृकर्माधिकारका सूक्ष्म विषय सहसा ग्रहणमें नहीं आता।

जो स्वयं कार्यरूप परिणमन करता है वह उपादान कहलाता है और जो कार्य होता है वह उपादेय कहलाता है। जैसे मिट्टी घटाकार परिणति करती है अत: वह घट का उपादान है और घट उसका उपादेय है। यह उपादान-उपादेयभाव सदा एक द्रव्यमें ही बनता है क्योंकि एक द्रव्य अन्य द्रव्यरूप परिणमन त्रिकालमें भी नहीं कर सकता। उपादानको कार्यरूप परिणति करनेमें जो सहायक होता है वह निमित्त कहलाता और उस निमित्तसे उपादानमें जो कार्य निष्पन्न हुआ है वह नैमित्तिक कहलाता है। जैसे कुम्भकार तथा उसके दण्ड, चक्र, चीवर आदि उपकरणोंकी सहायतासे मिट्टीमें घटाकर परिणमन हुआ तो यह सब निमित्त हुए और घट नैमित्तिक हुआ। यहाँ निमित्त और नैमित्तिक दोनों पुद्गलद्रव्यके अन्दर निष्पन्न हैं और जीवके रागादि भावोंका निमित्त पाकर कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्यमें कर्मरूप परिणमन हुआ, यह निमित्त-नैमित्तिकभाव दो द्रव्योंमें हुआ।

अब विचार करना है कि कर्मका कर्ता कौन है? तथा रागादिकका कर्ता कौन है? जब उपादान-उपादेयभावकी अपेक्षा विचार होता है तब यह बात आती है कि चूँकि कर्मरूप परिणमन पुद्गलरूप उपादानमें हुआ है, इसलिए इसका कर्ता पुद्गल ही है, जीव नहीं, परन्तु जब निमित्त-नैमित्तिकभावकी अपेक्षा विचार होता है तब जीवके रागादिक भावोंका निमित्त पाकर पुद्गल में कर्मरूप परिणमन हुआ है, कुम्भकारके हस्तव्यापारका निमित्त पाकर घटका निर्माण हुआ है, रथकारके हस्तव्यापारसे रथकी रचना हुई है इसलिए इन सबके निमित्त कर्ता क्रमशः रागादिक भाव, कुम्भकार और रथकार हैं। इसी प्रकार द्रव्यकर्मकी उदयावस्थाका निमित्त पाकर जीवमें रागादिक परिणति हुई है, इसलिए इस परिणतिका उपादानकारण जीव स्वयं है और निमित्तकारण द्रव्यकर्मकी उदयावस्था है।।

कुन्दकुन्दस्वामीने निमित्त-नैमित्तिकभावको अलगसे स्वीकृत करते हुए भी कर्तृ-कर्मभावका वर्णन उपादानोपादेयभावसे ही किया है। उन्होने कहा है—

जीवपरिणामहेदु कम्मत्तं पुग्गला परिणमत्ति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥ ८० ॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोह्णपि ॥ ८१ ॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाण ण दु कत्ता सव्वभावाण ॥ ८२ ॥

अर्थात् पुद्गलद्रव्य जीवके रागादिक परिणामोका निमित्त पाकर कर्मभावको प्राप्त होता है, इसी तरह जीवद्रव्य भी पुद्गलकर्मोके विपाककालरूप निमित्तको पाकर रागादि भावरूप परिणम जाता है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होनेपर भी जीवद्रव्य कर्ममें किसी गुणका उत्पादक नही अर्थात् पुद्गलद्रव्य स्वय ज्ञानावरणादि भावको प्राप्त होता है। इसी तरह कर्म भी जीवमें किन्ही गुणोंको नही करता है किन्तु मोहनीय आदि कर्मके विपाकको निमित्तकर जीव स्वयमेव रागादिरूप परिणमन करता है। इतना होनेपर भी पुद्गल और जीव इन दोनोंका परिणमन परस्परनिमित्तक है, ऐसा जानो। इसीसे आत्मा अपने भावोंके द्वारा अपने परिणमनका कर्त्ता होता है, पुद्गल कर्मकृत जो सब भाव हैं उनका कर्त्ता नही है अर्थात् पुद्गलके जो ज्ञानावरणादि कर्म है उनका कर्त्ता पुद्गल है और जीवके जो रागादि भाव हैं उनका कर्त्ता जीव है।

आत्मामें वैभाविकशक्ति होनेके कारण मिथ्यादर्शनादिरूप परिणमन करनेकी योग्यता है, अत अन्तरङ्गमें उस योग्यतासे तथा बहिरङ्गमें पूर्वबद्ध मिथ्यात्व आदि द्रव्यकर्मके विपाकसे इधर आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन करता है उधर पुद्गलद्रव्यमें वैभाविकशक्ति होनेके कारण कर्मरूप परिणमन करनेकी योग्यता है, अत अन्तरङ्गमें उस योग्यतासे तथा बहिरङ्गमें जीवके मिथ्यादर्शनादि विभाव-भावके निमित्तसे पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करता है। आत्मा और पुद्गलमें विद्यमान वैभाविकशक्तिसे जायमान योग्यताको लक्ष्यमें रखकर जब कथन होता है तब कहा जाता है कि आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन स्वय करता है और पुद्गल ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन स्वय करता है। जब आत्मा और पुद्गलकी इस योग्यताको गौणकर बहिरङ्ग निमित्तकी प्रधानतासे कथन होता है तब कहा जाता है कि पूर्वबद्ध द्रव्यकर्मरूप पुद्गलके निमित्तसे आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन करता है और आत्माके मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमनके निमित्तसे पुद्गलद्रव्य कर्मरूप परिणमन करता है।

कुन्दकुन्दस्वामीने कर्तृ-कर्मभावका वर्णन एक द्रव्यमें किया है, दूसरा द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता या कर्म नही हो सकता। इसके फलितार्थमें यह नही निकाला जा सकता कि कुन्दकुन्दस्वामी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको नही मानते थे, क्योंकि उन्होने निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको सर्वत्र स्वीकृत किया है। यहाँ जीवके रागादिक भाव और पुद्गलद्रव्यके कर्मरूप भावमें निमित्त-नैमित्तिकभाव स्वीकृत किया है। नियमसारमें भी सम्यग्दर्शनके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग साधनोंका उल्लेख करते हुए उसे स्वीकृत किया है। यथा—

सम्मत्तस्स णिमित्त जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अन्तरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥ ५३ ॥

अर्थात् सम्यग्दर्शनका बाह्य निमित्त जिनसूत्र—जिनागम और उसके ज्ञाता पुरुष हैं तथा अन्तरङ्गहेतु दर्शनमोहनीयकर्मकी क्षय आदि अवस्थाएँ हैं।

षड्द्रव्योके कार्य और उपकार आदिका वर्णन तो पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रन्थोमें किया ही है। निमित्त-नैमित्तिकभावकी स्वीकृतिके बिना न इस लोककी व्यवस्था बनती है और न परलोककी।

जीवाजीवादि नौ पदार्थोंके विवेचनके बीचमें कर्तृकर्मभावकी चर्चा छेडनेमें कुन्दकुन्दस्वामीका इतना ही अभिप्राय ध्वनित होता है कि यह जीव अपने आपको किसी पदार्थका कर्त्ता, धर्ता तथा हर्त्ता मानकर व्यर्थ ही राग-द्वेषके प्रपञ्चमें पडता है। अपने आपको परका कर्त्ता माननेसे अहकार उत्पन्न होता है तथा परकी इष्ट-अनिष्ट परिणतिमें हर्ष-विषादका अनुभव होता है। जब तक परपदार्थोंमें हर्ष-विषादका अनुभव होता रहता है तब तक यह जीव अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभावमें सुस्थिर नही होता, वह मोहकी धारामें बहकर स्वरूपसे च्युत रहता है। मोक्षाभिलाषी जीवको अपनी यह भूल सबसे पहले सुधार लेनी चाहिये। इसी उद्देश्य-से आस्रवादि तत्त्वोकी चर्चा प्रारम्भ करनेके पूर्व कुन्दकुन्द महाराजने सचेत किया है कि हे मुमुक्षु प्राणी! तू कर्तृत्वके अहकारसे बच, अन्यथा रागद्वेषके दल-दलमें फँस जावेगा।

निमित्त-नैमित्तकभावको सर्वथा अस्वीकृत कर देनेपर तो जिनागमका प्रासाद ही ढह जावेगा। इसी कर्तृकर्माधिकारमें अमृतचन्द्रस्वामीने अनेक नय-पक्षोका उल्लेखकर तत्त्ववेदी पुरुषको उनके पक्षसे अतिक्रान्त बताया है। आखिर नय वस्तुस्वरूपको समझनेके साधन है, साध्य नही। एक अवस्था ऐसी आती है जहाँ व्यवहार और निश्चय दोनो प्रकारके नयोका अस्तित्व नही रहता, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेपचक्रका तो पता ही नही चलता कि वह कहा गया—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाण
क्वचिदपि न च विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्यो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ९ ॥

६९ से लेकर १४४ गाथा तक कर्तृकर्माधिकार चला है।

पुण्य-पापाधिकार

ससारचक्रसे निकलकर मोक्ष प्राप्त करनेके अभिलाषी प्राणीको पुण्यका प्रलोभन अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट करनेवाला है, इसलिये कुन्दकुन्दस्वामी आस्रवाधिकार प्रारम्भ करनेके पहले ही इसे सचेत करते हुए कहते है कि हे मुमुक्षु! तू मोक्षरूप महानगरकी यात्राके लिये निकला है, देख, कही बीचमें ही पुण्यके प्रलोभनमें नही पड जाना। यदि उसके प्रलोभनमें पडा तो एक झटकेमें ऊपरसे नीचे आ जावेगा और सागरो पर्यन्तके लिये उसी पुण्य-महलमें नजरकैद हो जायगा।

अधिकारके प्रारम्भमें ही कुन्दकुन्द महाराज कहते है कि लोग अशुभको कुशील और शुभको सुशील कहते है। परन्तु वह शुभ सुशील कैसे हो सकता है, जो इस जीवको ससारमें ही प्रविष्ट रखता है, उससे बाहर नही निकलने देता। बन्धनकी अपेक्षा सुवर्ण और लोह दोनोकी बेडियाँ समान हैं। जो बन्धनसे बचना चाहता है उसे सुवर्णकी भी बेडी तोडना होगी।

वास्तवमें यह जीव पुण्यका प्रलोभन तोडनेमें असमर्थ-सा हो रहा है। यदि अपने आत्म-स्वातन्त्र्य तथा शुद्धस्वभावकी ओर इसका लक्ष्य बन जावे तो कठिन नही है। दया, दान, व्रताचरण आदिके भाव लोकमें पुण्य कहे जाते है और हिंसा आदि पापो में प्रवृत्तिरूप भाव पाप कहे जाते हैं। पुण्यभावके फलस्वरूप पुण्यप्रकृतियो-का बन्ध होता है और पापभावके फलस्वरूप पापप्रकृतियोका बन्ध होता है। जब उन पुण्य और पापप्रकृतियो-

का उदयकाल आता है तब इस जीवको सुख-दुःखका अनुभव होता है। परमार्थसे विचार किया जावे तो पुण्य और पाप दोनो प्रकारकी प्रकृतियोका बन्ध इस जीवको ससारमें ही रोकनेवाला है। इसलिये इनसे बचकर उस तृतीय अवस्थाको प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिये, जो पुण्य और पाप दोनोके विकल्पसे परे है। उस तृतीय अवस्थामें पहुँचनेपर ही यह जीव कर्मबन्धसे बच सकता है। और कर्मबन्धसे बचनेपर ही जीव का वास्तविक कल्याण हो सकता है। उन्होने कहा है—

परमट्ठबाहिरा जे, अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
ससारगमणहेदु वि मोक्खहेउं अजाणता ॥ १५४ ॥

जो परमार्थसे बाह्य हैं अर्थात् ज्ञानात्मक आत्माके अनुभवनसे शून्य हैं वे अज्ञानसे ससारगमनका कारण होनेपर भी पुण्यकी इच्छा करते हैं तथा मोक्षके कारणको जानते भी नही हैं।

यहाँ आचार्य महाराजने कहा है कि जो मनुष्य परमार्थज्ञानसे रहित हैं वे अज्ञानवश मोक्षका साक्षात् कारण जो वीतरागपरिणति है उसे तो जानते नही हैं और पुण्यको मोक्षका साक्षात् कारण समझकर उसकी उपासना करते हैं। जब कि वह पुण्य ससारकी प्राप्तिका कारण है। कषायके मन्दोदयमें होनेवाली जीवकी जो शुभोपयोगरूप परिणति है उसे पुण्य कहते है, ऐसा पुण्य शुभकर्मके बन्धका करण है, कर्मक्षयका कारण नही है। परन्तु अज्ञानी जीव इस अन्तरको नही समझ पाता है। यहाँ पुण्यरूप आचरणका निषेध नही है किन्तु पुण्याचरणको मोक्षका मार्ग माननेका निषेध किया है। ज्ञानी जीव अपने पदके अनुरूप पुण्याचरण करता है। पुण्याचरणको मोक्षका मार्ग माननेका निषेध किया है। ज्ञानी जीव अपने पदके अनुरूप पुण्याचरण करता है और उसके फलस्वरूप प्राप्त हुए इन्द्र, चक्रवर्ती आदिके वैभवका उपभोग भी करता है। परन्तु श्रद्धामें यही भाव रहता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्षका साक्षात् कारण नहीं है तथा उसके फलस्वरूप जो वैभव प्राप्त हुआ है वह मेरा स्वपद नही है। यहाँ इतनी ध्यानमें रखनेके योग्य है कि जिस प्रकार पापाचरण बुद्धिपूर्वक छोडा जाता है उस प्रकार बुद्धिपूर्वक पुण्याचरण नही छोडा जाता—वह तो शुद्धोपयोगकी भूमिकामें प्रविष्ट होने पर स्वय छूट जाता है।

जिनागमका कथन नयसापेक्ष होता है, अत शुद्धोपयोगकी अपेक्षा शुभोपयोगरूप पुण्यको त्याज्य कहा गया है। परन्तु अशुभोपयोगरूप पापकी अपेक्षा उसे उपादेय बताया गया है। शुभोपयोगमें यथार्थमार्ग जल्दी मिल सकता है परन्तु अशुभोपयोगमें उसकी सभावना ही नही है। जैसे प्रात काल सम्बन्धी सूर्यलालिमा-का फल सूर्योदय है और सायकाल सम्बन्धी लालिमाका फल सूर्यास्त है। इसी आपेक्षिक कथनको अगीकृत करते हुए श्री पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेशमें शुभोपयोगरूप व्रताचरणसे होनेवाले देवपदको कुछ अच्छा कहा है और अशुभोपयोगरूप पापाचरणसे होनेवाले नारकपदको बुरा कहा है—

वर व्रतै पद देव नाव्रतैर्वत नारकम्।
छायातपस्थयोर्भेद प्रतिपालयतोर्महान् ॥ २ ॥

व्रतोंसे देवपद पाना अच्छा है परन्तु अव्रतोंसे नारकपद पाना अच्छा नही है क्योकि छाया और धूपमें बैठकर प्रतीक्षा करनेवालोमें महान् अन्तर है।

अशुभोपयोगरूप पाप सर्वथा त्याज्य ही है और शुभोपयोग उपादेय ही है। परन्तु शुभोपयोग पात्रभेद-की अपेक्षा हेय और उपादेय दोनो रूप है। यद्यपि किन्ही-किन्ही आचार्योंने सम्यग्दृष्टिके पुण्यको निर्जराका कारण बताया है और मिथ्यादृष्टिके पुण्यको बन्धका कारण। परन्तु वस्तुतत्त्वका यथार्थ विश्लेषण करनेपर

यह बात अनुभवमें आती है कि सम्यग्दृष्टि जीवके मोहका आंशिक अभाव हो जानेसे जो आंशिक निर्मोह अवस्था हुई है वह उसकी निर्जराका कारण है और जो शुभरागरूप अवस्था है वह बन्धका ही कारण है। बन्धके कारणोंकी चर्चा करते हुए कुन्दकुन्दस्वामीने तो एक ही बात कही है—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवएसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

रागी जीव कर्मोंको बांधता है और विरागको प्राप्त हुआ जीव कर्मोंको छोड़ता है, यह श्री जिनेश्वर-का उपदेश है, इससे कर्मोंमें राग नहीं करो।

यहाँ आचार्यने शुभ या अशुभ दोनों प्रकारके रागको बन्धका कारण कहा है। यह बात जुदी है कि शुभरागसे शुभकर्मका बन्ध हो और अशुभरागसे अशुभकर्मका बन्ध हो।

यह पुण्यपापाधिकार १४५ से १६३ गाथा तक चला है।

आस्रवाधिकार

संक्षेपमें जीवद्रव्यकी दो अवस्थाएँ हैं—एक सांसारिक और दूसरी मुक्त। इनमें सांसारिक अवस्था अशुद्ध होनेसे त्याज्य है और मुक्त अवस्था शुद्ध होनेसे उपादेय है। संसार अवस्थाका कारण आस्रव और बन्धतत्व हैं तथा मोक्ष अवस्थाका कारण संवर और निर्जरा तत्व हैं। आत्माके जिन भावोंसे कर्म आते हैं उन्हें आस्रव कहते है। ऐसे भाव चार है—१ मिथ्यात्व, २ अविरमण, ३ कषाय और ४. योग। यद्यपि तत्त्वा-र्थसूत्रकारने इन चारके सिवाय प्रमादका वर्णन और किया है। परन्तु कुन्दकुन्दस्वामी प्रमादको कषायका ही एक रूप मानते हैं, अतः उन्होंने चार आस्रवोंका वर्णन किया है। इन्हीं चारके निमित्तसे आस्रव होता है। मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमें चारों ही आस्रव हैं। उसके बाद अविरतसम्यग्दृष्टितक अविरमण, कषाय और योग ये तीन आस्रव है। पंचमगुणस्थानमें एकदेश अविरमणका अभाव हो जाता है। छठवें गुणस्थानसे दशवेंतक कषाय और योग ये दो आस्रव हैं और उसके बाद ११, १२ और १३ गुणस्थानोंमें सिर्फ योग आस्रव हैं तथा चौदहवें गुणस्थानमें आस्रव बिल्कुल ही नहीं है।

इस अधिकारकी खास चर्चा यह है कि ज्ञानी अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीवके आस्रव और बन्ध नहीं होते। जबकि करणानुयोगकी पद्धतिसे अविरतसम्यग्दृष्टिको आदि लेकर तेरहवें गुणस्थानतक क्रमसे ७७, ६७, ६३ ५९, ५८, २२, १७, १, १, १, प्रकृतियोंका बन्ध बताया है। यहाँ कुन्दकुन्दस्वामीका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धीके उदयकालमें इस जीवके तीव्र अर्थात् अनन्तसंसारका कारण बन्ध होता था वैसा बन्ध सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं होता। सम्यग्दर्शनकी ऐसी विचित्र महिमा है कि उसके होनेके पूर्व बध्यमान कर्मोंकी स्थिति घटकर अन्तःकोडाकोडी प्रमाण हो जाती है और सत्तामें स्थित कर्मोंकी स्थिति इससे भी संख्यात हजार सागर कम हो जाती है। वैसे भी अविरतसम्यग्दृष्टि जीवके ४१ प्रकृतियोंका आस्रव और बन्ध तो रुक ही जाता है। वास्तविक बात है कि सम्यग्दृष्टिजीवके सम्यग्दर्शनरूप परिणामोंसे बन्ध नहीं होता उसके जो बन्ध होता है। उसका कारण अप्रत्याख्यानावरणादि कषायोंका उदय है। सम्यग्द-र्शनादि भाव मोक्षके कारण हैं। इसी बातको अमृतचन्द्रसूरिने निम्नाङ्कित कलशामें स्पष्ट किया है—

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः।
तत एव न बन्धोऽस्य, ते हि बन्धस्य कारणम् ॥११९॥

चूंकि ज्ञानी जीवके राग-द्वेष और विमोहका अभाव है, इसलिये उसके बन्ध नहीं होता। वास्तवमें रागादिक भाव ही बन्धके कारण हैं।

यह आस्रवाधिकार १६४ से १८० गाथा तक चलता है।

संवराधिकार

आस्रवका विरोधी तत्त्व संवर है अत आस्रवके बाद ही उसका वर्णन किया जा रहा है। 'आस्रव-निरोध सवर' आस्रवका रुक जाना संवर है। यद्यपि अन्य ग्रन्थकारोंने गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चरित्रको संवर कहा है किन्तु इस अधिकारमें कुन्दकुन्दस्वामीने भेदविज्ञानको ही संवरका मूल कारण बतलाया है। उनका कहना है कि उपयोग, उपयोगमें ही है, क्रोधादिकमें नहीं है और क्रोधादिक क्रोधादिकमें ही हैं उपयोगमें नहीं हैं। कर्म और नोकर्म तो स्पष्ट ही आत्मासे भिन्न हैं अत उनसे भेदज्ञान प्राप्त करनेमें महिमा नहीं है, महिमा तो उन रागादि भावकर्मोंसे अपने ज्ञानोपयोगको भिन्न करनेमें है, जो तन्मयीभावको प्राप्त होकर एक दिख रहे हैं। अज्ञानी जीव इस ज्ञानधारा और रागादिधाराको भिन्न-भिन्न नहीं समझ पाता, इसीलिये वह किसी पदार्थका ज्ञान होनेपर उनमें तत्काल राग-द्वेष करने लगता है। परन्तु ज्ञानी जीव उन दोनों धाराओंके अन्तरको समझता है इसलिये वह किसी पदार्थको देखकर उनका ज्ञाता दृष्टा तो रहता है परन्तु रागी, द्वेषी नहीं बनता। जहाँ यह जीव रागादिकको अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभावसे भिन्न अनुभव करने लगता है वहीं उनके सम्बन्धमें होने वाले राग-द्वेषसे बच जाता है। राग-द्वेषसे बच जाना ही सच्चा संवर है। किसी वृक्षको उखाड़ना है तो उसके पत्ते नोचनेसे काम नहीं चलेगा, उसकी जड़पर प्रहार करना होगा। इसी तरह आस्रव और बन्धको रोकना है तो मात्र क्रियाकाण्डसे काम नहीं चलेगा, किन्तु उसकी जड़पर प्रहार करना होगा। रागद्वेषकी जड़ है परपदार्थोंमें आत्मीयभाव—उनको अपना मानना। अत भेद-ज्ञानके द्वारा उन्हें अपने स्वरूपसे पृथक् समझना यही उनके नष्ट करनेका वास्तविक उपाय है। इस भेद-विज्ञान महिमाका गान करते हुए श्रीअमृतचन्द्रसूरिने कहा है—

भेदविज्ञानत सिद्धा सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥ ३१॥

जितने आज तक सिद्ध हुए हैं वे सब भेदविज्ञानसे ही सिद्ध हुए हैं और जितने संसारमें बद्ध हैं वे भेद-विज्ञानके अभावसे ही बद्ध हैं।

इस भेदविज्ञानकी भावना तबतक करते रहना चाहिये जबतक कि ज्ञान परसे च्युत होकर ज्ञानमें ही प्रतिष्ठित नहीं हो जाता। परपदार्थसे ज्ञानको भिन्न करनेका पुरुषार्थ चतुर्थ गुणस्थानसे शुरू होता है और दशम गुणस्थानके अन्तिम समयमें समाप्त होता है। वहाँ यह जीव परमार्थसे अपनी ज्ञानधाराको रागादिककी धारासे सर्वथा पृथक् कर लेता है। इस दशामें इस जीवका ज्ञान सचमुच ही ज्ञानमें प्रतिष्ठित हो जाता है और इसीलिये इस जीवके रागादिकके निमित्तसे होनेवाले बन्धका सर्वथा अभाव हो जाता है। मात्र योगके निमित्तसे सातावेदनीयका आस्रव और बन्ध होता है सो भी साम्परायिक आस्रव नहीं तथा स्थिति और अनुभाग बन्ध नहीं। मात्र ईर्यापथ आस्रव और मात्र प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है। अन्तर्मुहूर्तके भीतर ऐसा जीव नियमसे केवलज्ञान प्राप्त करता है। अहो! भव्य प्राणियो! संवरके इस साक्षात् मार्गपर अग्रसर होओ, जिससे आस्रव और बन्धसे छुटकारा मिले।

संवराधिकार १८१ से १९२ गाथा तक चलता है।

निर्जराधिकार

सिद्धोके अनन्तवें भाग और अभव्यराशिसे अनन्तगुणित कर्मपरमाणुओकी निर्जरा ससारके प्रत्येक प्राणीके प्रतिसमय हो रही है। पर ऐसी निर्जरासे किसीका कल्याण नही होता, क्योकि जितने कर्मपरमाणुओकी निर्जरा होती है उतने ही कर्मपरमाणु आस्रवपूर्वक आकर बन्धको प्राप्त हो जाते है। कल्याण उस निर्जरासे होता है जिसके होनेपर नवीन कर्मपरमाणुओका आस्रव और बन्ध नही होता। इसी उद्देश्यसे यहाँ कुन्दकुन्द महाराजने सवरके वाद ही निर्जरा पदार्थका निरूपण किया है। सवरके विना निर्जराकी कोई सफलता नही है।

निर्जराधिकारके प्रारम्भमें ही कहा गया है कि—

उपभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराण।
ज कुणदि सम्मदिट्ठी त सव्व णिज्जरणिमित्त॥ १९३॥

सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियोके द्वारा चेतन-अचेतन पदार्थोका जो उपभोग करता है वह सब निर्जराके निमित्त करता है। अहो! सम्यग्दृष्टि जीवकी यह कैसी उत्कृष्ट महिमा है, कि उसके पूर्ववद्ध कर्म उदयमें आ रहे है और उनके उदयकालमें होनेवाला उपभोग भी हो रहा है परन्तु उससे नवीन बन्ध नही होता, किन्तु पूर्ववद्ध कर्म अपना फल देकर खिर जाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव कर्म और कर्मके फलका भोक्ता अपने आपको नही मानता। उनका ज्ञायक तो होता है पर भोक्ता नही होता। भोक्ता अपने ज्ञानस्वभावका ही होता है यही कारण है कि उसकी वह प्रवृत्ति निर्जराका कारण बनती है।

सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञान और वैराग्यकी अद्भुत सामर्थ्य है। ज्ञानसामर्थ्यकी महिमा बतलाते हुए कुन्द-कुन्दस्वामीने कहा है कि जिस प्रकार विषका उपभोग करता हुआ वैद्य पुरुष मरणको प्राप्त नही होता उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष पुद्गलकर्मके उदयका भोग करता हुआ बन्धको प्राप्त नही होता। वैराग्यसामर्थ्यकी महिमा बतलाते हुए कहा है कि जिस प्रकार अरतिभावसे मदिराका पान करनेवाला मनुष्य मदको प्राप्त नही होता उसी प्रकार अरतिभावसे द्रव्यका उपभोग करनेवाला ज्ञानी पुरुष बन्धको पाप्त नही होता। कैसी विचित्र महिमा ज्ञान और वैराग्यकी है कि उनके होनेपर सम्यग्दृष्टि जीव मात्र निर्जराको करता है बन्धको नही। अन्य ग्रन्थोमें इस निर्जराका प्रमुख कारण तपश्चरण कहा गया है। परन्तु कुन्दकुन्दस्वामीने तपश्चरणको यथार्थ तपश्चरण बतानेवाला जो ज्ञान और वैराग्य है उसीका सर्वप्रथम वर्णन किया है। ज्ञान और वैराग्यके बिना तपश्चरण निर्जराका कारण न होकर शुभबन्धका कारण होता है।

अब प्रश्न यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवके क्या निर्जरा ही निर्जरा होती है, बन्ध बिलकुल नही होता? इसका उत्तर करणानुयोगकी पद्धतिसे यह होता है कि सम्यग्दृष्टि जीवके निर्जरा प्रारम्भ हो गई। मिथ्यादृष्टि जीवके ऐसी निर्जरा आज तक नही हुई, किन्तु सम्यग्दर्शन होते ही वह ऐसी निर्जराका पात्र बन जाता है। 'सम्यग्दष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षीणमोहजिना.' आगममें गुणश्रेणी निर्जराके ये दश स्थान बतलाये है इनमें निर्जरा उत्तरोत्तर बढती जाती है। सम्यग्दृष्टि जीवके निर्जरा और बन्ध दोनो चलते है। निर्जराके कारणोंसे निर्जरा होती है और बन्धके कारणोंसे बन्ध होता है। जहाँ बन्धका सर्वथा अभाव होकर मात्र निर्जरा ही निर्जरा होती है ऐसा तो सिर्फ चौदहवाँ गुणस्थान है। उसके पूर्व चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर तेरहवें गुणस्थानतक निर्जरा और बन्ध दोनो चलते है। यह ठीक है कि जैसे-जैसे यह जीव उपरितम गुणस्थानोमें चढता जाता है वैसे-वैसे निर्जरामें वृद्धि और बन्धमें न्यूनता होती जाती है। सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञान और वैराग्यशक्तिकी प्रधानता हो जाती है, इसलिये बन्धके कारणोकी

गौणता कर ऐसा कथन किया जाता है कि सम्यग्दृष्टिके निर्जरा ही होती है, बन्ध नहीं। उसी निर्जराधिकारमें कुन्दकुन्दस्वामीने सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंका विशद वर्णन किया है।

यह अधिकार १९३ से लेकर २३६ गाथा तक चलता है।

बन्धाधिकार

आत्मा और पौद्गलिक कर्म दोनों ही स्वतन्त्र द्रव्य हैं और दोनोंमें चेतन-अचेतनकी अपेक्षा पूर्व पश्चिम जैसा अन्तर है। फिर भी इनका अनादिकालसे संयोग बन रहा है। जिस प्रकार चुम्बकमें लोहेको खींचनेकी और लोहामें खिचनेकी योग्यता है, इसी तरह आत्मामें कर्मरूप पुद्गलको खींचनेकी और कर्मरूप पुद्गलमें खिचनेकी योग्यता है। अपनी-अपनी योग्यताके कारण दोनोंका एकक्षेत्रावगाह हो रहा है। इसी एकक्षेत्रावगाहको बन्ध कहते हैं। इस बन्धदशाके कारणोंका वर्णन करते हुए आचार्यने स्नेह अर्थात् रागभावको ही प्रमुख कारण बतलाया है। अधिकारके प्रारम्भमें ही वे एक दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार धूलि बहुल स्थानमें कोई मनुष्य शस्त्रोंसे व्यायाम करता है, ताड़ तथा केले आदिके वृक्षोंको छेदता भेदता है, इस क्रियासे उसके शरीरके साथ धूलिका सम्बन्ध होता है सो इस सम्बन्धके होनेमें कारण क्या है? उस व्यायामकर्ताके शरीरमें जो स्नेह—तैल लग रहा है वही उसका कारण है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव इन्द्रियविषयोंमें व्यापार करता है उस व्यापारके समय जो कर्मरूपी धूलिका सम्बन्ध उसकी आत्माके साथ होता है उसका कारण क्या है? उसका कारण भी उसकी आत्मामें विद्यमान स्नेह अर्थात् रागभाव है। यह रागभाव जीवका स्वभाव नहीं, किन्तु विभाव है और वह भी द्रव्यकर्मकी उदयावस्थारूप कारणसे उत्पन्न हुआ है। आस्रवाधिकारमें आस्रवके जो चार प्रत्यय—मिथ्यादर्शन, अविरमण, कषाय और योग बतलाये हैं वे ही बन्धके भी प्रत्यय—कारण हैं। इन्हीं प्रत्ययोंका संक्षिप्त नाम राग-द्वेष अथवा अध्यवसानभाव है। इन अध्यवसान भावोंका जिनके अभाव हो जाता है वे शुभ-अशुभकर्मोंके साथ बन्धको प्राप्त नहीं होते। जैसा कि कहा है—

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणे ण लिंपत्ति॥ २८०॥

सम्यग्दृष्टि जीव बन्धके इस वास्तविक कारणको समझता है। इसलिये वह उसे दूर कर निर्बन्ध अवस्थाको प्राप्त होता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव इस वास्तविक कारणको नहीं समझ पाता, इसलिये करोड़ो वर्षकी तपस्याके द्वारा भी वह निर्बन्ध अवस्था प्राप्त नहीं कर पाता। मिथ्यादृष्टि जीव धर्मका आचरण—तपश्चरण आदि करता भी है परन्तु 'धम्मं भोगणिमित्तं णदु कम्मक्खयणिमित्तं' धर्मको भोगके निमित्त करता है, कर्मक्षयके निमित्त नहीं।

अरे भाई! सच्चा कल्याण यदि करना चाहता है तो इस अध्यवसान भावोंको समझ और उन्हें दूर करनेका पुरुषार्थ कर।

कितने ही जीव निमित्तकी मान्यतासे बचनेके लिए ऐसा व्याख्यान करते हैं कि आत्मामें रागादिक अध्यवसान भाव स्वतः होते हैं, उसमें द्रव्यकर्मको उदयावस्था निमित्त नहीं है। ऐसे जीवोंको बन्धाधिकारकी निम्न गाथाओंका मनन कर अपनी श्रद्धा ठीक करनी चाहिये—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं॥ २७८॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं॥ २७९॥

जैसे स्फटिकमणि आप शुद्ध है वह स्वय ललाई आदि रगरूप परिणमन नही करता, परन्तु लाल आदि द्रव्योसे ललाई आदि रङ्गरूप परिणमन करता है इसी प्रकार ज्ञानी जीव आप शुद्ध है वह स्वय राग आदि विभाव भावरूप परिणमन नही करता है, किन्तु अन्य राग आदि दोषो—द्रव्यकर्मोदय जनित विकारोसे रागादि विभाव भावरूप परिणमन करता है।

श्रीअमृतचन्द्रस्वामीने भी निम्न कलशाके द्वारा उक्त भावका निरूपण किया है—

> न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्थकान्त।
> तस्मिन्निमित्त परसग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्॥ १७५॥

जिस प्रकार अर्ककान्त—स्फटिकमणि स्वय ललाई आदिको प्राप्त नही होता उसी प्रकार आत्मा स्वयं रागादिके निमित्तभावको प्राप्त नही होता। उसमें निमित्त परद्रव्यका संयोग ही है। वस्तुका स्वभाव ही यह है, किसीका किया नही है।

ज्ञानी जीव स्वभाव और विभावके अन्तरको समझता है। वह स्वभावको तो अकारण मानता है पर विभावको सकारण ही मानता है। ज्ञानी जीव स्वभावमें स्वत्वबुद्धि रखता है और विभावमें परत्वबुद्धि। इसीलिये वह बन्धसे बचता है।

यह अधिकार २३७ से लेकर २८७ गाथा तक चलता है।

मोक्षाधिकार

आत्माकी सर्व कर्मसे रहित जो अवस्था है उसे मोक्ष कहते है। मोक्ष शब्द ही इसके पूर्व होनेवाली बद्ध अवस्थाका प्रत्यय कराता है। मोक्षाधिकारमें मोक्षप्राप्तिके कारणोका विचार किया गया है। प्रारम्भमें ही कुन्दकुन्दस्वामी लिखते हैं—जिस प्रकार चिरकालसे बन्धनमें पडा हुआ कोई पुरुष उस बन्धनके तीव्र मन्द या मध्यम स्वभावको जानता है तथा उसके कालको भी समझता है परन्तु यदि उस बन्धनका—बेडीका छेदन नही करता है तो वह उस बन्धनसे मुक्त नही हो सकता। इसी प्रकार जो जीव कर्मबन्धके प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बन्धको जानता है परन्तु उस बन्धको छेदनेका पुरुषार्थ नही करता तो वह उस कर्मबन्धसे मुक्त नही हो सकता।

इस सन्दर्भमें कुन्दकुन्द स्वामीने बडी उत्कृष्ट बात कही है। वह उत्कृष्ट बात है सम्यक्चारित्र। हे जीव! तुझे श्रद्धान है कि मैं कर्मबन्धनसे बद्ध हूँ और बद्ध होनेके कारणोको भी जानता है परन्तु तेरा यह श्रद्धान और ज्ञान तुझे कर्मबन्धनसे मुक्त करनेवाला नही है, मुक्त करानेवाला तो यथार्थश्रद्धान और ज्ञानके साथ होनेवाला चारित्ररूप पुरुषार्थ ही है। जबतक तू इस पुरुषार्थको अगीकृत नही करेगा तबतक बन्धनसे मुक्त होना दुर्भर है। मात्र श्रद्धान और ज्ञानको लिये हुए तेरा सागरो पर्यन्तका दीर्घकाल यों ही निकल जाता है पर तू बधनसे मुक्त नही हो पाता। परतु उस श्रद्धान और ज्ञानके साथ जहाँ चारित्ररूप पुरुषार्थको अंगीकृत करता है वहाँ तेरा कार्य बननेमे विलम्ब नही लगता। यहाँ तक कि अन्तर्मुहूर्तमें भी काम बन जाता है।

हे जीव! तू मोक्ष किसका करना चाहता है? आत्माका करना चाहता है। पर इस सयोगीपर्यायके अन्दर तूने आत्माको समझा या नही? इस बातका तो विचार कर। नही इस संयोगीपर्यायको ही तो तूने आत्मा नही समझ रखा है। मोक्षप्राप्तिका पुरुषार्थ प्रारम्भ करनेके पहले आत्मा और बन्धको समझना आवश्यक है। कुन्दकुन्दस्वामी कहते है—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बंधो छेएदव्वो सुद्धो अप्पा य घेतव्वो ॥२९५॥

जीव और बन्ध अपने-अपने लक्षणोसे जाने जाते हैं। सो जानकर बन्ध तो छेदनेके योग्य है और आत्मा ग्रहण करने योग्य है।

शिष्य कहता है भगवन्! वह लक्षण तो बताओ, जिसके द्वारा मैं आत्माको समझ सकूँ। उत्तरमें कुन्दकुन्दमहाराज कहते हैं—

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो ॥२९६॥

उस आत्माका ग्रहण कैसे किया जावे? प्रज्ञा—भेदज्ञानके द्वारा आत्माका ग्रहण किया जावे। जिस तरह प्रज्ञासे उसे विभक्त किया था उसी तरह प्रज्ञासे उसे ग्रहण करना चाहिये।

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ॥२९७॥

प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करने योग्य जो चेतयिता है वही मैं हूँ और अवशेष जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं।

इस प्रकार स्वपरके भेदविज्ञानपूर्वक जो चारित्र धारण किया जाता है वही मोक्षप्राप्तिका वास्तविक पुरुषार्थ है। चारित्रकी परिभाषा करते हुए कुन्दकुन्दस्वामीने प्रवचनसारमें कहा है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥

चारित्र ही वास्तवमें धर्म है, और सम परिणाम धर्म है तथा मोह—मिथ्यात्व और क्षोभ—रागद्वेषसे रहित आत्माकी जो परिणति है वही साम्यभाव है।

व्रत, समिति, गुप्ति आदि इसी साम्यभावरूप चारित्रकी प्राप्तिमें साधक होनेसे चारित्र कहे जाते हैं। यह अधिकार २२८ से लेकर ३०७ गाथा तक चलता है।

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

आत्माके अनंत गुणोंमें ज्ञान ही सबसे प्रमुख गुण है। उसमें किसी प्रकारका विकार शेष न रह जावे, इसलिये पिछले अधिकारोमें उक्त-अनुक्त बातोंका एक बार फिरसे विचार कर ज्ञानको सर्वथा निर्दोष बनानेका प्रयत्न इस सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारमे किया गया है।

आत्मा परद्रव्यके कर्तृत्वसे रहित है। इसके समर्थनमें कहा गया कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही गुण और पर्यायरूप परिणमन करता है, अन्य द्रव्यरूप नही, इसलिये वह परका कर्ता नही हो सकता। अपने ही गुण और पर्यायोका कर्ता हो सकता है। यही कारण है कि आत्मा कर्मोंका कर्ता नहीं है। कर्मोंका कर्ता पुद्गल द्रव्य है, क्योंकि ज्ञानावरणादिरूप परिणमन पुद्गलद्रव्यमें ही हो रहा है। इसी तरह रागादिकका कर्ता आत्मा ही है, परद्रव्य नही, क्योंकि रागादिरूप परिणमन आत्मा ही करता है। निमित्तप्रधान दृष्टिको लेकर पिछले अधिकारमें पुद्गलजन्य होनेके कारण रागको पौद्गलिक कहा है। यहाँ उपादानप्रधान दृष्टिको लेकर कहा गया है कि चूँकि रागादिरूप परिणमन आत्माका होता है, अत आत्माके हैं। अमृतचन्द्रस्वामीने तो यहाँ तक कहा है कि जो जीव रागादिककी उत्पत्तिमें परद्रव्यको ही निमित्त मानते हैं वे शुद्धबोधविधुरान्ध बुद्धि हैं। तथा मोहरूपी नदीको नही तैर सकते—

रागजन्मनि निमित्तता परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते ।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनी शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धय ॥२२१॥

कितने ही महानुभाव अपनी एकान्त उपादानकी मान्यताका समर्थन करनेके लिये इस कलशाका अवतरण दिया करते हैं। पर वे श्लोकमें पडे हुए 'एव' शब्दकी ओर दृष्टिपात नही करते। यहाँ अमृतचन्द्रसूरि 'एव' शब्दके द्वारा, यह प्रकट कर रहे हैं कि जो रागकी उत्पत्तिमें परद्रव्यको ही कारण मानते हैं स्वद्रव्यको कारण नही मानते, वे मोहनदीको नही तैर सकते। रागादिककी उत्पत्तिमें परद्रव्य निमित्त कारण है और स्वद्रव्य उपादानकारण है। सो जो पुरुष स्वद्रव्यरूप उपादानकारणको न मानकर परद्रव्यको ही कारण मानते हैं—मात्र निमित्तकारणसे उनकी उत्पत्ति मानते हैं वे मोहनदीको नही तैर सकते। यह ठीक है कि निमित्त कार्यरूप परिणत नही होता, परन्तु कार्यकी उत्पत्तिमें उसका साहाय्य अनिवार्य आवश्यक है। अन्तरङ्ग बहिरङ्ग कारणोंसे कार्यकी उत्पत्ति होती है। जिनागमकी यह निर्विवाद मान्यता सनातन है।

आत्मा परका—कर्मका कर्ता नही है, यह सिद्धकर ज्ञानी जीवको कर्मचेतनासे रहित सिद्ध किया गया है। इसी तरह ज्ञानी जीव अपने ज्ञायकस्वाभावका ही भोक्ता है, कर्मफलका भोक्ता नही हैं यह सिद्धकर कर्मफलचेतनासे उसे रहित सिद्ध किया है। ज्ञानी तो एक ज्ञानचेतनासे ही सहित है, उसीके प्रति उसकी स्वत्वबुद्धि रहती है।

इस अधिकारके अन्तमें एक बात और बडी सुन्दर कही गई है। कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि कितने ही लोग मुनिलिङ्ग अथवा गृहस्थके नानालिङ्ग धारण करनेकी प्रेरणा इसलिये करते है कि ये मोक्षके मार्ग है परन्तु कोई लिङ्ग मोक्षका मार्ग नही है। मोक्षका मार्ग तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं। इसलिये—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि त चेव झाहि तं चेव ।
तत्थेव विहर णिच्च मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥ ४१२॥

मोक्षमार्गमें आत्माको लगाओ, उसीका ध्यान करो, उसीका चिन्तन करो और उसीमें विहार करो, अन्य द्रव्योमें नही।

इस निश्चयपूर्ण कथनका कोई यह फलितार्थ न निकाल ले कि कुन्दकुन्दस्वामी मुनिलिङ्ग और श्रावक लिङ्गका निषेध करते हैं। इसलिए वे लगे हाथ अपनी नयविवक्षाको प्रकट करते हैं—

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे ।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

परन्तु व्यवहारनय दोनो लिङ्गोंको मोक्षमार्गमें कहता है और निश्चयनय मोक्षमार्गमें सभी लिङ्गोको इष्ट नही मानत ा।

इस तरह विवादके स्थलोको कुन्दकुन्दस्वामी तत्काल स्पष्ट करते हुए चलते है। 'जिनागमका कथन नयविवक्षापर अवलम्बित है' यह तो सर्व सम्मत बात है। इसलिये व्याख्यान करते समय वक्ता अपनी नयविवक्षाको प्रकट करते चलें और श्रोता भी उस नयविवक्षासे व्याख्यात तत्त्वको उसी नयविवक्षासे ग्रहण करनेका प्रयास करें, ता विसवाद उत्पन्न होनेका अवसर नही आ सकता।

यह अधिकार ३०८ से लेकर ४१५ गाथा तक चलता है

स्याद्वादाधिकार

यह अधिकार श्री अमृतचन्द्रस्वामीने स्वरचित आत्मख्याति टीकाके अङ्गस्वरूप लिखा है। इतना

स्पष्ट है कि समयप्राभृत अध्यात्मग्रन्थ है। अध्यात्मग्रन्थोका वस्तुतत्त्व सीधा आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाला होता है। इसलिये उसके कथनमें निश्चयनयका आलम्बन प्रधानरूपसे लिया जाता है, परपदार्थसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यवहारनयका आलम्बन गौण रहता है। जो श्रोता दोनों नयोके प्रधान और गौण भावपर दृष्टि नही रखते हैं उन्हें भ्रम हो सकता है। उनके भ्रमका निराकरण करनेके उद्देश्यसे ही अमृतचन्द्रस्वामीने इस अधिकारका अवतरण किया है।

इस अधिकारमें उन्होने स्याद्वादके वाच्यभूत अनेकान्तका समर्थन करनेके लिये तत्-अतत्, सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनेक नयोसे आत्मतत्त्वका निरूपण किया है। अन्तमें कलश-काव्योंके द्वारा इसी बातका समर्थन किया है। अमृतचन्द्रस्वामीने अनेकान्तको परमागमका जीव—प्राण और समस्त नयोंके विरोधको नष्ट करनेवाला माना है। जैसा कि उन्होने स्वरचित पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थके मङ्गलरूपमें कहा है—

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

आत्मख्याति टीकाके प्रारम्भमें भी उन्होने यही आकाक्षा प्रकट की है—

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्॥

अनन्तधर्मात्मक परमात्मतत्त्वके स्वरूपका अवलोकन करनेवाली अनेकान्तमयी मूर्ति निरन्तर ही प्रकाशमान रहे।

इसी अधिकारमें जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति आदि ४७ शक्तियोका निरूपण किया है जो नयविवक्षाके परिज्ञानसे ही सिद्ध होती हैं। इन शक्तियोंका विवेचन ग्रन्थकी टीकामें किया गया है। इसी अधिकारमें उपायोपेयभावका भी विचार किया है। इसमें एक ज्ञानमात्र आत्मामें ही उपाय और उपेयभावका समर्थन किया है। वही आत्मा साधक है और वही आत्मा सिद्ध भी है। अन्तमें १ स्यादस्ति, २ स्यान्नास्ति, ३ स्यादस्तिनास्ति, ४ स्यादवक्तव्य, ५ स्यादस्ति अवक्तव्य, ६ स्यान्नास्ति अवक्तव्य और ७ स्यादस्ति-नास्ति अवक्तव्य इन सात भङ्गोंके द्वारा द्रव्यका निरूपण किया है।

संस्कृतटीकाकारोका परिचय

अमृतचन्द्रसूरि

समयसार या समयप्राभृतपर दो संस्कृत-टीकाएँ उपलब्ध हैं—एक आत्मख्याति और दूसरी तात्पर्य-वृत्ति। आत्मख्यातिके रचयिता अमृतचन्द्रसूरि हैं। इन्होंने कुन्दकुन्दस्वामीके हार्द (अभिप्राय) को खोलनेका पूर्ण प्रयास किया है। कुन्दकुन्दस्वामीके प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय और समयसारपर इनकी टीकाएँ मिलती हैं जो तत्तत् ग्रन्थोके साथ मुद्रित हो चुकी हैं। आपकी भाषा पाण्डित्यपूर्ण है। अध्यात्मग्रन्थोकी टीकामें यदि सरल भाषाका प्रयोग होता तो और भी लाभदायक होता। समयसारकी टीकाके साथ आपने गाथाओंके अभिप्रायको स्पष्ट अथवा पल्लवित करनेके लिये श्लोक भी लिखे हैं जो कलशाके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनके संस्कृतटीकासहित तथा मात्र हिन्दी टीकासहित अलगसे भी संस्करण प्रकाशित हुए हैं। ये कलशकाव्य इतने लोकप्रिय सिद्ध हुए हैं कि कितने ही महानुभावोंके नित्यपाठमें सम्मिलित हो गये हैं। इन्हींकी शैलीका अनुकरण कर पद्मप्रभमलधारीदेवने नियमसारकी संस्कृत-टीका लिखी है तथा टीकाके बाद कलश-काव्य भी।

इन टीकाओंके सिवाय अमृतचन्द्रस्वामीके द्वारा विरचित पुरुषार्थसिद्धयुपाय तथा तत्त्वार्थसार ये दो ग्रन्थ और मिलते हैं। इन आचार्यने अपना परिचय किसी ग्रन्थमें नहीं दिया है। यहाँतक कि समयसारके इस निरूपणका कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं है' इनके ऊपर गहरा प्रभाव पडा है, जिससे वे समयसारके अन्तमें लिखते हैं—

स्वशक्तिससूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेय समयस्य शब्दै ।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्त्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरे ॥ २७८ ॥

अपनी शक्तिसे वस्तुस्वरूपको सूचित करनेवाले शब्दोंके द्वारा यह समय—आगम अथवा समयसारकी व्याख्या की गई है। स्वरूपमें गुप्त रहनेवाले अमृतचन्द्रसूरिका इसमें कुछ भी कर्तृत्व नहीं है।

इसी भावके श्लोक पञ्चास्तिकाय तथा पुरुषार्थसिद्धयुपायके अन्तमें उपलब्ध हैं।

यह आचार्य अनेकान्तके अनन्यभक्त थे। निश्चय और व्यवहारनयके पारस्परिक विरोधको शमन करनेके लिये पुरुषार्थसिद्धयुपायमें इन्होंने लिखा है—

व्यवहारनिश्चयौ य प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थ ।
प्राप्नोति देशनाया स एव फलमविकल शिष्य ॥ ८ ॥

जो यथार्थरूपमें व्यवहार और निश्चयनय को जानकर मध्यस्थ होता है वही शिष्य देशनाके पूर्ण फलको प्राप्त होता है।

ये विक्रम सवत् १००० के लगभग हुए है क्योकि जयसेनके धर्मरत्नाकरमें इनके द्वारा रचित पुरुषार्थसिद्धयुपायके ५९ पद्य उद्धृत हैं। जयसेनने अपना यह ग्रन्थ वि० स० १०५५ मे बनाया है, ऐसा उसकी प्रशस्तिके अन्तिम पद्यसे प्रकट है। इसतरह अमृतचन्द्रसूरि १०५५ के पूर्ववर्ती ही हैं, उत्तरवर्ती नहीं।[1]

जयसेनाचार्य

तात्पर्यवृत्तिके कर्ता श्रीजयसेनाचार्य हैं। इनकी टीकाकी भाषा बहुत सरल और हृदयग्राही है। वास्तवमें अध्यात्म-ग्रन्थोंकी टीका ऐसी ही भाषामें होनी चाहिये। इन्होंने कुन्दकुन्दके प्रवचनसार, समयसार और पञ्चास्तिकाय इन तीनों ग्रन्थोंपर टीकाएँ लिखी हैं और उनमें निश्चय-व्यवहारनयका ऐसा सुन्दर सामञ्जस्य बैठाया है कि पढते समय हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्तिकी गाथाओंमें कहीं-कहीं हीनाधिकता पाई जाती है अर्थात् तात्पर्यवृत्तिमें ऐसी अनेक गाथाएँ हैं जिनकी टीका अमृतचन्द्रसूरिने नहीं की है। इससे इतना सिद्ध होता है कि इन ग्रन्थोंकी प्रतियोंमें पाठभेद बहुत पहलेसे पाया जाता है। अमृतचन्द्रस्वामीने अपनी टीकाका आधार अन्य प्रतिको बनाया होगा और जयसेनने दूसरी प्रतिको। अमृतचन्द्रस्वामीने छानबीनकर द्विरुक्त अथवा अनावश्यक गाथाओंको छोडा है परन्तु जयसेनने ऐसा नहीं किया।

जयसेन बारहवीं शताब्दीके विद्वान् हैं। इनकी टीकाकी पद्धतिका अनुसरणकर परमात्मप्रकाश और बृहद्द्रव्यसग्रहकी टीकाएँ तत्तत् कर्त्ताओंके द्वारा लिखी गयी।

पं० बनारसीदासजी

जैनसाहित्यमें हिन्दी भाषाका इतना बडा अन्य कवि नहीं हुआ। इनका जन्म एक धनी-मानी सम्भ्रान्त

१ देखो, अनेकान्त वर्ष ८ अक ३—५।

परिवारमें हुआ था। इनके प्रपितामह जिनदासका साका चलता था, पितामह मूलदास हिन्दी और फारसीके पंडित थे और यह नरवर (मालवा) में वहाँके मुसलमान नवाबके मोदी होकर गये थे। इनके मातामह मदनसिंह चिनालिया जौनपुरके प्रसिद्ध जौहरी थे और पिता खड्गसेन कुछ दिनों तक बंगालके सुलतान मोदी खाँके पोतदार रहे थे। इनका जन्म जौनपुरमें माघ सुदी ११ संवत् १६४३ में हुआ था। यह श्रीमाल वैश्य थे। यह बड़े ही प्रतिभाशाली सुधारक कवि थे। शिक्षा सामान्य प्राप्त की थी, पर अद्भुत प्रतिभा होनेके कारण यह अच्छे कवि थे। इन्होंने १४ वर्षकी अवस्थामें एक हजार दोहा-चौपाईयोंका नवरस नामक ग्रन्थ बनाया था, जिसे आगे चलकर, इस भयसे कि संसार पथ-भ्रष्ट न हो, गोमतीमें प्रवाहित कर दिया था।

इनके पिता मूलतः आगरा-निवासी ही थे तथा इन्हें भी बहुत दिनों तक आगरा रहना पड़ा था। उस समय आगरा जैन विद्वानोंका केन्द्र था। इनके सहयोगियोंमें पं० रामचन्द्रजी, चतुर्भुज बैरागी, भगवतीदासजी, धर्मदासजी, कुंवरपालजी और जगजीवनरामजी विशेष उल्लेख योग्य हैं। ये सभी कवि थे। महाकवि बनारसीदासका सन्तकवि सुन्दरदाससे सम्पर्क था। बताया गया है[1]—"प्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदासके साथ सुन्दरदासकी मैत्री थी। सुन्दरदास जब आगरे गये थे तब बनारसीदासके साथ सम्पर्क हुआ था। बनारसीदासजी सुन्दरदासकी योग्यता, कविता और यौगिक चमत्कारोंसे मुग्ध हो गये थे। तभी इतनी श्लाघायुक्त कण्ठसे उन्होंने प्रशंसा की थी। परन्तु वैसे ही त्यागी और मेधावी बनारसीदासजी भी थे। उनके गुणोंसे सुन्दरदासजी प्रभावित हो गये, इसीसे वैसी अच्छी प्रशंसा उन्होंने भी की थी।"

महाकवि बनारसीदासका सम्पर्क महाकवि तुलसीदासके साथ भी था। एक किंवदंतीमें कहा गया है कि कवि तुलसीदासने अपनी रामायण बनारसीदासको देखनेके लिये दी थी। जब मथुरामें लौटकर तुलसीदास आगरा आये तो बनारसीदासने रामायणपर अपनी सम्मति "विराजै रामायण घटमाही मर्मी होय मर्म सो जाने मूरख समझें नाही।" इत्यादि पद्यमें लिखकर दी थी। कहते है इस सम्मतिसे प्रसन्न होकर ही तुलसीदासने कुछ पद्य भगवान् पार्श्वनाथकी स्तुतिमें लिखे हैं। ये पद्य शिवनन्दन द्वारा लिखित गोस्वामीजीकी जीवनीमें प्रकाशित हैं। इनकी निम्न रचनाएँ हैं—

१ नाममाला—एक सौ पचहत्तर दोहोंका छोटा-सा शब्दकोष है। इसकी सं० १६७० में जौनपुरमें रचना की थी।

२ नाटकसमयसार—यह कविवरकी सबसे प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण रचना है। इसकी रचना सं० १६९३ में आगरामें की गयी थी।

३ बनारसीविलास—इसमें ५७ फुटकर रचनाएँ संग्रहीत हैं। इसका संकलन सं० १७०१ में पं० जगजीवनने किया था।

४ अर्द्धकथानक—इसमें कविने अपनी आत्मकथा लिखी है। इसमें संवत् १६९८ तककी सभी घटनाएँ दी गयी हैं।[2]

आद्य हिन्दी-टीकाकार श्रीजयचन्द्र

आत्मख्यातिके आधारपर समयसारकी सर्वप्रथम हिन्दी टीका पं० जयचन्द्रजीने की है। इस टीकाका निर्माण इन्होंने कार्तिक वदी १० विक्रम संवत् १८६४ को किया है।

१,२ डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्यकृत हिन्दी-जैन-साहित्य-परिशीलन, भाग १, पृ० २४४ से साभार उद्धृत।

श्री प० जयचन्द्रजी छावडा खण्डेलवाल जैन थे। जयपुरसे ३० मीलकी दूरीपर स्थित फागई (फागी) ग्राममें रहनेवाले श्री मोतीरामजीके पुत्र थे। बाल्यावस्थामे ही इनकी जैनतत्त्वचर्चामे रुचि थी। कुछ समय बाद आप फागईसे जयपुर आ गये। यहाँ आनेपर इन्होने विद्वानोकी अच्छी शैली देखी। उन विद्वानोके सपर्कसे आपकी स्वाध्याय सम्बन्धी अभिरुचि बढती गई। इनका जन्म वि० स० १७९५ को हुआ था और समाधि-मरण १८८१-८२ के लगभग माना जाता है। आपकी रचनाओमें उनका काल दिया हुआ है, जिससे जान पडता है कि आपने १८५९ से रचना करना शुरू किया है और यह रचनाकार्य १८७४ वि० स० तक चलता रहा है। आप सस्कृतभाषाके अच्छे जानकार थे। न केवल धर्मविषयके आप ज्ञाता थे, किन्तु न्याय-विषयमें भी अच्छे निष्णात थे। ये स्वतन्त्र कविताए भी लिखते थे। समयसारके प्रत्येक अधिकारमें जो आपने सवैया आदि पद्य दिये है वे बहुत ही भावपूर्ण हैं। आपकी साहित्यिक रचनाए निम्न प्रकार हैं—

(१) तत्त्वार्थसूत्रवचनिका	वि० स० १८५९
(२) सर्वार्थसिद्धिवचनिका*	चैत्रशुक्ला ५ स० १८६१
(३) प्रमेयरत्नमालावचनिका*	आषाढ शु० ४ स० १८६३
(४) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षावचनिका*	श्रावण कृ० ३ स० १८६३
(५) द्रव्यसग्रहवचनिका*	श्रावण कृष्णा १४ स० १८६३
(६) समयसारवचनिका*	कार्तिक कृ० १० स० १८६४
(७) देवागम (आप्तमीमासा) वचनिका*	चैत्र कृ० १४ वि० स० १८६६
(८) अष्टपाहुडवचनिका*	भाद्र० शु० १२ स० १८६७
(९) ज्ञानार्णवचनिका*	माघ कृष्ण ५ स० १८६९
(१०) भक्तामरस्तोत्रवचनिका	कार्तिक कृ० १२ स० १८७०
(११) पद्योकी पुस्तक (मौलिक) (२४६ पद्योका सग्रह)	आषाढ शु० १० स० १८७४
(१२) सामायिकपाठवचनिका	
(१३) पत्रपरीक्षावचनिका	
(१४) चन्द्रप्रभचरित्र-द्वितीयसर्ग-वचनिका	
(१५) मतसमुच्चयवचनिका	
(१६) धन्यकुमारचरित-वचनिका	

इन रचनाओमें तारकाङ्कित ग्रन्थोकी प्रतियाँ स्वय पण्डितजीके हाथकी लिखी हुई दि० जैन बडा मन्दिर जयपुरमें विराजमान है।[1]

प्रस्तुत टीकाके कर्त्ता श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी

इस सस्करणमें सर्व प्रथम प्रकाशित टीकाके कर्ता जैनसमाजके अतिशय प्रसिद्ध एव जन-जनके श्रद्धा-भाजन पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज है। आपका जन्म असाटी वैश्य नामक वैष्णव कुलमें झाँसी जिलाके अन्तर्गत (ललितपुर) हँसेरा ग्राममें कुवार वदी ४ वि० स० १९३१ को हुआ था। पिताका नाम हीरालालजी और माताका नाम उजियारी था। हँसेरासे आकर आपके पिताजी मडावरा (ललितपुर)में रहने लगे थे।

---

१. श्री प० जयचन्दजी छावडाका परिचय तथा उनके साहित्यिक कार्योंकीसूची द्रव्यसग्रह भाषा-वचनिकाकी डॉ० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा लिखित भूमिकासे साभार ली गयी है।

जैनमन्दिरके समीप उनका घर था । मन्दिरमें होनेवाली पद्मपुराणकी वचनिका सुनकर बालक गणेशप्रसादकी जैनधर्मकी ओर रुचि जागृत हुई और वह उत्तरोत्तर इतनी वृद्धिगत होती गई कि उसने इन्हें दिगम्बर मुद्रामें दीक्षित कराया ।

आपने धर्ममाता श्री चिरोंजाबाईजीके सपर्कमें आकर बहुत कुछ पाया । वाराणसी, खुर्जा, नदिया, मथुरा, आदि स्थानोंमें रहकर सस्कृतभाषा और नव्यन्यायका उच्च अध्ययन किया । गवर्नमेंन्ट क्वीन्स कालेज बनारससे न्यायाचार्य परीक्षा पास की । बनारसका स्याद्वाद महाविद्यालय और सागरका गणेश दि० जैन विद्यालय स्थापित कर आपने जैन समाजमें सस्कृत तथा धार्मिक विद्याका भारी प्रचार किया ।

आप पहले वर्णी, फिर क्षुल्लक और अन्तिम समयमें दिगम्बर मुनि पदके धारक हुए । आपने अगणित मानवोका कल्याण किया । 'मेरी जीवनगाथा' प्रथम और द्वितीय भाग स्वलेखनीसे लिखकर समाजके लिये आपने अपने जीवनकी उदात्त घटनाओंसे परिचित कराया है। समयसार आपका प्रिय विषय था । वर्षों आपने इसका मनन किया था । और उसके बाद यह टीका अपने लिखी थी । आपके हाथकी लिखी प्रति श्री ग० वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसीमें सुरक्षित है । पत्रलेखनकलामें आपकी प्रतिभा अद्भुत थी । आपने अपने भक्त-जनोको सैंकडो पत्र लिखे हैं, जिनमें तत्त्वका अच्छा उपदेश भरा हुआ है । उन पत्रोंके कई सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं । आप प्रवचनकलाके पारगत विद्वान् थे । कठिन-से-कठिन विषयको इतनी सरलतासे समझाते थे कि श्रोता मन्त्रमुग्ध-से रह जाते थे । 'वर्णी-वाणी'के नामसे आपके उपदेशो, सन्देशों एव पत्रोंका चार भागोमें प्रकाशन ग० वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसीसे हो चुका है ।

विक्रम सवत् २०१८ भाद्रपद कृष्णा ११ को ईसरीमें मुनि अवस्थामें आपका समाधिमरण हुआ । खेद है कि उनकी यह रचना उनके जीवनकालमें प्रकाशित नही हो सकी । आपका मुनि अवस्थाका नाम श्री १०८ गणेशकीर्ति महाराज था ।

सागर
श्रावण शुक्ला १०,
२०२६ विक्रमाब्द,

विनीत
पन्नालाल जैन

विषय-सूची

पुण्यपापाधिकार

आस्रवाधिकार

संवराधिकार

निर्जराधिकार

बन्धाधिकार

स्याद्वादाधिकार



आध्यात्मिक संत, प्रशममूर्ति श्री गणेशप्रसाद वर्णी

सिद्धपरमात्मने नम. ।

कलिकालप्राणिकल्याणकारकश्रीकुन्दकुन्दाय नम ।

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित

समयसार

प्रशममूर्ति आध्यात्मिक सन्त श्रीगणेशवर्णीकृत

समयसार-प्रवचनसहित

चिदानन्दमय ज्योति सर्वतत्त्वावभासकम् ।
विभ्राजता मम स्वान्ते रागद्वेपविवर्जितम् ॥ १ ॥
समयप्राभृत भव्य भव्यचेतोऽभिरञ्जकम् ।
कुन्दकुन्दकृत भक्त्या विवृणोमि समासत ॥ २ ॥
कुन्दकुन्दमुखोद्भृत वचोऽनेकान्तभूपितम् ।
भूयाद् भव्यमनोमोहतिमिरौघविनाशनम् ॥ ३ ॥
आचार्यामृतचन्द्रोऽसौ जयसेनश्च सन्मुनिः ।
व्याख्याकारौ मम स्याता मार्गदर्शनदीपकौ ॥ ४ ॥
भूयासो भविन सन्ति सस्कृतज्ञानवर्जिता ।
तेपा कृते प्रयासोऽय लोकभापामयो मम ॥ ५ ॥

१ जीवाजीवाधिकार

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य मङ्गलाचरणपूर्वक ग्रन्थ करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवम गइ पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली-भणियं ॥ १ ॥

अर्थ—अहो भव्यजीवो ! मैं कुन्दकुन्दाचार्य ध्रुव, अचल और अनुपम गतिको प्राप्त सर्व सिद्ध-परमात्माओकी वन्दना कर इस समयप्राभृतको कहूँगा, जो श्रुतकेवलीके द्वारा कहा गया है।

विशेषार्थ—ससारमे दो प्रकारके पदार्थ हैं—एक चेतन और दूसरे अचेतन। उनमे चेतन पदार्थको जीव कहते हैं और जो अचेतन है उसे अजीव कहते हैं। अजीवके ५ भेद आगममे कहे हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। जीवसहित इन्ही पाँचको पट्द्रव्य कहते हैं। इन छह

द्रव्योमे धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य सर्वथा शुद्ध हैं—इनमे कोई प्रकारका विभाव परिणमन नही होता, सर्वदा इन द्रव्योका एक सदृश परिणमन रहता है। शेष जो जीव और पुद्गल द्रव्य हैं वे स्वभावरूप भी परिणमते हैं और विभावरूप भी। जब वे जीव और पुद्गल केवल अपनी अवस्थामे (अलग-अलग) रहते हैं तब उनका परिणमन शुद्ध ही रहता है और जबतक जीव तथा पुद्गलकी परस्पर अनादिकालसे आगत बन्धावस्था रहती है तबतक अशुद्ध परिणमन रहता है। हाँ, इतनी विलक्षणता है कि पुद्गल द्रव्यकी अशुद्धावस्था जीवके साथसे भी होती है और पुद्गल के सम्बन्धसे भी। किन्तु जीवकी अशुद्धावस्था केवल पुद्गलके सम्बन्धसे ही होती है। अत इस ससारमे अनादिकालसे यह जीव कर्मरूप पुद्गलके सम्बन्धसे निरन्तर अशुद्धावस्थाका पात्र हो रहा है और जबतक अशुद्धावस्था रहेगी तबतक ससारका पात्र रहेगा। ससारी होनेसे ससारमे जो सुख-दु ख होता है उसका वह भोक्ता भी होता है[1]। जब इस जीवका ससार अल्प रहता है तब इस जीवको यह विचार होता है कि मेरा निज शुद्ध स्वभाव तो परको केवल देखना और जानना है, मैं जो उनको अपना इष्ट-अनिष्ट मानता हूँ यह मेरी अज्ञानता है। जैसे दर्पणमे पदार्थके प्रतिबिम्बित होनेसे दर्पण कुछ पदार्थ नही हो जाता, केवल घटपटादि पदार्थोके सम्बन्धसे दर्पणका घटपटादि प्रतिबिम्बरूप परिणमन हो जाता है। यह परिणमन दर्पणकी ही स्वच्छताका विकार है। विकारका अर्थ परिणमन ही है। इसी तरह आत्मद्रव्य ज्ञानादिगुणोका पिण्ड है। उसके ज्ञानगुणमे यह विशेषता है कि उसके समक्ष जो भी पदार्थ आता है उसके ज्ञातृत्वरूप परिणमनका वह कर्ता होता है, वह ज्ञान अन्य ज्ञेयरूप नही हो जाता। परन्तु अनादिकालीन आत्माके साथ ज्ञानशक्तिके सदृश एक विभावनामकी शक्ति है जिसके कारण आत्मामे मोहनीयकर्मके निमित्तसे अनर्थका मूल मोह उत्पन्न होता है। उसी मोहके उदयमे आत्मा विभ्रान्त दशाका पात्र होता है और उस विभ्रान्तदशामे परमे निजत्वकी कल्पना कर रागी-द्वेषी होता है और उनके वशीभूत होकर जो अनर्थ करता है वह किसीसे छिपा नही है। इसी चक्रका नाम ससार है। इस ससारसे मुक्त होनेके अर्थ सकलपरमात्माने एक ही मार्ग निर्दिष्ट किया है। वह है निज स्वभावका आलम्बन। उसका आलम्बन होते ही जीव बन्धनसे छूट जाता है। अत जिन जीवोको आत्मकल्याणकी अभिलाषा है वे उन जीवोकी, जो कर्मबन्धसे छूट गये हैं, उपासना कर स्व-स्वरूपकी प्राप्तिकी दिशामे बढें। इसी अभिप्रायको लेकर श्रीकुन्दकुन्द महाराजने प्रथम ही इस समयप्राभृतमे सिद्धभगवान्‌को नमस्कार किया है। 'ध्रुव, अचल और अनुपम गतिको जिन्होने प्राप्त किया है ऐसे सिद्ध परमात्माको नमस्कार कर मै श्रुतकेवलीके द्वारा प्रतिपादित समयप्राभृत कहूँगा' ऐसा कहनेमे आचार्य महाराजका यह आशय विदित होता है कि इसके द्वारा हमारा और परका दोनोका कल्याण होगा। समयप्राभृतके निरूपण करनेमे उपयोग निरन्तर आत्मस्वरूपके परामर्शमे तल्लीन रहेगा, इससे निरन्तर मन्दकषाय रहेगी तथा वस्तुस्वरूपके विचारमे जो स्वरूपमे स्थिरता होगी वह ध्यानकी साधक होगी, अत कर्मोकी निर्जरा भी अवश्यभाविनी है जो सिद्धपदकी प्राप्तिमे परम्पराकारण होगी, यह तो स्वयको लाभ है ही, किन्तु जो भव्यजीव इसका पठन-पाठन करनेमे समय लगावेंगे उनके सर्वप्रथम तो समयके सदुपयोगका अवसर आवेगा, द्वितीय, सासारिक पदार्थोके सहवासमे

---

१. व्यवहारनयसे जीव कर्मफल—सुख-दु खका भोक्ता होता है, निश्चयसे अपने ज्ञानदर्शनका भोक्ता है

—द्रव्यसग्रह गाथा

जो निरन्तर कलुपित परिणाम रहते है उनसे रक्षा होगी और तृतीय, अनन्तकालसे अप्राप्त जो आत्मज्ञान उसके पात्र होगे। उसके पात्र होते ही निरन्तर परिणामोकी निर्मलतासे उस तत्त्वका विकास वृद्धिरूप हो जावेगा, जो परम्परासे परमात्माके समकक्ष पहुँचा देगा। ऐसा इस समयप्राभृतके कहनेका उद्देश्य श्रीकुन्दकुन्द महाराजका है।

मूल गाथामे स्वामीने सिद्धगतिको तीन विशेषणोसे विशेपित किया है अर्थात् सिद्धगति ध्रुव, अचल और अनुपम है, यह प्रतिपादित किया है। ससारी आत्माएँ निरन्तर कलुषित और चञ्चल रहती है, क्योकि उनके मोह और योगका सद्भाव है। गुणस्थानोके होनेमे मोह और योग ही कारण है। मोहकी मुख्यतासे वारह गुणस्थान है और योगकी मुख्यतासे त्रयोदशवाँ तथा चतुर्दशवाँ गुणस्थान है। मोहसे आत्मामे मिथ्यात्व एव राग-द्वेषकी उत्पत्ति होती है जिससे आत्मा निरन्तर कलुपित रहता है और उसी कलुषतासे नाना प्रकारके विभावोका पात्र होता है। इन तीनोमे मोह आत्माको अनन्त ससारका पात्र बनाता है, अत मोहका नाम मिथ्यात्व है। इसीके प्रतापसे आत्मा परपदार्थोके निमित्तसे जायमान रागादिकोमे निजत्वका सकल्प करता है। वास्तवमे मिथ्यादर्शन अनिर्वचनीय है, क्योकि ज्ञानगुणको छोडकर जितने भी आत्माके गुण हैं सर्व ही निर्विकल्प है, मात्र ज्ञानगुण ही एक ऐसा गुण है जो सबकी व्यवस्था बनाये हुए है। अत मिथ्यादर्शनके होनेपर आत्मामे परपदार्थोंके प्रति जो निजत्वकी बुद्धि होती है उसीका नाम मिथ्याज्ञान है। 'तदभाववति तज्ज्ञान मिथ्याज्ञानम्' अर्थात् परपदार्थमे निजत्वका अभाव है उसमे निजत्वरूपसे स्वकीय बोध होना, इसीका नाम मिथ्याज्ञान है। जैसे सीपमे चाँदीका ज्ञान मिथ्याज्ञान है। इसी मिथ्यादर्शनके सहवाससे आत्माकी परपदार्थोंमे निजपनेकी परिणति होती है, और इसीके सहवाससे आत्माका जो चारित्र है वह मिथ्याचारित्र हो जाता है। अत श्री स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचारमे यह लिखा है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥

अर्थात् धर्मके ईश्वर गणधरादिक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहते हैं। यह रत्नत्रयरूप धर्म मोक्षका मार्ग है और इससे विपरीत मिथ्यादर्शनादित्रय ससारका मार्ग है।

इसी प्रकार कुन्दकुन्द महाराजने प्रवचनसारमे स्वय कहा है—

चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो॥

स्वरूपमे जो आचरण है उसीका नाम चारित्र है, उसीका अर्थ स्वसमय प्रवृत्ति है, उसीको वस्तुस्वभावपनेसे धर्म कहते है, उसीका शुद्ध चैतन्यप्रकाशसे व्यवहार होता है और वही यथावस्थित आत्मगुणात्मक होनेसे साम्यशब्दसे कहा जाता है और दर्शनमोह तथा चारित्रमोहके उदयके निमित्तसे जो आत्मामे मोह और क्षोभ होता है उसी मोह-क्षोभके अभावको सम या साम्य शब्दसे कहते हैं। यह गुण सिद्धगतिमे पूर्णरूपसे सदाके लिए विद्यमान रहता है, इसीसे सिद्धगतिको ध्रुव कहते है और योगोंके द्वारा जो आत्मप्रदेशोकी चञ्चलता होती है उसका अभाव होनेसे वह अचल गति है। ससारमे चार गतियाँ कर्मके सम्बन्धसे होती है और सिद्धगति कर्मोंके अभावसे होती है,

अतएव निरुपम है। ऐसी सिद्धगतिको प्राप्त सिद्धभगवान्का भाववचनोके द्वारा अपने आत्मामे ध्यान कर और द्रव्यवचनो द्वारा परात्मामे ध्यान कराके श्रीकुन्दकुन्दस्वामी अपने और पराये मोहके नाशके अर्थ द्वादशाङ्गका अवयवभूत जो समयसारप्राभृत है उसका परिभाषण करते हैं। यह समय प्राभृत प्रमाणभूत है क्योकि यह अनादिनिधन श्रुतके द्वारा कहा गया है। इसके मूलकर्ता सर्वज्ञ हैं तथा उनकी दिव्यध्वनिका निमित्त पाकर श्रीगणधरदेव भी इसके प्रकटकर्ता हैं। वास्तवमे समयनामक पदार्थ अनादिनिधन है, ये तो सूर्यकी तरह उसके प्रकाशक हैं, परमतकल्पित ईश्वरकी तरह कर्ता नही हैं ॥ १ ॥

श्रीअमृतचन्द्र स्वामीने समयसारके ऊपर आत्मख्यातिनामक टीका लिखी है, जो श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके भावको हृदयङ्गम करानेमे अत्यन्त सहायक है। मैंने इस विवरणमे उसी आत्मख्यातिका अधिकाश आश्रय लिया है। आत्मख्यातिटीकामे अमृतचन्द्रस्वामीने अनेक श्लोक लिखे हैं, जो कलशके नामसे प्रसिद्ध हैं तथा तत्त्वके निरूपण करने और अभिप्रायके निर्मल बनानेमे परम सहायक है। इस विवरणमे उन कलशोका भी विवरण है। ग्रन्थकी टीकाके प्रारम्भमे वे लिखते हैं—

नम समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥ १ ॥

अर्थ—मै समयसार अर्थात् समस्त पदार्थोमे श्रेष्ठ उस आत्मतत्त्वको नमस्कार करता हूँ जो स्वानुभूतिसे स्वय प्रकाशमान है, चैतन्यस्वभाववाला हैं, शुद्ध सत्तारूप हैं और समस्त पदार्थोंको जाननेवाला है अथवा चैतन्य स्वभावसे भिन्न समस्त रागादिक विकारीभावोको नष्ट करनेवाला है।

भावार्थ—षड्द्रव्यात्मक ससारमे स्वपरावभासक होनेसे आत्मद्रव्य ही सारभूत हैं, वह आत्मद्रव्य स्वानुभूतिसे प्रकाशमान हैं, चैतन्यस्वभावको लिये हुए है, अनाद्यनन्त काल तक स्थित रहनेसे सद्भावरूप हैं, तथा अपनी ज्ञायकशक्तिसे लोकालोकके समस्त पदार्थोंको जाननेवाला हैं अथवा चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त आत्माके जितने अन्य विकारीभाव हैं उन्हे पृथक् करनेवाला हैं। ग्रन्थके प्रारम्भमे उसी शुद्ध आत्मतत्त्वको नमस्कार किया गया हैं।

अनन्तधर्मणस्तत्त्व पश्यन्ती प्रत्यगात्मन ।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥ २ ॥

अर्थ—जो अनन्त धर्मोसे युक्त शुद्ध आत्माके स्वरूपका अवलोकन करती है ऐसी अनेकान्तरूप मूर्ति नित्य ही प्रकाशमान हो।

भावार्थ—आत्मा अस्तित्व, नास्तित्व आदि परस्परविरोधी अनन्त धर्मोसे तन्मय है, अत उसके यथार्थ स्वरूपका अवलोकन करनेवाली अनेकान्तदृष्टि ही है। परस्परविरोधी अनेक अन्त—अनेक धर्मोका समन्वय करनेवाली दृष्टि अनेकान्तदृष्टि कहलाती है। इसी अनेकान्तदृष्टिमे रूपकालकारसे मूर्तिका आरोप करते हुए आचार्यने कहा है कि वह अनेकान्तदृष्टिरूपी मूर्ति निरन्तर प्रकाशमान रहे, क्योकि उसके प्रकाशमे ही-आत्मतत्त्वका निर्दोष वर्णन हो सकता है।

आगे समयसारकी व्याख्याका प्रयोजन बताते हुए कहते हैं—

मालिनीछन्द

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥ ३ ॥

अर्थ—इस समयसारकी व्याख्यासे मेरी अनुभूतिकी परम विशुद्धता प्रकट हो। यद्यपि मेरी वह अनुभूति शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्तिसे युक्त है अर्थात् परम ज्ञायकभावसे सहित है तथापि वर्तमानमे परपरिणतिका कारण जो मोहनामका कर्म है उसके उदयरूप विपाकसे निरन्तर रागादिककी व्याप्तिसे कल्माषित—मलिन हो रही है।

भावार्थ—आत्माका स्वभाव तो पदार्थको जानना मात्र है। परन्तु अनादिकालसे एक मोह-कर्म इसके साथ लगा हुआ है जो इसकी परपदार्थोमे रागद्वेषादिरूप परिणतिके करानेमे निमित्त कारण है उसी मोहकर्मके उदयसे मेरी वह अनुभूति—ज्ञातृत्वशक्ति, अनुभाव्य—रागादिक परिणामोकी व्याप्तिसे मलिन हो रही है अर्थात् पदार्थोको जानकर उनमे इष्ट-अनिष्ट कल्पना करके अशुद्ध हो रही है सो समयसारकी व्याख्यासे मेरी अनुभूतिमे परम विशुद्धता आ जावे—उसमेसे इष्ट-अनिष्टका भाव निकल जावे, यही मै चाहता हूँ। समयसारकी व्याख्या करनेका मेरा यह प्रयोजन है।

आगे वह समय क्या है ? यह कहते है—

जीवो चरित्त-दसण-णाण-ट्ठिउ त हि ससमय जाण।
पुग्गल-कम्मपदेस-ट्ठिय च त जाण परसमयं ॥ २ ॥

अर्थ—जो जीव दर्शन, ज्ञान और चारित्रमे स्थित है उसे स्वसमय जानो और जो पुद्गल-कर्मप्रदेशोमे स्थित है उसे परसमय जानो।

विशेषार्थ—जीवका स्वभाव देखने-जाननेका है, क्योकि पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है, वे ही पदार्थ ज्ञानमे प्रतिभासमान होते है अत आत्माका ज्ञान भी सामान्यविशेषात्मक है। ज्ञान एक ऐसा गुण है जो प्रदीपकी तरह स्वपरप्रकाशक है अर्थात् परको जानता है और अपनेको जानता है। सर्वज्ञका ज्ञान अक्रमवर्ती है अर्थात् स्व-परपदार्थोमे युगपद् प्रवर्तमान होता है परन्तु छद्मस्थोका ज्ञान क्रमवर्ती है अर्थात् स्व-परपदार्थोको क्रमसे जानता है। जिस समय परको जानता है उस समय उपयोग परकी ओर रहता है। ऐसा व्यवहार भी होता है कि मैं घटको जानता हूँ और जब स्वोन्मुख होता है तब स्वको जानता है अर्थात् ऐसी प्रतीति होती है कि 'घटमहमनुजानामि' अर्थात् घटविषयक जो ज्ञान उसका मै ज्ञाता हूँ। वस्तुत ज्ञानमे न तो घट आता है और न घटमे ज्ञान जाता है। किन्तु अनादिकालसे आत्माके साथ पुद्गलकर्मोका एक ऐसा विलक्षण सम्बन्ध हो रहा है कि उनके उदयकालमे परको निज मानता है और इसी माननेके कारण ज्ञानदर्शनस्वरूप, सर्वपदार्थ-प्रकाशक स्वकीयात्मद्रव्यसे च्युत हो परद्रव्यके निमित्तसे जायमान रागद्वेषमोहके साथ अभेद मानकर पुद्गलादि परद्रव्योमे आपा मान अनन्त ससारका भाजन बनता है, यही परसमय है और जब

इस जीवका ससारतट समीप आनेका अवसर आता है तब आप ही आप सकल पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानके उत्पादक भेदज्ञानका उदय होनेसे ज्ञानदर्शनात्मक आत्मतत्त्वके साथ एकपनेकी वृद्धि कर जो अपने ज्ञानदर्शनस्वरूप आत्मामे स्थिति करता है तथा उसके होते ही अनन्त सुखका पात्र होता है, इसीका नाम स्वसमय है।

यह परसमय और स्वसमय अवस्था आत्माकी दो पर्याय है। एक पर्याय पुद्‌गलोके सम्बन्ध-से है और दूसरी पुद्‌गलोके अभावसे। जबतक शरीरसम्बन्ध है तबतक इसे ससारी कहते है और शरीरसम्बन्धका अभाव होनेपर सिद्ध कहते है। सामान्यरूपसे न सिद्ध है और न ससारी है। आत्माकी जो दो अवस्थाएँ स्वामीने कही हैं वे पर्यायदृष्टिसे हैं। तब फिर द्रव्यदृष्टिसे आत्मा कैसा है, यह प्रश्न उठता है ? उसका उत्तर है कि नित्य है। यहाँ नित्यका अर्थ कूटस्थरूप नही है किन्तु परिणमनशील है। अतएव परिणामात्मक होनेसे ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इस त्रिविधरूप सत्ता-से अनुस्यूत है। यह सत्ता यद्यपि जीव और अजीव दोनोमे साधारणरूपसे अनुस्यूत है, तथापि विशिष्टरूपसे जीवकी सत्ता चैतन्यस्वरूप है। इस सत्तासे ही जीवमे ज्ञान और दर्शनका उद्योत होता है। यही एक ऐसी सत्ता या शक्ति है जो आत्माको इतरपदार्थोंसे भिन्न सिद्ध करती है। आत्मामे अनन्तगुण है, उन गुणोका पिण्ड होनेके कारण आत्मा एकद्रव्यरूप है। आत्मामे जो गुण है वे युगपत् अक्रमसे रहते हैं और सदैव परिणमनशील है। इसीलिये क्रमसे रहनेवाली पर्याय और अक्रमसे रहनेवाले गुण इन दोनोसे द्रव्य तन्मय हो रहा है। आत्मा दर्पणवत् है, उसकी स्वच्छतामे सर्व पदार्थ प्रतिभासित होते हैं अतएव वैश्वरूप्य होनेपर भी अपने एकत्वको नही त्यागता। अर्थात् नानात्मक होनेपर भी एकात्मक है। आत्मा, आकाशादिक जो द्रव्य है उनसे भिन्न है क्योकि चेतना-गुणवाला है। आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्‌गलमे क्रमश अवगाहन, गतिहेतुत्व, स्थिति-हेतुत्व, वर्तना तथा रूपादि गुण है। ये ही गुण इन पदार्थोको परस्परमे भिन्न करानेमे कारण रूप है।

ससारमे यावत् पदार्थ है वे परिणमनशील है। यही पञ्चाध्यायीमे कहा है—

वस्त्वस्ति स्वत सिद्ध यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि।
तस्मादुत्पादस्थितिभङ्गमय तत्सदेतदिह नियमात् ॥

जिस तरह ससारमे वस्तु स्वत सिद्ध है उसी तरह वह स्वभावसे परिणमनशील भी है इस-लिए जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है वही सत् है, और जो सत् है वही नियमसे द्रव्य है

यदि वस्तु परिणमनशील न मानी जावे तो उसमे उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यकी स्थिति नही बन सकती। इसके सिवाय असत्का उत्पाद और सत्का विनाश होने लगेगा। इससे मानना चाहिए कि वस्तु परिणमनशील है तब ही वस्तुमे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणामोका सद्भाव बन सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि किसी परिणामसे वस्तु उत्पन्न होती है और किसी परिणामसे नष्ट होती है तथा किसी परिणामसे ध्रौव्यरूप रहती है। इसीलिए पञ्चाध्यायीकारने लिखा है—

द्रव्य तत कथञ्चित्केनचिदुत्पद्यते हि भावेन।
व्येति तदन्येन पुनर्नैतद्द्वय हि वस्तुतया ॥

(इसका अर्थ ऊपर आ चुका है)

यही श्रीसमन्तभद्र स्वामीने देवागममे लिखा है—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥

अर्थात् सामान्यरूपसे न तो कोई द्रव्य उत्पन्न होता है और न कोई द्रव्य नष्ट होता है क्योकि व्यक्तरूपसे अन्वयकी प्रतीति होती है। जैसे एक बालक अपनी बालक अवस्थासे युवावस्थाको प्राप्त हो गया और युवावस्थासे वृद्धावस्थाको प्राप्त हो गया। एतावता मनुष्यसामान्यमे कौन-सा विकार हुआ ? मनुष्य तो वह हर दशामे बना रहा। इसी प्रकार द्रव्यमे सामान्यरूपका अन्वय रहते हुए अवस्थाओका उत्पाद और व्यय होता रहता है। ऐसी सम्पूर्ण पदार्थोकी व्यवस्था है। यही दृष्टान्तद्वारा पञ्चध्यायीकार दिखाते हैं—

इह घटरूपेण तथा प्रादुर्भवतीति पिण्डरूपेण ।
व्येति तथा युगपत्स्यादेतद्द्वितय न मृत्तिकात्वेन ॥

अर्थात् इस लोकमे यह प्रत्येकका अनुभव है कि घटरूपके द्वारा वस्तुका उत्पाद होता है और पिण्डरूपके द्वारा व्यय होता है। यह दोनो युगपत् ही होते है, मृत्तिकापनेसे न तो उत्पाद होता है और न व्यय होता है किन्तु सर्वथा स्थिरता रहती है। इस तरह वस्तुमात्र एक ही कालमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है।

यहाँ पर किसी वादीका कहना है कि यह सब तुम्हारा बुद्धिका अजीर्ण है, उत्पादादित्रयके माननेमे न तो कोई गुण है और न कोई हानि है ? इसपर आचार्यका कहना है कि उत्पादादित्रय न माननेसे हानि है अर्थात् न माननेसे वस्तुका ही अपलाप हो जावेगा, अत इन तीनोके माननेमे ही वस्तुका अस्तित्व बन सकता है। इसके सिवाय इसके माननेमे गुण ही है, वही दिखाते हैं—वस्तु परिणाम और परिणामी स्वरूप ही है। अब इन दोनोमे किसे न माना जावे ? यदि परिणामको नही मानोगे, तो परिणामके अभावमे वस्तु कूटस्थरूप रहेगी, तब न तो यह ही लोक बनेगा और न परलोक बनेगा। जैसे जीवद्रव्यको लीजिये—यदि उसमे पुण्य और पापरूप परिणाम न मानोगे, तो इस लोकका अभाव होगा और कारणके न होनेसे परलोक भी नही बनेगा तथा मोक्षका कारण सम्यग्दर्शनादिरूप आत्माका परिणमन न होनेसे मोक्षकी व्यवस्था नही बनेगी, इस तरह बन्ध और बन्धाभावके बिना न तो ससार ही बनेगा और न मोक्ष तत्वका ही अस्तित्व रहेगा, अत वस्तुको परिणमनशील मानना ही सुन्दर है।

अब दूसरा पक्ष रहा अर्थात् परिणामीको नही मानोगे, तो परिणमन किसमे होगा ? परिणामीके न माननेसे वस्तु क्षणिक परिणाममात्र ठहरेगी और ऐसा होनेसे जो प्रत्यभिज्ञान होता है उसका अपलाप हो जावेगा। अतएव श्रीसमन्तभद्र स्वामीने देवागममे लिखा है—

नित्य तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा ।
क्षणिक कालभेदात्ते बुद्ध्यसचरदोषत ॥

वस्तु कथचित् नित्य है क्योकि "यह वही है" ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है और यह जो प्रत्यभिज्ञान होता है वह अकस्मात् (विना कारण) नही होता है, क्योकि अन्वयीरूपका वस्तुमे निरन्तर

सद्भाव रहता है और वही वस्तु कालके भेदसे क्षणिक भी है, अन्यथा वस्तुमे जो बुद्धिसचार होता है वह नही होगा अर्थात् जैसे आत्मामे ससारी और मुक्तका जो भेद होता है वह नही होगा, अत यह मानना अत्यावश्यक है कि जो आत्मा प्रागवस्थामे कर्मोंके सम्बन्धसे ससारी था वही आत्मा कर्मोंके अभावसे मुक्त हो जाता है। द्रव्यदृष्टिसे आत्मा वही है परन्तु पर्यायकी अपेक्षा आत्मा ससारी भी है और मुक्त भी है। इसीसे श्री कुन्दकुन्द स्वामीने लिखा है कि जो दर्शन-ज्ञान-चरित्र-मे स्थित है वही आत्मा स्वसमयशब्दसे कहा जाता है और जो राग-द्वेष-मोहके साथ एकपनका निश्चयकर पुद्गलकर्मप्रदेशोमे स्थित है वही परसमय है। सामान्यरूपसे आत्मा निर्द्वन्द्व और निर्विकल्प है, न ससारी है और न मुक्त है। इसका यह तात्पर्य है कि द्रव्यदृष्टि वस्तुका अभेदरूप वर्णन करती है और पर्यायदृष्टि भेदरूप। अत दोनोका विषय सत्य है, यदि पर्यायदृष्टिका विषयभेद सर्वथा ही मिथ्या होता तो 'अनयो मैत्री प्रमाणम्' यह लिखना मिथ्या हो जाता, परन्तु ऐसा नही है क्योकि सामान्यविशेषात्मक जो वस्तु है वह ही प्रमाणका विषय है ॥ २॥

अब यहाँ पर कुन्दकुन्द महाराजका कहना है कि आत्मामे जो द्विविधपना है वह सुन्दर नही। यहाँ पर द्विविधपनसे तात्पर्य स्वसमय और परसमयसे है अर्थात् आत्मामे जो परप्रत्ययसे उत्पन्न रागादि है उनके साथ एकत्वबुद्धिकर आत्मा पुद्गलकर्मप्रदेशोमे स्थित रहता है— आत्मासे भिन्न जो शरीरादि है उन्हे अपने मानकर उनके अनुकूल जो बाह्य पदार्थ है उनमे राग और जो उनके प्रतिकूल है उनमे द्वेष कल्पना कर अनन्तससारका पात्र बनता है—यह सकरता सुन्दर नही है—

एयत्त-णिच्छय-गओ समओ सव्वत्थ सुदरो लोए ।
बध-कहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥ ३ ॥

अर्थ—जो समय-पदार्थ एकत्वमे निश्चित हो रहा है वही सर्वलोकमे सुन्दर है। इसी हेतुसे एकपनमे जो बन्धकी कथा है वह विसवादरूपिणी है अर्थात् निन्द्य है।

विशेषार्थ—प्राय लोकमे भी देखा जाता है कि जबतक यह मनुष्य छात्र-जीवनमे रह कर गुरुकुलमे विद्याध्ययन करता है तबतक सब आपत्तियोसे विनिर्मुक्त होकर ब्रह्मचारी हो सानन्द जीवनसे अपने समयको निर्द्वन्द्व बिताता है और जब घरमे प्रवेश करता है तथा माता-पिताके आग्रहसे विवाह-बन्धनको स्वीकृत करता है तब द्विपदसे चतुष्पद होता है। दैवयोगसे बालक हो गया तो षट्पद (भौरा) हो जाता है। और अपने बालकका जब विवाह-सस्कार हो गया तब अष्टापद (मकडी) हो जाता है और अपने ही जालमे आप ही मरणको प्राप्त हो जाता है। इससे यह तत्त्व निकला कि परका सम्बन्ध ही इस ससारमे आपत्तियोकी खानि है।

इस गाथामे जो समयशब्द आया है उसका अर्थ यहाँ पर आत्मा नही है किन्तु सामान्य पदार्थ है। अतएव उसकी व्युत्पत्ति श्री अमृतचन्द्र महाराजने इस रूपसे की है—'समयते एकत्वेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति समय' अर्थात् जो एकपनकर स्वकीय गुण-पर्यायोको प्राप्त होता है उसे समय कहते है। अत समयशब्दसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव ये छह लिये जाते हैं। इन्ही षड्द्रव्योका समुदाय ही लोक है। इस लोकमे जो भी द्रव्य है वह अपने अनन्त धर्मोका चुम्बन करता है अर्थात् अपने अनन्त धर्मोसे तन्मय है, एक द्रव्य कदापि परद्रव्यके धर्मोका चुम्बन नही करता। ये षड्द्रव्य अत्यन्त प्रत्यासत्ति (एकक्षेत्रावगाह) के होने पर भी

स्वरूपसे पतित नही होते—कभी भी पररूपसे परिणमन नही करते, इसीसे उनके अनन्त व्यक्तित्वका भी अभाव नही होता। समस्त विरुद्ध और अविरुद्ध कार्योंमे कारण होकर विश्वका उपकार कर रहे हैं किन्तु निश्चयसे एकत्वरूप कर ही सुन्दरताको पाते है। यदि इस प्रक्रियाका त्याग कर प्रकारान्तरसे व्यवस्था की जावे तो सर्वसकरादि दोषोकी आपत्ति आ जावेगी। इस प्रकार यह व्यवस्था चली आ रही है। उसमे जीव नामक जो पदार्थ है उसमे बन्धकी कथा विसवादिनी है क्योकि बन्ध दो पदार्थोंके सम्बन्धसे होता है। बन्धका यह अर्थ नही कि उन दोनोकी सत्ताका अभाव हो जाता है कि वे दोनो अपने-अपने स्वरूपको छोडकर एक भिन्न ही अवस्था (विकारी दशा) को प्राप्त हो जाते है। पुद्गलोमे तो यह ठीक है क्योकि जैसे चूना और हल्दी मिलानेसे एक लाल रग वाली भिन्न ही वस्तु हो जाती है। कारण कि पुद्गलोमे वर्णगुण सभीमे रहता है, अत वर्णका अवान्तर पर्याय लाल रग दोनोका होनेमे कोई बाधा नही। परन्तु जीव और पुद्गलोके बन्धमे कुछ विलक्षणता है। जीवके रागादि परिणामोका निमित्त पाकर पुद्गलोमें ज्ञानावरणादिरूप पर्याय हो जाती है और ज्ञानावरणादिरूप पुद्गलका निमित्त पाकर जीवमें रागादिरूप परिणति होती है अर्थात् जीव अपने स्वरूपसे च्युत होकर रागादिरूप परिणमता और कार्मण वर्गणाएँ ज्ञानावरणादिरूप परिणमनको प्राप्त हो जाती है। जीव और पुद्गलोकी एक पर्याय नही होतीं। यहाँ यद्यपि ज्ञानावरणादि कर्मोका विपाक पुद्गलोमें होता है और जीवका रागादिक जीवमे होता है तथापि दोनो ही अपने-अपने स्वरूपसे च्युत होकर एकक्षेत्रावगाहसे रहते है। यही सिद्धान्त श्री कुन्दकुन्दस्वामीने स्वय लिखा है—

जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमति।
पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमइ॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोह्ण पि॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाण ण दु कत्ता सव्वभावाण॥

इन गाथाओका विशेषार्थ यथास्थान करेंगे।

इस परिपाटीसे जीवके साथ पुद्गलद्रव्योके सम्बन्धसे यह बन्ध हो रहा है सो विसवादका जनक है। अतएव परद्रव्योसे भिन्न और स्वकीय गुण-पर्यायोसे अभिन्न आत्माका जो एकत्वपन है वही सुन्दर है॥ ३॥

आगे आत्माका जो एकत्वपन है उसकी प्राप्ति अति कठिन है, यह कहते हैं—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥ ४॥

अर्थ—सम्पूर्ण जीवोको कामभोगविसर्पिणी बन्धकी कथा अतिसुलभ है, क्योकि निरन्तर सुननेमे आती है, परिचित है तथा अनुभूत है। देखा जाता है कि बच्चा पैदा होते ही स्तन्यपानमे प्रवृत्ति करने लग जाता है। इसी प्रकार मैथुनादि कार्योंमे विना ही शिक्षाके जीवोकी प्रवृत्ति स्वयमेव हो रही है। किन्तु परपदार्थ तथा परपदार्थोंके निमित्तसे जायमान रागादि-

विभावोसे भिन्न सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक अभेदरत्नत्रयरूप आत्माके एकत्वकी प्राप्ति अति-दुर्लभ है।

विशेषार्थ—इस ससारमे कुम्भकारके चक्रपर जो मिट्टीका घडा बनाया जाता है वह जिस तरह दडके द्वारा जब भ्रमण करता है तब उस पर रखी हुई मिट्टी भी सब ओर भ्रमण करती है, इसी तरह इस ससार-चक्रके मध्यमे जो जीवलोक है वह भी निरन्तर पञ्च परावर्तनोके रूपमे मोहपिशाचके द्वारा निरन्तर भ्रमण कर रहा है। जिस तरह कोल्हूका बैल घूमता है, उसी तरह यह भ्रमण कर रहा है। भ्रमण करनेसे लोक भ्रान्त हो रहा है तथा नाना प्रकारके तृष्णारूप रोगोके द्वारा नाना प्रकारकी चिन्ताओसे आतुर रहता है। उनके शमन करनेके लिये पञ्चेन्द्रियविषयोका सेवन करता है परन्तु उससे शान्तभावको नही पाता है। जैसे मृगादि मरुमरीचिकामे जलबुद्धि कर तृषाकी शान्तिके अर्थ दौड कर जाते हैं परन्तु वहाँ जल न पाकर फिर आगे दौडते हैं। वहाँ भी जल न पाकर परिश्रम करते-करते थक कर अन्तमे प्राण गमा देते हैं। इसी तरह यह प्राणी भी अन्तरङ्ग कषायोके शमन करनेके अर्थ पञ्चेन्द्रियविषयोकी निरन्तर सेवा करते हैं तथा दूसरोको भी यही उपदेश करते हैं। पापमे कौन पण्डित नही ? ऐसा करनेसे शान्ति तो मिलती नही, निरन्तर आकुलित हुए काल पूर्ण करते हैं। इस प्रकार यह कामभोगबन्धकी कथा अनादि कालसे सुननेमे आई, निरन्तर विषयोके सेवन करनेसे वह परिचित भी है और अनुभूत भी है, अत निमित्त मिलने पर एकदम स्मरणमे आ जाती है। और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रैक्यरूप आत्माका जो एकत्व है वह यद्यपि अन्तरगमे प्रकाशमान है तथापि अनादिकालीन कषायचक्रने इसे ससार अवस्थामें तिरोहित कर रखा है। जीव, स्वय तो अज्ञानी हैं सो कुछ जानते नही और जो आत्मज्ञानी हैं उनकी उपासना करते नही, अत न तो वह सुननेमे आया, न परिचयमे आया और न अनुभवमे आया ॥ ४ ॥

आगे आत्माका जो एकत्व अतिदुर्लभ है उसीको श्रीकुन्दकुन्द महाराज दिखानेकी प्रतिज्ञा कहते हैं—

तं एयत्त-विहत्त दाएह अप्पणो सविहवेण।
यदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेतव्व ॥ ५ ॥

अर्थ—वह जो पूर्वोक्त अभेदरत्नत्रयात्मक, मिथ्यात्व-रागादिरहित, परमात्मस्वरूप आत्माका एकत्व है उसे मै स्वकीय आगम, तर्क, परापरगुरूपदेश तथा स्वसवेदन प्रत्यक्षके द्वारा दिखाऊँगा, यदि दिखानेमे चूक जाऊँ, तो स्वसवेदन प्रत्यक्षके द्वारा उसे जाननेका प्रयत्न करना, छल ग्रहण नही करना।

विशेषार्थ—आचार्य महाराजका कहना है कि मेरे पास जो कुछ विभव है उस सम्पूर्ण विभवके द्वारा मैं उस आत्माके एकत्वको दिखानेका प्रयत्न करता हूँ। वह विभव कैसा है, इसीको दिखाते हैं—'अनेकान्तात् सिद्धि' अर्थात् 'स्यात्' शब्दके प्रयोग विना किसी भी अर्थकी सिद्धि नही होती। अर्थ अनेकान्तात्मक है अत उसके वाचक शब्दके साथ जब तक 'स्यात्' शब्दका प्रयोग नही किया जावे तबतक उसकी प्रतीति नही होती। जैसे 'घटोऽस्ति' इसका अर्थ यह है कि 'घट है।' वास्तवमे विचार किया जावे तो घटशब्दका अर्थ 'कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ' है वह अपने

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे है और घटान्यपदार्थके द्रव्यादिचतुष्टयसे नही है। अत जबतक 'स्यात्' पदका प्रयोग नही किया जावे तवतक इस अर्थका भान नही होता। अत आगममात्रमे 'स्यात्' पदकी आवश्यकता है। इस तरह सकल-पदार्थोंका प्रकाश करनेवाले 'स्यात्' पदसे मुद्रित शब्द-ब्रह्मकी पूर्ण उपासना स्वामीके थी और एकान्तवादियोके द्वारा निर्णीत जो पदार्थ थे उनका अत्यन्त सारभूत युक्तियोके द्वारा निराकरण कर यथार्थ पदार्थकी व्यवस्था उन्होने की थी, ऐसा उनका विभव था। तथा जिस पदार्थका स्वरूप स्वामीने लिखा है वह केवल आगम और युक्तिके बलसे ही नही लिखा है किन्तु निर्मल विज्ञानके धारी जो परापर गुरु थे उनके उपदेशसे उसे सुना था। इतना ही नही कि आगम, युक्ति और परापरगुरुपरिपाटीसे तो सुना हो परन्तु स्वानुभव न हो तब भी वह पदार्थ यथार्थ कहनेमे नही आता, उसीका निवारण करनेके लिए श्री अमृतचन्द्र स्वामीने उस विभवका यह विशेषण किया कि स्वामीने आगम, तर्क और गुरुपरम्परासे जैसा श्रवण किया था वैसा ही उनके उस पदार्थके जाननेका अन्तरग स्वसवेदन भी था। इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्द स्वामीने आत्माके एकत्वका प्रदर्शन करानेकी प्रतिज्ञा की। फिर भी स्वामीके ज्ञान और वीतराग-भावकी महिमा देखिये, जो लिख रहे है कि यदि मै इतना प्रयास करने पर भी एकत्व दिखानेमे स्खलित हो जाऊँ तो छल ग्रहण करनेकी आवश्यकता नही, अपने अनुभवसे स्वसवेदन करनेकी चेष्टा करना।

परमार्थसे देखा जावे तो जो पदार्थ है वह दुरधिगम्य है। यथार्थ पदार्थकी प्रतिपत्ति बिना सम्यग्ज्ञानके होना कठिन है परन्तु सम्यग्ज्ञानका होना ही कठिन हो रहा है, क्यो अनादिकालसे यह प्राणी मोहकर्मके वशीभूत होकर परपदार्थोमे ही अपना अस्तित्व मान रहा है। एकेन्द्रियसे लेकर असज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त तो ऐसा तीव्र मोह प्राणियोके है कि मदिराके प्रबल वेगके समान उन्हे अपना-पराया कुछ विवेक ही नही। अगृहीत मिथ्यात्वके द्वारा पर्यायमे ही आपा मान निरन्तर ससारके ही पात्र रहते हैं। धर्म और अधर्म, आत्मा और अनात्माके ज्ञानसे वञ्चित रहते है—मोक्षमार्गके अनुकूल हेय और उपादेयके ज्ञानसे रहित रहते हैं। आहारादि सज्ञाओका ज्ञान होनेपर भी मोक्षमार्गके अनुकूल आस्रवादि पदार्थोंका ज्ञान नही होता। मोक्षमार्गमे उपयोगी ये सात ही तत्त्व है। अतएव श्री उमास्वामीने तत्त्वार्थसूत्रमे 'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' कहा है। पिपीलिकाकी प्रवृत्ति शर्करादिमे देखकर उसके ज्ञानको मोक्षमार्गानुकूल ज्ञान नही कह सकते। आजकल विज्ञानका चमत्कार देख वहुतसे मनुष्य प्रशसाके पुल वाँध देते है। एतावता वह ज्ञान मोक्षमार्गकी श्रद्धामे उपयोगी नही हो जाता। जिस ज्ञानके द्वारा आत्माको ससारमे रुलना पडे वह ज्ञान मोक्षके अनुकूल नही हो सकता। धनादि पदार्थोके द्वारा ससारमे प्राय आपत्तियोके अतिरिक्त क्या हो सकता है? अत सप्ततत्त्वसे भिन्न जो भी पदार्थ हैं उनका ज्ञान मोक्षमार्गमे सहकारी नही।

सबसे पहले हमे आत्मा और अनात्मा पदार्थोके जाननेका प्रयत्न करना चाहिये। यह ज्ञान आगमके बिना नही हो सकता। आगमज्ञानके लिये हमे परम्परागुरुओके उपदेशकी परमावश्यकता है तथा आगमके द्वारा जो पदार्थ ज्ञात किये हैं उनमे जो सूक्ष्म नही है उन्हे तर्कज्ञानसे भी निर्णीत करना उचित है। और यह सब होकर यदि स्वानुभव नही हुआ तब भी कल्याणपथकी प्राप्ति दुर्लभ है। इसीलिये कुन्दकुन्द महाराजका कहना है कि मैं अपने विभवसे आत्माके एकत्वको

दिखाता हूँ। यदि कही स्खलित हो जाऊँ तो आप लोगोको उचित है कि स्वीय अनुभवसे वस्तु-स्वरूपको अवगत कर प्रमाण करें, छल ग्रहण करना सर्वथा हेय है। आजकल मनुष्य अपना समय प्राय कुकथा आदिमे लगाकर अनुपम तत्त्वके खोजनेमे नही लगाते, इसीसे प्राय दु खके ही पात्र रहते है॥ ५॥

अव यहाँ शुद्ध आत्माको विषय करनेवाली द्रव्यदृष्टिसे प्रश्न होता है कि आत्मद्रव्य क्या वस्तु है? इसका श्री स्वामी उत्तर देते हैं तथा दूसरी गाथाके अवतरणमे यह प्रश्न था कि समय क्या पदार्थ है? वहाँ पर स्वामीने यह उत्तर दिया था कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्रमे स्थित है वही स्वसमय है और जो पुद्गलकर्मप्रदेशमे स्थित है वह परसमय है, इन दोनो पर्यायोका जो आधार है वही तो समय है—यह बात इस गाथासे स्पष्ट हो जाती है—

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एव भणति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव॥ ६॥

अर्थ—जो ज्ञायकभाव है वह अप्रमत्त भी नही और प्रमत्त भी नही, इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं। वह जो ज्ञाता है सो ज्ञाता ही है, अन्य नही है।

विशेषार्थ—यहाँ पर आत्माके उस सामान्यभावका ग्रहण किया गया है जो कालत्रयव्यापी रहता है। आत्माकी यो तो अनन्त अवस्थाए होती है किन्तु वे सव प्रमत्त और अप्रमत्तमे अन्तर्गत हो जाती हैं। आत्माद्रव्य अनादिकालसे पुद्गलके साथ सम्बद्ध होकर चला आया है और इसीसे इसकी यह नाना पर्यायें ससारमे होती हैं। आत्माकी ससार और मुक्त ये दो अवस्थाएँ मुख्य हैं। इनमे ससार अवस्था कर्मोंके विपाकके निमित्तसे नाना प्रकारकी होती है और मुक्तावस्था कर्मोंके अभावसे एक ही प्रकारकी है। अत जब सामान्यकी अपेक्षा निरूपण किया जाता है तब इस प्रकारका कथन होता है कि जो आत्मा है वह अनादि और अनन्त है, नित्य ही उद्योतरूप है, एक ज्ञायकपदार्थ है। उसी आत्माका जब पर्यायोकी दृष्टिसे निरूपण किया जाता है तब कथन होता है कि वह ससार दशामे अनादिकालीन बन्धपर्यायके द्वारा दुग्ध और जलकी तरह कर्म-पुद्गलोके साथ एक हो रहा है। यद्यपि वर्तमानमे आत्माका कर्मपुद्गलोके साथ क्षीर-नीरके समान एकक्षेत्रावगाह हो रहा है तथापि द्रव्यदृष्टिसे यही बात कथनमे आती है कि दु ख ही अन्तमे जिससे होता है ऐसे कषायचक्रके उदयकी विचित्रतासे पुण्य और पापको उत्पन्न करनेवाले जो शुभ और अशुभ भाव हैं उन रूप स्वभावसे आत्मा नही है अर्थात् आत्मामे पुण्य और पापको उत्पन्न करनेवाले जो शुभ और अशुभ भाव होते हैं वे विकारी भाव हैं, वर्तमान आत्मामे होते हैं परन्तु मन्दकषायके उदयसे होते है, औपाधिक है, कर्मनिमित्तके मिटनेसे मिट जाते है। अत पर्यायदृष्टिमे तो वे है, परन्तु द्रव्यदृष्टिसे विचार करने पर नही है। अतएव स्वभावसे आत्मा न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त है। वह तो अशेष द्रव्यान्तरोंसे तथा उनके निमित्तसे होनेवाली पर्यायोंसे भिन्न शुद्धद्रव्य है। यह कथन नयविवक्षासे है। सर्वथा यह नही समझना चाहिए कि आत्मा प्रमत्त और अप्रमत्त नही है। आत्मा प्रमत्त भी है और अप्रमत्त भी है। ये दोनो अवस्थाएँ विशेष है। किन्तु इनसे कथञ्चिद् भिन्न सामान्य भी एकरूप है। उसकी दृष्टिमे ये दोनो अवस्थाएँ गौण हो जाती हैं। प्रमाणकी दृष्टिमे पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। जैसे जिस समय अग्नि इन्धन

सहित होती है उस समय उसमे ज्वाला भी निकलती है और धूम भी निकलता है। यद्यपि उस समय अग्निमे ज्वाला भी है और धूम भी है किन्तु सर्वकाल उनका सद्भाव न होनेसे वह अग्निका स्वरूप नही। सामान्यरूप जो सर्वत्र पाया जावे वही अग्नि है अर्थात् अग्नित्वसामान्य ही अग्निका सामान्य स्वरूप है। इसी तरह आत्मा न प्रमत्त है और न अप्रमत्त, किन्तु ज्ञायकसामान्यस्वरूप है क्योकि यह रूप सब अवस्थाओमे पाया जाता है। ससार अवस्थामे आत्मा क्षीरोदकवत् कर्म-पुद्गलोके साथ एकमेक हो रहा है किन्तु एक नही हो जाता है। जैसे दूध और जल सयुक्तावस्थामे एकमेक हो रहे है परन्तु दूध है सो जल नही और जल है सो दूध नही। यद्यपि वस्तुस्थिति ऐसी है किन्तु मिलितावस्थामे लोग कहते है कि पनीला दूध है, फीका दूध है। जैसे सुवर्ण और रजत दोनोका मिलाप होनेसे लोग मिश्रितावस्थामे उस पिण्डमे खोटे सोनेका व्यवहार करते है। चार आना भर सोना और चार आना भर चाँदी दोनो मिलकर आठ आना भर हुए। वहाँ पर विचार-से देखा जावे तो सोना चार आना भर ही है। उस सोनेका द्रव्यदृष्टिसे कुछ भी घात नही हुआ है और न उसके मूल्यमे कुछ हानि हुई है क्योकि मिश्रितावस्थामे उसका मूल्य बीस रुपया तोला हो गया। किन्तु शुद्ध सोनासे उस खोटे सोनेका चाँदीके सयोगसे वजन आठ आना भर हो गया अत उसके मूल्यके दस रुपये मिल गये। यह सब हुआ, किन्तु शुद्ध सोनेमे जो गुण हैं वे चाँदीके सम्बन्धसे विकृत हो गये, इसलिये शुद्ध सुवर्ण द्वारा जो लाभ होता है वह अशुद्ध सुवर्णसे नही होता।

यही अवस्था आत्माकी कर्मोके सम्बन्धसे हो जाती है अर्थात् आत्माके जो ज्ञान-दर्शन गुण है वे विकृत हो जाते है। ज्ञान-दर्शनका काम जानना और देखना है परन्तु उनमें कर्मोदयजन्य विकार होनेसे इष्टानिष्टरूप नाना प्रकारका भाव होने लगता है। जैसे शङ्ख श्वेत है, परन्तु जिसे कामला रोग हो गया है वह शङ्खको देखता तो है परन्तु उसमे पीतगुणका आरोप करता है, वास्तवमे शङ्ख पीत नही। इसी प्रकार ससारमे मोहादिक कर्मोके उदयमें आत्मामे राग-द्वेष-मोह विकार हो जाते हैं। उनके सम्बन्धसे यह आत्मा अपने ज्ञानगुणके द्वारा जानता तो है परन्तु विकारी परिणामोके सहवाससे कभी तो मिथ्याभिप्रायसे परपदार्थमे आत्मसकल्प करता है और कभी राग-द्वेषके द्वारा इष्ट-अनिष्टका विकल्प करता है। उसका फल यह होता है कि परदार्थमे आत्मत्व-की कल्पना करता है और रागादिक विभावोको अपना स्वभाव मानने लगता है। इन्ही विभावोके द्वारा अनन्त ससारमे यातायात करता हुआ चतुर्गति सम्बन्धी पर्यायोमे परिभ्रमणजन्य अनेक प्रकार-के अनिर्वचनीय दु खोका पात्र होता है।

जब इस जीवके काललब्धिका उदय आता है तब यह मिथ्याभावसे मुक्त होता है और सम्यक्त्वगुणके विकासको प्राप्त होता है। क्रमसे देशव्रतादिको धारण करता हुआ मोक्षका पात्र होता है। उस समय इसको सिद्ध कहते है। इस प्रकार जीवोकी मुख्यतया दो पर्यायें हैं—एक ससारी और दूसरी सिद्ध। ससारमे मिथ्यात्वगुणस्थानसे लेकर छठवे गुणस्थान पर्यन्तके जीवको प्रमत्त कहते है और सातवे गुणस्थानसे लेकर जीवकी चौदहवे गुणस्थान तक जितनी भी पर्यायें होती हैं उन्हे अप्रमत्त कहते है। उनके जबतक आयुका सम्बन्ध है तबतक गुणस्थानव्यवहार होता है, बाद-मे गुणस्थानातीत होने पर उन्हे सिद्ध कहते हैं।

जीवमे यह जो व्यवहार होता है वह विशेषकी अपेक्षा होता है, सामान्यकी अपेक्षा नही होता। इसीसे कुन्दकुन्द महाराजने लिखा है कि जीव न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त है किन्तु ज्ञायक-

भाववाला है। ऐसा नहीं कि पदार्थोंके जाननेसे ज्ञायक है किन्तु स्वभावसे ज्ञायक है। जैसे इन्धनको जलानेसे अग्नि दाह्याकार होती है, वह आकार अग्नि ही का है दाह्य पदार्थका नहीं। वैसे ही घटपटादि पदार्थोंका जो आकार ज्ञानमे भासमान होता है वह आकार घटपटादिसे भिन्न ही है। ज्ञानकी ज्ञातृता ही ऐसी है कि उसमे स्वपरावभासन हो रहा है। जैसे रूपी दर्पणमे ऐसी स्वच्छता है कि उसमे वह्नि दिखती है एतावता उसमे उष्णता और ज्वाला नहीं है। इत्यादि कथनसे आत्माको निराबाध ज्ञायकस्वरूप ही मानना अबाधित प्रमाणका विषय है। अतएव जीव जिस तरह परपदार्थोंके जाननेके समय ज्ञायक है उसी तरह स्वरूपप्रकाशनके समय भी ज्ञायक है ॥ ६ ॥

आगे ऐसा जो आत्मा है वह ज्ञान, दर्शन और चरित्रसे अशुद्ध नहीं हो सकता है, यही दिखाते हैं—

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त-दसण णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्त न दसण जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥

अर्थ—ज्ञानी जीवके व्यवहारद्वारा ज्ञान, दर्शन और चरित्र कहे जाते हैं अर्थात् आत्मा ज्ञानी है, चारित्रवाला है, दर्शनवाला है। निश्चय कर उसके न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र है किन्तु एक ज्ञायक है, इसीसे शुद्ध है।

विशेषार्थ—इस तरह ज्ञायकभावसे शुद्धात्मामे बन्धके कारणोंसे अशुद्धता कहना दूर रहो, किन्तु दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी उसमे विद्यमान नहीं हैं। अत इनके निमित्तसे जायमान अशुद्धता भी कैसे हो सकती है? वास्तवमे द्रव्यदृष्टिसे देखा जावे तो कोई भी पदार्थ अशुद्ध नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि बन्ध जहाँ होता है वहाँ दो पदार्थोंका होता है। यहाँ बन्धका यह अर्थ ग्राह्य नहीं कि जिन पदार्थोंका बन्ध होता है वे दोनो मिलकर अभिन्न हो जाते हैं किन्तु दोनो पदार्थ अपने-अपने स्वाभाविक परिणमनको छोडकर विजातीय अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं। जैसे दो परमाणु परस्परमे जब बँधते है तब उन्हे द्व्यणुकशब्दसे कहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि दोनो परमाणु तादात्म्यसम्बन्धसे एक हो गये। अथवा यहाँ तो दोनो पुद्गलके परमाणु हैं अत उनमे जो पुद्गलसम्बन्धी रूप-रस-गन्ध-स्पर्श हैं उन्हीका परिणमन विशेषरूपसे हो जाता है। परन्तु जीव और पुद्गलका जो बन्ध है वह इस प्रकारका नहीं है। वहाँ केवल दोनो द्रव्य अपने-अपने परिणमनको छोड भिन्न-भिन्न रूपसे परिणमनको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् जीवके रागादिभावोका निमित्त पाकर पुद्गलवर्गणाएँ ज्ञानावरणादिरूप परिणमनको प्राप्त हो जाती है तथा मोहादिकर्मोंके उदयको पाकर जीव रागादिभावको प्राप्त हो जाता है।

यह कथा दो द्रव्योकी है, किन्तु एक ही द्रव्यमे जो गुण हैं अर्थात् जिनका द्रव्यके साथ-तादात्म्य सम्बन्ध हो रहा है वे गुण भी परस्परमे एक नहीं हो जाते हैं। इसीको व्यक्त करनेके लिये द्रव्योमें अनन्तानन्त अगुरुलघु गुण माने गये है। जैसे पुद्गलमे जो स्पर्श-रस-गन्ध-रूप गुण हैं वे सब नाना हैं क्योकि भिन्न-भिन्न इन्द्रियोके विषय हैं। उनमे जो एकत्वव्यवहार है वह एक सत्ता होनेसे है अर्थात् पुद्गलद्रव्यसे उनकी पृथक् सत्ता नहीं है। इसी तरह आत्मामे जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण हैं वे अपने स्वरूपसे भिन्न-भिन्न हैं किन्तु आत्मासे भिन्न उनकी सत्ता अन्यत्र नहीं पाई जाती, इसीसे अभेदव्यवहार होता है। इसी अभिप्रायको लेकर स्वामीका कहना है कि

अभेदहष्टिमे ज्ञानदर्शनादि कुछ नही है । इसका यह अभिप्राय है कि वह नय, भेदको गौणकर अभेद-को ही विषय करता है । इसका यह तात्पर्य नही कि आत्मामे दर्शन-ज्ञान-चारित्र नही है । केवल शिष्यके बुद्धिवैशद्यके अर्थ आचार्योका प्रयास है ।

अनन्तधर्मात्मक एक धर्मीके समझनेमे अपटु जो शिष्य है उसे समझानेके लिये उस अनन्त-धर्मात्मक धर्मीको जाननेवाले आचार्य कितने ही प्रसिद्ध गुणोको लेकर कहते है कि ज्ञानीके दर्शन भी है, ज्ञान भी है, चारित्र भी है परन्तु परमार्थसे अनन्तपर्याय वाले द्रव्यके अखण्ड स्वभावका जो अनुभव करनेवाले है उनकी दृष्टिसे ज्ञानीके न दर्शन है, न ज्ञान है और न चारित्र है, केवल एक ज्ञायक शुद्धभाव है । जैसे लोकमे किसीने अपने भृत्यसे कहा कि सुवर्ण लाओ । भृत्य बाजारमे गया और सामान्य सुवर्णकी किसी पर्यायमे सुवर्ण ले आया, क्योकि सामान्य सुवर्णमे सुवर्णकी मुख्यता रहती है, पर्यायोकी गौणता है । इसी तरह जब जीवका सामान्यरूपसे कथन करते है तब उसमे ज्ञायकभावकी मुख्यता रहती है, न प्रमत्तकी मुख्यता रहती है और न अप्रमत्तकी, यही आत्माको शुद्ध कहनेका तात्पर्य है ॥ ७ ॥

आगे, यदि ऐसा है तो परमार्थसे उसीका कथन करना चाहिये, इस प्रश्नका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि ठीक है परन्तु वे जब सामान्यसे इसे नहीं समझते है तब विशेषरूपसे कहना उचित है, इसी अभिप्रायको लेकर व्यवहारनयकी उपयोगिता दिखाते हैं—

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभास विणा उ गाहेउ ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस तरह अनार्य मनुष्य अनार्यभाषाके बिना अभिप्रेत वस्तुस्वरूपके ग्रहण करनेको समर्थ नही हो सकता उसी तरह व्यवहारी जीव व्यवहारनयके बिना परमार्थके समझनेमे समर्थ नही हो सकता ।

विशेषार्थ—जिस तरह कोई ब्राह्मण किसी म्लेच्छोके नगरमे चला गया । वहाँ उन लोगोने भव्यमूर्ति ब्राह्मणको देखकर अपनी भाषामे अभिवादन कर दोनो हाथोको मस्तकसे लगा कर नमस्कार किया । ब्राह्मणने उनकी नम्रता देखकर प्रसन्नतासे उन्हे कहा—'तुभ्य स्वस्ति' । इस वाक्यको श्रवणकर वे लोग कुछ भी वाच्यार्थको न जान सके, अत मेढाकी तरह ब्राह्मणकी ओर अनिमिष नेत्रोसे देखने लगे । तब दुभाषिया ब्राह्मणने म्लेच्छ भाषाको लेकर उन्हे 'स्वस्ति' शब्द-का वाच्यार्थ समझाया कि इसका अर्थ 'आप लोगोका कल्याण हो' यह है । जब उनकी समझमे 'स्वस्ति' पदके अर्थका बोध हुआ तब एकदम उनके हृदयमे आनन्दका उदय होकर इतना हर्ष हुआ कि आँखोमे हर्षके आँसू छलक आये और शरीरमे रोमाञ्च हो गये । इसी तरह ससारी मनुष्यसे श्रीगुरुने कहा कि आत्मा है । इसे श्रवणकर ससारी मनुष्य भी उसी अनिमिष नेत्रोंसे आत्माकी बातको कहनेवाले श्रीगुरुकी ओर देखने लगा और आश्चर्यसे चकित हो गया । तब व्यवहार और परमार्थ पथको जाननेवाले आचार्य महाराजने कहा कि—भाई ! दर्शनज्ञानचारित्रको जो प्राप्त करता है वही तो आत्मा है अर्थात् जो देखने-जाननेवाला है वही आत्मा है । इस वाक्यको श्रवणकर वह एकदम प्रसन्नताके रसमे मग्न हो गया, आनन्दके आँसू उसके नेत्रोमे आ गये और एक बार ही आत्मविषयक अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे नि सदेह हो गया । जब ऐसी वस्तुस्थिति है

तब म्लेच्छभाषाके सदृश व्यवहारी मनुष्यको बोध करानेके लिए व्यवहारनयका अवलम्बन लेना चाहिये। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि ब्राह्मणको म्लेच्छरूप हो जाना चाहिये।

लोकमे भी परमार्थ पदार्थके समझानेके लिए ऐसे अवलम्बन लिये जाते है। जैसे सेनामे जो रगरूट भरती होता है उसे बाण द्वारा लक्ष्यवेध सिखाया जाता है। यद्यपि वहाँ पर उस लक्ष्यवेधमे किसी साध्यकी सिद्धि नही, तथापि रणक्षेत्रमे जब शत्रुओपर बाण छोडनेका काम पडता है तब वह विद्या उपयोगमे आती है। अथवा जिस तरह बचपनमे छोटी-छोटी लडकियाँ मिट्टीका आटा गूनकर उसकी रोटियाँ बनाती हैं तथा मिट्टीकी हण्डियाँ बनाकर उनमे छोटे-छोटे ककड डाल दाल बनानेका व्यवहार करती हैं। यद्यपि यह सब उनका खेल है परन्तु बडी अवस्थामे यथार्थ कार्य करनेसे उसकी उपयोगिता होती है। इसी तरह परमार्थका यथार्थ बोध करानेके व्यवहारनयका आलम्बन लेना आवश्यक है। इसी तरहके और भी लौकिक उदाहरण है—जैसे किसीने श्रीपरमगुरुसे पूछा कि—भो प्रभो! मेरे लिये आत्मज्ञानकी शिक्षा दीजिये—आत्मा क्या है? यह बतलानेको कृपा कीजिये। श्रीगुरुने कहा कि—हमारे सामने बहनेवाली गङ्गा नदीमे एक मगर रहता है। उसे अच्छी तरह आत्मज्ञान करा दिया है। वह तुम्हे अच्छी तरह आत्मज्ञानका उपदेश देगा, उससे पूछ लो। श्रीगुरुके ऐसे वचन सुनकर वह सरलप्रकृतिका शिष्य गुरुवाक्यको प्रमाण करता हुआ सन्निहित गङ्गा नदीके तीर गया और उस मगरसे बोला—भाई! हमको गुरुमहाराजने तुम्हारे पास आत्मज्ञानके उपदेशके अर्थ भेजा है। मगरने उसके वाक्य सुनकर प्रसन्नताके साथ कहा—महानुभाव! मैं इस समय तृषासे अति-आतुर हूँ, आप एक लोटा पानी कूपसे लाकर मुझे पहले पिला दीजिये, मै पश्चात् निश्चिन्त होकर आपको उपदेश करूँगा। यह सुनकर शिष्य मन-ही-मन उसकी मूढतापर पश्चात्ताप करता हुआ मगरसे बोला—भाई! तुम बडे अज्ञानी हो, पानीमे सर्वाङ्ग डूबे हुए भी हमसे जल माँगनेकी चेष्टा करते हो, तुम क्या आत्मज्ञानका उपदेश करोगे? मगर बोला—महानुभाव! आपका कहना अक्षरश सत्य है किन्तु अपने अज्ञानको भी तो देखो। तुम स्वय आत्मा होकर आत्मज्ञानकी बात पूछते हो। यही बात तो तुम्हारे आत्मज्ञानकी बाधक है। ऐसा सुनकर वह स्वय प्रतिबोधको प्राप्त हुआ। इस प्रकार अनेक दृष्टान्तोसे व्यवहारके द्वारा निश्चयका उपदेश दिया जाता है॥ ८॥

आगे परमार्थ और व्यवहारनयसे श्रुतकेवलीका स्वरूप कहते हैं—

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिण तु केवलं सुद्धं।
त सुयकेवलिमिसिणो भणति लोय-प्पईवयरा॥ ९॥
जो सुयणाण सव्व जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाण अप्पा सव्व जम्हा सुयकेवली तम्हा॥ १०॥

(जुग्म)

अर्थ—जो जीव निश्चयकर इस अनुभवगोचर केवल (ज्ञेयभिन्न) शुद्ध आत्माको श्रुतके द्वारा सम्यक् प्रकार जानता है उसे लोकके प्रदीपक गणधरादि महाऋषि श्रुतकेवली कहते है, अर्थात् ऐसे जीवको परमार्थ श्रुतकेवली जानना। तथा जो सम्पूर्ण श्रुतज्ञानको जानता है वह भी श्रुतकेवली है,

ऐसा जिन भगवान् कहते हैं क्योकि सम्पूर्ण जो ज्ञान है वह भी आत्मा ही है परन्तु वह व्यवहार श्रुतकेवली है।

विशेषार्थ—परमार्थसे यहाँ पर विचार करनेमे उपयोगको तन्मय करनेकी अति आवश्यकता है। जो केवल आत्माको जाने वह तो निश्चयसे श्रुतकेवली है और जो सम्पूर्ण श्रुतज्ञानको जानता है वह व्यवहारसे श्रुतकेवली है, ऐसा भेद क्यो है ? इसका यह तात्पर्य है—जो आत्मा श्रुतके द्वारा केवल (परसे भिन्न) शुद्ध स्वीय आत्माको जानता है वह श्रुतकेवली है, यह तो परमार्थ है, और जो सम्पूर्ण श्रुतज्ञानको जानता है वह व्यवहार है क्योंकि वह परकी उपाधि है। अथवा विचार करो कि जो सम्पूर्ण श्रुतज्ञान है वह आत्मा है या अनात्मा ? यदि द्वितीय पक्षका अवलम्बन करोगे तो सर्वथा ही असगत है क्योकि आत्मद्रव्यसे भिन्न जो आकाश, काल, धर्म, अधर्म तथा पुद्‌गल ये पाँच द्रव्य अनात्मस्वरूप है, इनके साथ तो ज्ञानका तादात्म्य असभव ही है, अतएव अगत्या ज्ञान आत्मा ही है यही तो आया। इसीसे श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है—ऐसी वस्तुकी व्यवस्था होनेसे जो केवल आत्माको जानता है वह श्रुतकेवली है, यही तो निष्कर्षसे आया और ऐसा जो जानना है सो परमार्थ है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानी इन दोनोमे भेदका कथन करनेवाला जो व्यवहारनय है उसके द्वारा भी परमार्थमात्र आत्मा ही तो कहा गया, अतिरिक्त कुछ भी नही कहा गया। अथवा 'जो जीव श्रुतके द्वारा केवल शुद्ध आत्माको जानता है वह श्रुतकेवली है' इस परमार्थका प्रतिपादन करना अशक्य है, इसीसे जो सम्पूर्ण श्रुतज्ञानको जानता है वह व्यवहारसे श्रुतकेवली है, किन्तु यह व्यवहार परमार्थका प्रतिपादन करता है अत इस ज्ञानसे आत्मा ही की तो प्रतिष्ठा हुई, अतएव इसको भी श्रुतकेवली कहना सर्वथा उपयुक्त है।

परमार्थसे तत्त्व अनिर्वचनीय है क्योकि ऐसी व्यवस्था है जो द्रव्य, गुण व पर्यायें है वे सव अपने-अपने रूपमे अनादिकालसे प्रवाहरूपसे चले आ रहे हैं। अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यमे, अन्य गुणका अन्य गुणमे तथा अन्य पर्यायका अन्य पर्यायमे सक्रमण नही होता। जब यह बात है तब ज्ञानात्मक आत्मद्रव्य कालान्तरमे अनात्मद्रव्य नही हो सकता। आत्माका ज्ञानगुण आत्मामे ही तादात्म्य सम्वन्धसे रहता है, अन्य द्रव्य और अन्य गुणमे कभी भी सक्रान्त नही हो सकता। केवल यह व्यवहार है कि आत्मा परको जानता है। वास्तवमे जव यह नियम है कि ज्ञान ज्ञेयमे नही जाता और ज्ञेय ज्ञानमे नही जाता, तब परको जाननेवाला ज्ञान है इसका यह अर्थ है कि जिस तरह जिस समय दर्पणके सम्मुख जो पदार्थ रहता है उस समय दर्पण उस पदार्थके निमित्तसे अपनी स्वच्छतामे तदाकार परिणमता है, इसीसे लोग कहते हैं कि दर्पणमे घटपटादिक प्रतिबिम्बित हो रहे है, तत्त्वदृष्टिसे दर्पणमे दर्पणका ही परिणमन दृष्ट होता है। इसी तरह आत्मा परपदार्थोंको जानता है, यह व्यवहार होता है। परन्तु परमार्थसे आत्मा आत्मपरिणाम ही को जानता है। अत आचार्य महाराजने जो यह कहा है कि जो श्रुतके द्वारा अपनी आत्माको जानता है वह परमार्थसे श्रुतकेवली है सो मनन करने योग्य तत्त्व है। इसीको यथार्थ जाननेसे हम अनादिविभ्रमसे अपनी रक्षा करनेमे समर्थ हो सकते है ॥९-१०॥

आगे कोई प्रश्न करता है कि व्यवहारनयका आश्रय क्यो नहीं करना चाहिए ? इसीका निम्न गाथा द्वारा उत्तर देते हैं—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥ ११ ॥

अर्थ—महर्षीश्वरोंने व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा है और शुद्धनयको भूतार्थ। जो जीव भूतार्थको आश्रित करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है।

विशेषार्थ—सम्पूर्ण ही व्यवहारनय अभूत अर्थको प्रकाशित करता है। यही बात दृष्टान्त द्वारा दिखाई जाती है। जैसे मेघोंसे बरसनेवाला जल यद्यपि निर्मल रहता है परन्तु भूमिमे पडते ही धूलि आदि विजातीय पदार्थोंके सम्बन्धसे उसकी स्वाभाविक निर्मलता तिरोहित हो जाती है। उस कर्दम मिश्रित जलको पीनेवाले जो पुरुष है उन्हे कर्दम और जलका भेदज्ञान नही है। भेदज्ञानके अभावमे उस जलकी निर्मलताका उन्हे अनुभव नही होना, वे मिश्रित जलको ही जल समझते है। परन्तु जिन पुरुषोने मिश्रजलमे कतकफलको घिसकर डाल दिया है तथा अपने पुरुषकार अर्थात् पुरुषार्थसे उसकी स्वच्छताको प्रकट कर लिया है वे वास्तविक जलका पान करते हैं और विवेकी कहलाते है। इसी तरह प्रबल कर्मके विपाक द्वारा आत्माका जो सहज ज्ञायकभाव है वह तिरोहित हो जाता है उस समय जो जीव आत्मा और कर्मके भेदज्ञान करनेमे असमर्थ रहता है वह व्यवहारमे ही मोहित नाना प्रकारको इष्टानिष्ट परिणतिका अनुभवन करता है, यदि मन्दकषायका उदय हुआ तो शुभ परिणामोका अनुभव करता है और तीव्र कषायका उदय हुआ तो अशुभ परिणामोका अनुभव करता है परतु जो भूतार्थको देखनेवाले है वे अपने प्रौढ विवेकसे शुद्धनयके द्वारा आत्मा और कर्मोको पृथक्-पृथक् करते हुए अपने पुरुषकार अर्थात् पुरुषार्थके द्वारा सहज ज्ञायकभावको प्रकटकर उसीका अनुभव करते हैं। इसीसे जो भूतार्थका आश्रय करनेवाले है वे ही सम्यग्दृष्टि होते हैं और जो इनसे भिन्न हैं अर्थात् मात्र अभूतार्थका आश्रयकरते है वे मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। अत कतकफलसम होनेसे शुद्धनयका आश्रय करना उपयुक्त है और असत् अर्थको कहनेवाला जो व्यवहारनय है वह आश्रय करने योग्य नही है।

यह आत्मा अनादिकालसे व्यवहारमे लीन हो रहा है और इसीसे अपना भला बुरा सुख-दु ख आदि जो कुछ है उसे परपदार्थोसे ही मानता है। यदि किन्ही बाह्यपदार्थोसे दु ख हुआ तो उन्हे अनिष्ट मान उनसे दूर भागनेकी चेष्टा करता है, और वे ही पदार्थ यदि सुखमे निमित्त पड गये तब उनसे चिपटनेकी चेष्टा करता है। यहाँ पर तत्त्वदृष्टिसे देखा जावे तो सभी मिथ्या विचार प्रतीत होते हैं क्योकि जगत्मे न तो कोई पदार्थ दु खदायी है और न सुखदायी है, हमारी अज्ञानता ही उन्हे सुखकर और दु खकर कल्पना करा रही है। जिस कालमे वे पदार्थ हमारी इच्छा या रुचिके अनुकूल होते है उस कालमे हम उनका सग चाहते हैं। मोहके कारण नाना प्रकारके अनर्थोसे भी उनकी रक्षा करते है। यहाँ तक देखा गया है कि अपने बच्चेके लिए दयालु-से-दयालु भी मनुष्य गायका दूध, उसके पीते हुए बालकसे छीनकर पात्रमे दुह लेते हैं। यह कथा तो छोडो, जो वस्तु हमे इष्ट है उसे स्वय खाते हुए त्यागकर बालकके अर्थ रख लेते हैं। लोकमे यहाँ तक देखा गया है कि मृगी स्वकीय बालककी रक्षाके अर्थ सिंहिनीके सम्मुख चली जाती है। इस प्रकार यह जीव अनादि कालसे इन परपदार्थोंमे मोहित हो रहा है। उसे सत्यभूत अर्थका बोध करानेके लिए शुद्धनयका उपदेश है—भाई! तुम्हारी आत्माकी परिणति ज्ञायकभावसे भरी हुई है, ज्ञेयका उसमे अश भी नही जाता, यह जो परके साथ ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध है उसीमे तुम्हे भ्रमसे विपरीत भान होता है। वास्तवमे तो तुम्हारा निजस्वरूप शुद्ध-बुद्ध है, तुम ज्ञानघनके पिण्ड हो,

यह सब परपदार्थं तुमसे भिन्न है, इनके साथ तुम्हारा केवल ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध है, इससे अधिक जो तुम्हारी कल्पना है वह ससारकी जननी है। अत यदि कल्याणके अभिलाषी हो तो इस क्लेश-कारिणी कल्पनाके जालमे मत आओ और जो स्वकीय ज्ञायकभाव है उसकी भावना करो, यही भावना ससारसमुद्रसे सतरणके लिये नौकाका काम देगी।

तब क्या व्यवहारको सर्वथा त्याग देना चाहिए ? नही, यह हमारा तात्पर्य नही, जबतक यथार्थका लाभ न हो तबतक यह भी प्रयोजनवान् है—किन्ही जीवोके किसी कालमे यह व्यवहार-नय भी प्रयोजनवान् है ॥११॥

आगे पात्रभेदसे निश्चय और व्यवहार दोनों नयोकी उपयोगिता दिखाते है—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥ १२ ॥

अर्थ—जो परमभावको देखनेवाले है उनके द्वारा तो शुद्ध तत्त्वका कथन करनेवाला शुद्ध नय जाननेके योग्य है और जो अपरमभावमे स्थित है उनके लिये व्यवहारनयका उपदेश कार्यकारी है।

विशेषार्थ—जैसे लोकमे देखा जाता है कि जिन्होने सुवर्णको शुद्ध करते-करते अन्तके पाक-से शुद्ध सुवर्णकी प्राप्ति कर ली है उन जीवोको प्रथमादि पाकसे कोई प्रयोजन नही है क्योकि सुवर्णको शुद्ध करनेके लिए सोलह बार ताव देनेकी आवश्यकता होती है, जिन्होने सोलह ही ताव देकर शुद्धसुवर्णकी प्राप्ति कर ली उन जीवोको एकसे लेकर सोलह तक किसी भी तावकी आवश्य-कता नही रहती। इसी तरह जो जीव अन्तिम तावसे उतरे हुए शुद्ध सुवर्णके समान परमभाव—उत्कृष्ट आत्मस्वभावका अनुभव करते है उन जीवोके प्रथम, द्वितीय आदि अनेक तावोकी परम्परासे पच्यमान सुवर्णके समान अपरमभाव—अनुत्कृष्ट मध्यमादि आत्मस्वभावके अनुभवकी शून्यता रहती है। अत शुद्धद्रव्यका ही प्ररूपक होनेसे, जिसने कभी स्खलित नही होनेवाले एक आत्मस्वभावको ही समुद्योतित—प्रकाशित किया है, ऐसा शुद्धनय ही उनके लिये प्रयोजनवान् है, किन्तु जिस तरह जो जीव अभी प्रथम, द्वितीयादि पाकसे सुवर्णकी जघन्य, मध्यमादि अव-स्थाओको ही प्राप्त हो रहे है उन जीवोको जबतक शुद्ध सुवर्णका लाभ न हो तबतक अपने योग्य ताव (आँच) देनेकी आवश्यकता है क्योकि उन्हे अभी पर्यन्तपाकसे निष्पन्न शुद्ध सुवर्णका लाभ नही हुआ है। इसी तरह जिन जीवोको जबतक अन्तिम तावसे उतरे हुए शुद्ध सुवर्णके समान आत्माके परमभावका अनुभव नही हुआ है अर्थात् शुद्ध आत्माका लाभ नही हुआ है तबतक विचित्रवर्णमालिकाके तुल्य होनेसे अनेक अवस्थाओका कथन करनेवाला व्यवहारनय उनके लिये प्रयोजनवान् है, क्योकि तीर्थ और तीर्थफलकी प्रवृत्ति इसी प्रकार होती है। जैसा कि कहा गया है—

जइ जिणमय पवज्जह तो मा ववहार-णिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण उण तच्च ॥

अर्थ—यदि जिनेन्द्र भगवान्के मतकी प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय—दोनों ही नयोको मत त्यागो, क्योंकि यदि व्यवहार नयको त्याग दोगे, तो तीर्थकी प्रवृत्तिका लोप हो जावेगा अर्थात् धर्मका उपदेश ही नही हो सकेगा। फलत धर्मतीर्थका लोप हो जावेगा। और यदि निश्चयनयको त्याग दोगे, तो तत्त्वके स्वरूपका ही लोप हो जावेगा, क्योंकि तत्त्वको कहनेवाला तो वही है। इसी अर्थको श्री अमृतचन्द्र स्वामीने बहुत ही सुन्दर पद्यमें कहा है—

मालिनीछन्द

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वय वान्तमोहा ।
सपदि समयसार ते पर ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥ ४ ॥

अर्थ—निश्चय और व्यवहारनयोंके विषयमे परस्पर विरोध है क्योंकि निश्चयनय अभेदको विषय करता है और व्यवहारनय भेदको ग्रहण करता है, किन्तु इस विरोधका परिहार करनेवाला स्यात्पदसे अङ्कित श्रीजिनप्रभुका वचन है। उस वचनमे, जिन्होंने स्वय मोहका वमन कर दिया है वे ही रमण करते हैं और वे ही पुरुष शीघ्र ही उस समय समय-सारका अवलोकन करते हैं जो कि अतिशयसे परमज्योतिस्वरूप है, नवीन नही अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, [केवल कर्मके सम्बन्धसे तिरोहित था, भेदज्ञानके बलसे जब मोहादिसम्बन्ध दूर हो गया तब पर्यायरूपसे व्यक्त हो गया] और अनय पक्ष—एकान्त पक्षसे जिसका खण्डन नही हो सकता।

मालिनीछन्द

व्यवहरणनय स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदाना हन्त हस्तावलम्ब ।
तदपि परमम र्थं चिच्चमत्कारमात्र
परविरहितमन्त पश्यता नैष किञ्चित् ॥ ५ ॥

अर्थ—यद्यपि पहली अवस्थामे जिन जीवोंने अपना पद रखा है उनके लिये व्यवहारनयका सखेद हस्तावलम्बन लेना पडता है तथापि परसे भिन्न चैतन्यचमत्कारमात्र परम अर्थका जो अन्तरङ्गमे अवलोकन करते हैं अर्थात् ऐसे चिच्चमत्कारमात्र परमतत्त्वकी जो श्रद्धा करते हैं—उसमे लीन होकर चारित्रभावका लाभ करते हैं उन जीवोंके लिये यह व्यवहारनय कुछ नही है अर्थात् निष्प्रयोजन है। जैसे कोई मनुष्य किसी कार्यकी सिद्धिके लिये उसके अनुरूप कारणकूट—सामग्रीको एकत्र करता था, पर कार्य सम्पन्न होनेके अनन्तर उस कारणकूट—सामग्रीकी कोई आवश्यकता नही रह जाती। अथवा, तबतक मनुष्य नौकाको नही छोडता तबतक तीरको प्राप्त नही हो जाता, तीरको प्राप्त हो जानेपर नौकाकी कोई आवश्यकता नही रह जाती। इसी तरह शुद्धस्वरूपके श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्रके प्राप्त होनेपर उसके लिये अशुद्ध (व्यवहार) नयकी आवश्यकता नही रह जाती।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मन
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्य. पृथक् ।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानय
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्माऽयमेकोऽस्तु न ॥ ६ ॥

अर्थ—शुद्धनयकी दृष्टिसे आत्मा अपने एकपनमे नियत है, स्वकीय गुणपर्यायोमे व्याप्त होकर रहता है तथा पूर्णज्ञानका पिण्ड है ऐसे आत्माका आत्मातिरिक्त द्रव्योसे जो भिन्न अवलोकन है अर्थात् ससारके समस्त द्रव्योसे उसका पृथक् अनुभवन है, इसीका नाम सम्यग्दर्शन है। इसीके होते ही आत्माका जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। वास्तवमे ज्ञानमे जो मिथ्यापन है वह स्वत नही, किन्तु जबतक आत्मामे परसे भिन्न अपनी यथार्थ—प्रतीति नही होती तबतक यथार्थ ज्ञान भी नही होता। जैसे कामलारोगसे पीडित मनुष्य शङ्खको नही जानता, सो नही है, किन्तु कामलारोगसे उसमे पीतत्वका भान करता है, रोगापहरणके अनन्तर ही उसे श्वेत शङ्खका भान होने लगता है। इसी प्रकार मिथ्यात्वके उदयमे यह जीव शरीरको आत्मा मानता है, मिथ्यात्वके जानेके बाद आत्माको आत्मा और परको पर जानता है। इस जाननेमे मुख्यत मिथ्याभावके जानेकी ही महिमा है। अत आचार्य महाराजका कहना है कि जो शुद्धनयके बलसे परसे भिन्न केवल शुद्धचिद्रूप आत्माको देखते है उन्हीके सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। और यह जो सम्यग्दर्शन है सो आत्मा तावन्मात्र है—सम्यग्दर्शनके प्रमाण है क्योकि गुण और गुणीमे प्रदेशभेद नही है। इसीसे आचार्यमहाराजने कहा है कि नवतत्त्वकी सन्ततिको छोडकर हमारे केवल एक आत्मा ही हो अर्थात् परसे भिन्न शुद्ध आत्माकी प्राप्ति हो।

उपर्युक्त कथनका यह तात्पर्य है कि व्यवहारनय आत्माको नानारूपसे व्यवहारमे लाता है। जैसे एक ही पुरुष स्वीय पिताकी अपेक्षा पुत्रशब्दसे व्यवहृत होता है तथा स्वकीय पुत्रकी अपेक्षा पिताशब्दसे कहा जाता है। अपने गुरुकी अपेक्षा शिष्यशब्दसे प्रतिबोधित होता है तथा निज शिष्यकी अपेक्षा वही गुरुशब्दसे पुकारा जाता है। मातुलकी अपेक्षा भानजा और भानजाकी अपेक्षा मातुलशब्दसे घोषित होता है इत्यादि नाना सम्बन्धोके होने पर भी परमार्थसे पुरुष नाना नही है। इसी प्रकार एक ही आत्मा व्यवहारनयसे अनेक पर्यायोका आलम्बन लेनेके कारण नाना होकर भी द्रव्यदृष्टिसे नाना नही है। निश्चय और व्यवहार दोनो ही नय अपने-अपने विषयमे प्रमाण है क्योकि श्रुतज्ञानके अश है। जैसे अशुद्धनयकी दृष्टिमे आत्मा नाना और शुद्धनयकी दृष्टिमे एक तथा प्रमाणदृष्टिमे एकानेक है। वस्तुत जो है सो है क्योकि वस्तु अनिर्वचनीय है।

केवल एक अशका श्रद्धान सम्यग्दर्शन नही है क्योकि वह तो वस्तुका एकदेश है। जैसे एक रुपयेमे चौसठ पैसे होते है, अब उसमे पाव आनाका विचार कीजिये। क्या वह रुपया है ? नही, यदि पाव आनामे रुपयेका व्यवहार किया जावे तो एक रुपयेके स्थानमे चौसठ रुपयोका व्यवहार होने लगेगा, जो कि सर्वथा असगत है और यदि पाव आना रुपया नही है तो इसी तरह दूसरा पाव आना तथा तीसरा पाव आना आदि सभी रुपया नही है तब रुपयाके व्यवहारका अपलाप ही हो जावेगा, अत पाव आना न तो रुपया है और न रुपयासे भिन्न है, किन्तु एक रुपयेका $\frac{1}{64}$ अश है।

इसी तरह वस्तु, द्रव्यके भेदाभेदकी अपेक्षा दो अशरूप है, उन दोनो अशोकी श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। यहाँ पर केवल शुद्धनयकी मुख्यतासे कथन है, इसीसे उसके द्वारा जानी हुई शुद्ध आत्माकी श्रद्धाको सम्यग्दर्शन कहा है। शुद्धनयसे सम्यग्दर्शनका स्वरूप कहनेका प्रयोजन यह है कि शुद्धनयके द्वारा प्रतिपाद्य जो आत्माकी शुद्ध अवस्था है वह उपादेय है और व्यवहारनयके द्वारा प्रतिपाद्य जो अशुद्ध अवस्था है वह हेय है। आत्मद्रव्य शुद्धाशुद्ध अवस्थाओका पिण्ड है, अत उन सब अवस्थाओ को लक्ष्यमे रखने पर आत्मद्रव्यकी पूर्णता है। आत्मा सर्वथा शुद्ध ही है अथवा सर्वथा अशुद्ध ही है ऐसी श्रद्धा एक अशकी श्रद्धा है। अथवा सम्यग्दर्शन तो निर्विकल्प गुण है। उसके होते ही आत्मा-का जो ज्ञान है वह यथार्थ हो जाता है और उसीको उपचारसे सम्यग्दर्शन कहते है। यही कहा है—

मिथ्याभिप्रायनिर्मुक्तिर्ज्ञानस्येष्ट हि दर्शनम्।
ज्ञानत्व चार्थविज्ञप्तिश्चर्यात्व कर्महन्तृता॥

अर्थ—जब आत्माका विपरीत अभिप्राय चला जाता है तब उसके ज्ञानको दर्शन कहते हैं और अर्थकी विज्ञप्तिको ज्ञान कहते हैं तथा कर्मके नाश करनेकी शक्तिका नाम ही चारित्र है।

अत शुद्धनयायत्त प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्व न मुञ्चति॥ ७॥

अर्थ—अत शुद्धनयके द्वारा परपदार्थसे भिन्न और अपने स्वरूपसे अभिन्न आत्मज्योतिका विकास होता है। वह आत्मज्योति यद्यपि नवतत्त्वके साथ मिल रही है तथापि अपना जो एकत्वपना है उसे नही त्यागती है।

आत्मा परपदार्थके सम्बन्धसे नवतत्त्वोमे सम्बद्ध होनेके कारण यद्यपि नाना प्रकार दीखता है तथापि जब इसका पृथक् विचार किया जाता है तब अपने चैतन्यचमत्कारलक्षणके कारण यह भिन्न ही है। जैसे नट नानाप्रकारके स्वाग रखकर भी अपने मनुष्यनसे एक ही है॥ १२॥

आगे भूतार्थनयसे जीवाजीवादि पदार्थोका जानना सम्यग्दर्शन है, यह कहते है—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण-पाव च।
आसव-सवर-णिज्जर-बधो मोक्खो य सम्मत्तं॥ १३॥

अर्थ—भूतार्थनयके द्वारा जाने हुये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये सम्यक्त्व हैं अर्थात् इन नौ तत्त्वोकी यथार्थ प्रतीति जिस गुणके विकास होनेपर होती है उसीका नाम सम्यक्त्व है।

विशेषार्थ—जबतक आत्मामे सम्यग्दर्शनगुणका विकास नही होता तबतक यह आत्मा मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी रहता है और इसी कारण परपदार्थोमे अपना सकल्प करता रहता है। यद्यपि ज्ञानादि गुणोके कारण आत्मा परपदार्थोसे भिन्न है, कोई भी पदार्थ अपने स्वरूपको छोडकर अन्यरूप नही होता, परन्तु क्या करें? मतवालेकी तरह भ्रान्त होनेसे मनमे जो कल्पना उठ गई उसीका उपयोग करने लगता है। कभी सत्य कल्पना भी उठती है परन्तु उसका गाढ श्रद्धान नही

होता। मिथ्यादृष्टि जीव नाना प्रकारके सकल्पो द्वारा अपनेको नाना मानता है परन्तु जिसके सम्यग्दर्शनका विकास हो जाता है उसका ज्ञान आस्रवादि पदार्थोंको यथार्थ जानने लगता है। यही कारण है कि वह इन नव तत्त्वोमे, जो ससारके कारण है, वे चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ हो, उन्हे हेय समझता है और जो ससार-बन्धनका छेदन करने वाले हैं उनमे उपादेय बुद्धि कर अपनी प्रवृत्ति करता है। इसीसे स्वामीने लिखा है कि ये जो जीवादिक नो तत्त्व है वे भूतार्थ नयके द्वारा जाने जानेसर सम्यग्दर्शनको उत्पन्न कराते हैं।

ये जो नव तत्त्व है वे अभूतार्थ नयसे कहे गये है क्योकि आत्मा तो वास्तवमे एक है, अखण्ड है, अविनाशी है और यह जीव, अजीव, पुण्य, पाप आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षरूप जो नव तत्त्व है वे भेदहृष्टिसे कहे गये है। इनमे भूतार्थ नयसे देखा जावे तो जीव एक है, उसके एकपनको जानकर शुद्धनयके द्वारा निर्णीत आत्माकी जो अनुभूति है वही तो आत्मख्याति है। उसीके लिये यह नव तत्त्वोका विस्तार अभूतार्थ नयसे निरूपित किया गया है।

उन नव तत्त्वोमे विकार्य और विकारक पुण्य और पाप ये दोनो है अर्थात् पुण्य और पापरूप जो आत्माके परिणाम है वे स्वय विकारयोग्य हैं और विकारके उत्पादक भी हैं। इसी तरह आस्राव्य और आस्रावक ये दोनो ही आस्रव है अर्थात् आस्रवभाव, आस्राव्य है और आगामी आस्रवका कारण भी है। इसी तरह सवार्य और सवारक ये दोनो सवर हैं अर्थात् सवरभाव, स्वय निरोधरूप है और आगामी कर्मोके निरोधका कारण भी है। इसी तरह निर्जर्य और निर्जरक ये दोनो भाव निर्जरा है अर्थात् निर्जरारूप जो भाव है वह स्वय निर्जरणस्वरूप है और निर्जराका करनेवाला भी है। इसी तरह बन्ध्य और बन्धक ये दोनो ही बन्ध हैं अर्थात् जो बन्धभाव है वह स्वय बन्धने योग्य है और बन्धनका करने वाला भी है। इसी प्रकार मोच्य और मोचक ये दोनो ही मोक्ष हैं अर्थात् जो मोक्षभाव है वह मोक्ष होने योग्य और मोक्षका करनेवाला भी है।

एक ही पदार्थमे नवतत्त्व नही बन सकते। आत्मा अपने आप आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पापरूप परिणमनको प्राप्त नही हो सकता, अत जीव और अजीव इन दोनोके मिलनेसे इन आस्रवादि पदार्थोंका उत्पाद होता है ऐसा माना गया है। जीव नामक पदार्थमे अनेक शक्तियाँ हैं। उनमे एक विभावशक्ति भी है और योगशक्ति भी है। ये शक्तियाँ निमित्त पाकर जीवमे प्रदेश-चञ्चलता और कलुषताको उत्पन्न करती है। जिसके द्वारा आत्मामे आस्रव और बन्ध होता है। तथा जब तीव्र कषाय होती है तब पापके कारण अशुभ और जब मन्द कषाय होती है तब पुण्यके कारण शुभ परिणाम होते है जो कि आत्मामे पाप और पुण्यकी परिणति करते है। तथा जब आत्मा बन्ध-फलका अनुभव करता है तब वह कर्म रस देकर खिर जाता है उसे निर्जरा कहते हैं। ऐसी निर्जरा सम्यग्दर्शनके पहले सब जीवोके होती है परन्तु उसका मोक्ष-मार्गमे कोई उपयोग नही होता। जब आत्मामे परिणामोकी निर्मलता होनेसे विपरीत अभिप्राय निकल जाता है और सम्यग्दर्शनका लाभ हो जाता है तब सवरपूर्वक निर्जरा होने लगती है। और जब गुणस्थान-परिपाटीसे क्रम-क्रमसे परिणमोकी निर्मलता बढने लगती है तब उसी क्रमसे सवर बढने लगता है। इस तरह ग्यारह, बारह और तेरहवें गुणस्थानमे केवल सातावेदनीयका, आस्रव रह जाता है, शेष प्रकृतियोका सवर हो जाता है और अन्तमे चतुर्दश गुणस्थानमे उसका भी सवर हो जाता है। अघातिया कर्मोकी जो पचासी प्रकृतियाँ सत्तामे रह जाती हैं उनकी भी उपान्त्य

और अन्त्य समयमे निर्जरा कर आत्मा मोक्षका लाभ करता है। इस तरह ये नव तत्त्व पदार्थद्वय—जीव-अजीवके सम्बन्धसे होते है। बाह्य दृष्टिसे जीव और पुद्गलकी जो अनादि कालसे बन्धपर्याय प्रवाहरूपसे चली आ रही है यदि उसकी अपेक्षासे विचार किया जावे तो एकपनसे अनुभूयमान होने वाले ये नव तत्त्व सत्यार्थ हैं और मिश्रितावस्थाको छोडकर केवल जीवद्रव्यके स्वभावकी अपेक्षासे विचार किया जावे तो अभूतार्थ हैं। केवल न जीवद्रव्य नवरूप हो सकता है और न केवल अजीव (पुद्गल) द्रव्य ही नवरूप हो सकता है। जैसे नमक, मिर्च, खटाई, यदि इनको मिलाया जावे तो नमक-मिर्च, नमक-खटाई, मिर्च-खटाई और तीनोको मिलाया जावे तो नमक-मिर्च-खटाई इस तरह अनेक स्वाद हो जाते हैं। यदि तीनोको पृथक्-पृथक् रखा जावे तो मिश्रमे जो स्वाद आता है वह केवलमे नही आ सकता। इसी तरह जीवमे जो आस्रवादि होते हैं वे पुद्गलसम्बन्धसे ही हैं, केवल जीवमे तो एक ज्ञायकभाव ही है और अन्तमे पुद्गलका सम्बन्ध विच्छेद होने पर वही रह जाता है। अत एव केवल जीवके अनुभवमे ये नव तत्त्व असूतार्थ हैं। इसीलिये इन नव तत्त्वोमे भूतार्थनयसे विचार किया जावे तो केवल एक जीव ही भूतार्थ है तथा अन्तर्दृष्टिसे ज्ञायकभाव जीव है। जीवके विकारका कारण अजीव है, जब ऐसी व्यवस्था है तब जीवके विकार पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, वन्ध और मोक्षरूप हैं और ये अजीवके विकारके कारण हैं। इसी तरह अजीवरूप भी पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, वन्ध और मोक्ष हैं और ये जीवके विकारके कारण हैं। ये जो नौ तत्त्व हैं इनका यदि जीवद्रव्यके स्वभावको छोडकर स्वपरनिमित्तक एकद्रव्यपर्यायरूपसे अनुभव किया जावे तो ये भूतार्थ हैं और सकल कालमे अपने स्वभावसे स्खलित न होने वाले जीवद्रव्यके स्वभावको लेकर विचार किया जावे तो अभूतार्थ हैं। इससे यह निष्कर्ष निकला कि इन नव तत्त्वोमे भूतार्थनयके द्वारा एक जीव ही प्रद्योतमान है क्योकि वह द्रव्य है। द्रव्य स्यास्नु (नित्य) है, पर्याय अस्थास्नु (अनित्य) है अतएव नश्वर है। इस प्रकार एकपन कर द्योतमान जीव शुद्धनयके द्वारा अनुभवका विषय होता है और जो यह अनुभूति है वही आत्मख्याति है तथा आत्मख्याति ही सम्यग्दर्शन है, इस रीतिसे यह समस्त कथन निर्दोष है। अमृतचन्द्रस्वामीने कहा है—

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमान
कनकमिव निमग्न वर्णमालाकलापे।
अथ सततविविक्त दृश्यतामेकरूप
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥ ८ ॥

अर्थ—चिरकालसे यह आत्मज्योति नवतत्त्वके अन्तस्तलमे लुप्त-सी हो रही है। जैसे वर्ण-मालाकलापमे अर्थात् मिश्रित अन्य द्रव्योके वर्णसमूहमे सुवर्ण मग्न रहता है, किन्तु जैसे पाकादि-क्रिया द्वारा शुद्ध सुवर्ण निकाला जाता है, ऐसे ही यह आत्मज्योति भी शुद्धनयके द्वारा विकासमे लायी जाती है। अतएव हे भव्यात्माओ! इसे निरन्तर अन्य द्रव्यो तथा उनके निमित्तसे होनेवाले नैमित्तिक भावोसे भिन्न एकरूप देखो। यह आत्मज्योति प्रत्येक पर्यायमे चिच्चमत्कारमात्रसे प्रकाशमान है।

इस ससारमे यावत् द्रव्य हैं वे सब अपने-अपने गुण-पर्यायो द्वारा ही परिणमन करते हैं। यदि कालकी विवक्षा की जावे तो सभी द्रव्योंके परिणमन नाना है। उनमे आकाश, काल, धर्म

और अधर्म ये चार द्रव्य सदा एक (सदृशपरिणमन) रूप ही रहते है, किसी भी कालमे उनका विसदृश परिणमन नही होता, क्योकि उन द्रव्योमे विभावशक्तिका अभाव है। शेप जीव और पुद्गल द्रव्य परस्पर निमित्त पाकर नाना प्रकारके परिणमनके कर्ता होते है क्योकि उनमे विसदृश परिणमन कराने वाली विभावशक्ति विद्यमान है। यही कारण है कि जीव और पुद्गलमे यह आस्रवादिक परिणमन होता है।

अब यहाँ विचार करनेकी परमावश्यकता है। यह जो (दृश्यमान) परिणमन है वह सम्यग्दृष्टिके भी होता है और मिथ्यादृष्टिके भी होता है, किन्तु मिथ्यादृष्टि मात्र पर्यायमे अहता—अहभाव धारण कर ससारका पात्र होता है। सम्यग्दृष्टि भी यद्यपि पर्यायको अपनी जानता है परन्तु वह यह मानता है कि यह जो पर्याय निष्पन्न हुई है वह विजातीय द्रव्यके सम्बन्धसे हुई है अतएव स्वभावरूप और स्थिर नही है, कारणके अभावमे मिट जावेगी, आकुलताकी उत्पादक है तथा आस्रवादिकी जनक है। अत वर्तमानमे उसे अपनी मान कर भी उसे पृथक् करनेकी चेष्टा करता है। यदि सर्वथा अपनी न समझे तो उसे पृथक् करनेका जो प्रयास है वह सब व्यर्थ हो जावे और इसी तरह रागादि विभाव या आस्रवादि सर्वथा आत्माके नही है ऐसा समझें तो रागानुत्पत्तिको सवर और बन्धफलानुभवको निर्जरा कहा है वह सब व्यर्थ हो जावे तथा मोक्षका जो लक्षण 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष ' कहा गया है वह सब भी असगत हो जावे। अत आत्माका जो एकपना कहा गया है वह शुद्धनयकी दृष्टिमे है, अशुद्धनय—पर्यायदृष्टिमे नहीं है। परन्तु जो जीव सर्वथा पर्यायमे ही अपना अस्तित्व मान रहे है और द्रव्यसे पराड्मुख है उन्हें यथार्थ वस्तु अवगत करानेके लिये तथा पर्यायके कारण जो नानात्व बुद्धि हो रही है उसके निवारणके अर्थ आचार्यप्रभुका कहना है कि एकपनकर जाना हुआ जो शुद्धात्माका विषय है वह नानापर्यायोमे रहता हुआ भी अपने एकत्वको नही छोडता। जैसे सुवर्णद्रव्य किट्टकालिकादि परद्रव्यके सम्बन्धसे अनेक अवस्थाओको धारण करता हुआ भी द्रव्यदृष्टिसे स्वकीय सुवर्णताको नही त्यागता, इस तरह द्रव्यदृष्टिसे कोई हानि नही, परन्तु पर्यायदृष्टिसे हानि अवश्य हुई। उस सुवर्णकी यदि वसन्तमालिनी बनाना चाहो तो वैद्य तत्काल कहेगा कि यह अशुद्ध सुवर्ण है, इसका उपयोग दवाईमे नही होता, क्योकि इसके वर्णादिगुण विकृत है, गुणकारी नही है। इसी तरह जो आत्मा परपदार्थोंके सम्बन्धसे मोही हो रहा है उसके चारित्रादि गुण भी विकारी है, अत यह आत्मा अनन्त सुखका पात्र नही हो सकता। अनन्त सुख आत्माका एक अनुपम विकासरूप गुण है, इसीके लिये महापुरुषोने प्रयास किया और इसके भोक्ता हुये तथा अब भी जो सम्यग्ज्ञानी पुरुषार्थ कर रहे, अत इन परपदर्थोंके सम्बन्धसे होनेवाली नानापनकी बुद्धिको त्यागकर आत्माके एकपनका अनुभव करो, जो ससार-दुखसे छूटनेका मूल उपाय है।

इस प्रकार एकपनकर जानी हुई जो आत्मा है उसके जाननेके उपाय प्रमाण, नय और निक्षेप है। ये उपाय भी अभूतार्थ है। इनमे एक जीव ही भूतार्थ है। प्रमाण दो तरहका है—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। जो प्रमाण परकी अपेक्षा न कर केवल आत्मद्रव्यके द्वारा ही उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। वह प्रत्यक्ष सकल और विकलके भेदसे दो तरहका है। सकलप्रत्यक्ष केवली भगवान्‌के होता है, उसे केवलज्ञान कहते है। और विकल प्रत्यक्ष अवधिज्ञान तथा मन पर्ययज्ञानके भेदसे दो प्रकारका होता है। उनमे अवधिज्ञान असयमी और सयमी दोनोंके होता

है किन्तु मन पर्ययज्ञान सयमीके ही होता है। उनमे अवधिज्ञान भी देशावधि, परमावधि और सर्वावधिके भेदसे तीन प्रकारका होता है। अवधिज्ञान सामान्यरूपसे मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनो के ही होता है किन्तु मन पर्ययज्ञान ऐसा नही है, वह तो सयमीके ही होता है।

परोक्षज्ञान मति और श्रुतके भेदसे दो प्रकारका है। इनमें मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है। असज्ञी जीवोंके इन्द्रियजन्य ही मतिज्ञान है परन्तु सज्ञी जीवोंके इन्द्रिय और मन दोनोसे उत्पन्न होनेवाला मतिज्ञान है। सज्ञी जीवोका श्रुतज्ञान भी मन तथा इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है और असज्ञी जीवोके इन्द्रियों द्वारा ही होता है। 'श्रुतमनिन्द्रियस्य' यह जो सूत्र है वह अक्षरात्म श्रुतज्ञानके अर्थ है। यह श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। जहा श्रुतज्ञानसे श्रुतज्ञान होता है वहाँ परम्परासे, विचार किया जावे तो, मतिपूर्वक ही श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति होती है।

यदि इन दोनो ज्ञानोका प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयकी विवक्षासे विचार किया जावे तो भूतार्थ है अर्थात् दोनो ही प्रमाण है और सम्पूर्ण भेद जिसमे गौणताको प्राप्त हो गये है ऐसे जीवके स्वभावको लेकर विचार किया जावे तो अभूतार्थ है।

नय दो प्रकारका है—एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक, क्योकि इनका प्रतिपाद्य पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। इन दो अशोमे जो सामान्य अशको कहनेवाला है वह द्रव्यार्थिकनय है। द्रव्यार्थिकनय सामान्यको विषय करनेवाला है, इसका यह तात्पर्य है कि इस नयका विषय सामान्य है, यह तात्पर्य नही कि विशेष कोई वस्तु ही नही है। हाँ, वह अवश्य है, पर यह नय उसे विषय नही करता किन्तु उसकी अपेक्षा रखता है, इसीसे आचार्यने लिखा है—'सापेक्षो हि सन्नय'।

श्रीसमन्तभद्र स्वामीने भी देवागम स्तोत्रमे ऐसा ही कहा है—

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति न ।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥

अर्थ—निरपेक्ष अर्थात् एक-एक धर्मका कथन करनेवाले जो नय हैं वे सब मिथ्या हैं, उनका जो समूह है वह भी मिथ्या ही है और जो नय सापेक्षताको लेकर कथन करते हैं वे सम्यग् नय हैं और वही वस्तुभूत हैं तथा वही अर्थक्रिया करनेमे समर्थ हैं।

इन्ही स्वामीने अरनाथ भगवान्की स्तुतिमे स्वयम्भूस्तोत्रमे भी कहा है—

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नया ।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीहिते ॥

अर्थ—पदार्थ सत् है, एक है, नित्य है, वक्तव्य है और इनसे विपरीत असत् है, अनेक है, अनित्य है, अवक्तव्य है। इस तरह जो नय सर्वथा—निरपेक्ष होकर कथन करते हैं वे दोषयुक्त हैं और जो 'स्यात्' शब्दके सहयोगसे कथचित्—सापेक्षभावसे कथन करते हैं वे इष्टको पुष्ट करते हैं।

इस प्रकार द्रव्यार्थिकनय अपने विषय द्रव्यको कहता है। पर्यायार्थिकनयका विषय विशेष अर्थात् पर्याय है। यह नय द्रव्यको नही देखता, किन्तु उसकी अपेक्षा रखता है। इसीसे 'स्यात्' पदकी उसके साथ योजना की जाती है।

इन दोनो नयोका जो परस्पर मैत्रीभाव है वह प्रमाण है। वस्तु न केवल द्रव्यस्वरूप है और न केवल पर्यायस्वरूप है किन्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप है। अतएव श्रीकुन्दकुन्द महाराजने लिखा है—

पज्जय-विजुद दव्व दव्व-विजुत्ता न पज्जया हुति।
दोण्ह अणण्णभूद भाव समणा परूविति॥

अर्थ—अर्थात् पर्यायके बिना द्रव्यका कोई सत्व नही और द्रव्यके बिना पर्यायोका अस्तित्व नही, किन्तु द्रव्य और पर्याय दोनोके अस्तित्वको लेकर ही वस्तुका अस्तित्व है। वही वस्तुका यथार्थ अवलोकन है, इसीको प्रमाण कहते है। दोनो नय द्रव्य और पर्यायका क्रमसे अनुभव करते हुए प्रमाणभूत हैं—सत्यार्थ है और द्रव्य तथा पर्यायकी विवक्षासे रहित शुद्ध वस्तुमात्र जीव-स्वभावकी अनुभूतिमे वे अभूतार्थ हैं।

जिस प्रकार वस्तुको जाननेके लिए प्रमाण और नय कारणरूप है उसी प्रकार निक्षेप भी कारणरूप है और वह नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भावके भेदसे चार प्रकारका है। जिसमे जो गुण तो नही है, मात्र व्यवहारके लिए उन गुणोकी अपेक्षा किए विना उसका नाम रख दिया जाता है वह नामनिक्षेप है। जैसे किसीका नाम हाथीसिंह रख दिया। अन्य वस्तुमे अन्य वस्तुकी स्थापना करना स्थापनानिक्षेप है। जैसे 'यह वही आदिनाथ हैं' इस प्रकार प्रतिमामे आदिनाथ भगवान्‌की स्थापना करना। यह स्थापना तदाकार और अतदाकारके भेदसे दो प्रकारकी होती है। वर्तमान पर्यायसे अन्य अतीत और अनागत पर्यायमे वर्तमान पर्यायका कथन करना द्रव्यनिक्षेप है। जैसे राजपुत्र और राज्यभ्रष्टको राजा कहना। वस्तुकी वर्तमान पर्यायको भाव कहते है, अत भाव अर्थात् वर्तमान पर्यायको वर्तमानरूपसे ही कहना भावनिक्षेप है। ये चारो ही निक्षेप अपने-अपने लक्षणोकी विलक्षणतासे अनुभवमे आते है अत भूतार्थ है—सत्यार्थ हैं और सब लक्षणोको गौण कर केवल एक जीवस्वभावकी अनुभव दशामे अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ हैं। इस प्रकार इन नव तत्त्वो तथा प्रमाण-नय-निक्षेपोमे भूतार्थनयके द्वारा एक जीव ही प्रकाशमान है अर्थात् पदार्थान्तर-का सम्बन्ध पाकर उसीकी नाना पर्याये दिख रही हैं। वास्तवमे तो वह एक अखण्ड अविनाशी चैतन्यपिण्ड है। श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं—

मालिनीछन्द

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाण
क्वचिदपि न च विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥ ९॥

अर्थ—समस्त भावोको नष्ट करनेवाले शुद्धनयके विषयभूत चैतन्यचमत्कारमात्र तेज पुञ्जस्वरूप आत्माका अनुभव होनेपर नयोकी लक्ष्मी उदयको प्राप्त नही होती, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेपोका समूह कहाँ चला जाता है, यह हम नही जानते। और अधिक क्या कहे, द्वैत ही प्रतिभासित नही होता।

…र विचार किया जा…

मोहके उदयसे जो रागादिभाव होते है वही नाना प्रकारकी …नके सम्बन्धसे ही उष्णता-पदार्थोंमे इष्टानिष्ट बुद्धि कराते हैं। जो मोह कल्पनाओका कारण …सम्बन्धसे विचार करते हैं तब

उक्त कल्पनाएँ कहाँ हो सकती हैं ? आगे अमृतचन्द्र स्वामी शुद्धनयकी महिमाका गान करते हैं—

उपजातिछन्द

आत्मस्वभाव परभावभिन्न-
मापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम् ।
विलीनसंकल्पविकल्पजाल
प्रकाशयन् शुनयोऽभ्युदेति ॥ १० ॥

अर्थ—परभावसे भिन्न, सब ओरसे पूर्ण, आदि-अन्तसे रहित, एक और जिसमे औपाधिक सकल्प-विकल्पोका समूह विलीन हो गया है ऐसे आत्मस्वभावको प्रकाशित करता हुआ शुद्धनय उदयको प्राप्त होता है।

भावार्थ—वास्तवमे शुद्धनयकी कोई अनिर्वचनीय ही महिमा है क्योकि उसके होते ही पर और परके निमित्तसे जायमान रागादि विभावभावोसे भिन्न आत्माका स्वभाव भासमान होने लगता है। वह आत्मस्वभाव क्षयोपशम अवस्थामे अपूर्ण रहता है, परन्तु सर्वतत्त्वावभासी केवलज्ञानके होनेपर आसमन्तात् पूर्ण हो जाता है, किसीमे उत्पन्न नही होता और कभी नष्ट नही होता, इसलिये अनादि-अनन्त है, सामान्यदृष्टिसे रहित है और मोह तथा रागद्वेषमे उत्पन्न होनेवाले सकल्प-विकल्पोंके जालसे रहित है ॥ १३ ॥

अब उस शुद्धनयका स्वरूप कहते हैं—

जो पस्सदि अप्पाण अबद्ध-पुट्ठ अणण्णयं णियद ।
अविसेसमसजुत्तं तं सुद्धणय वियाणाहि ॥ १४ ॥

अर्थ—जो नय आत्माको बन्ध और स्पर्शसे रहित, अन्यपनेसे रहित, चलाचलभावसे रहित विशेषतासे रहित और सयुक्तपनसे रहित जानता है उसे शुद्धनय जानो।

विशेषार्थ—जो नय निश्चयसे अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असयुक्त आत्माका अनुभव करता है वही शुद्धनय है। यहाँ पर वस्तुका विचार केवल द्रव्यस्वभावको लेकर किया जाता है, अत उसके निरूपणमे परपदार्थके निमित्तसे जो भी अवस्था होती है वह सब अभूतार्थ कही जाती है। और यदि परपदार्थके सम्बन्धसे उन अवस्थाओका विचार किया जावे तो वे सब अवस्थाएँ सत्यभूत होती हैं।

आत्माका जो स्वरूप उपर कहा गया है उसका अनुभव कैसे होता है ? उसीको कहते हैं—ये जो बद्ध, स्पृष्ट आदि जीवकी अवस्थाएँ हैं वे अभूतार्थ हैं क्योकि परपदार्थके सम्बन्धसे जायमान हैं। जैसे जिस कालमे कमलिनीका पत्र जलमे निमग्न रहता है उस कालमे उसका विचार करिये। विरर्त हैं। ेपर अवगत होता है कि सलिलका कमलिनीपत्रके साथ जो सम्बन्ध है वह सत्य है—

इस प्रकार द्रव्ॆनीपत्रका जलके साथ सयोग हो ही रहा है। परन्तु जब केवल कमलिनीके अर्थात् पर्याय है। यह नय है तब अवगत होता है कि कमलिनीपत्रका स्वभाव सलिलके स्पर्शसे पदकी उसके साथ योजना काना अभूतार्थ है। इसी प्रकार आत्माके साथ कर्मोंका सम्बन्ध अनादि-

कालसे चला आ रहा है। जब उसको लेकर विचार किया जाता है तब आत्मामे बद्ध-स्पृष्ट पर्याये भूतार्थ ही है ऐसा अनुभव होता है और पुद्गल जिसका स्पर्श नही कर सकता ऐसे आत्मस्वभावको लेकर जब विचार किया जाता है तब बद्ध-स्पृष्ट पर्याये अभूतार्थ है ऐसा प्रतीत होता है।

इसी तरह जब मृत्तिकाका घट बनाते है तब उसकी पहले जलके द्वारा आर्द्रावस्था की जाती है। बादमे स्थास, कोश, कुसूल और घटकी निष्पत्ति होती है। जब वह घट भग्न हो जाता है तब उसके टुकडोको कपाल कहते हैं तथा जब और भी छोटे टुकडे हो जाते हैं तब उन्हे कपालिका कहते है। इस तरह स्थास, कोश, कुसूल, घट, कपाल और कपालिका आदि अनेक पर्याये मृत्तिकाकी होती है, वे सब पर्याये परस्परमे भिन्न हैं और भिन्न-भिन्न कार्य भी उनके देखे जाते हैं, अत उन सबमे जो अन्यपना है वह भूतार्थ है। परन्तु जब सब पर्यायोमे एकरूपसे रहने वाले मृत्तिकास्वभावकी ओर दृष्टि देकर विचार किया जाता है तब वह अन्यपना अभूतार्थ हो जाता है।

इसी तरह जीवकी नर-नारकादि पर्यायको लक्ष्य कर यदि विचार किया जावे तो नारकी अन्य है, मनुष्य पर्यायवाला जीव अन्य है, सुर अन्य है, पशु अन्य है। सबके निमित्तभूत कर्म अन्य अन्य है तथा सब पर्यायोमे अभेदरूपसे रहनेवाला जो जीवका स्वभाव है उसकी विवक्षासे विचार किया जावे तो वह अन्यपना अभूतार्थ है।

जैसे समुद्रमे जब समीरके सचरणका निमित्त मिलता है तब नाना तरङ्गोकी माला उठती है और जब समीरके सचरणका निमित्त नही मिलता तब तरङ्गमाला नही उठती। इस रूपसे कभी तो समुद्र वृद्धिरूप हो जाता है और कभी हानिरूप हो जाता है अर्थात् उसकी नियतावस्था नही रहती। इस विवक्षाको लेकर समुद्रमे अनियतपना भूतार्थ है और नित्य व्यवस्थित रहनेवाले समुद्रस्वभावको लेकर विचार किया जावे तो वह अनियतपना अभूतार्थ है। एव आत्माकी वृद्धि-हानिरूप पर्यायको लेकर विचार किया जावे तो उसमे अनियतपन भूतार्थ है और यदि आत्मस्वभावको लेकर विचार किया जावे तब आत्मा तो सर्वदैव अखण्ड अविनाशी द्रव्यरूपसे विद्यमान है अत उसमे यह अनियतपन अभूतार्थ है।

जैसे सुवर्णके स्निग्धपन, पीतपन तथा गुरुपन आदि गुणोको लेकर जब विचार करते है तब उसमे जो विशेपपन है वह भूतार्थ है क्योकि अन्य धातुओकी अपेक्षा सुवर्णका स्निग्धपन, पीतपन तथा गुरुपन निराला ही है। परन्तु जिसमे समस्त विशेप अस्त हो गये ऐसे सामान्य सुवर्णस्वभावको लेकर जब अनुभव किया जाता है तब वह विशेपपना अभूतार्थ है। ऐसे ही आत्माके जो ज्ञान-दर्शनादि गुण है उनकी विशेपतासे जब विचार किया जाता है तब आत्मामे अन्य द्रव्योकी अपेक्षा विशेषता भूतार्थ है क्योकि अन्य द्रव्योमे यह विशेषता नही पाई जाती। और जिसमे सम्पूर्ण विशेषताओका अभाव हो गया है ऐसे आत्माके एकस्वभावको लेकर यदि विचार करते है तो यह विशेषता अभूतार्थ है।

जैसे जलमे अग्निका सम्बन्ध पाकर जब उष्णता हो जाती है तब यदि विचार किया जावे तो उसमे सयुक्तपन सत्यार्थ है और यदि जलके केवल शीतस्वभावको लेकर विचार किया जावे तो यह सयुक्तपन अभूतार्थ है क्योकि जल स्वभावसे उष्ण नही है, अग्निके सम्बन्धसे ही उष्णताका लाभ करता है। इसी तरह आत्माका जब कर्मसहित पर्यायके सम्बन्धमे विचार करते हैं तब

उसमे सयुक्तपन भूतार्थ ही है क्योकि विजातीय द्रव्यके सम्बन्धको पाकर ही आत्मा और कर्मोंका अनादिकालसे सयोग चला आ रहा है, इस स्थितिमे आत्मामे जो सयुक्तपन है वह भूतार्थ है। और जब एकान्तसे केवल स्वयबोधस्वरूप जीवके स्वभावको लेकर विचार किया जाता है तब वह सयुक्तपन अभूतार्थ है। इसी भावको श्रीअमृतचन्द्र स्वामी निम्न कलशा द्वारा दरशाते हैं—

मालिनीछन्द

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
　　स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमान समन्ताज्-
　　जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥ ११ ॥

अर्थ—यह जगत् मोहरहित होकर अर्थात् मिथ्यात्वके आवरणको दूरकर सब ओरसे प्रकाशमान उसी एक आत्मस्वभावका अनुभव करे, जिसमें ये बद्ध, स्पृष्ट आदि भाव तैरते हुए भी प्रतिष्ठाको प्राप्त नही होते।

भावार्थ—स्वामी कहते हैं कि ये जो बद्ध, स्पष्ट आदि भाव हैं वे आत्मस्वरूपके साथ मिलकर एकमेक नही हो जाते, ऊपर-ऊपर ही तैरते हैं ऐसा सब ओर विकासरूप जो आत्मस्वभाव है उसीका अनुभव करो। आत्म-स्वभाव जगत्के ऊपर ही रहता है, अनुभवमे भी यही आता है कि ससारमें जितने पदार्थ हैं वे सब अपनी-अपनी सत्ता लिये हुए अपने अखण्डरूपसे विराजमान हो रहे हैं। एक अश भी अन्यका अन्यमे नही जाता। यदि एक पदार्थ अन्य रूप हो जावे तो ससारका ही अभाव हो जावे।

इस आत्माका अनुभव कब और किस जीवको होता है, यह कलश द्वारा स्वामी दिखलाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

भूत भान्तमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बन्ध सुधी-
　　र्यद्यन्त किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोह हठात् ।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुव
　　नित्य कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देव स्वय शाश्वत. ॥ १२ ॥

अर्थ—यदि कोई भेदविज्ञानी सुबुद्धि पुरुष भूत, वर्तमान और भविष्यत् ऐसे कालत्रय सम्बन्धी बन्धको वेगसे भेदकर तथा बलपूर्वक मोहको विध्वस्त कर अन्तरङ्गमे अवलोकन करता है तो उसे दिखाई देता है—उसके अनुभवमे आता है कि यहाँ एक आत्मानुभवसे ही जिसकी महिमा जानी जा सकती है, जो अत्यन्त स्पष्ट है, निरन्तर कर्मकलङ्करूपी पङ्कसे रहित है तथा शाश्वत—अविनाशी है ऐसा आत्मदेव स्थायीरूपसे विराजमान हो रहा है।

भावार्थ—परमार्थसे आत्मतत्त्व तो आत्मतत्त्वमे ही है, परन्तु हम उसे ससारके बाह्य पदार्थोंमे अवलोकन करते हैं। जैसे हरिणके अण्डकोशमे कस्तूरी है, पर वह ससारमे खोजता है,

यही भूल है। इसी प्रकार आत्मा तो अपने आपमे ही है किन्तु हमारी प्रकृति तीर्थ, मन्दिर तथा पुराण आदिमे देखनेकी हो गई। जब तक बाह्य दृष्टिको त्यागकर आभ्यन्तर नही देखा जावेगा तब तक उसकी प्राप्ति दुर्लभ ही नही, असम्भव है।

आगे वही आत्मदेव उपासना करने योग्य है, यह कहते है—

वसन्ततिलकाछन्द

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघन समन्तात् ॥ १३ ॥

अर्थ—शुद्धनयके द्वारा जो आत्मानुभूति होती है वही ज्ञानानुभूति है, ऐसा जानकर आत्मामे ही आत्माको निश्चलभावसे स्थापित कर अवलोकन करना चाहिये। ऐसा करनेसे सब ओरसे ज्ञानघन एक आत्मा ही निरन्तर अनुभवमे आता है।

भावार्थ—अनादि कालसे आत्माका सम्बन्ध कर्मोके साथ हो रहा है और इसीसे नर-नारकादि यावत् पर्याय हैं वे सब असमानजातीय दो द्रव्योके सम्बन्धसे निष्पन्न हुई है, उनमे नाना प्रकारके बद्ध, स्पृष्टत्वादि भाव आत्माके होते है। एक द्रव्य स्वय बन्धको प्राप्त नही होता, अत उसमे बद्धत्वभाव मानना सर्वथा असगत है। इसी प्रकार द्रव्यका जो नानारूप परिणमन दिखता है वह भी परके सम्बन्धसे है। जैसे केवल परमाणुमे नाना प्रकारके परिणमन नही हो सकते हैं और जब वही परमाणु स्कन्धरूप हो जाता है तब शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य आदि नाना भेदोको प्राप्त हो जाता है, केवल परमाणुमे वे नही हैं। इसी तरह केवल आत्मामे नरनारकादि पर्यायें नही बन सकती, किन्तु मोहादिकर्मोके सम्बन्धसे उसी जीवकी अनेक पर्यायें हो जाती हैं। केवल जीवमे उन पर्यायोका अस्तित्व नही है, परपदार्थके सम्बन्धसे ही इन नाना प्रकारके परिणमनोका अस्तित्व है।

इन सब परिणमनोका मूल कारण अनादि कालसे आत्माका पर अर्थात् ज्ञानावरणादिकर्मोंसे सम्बन्ध है। उनका निमित्त पाकर आत्मामे रागादिक परिणाम होते है और रागादिक परिणामोका निमित्त पाकर कार्मणवर्गणाओका ज्ञानावरणादिरूप परिणमन हो जाता है तथा उनके सम्बन्धसे इस आत्माका नाना प्रकारके शरीरोके द्वारा चतुर्गतिमे परिभ्रमण होता रहता है। जिन जीवोको इस परिभ्रमणसे बचनेकी इच्छा है वे इन परपदार्थोके सम्बन्धसे अपने आपको सुरक्षित रखें और स्वकीय आत्माके उस एकत्वका अनुभव करें जहाँ इन बद्ध-स्पृष्टत्व आदि भावोका अवकाश नही। यही उपदेश अमृतचन्द्र स्वामीने उपर्युक्त कलशोमे दिया है—हे जगत्के प्राणिगणो! आप लोग उस सम्यक् स्वभावका अनुभव करो, जहाँपर ये बद्ध-स्पृष्टत्व आदि भाव ऊपर-ऊपर ही भासमान हो रहे हैं किन्तु उसके अन्तरङ्गमे प्रतिष्ठा नही पाते हैं क्योकि द्रव्यस्वभाव सर्वदा नित्य है, सब प्रदेशोमे प्रकाशमान हो रहा है। आवश्यकता इसकी है कि हम मोहभावका त्यागकर उसकी ओर देखें। केवल वचनमात्रसे साध्यसिद्धि होना असभव है। जो कोई

सम्यग्ज्ञानी कालत्रयसम्बन्धी बन्धको भेदकर और बलपूर्वक मोहका घातकर अन्तरङ्गमे उस आत्माको देखता है अर्थात् निरन्तर अभ्यास करता है उसे आत्मानुभवसे गम्य महिमावाला, स्पष्ट, नित्य कर्मकलङ्कसे विकल शाश्वत देवस्वरूप आत्माका अवलोकन होता है। द्रव्यदृष्टिसे देखा जावे तो आत्मा अपने स्वरूपसे अभिन्न और परभावसे भिन्न है। परन्तु अनादिकालसे मोहादिकर्मोके साथ सम्बन्ध होनेसे नाना प्रकारकी योनियोमे परिभ्रमण करता हुआ अनेक दु खोका पात्र होता है। सो यदि बलपूर्वक मोहका नाशकर अतीत, अनागत और वर्तमान कालीन बन्धका नाशकर अन्तरङ्गमे उसे देखनेका अभ्यास करे तो वहाँ आत्मारूपी देव स्वय शाश्वत विद्यमान है ही। शुद्धनयका विषयभूत जो आत्माकी अनुभूति है, वही ज्ञानकी अनुभूति है, इस निश्चयसे जानकर आत्मामे आत्माका निवेशकर सब ओरसे एक विज्ञानघन आत्मा है, ऐसा देखना चाहिये। परमार्थसे ससारमे जितने द्रव्य हैं वे सब अपने अस्तित्वगुणसे भिन्न-भिन्न है, किसी द्रव्यका किसी द्रव्यके साथ एकीभाव नही होता। विजातीय द्रव्योकी कथा ही क्या करना है जो सजातीय एकलक्षणवाले पुद्गल परमाणु हैं उनका स्निग्ध-रूक्षगुणोके द्वारा बन्ध होकर भी तादात्म्य नही होता। वस्तु-स्थिति ही ऐसी है, इस व्यवस्थाका कोई भी अपलाप नही कर सकता, क्योकि यह अनादि अनन्त है ॥१४॥

आगे शुद्धनयके विषयभूत आत्माको जो जानता है वह समस्त जिनशासनको जानता है, यह कहते हैं—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्ध-पुट्ठ अणण्णमविसेस ।
[1]अपदेससुत्तमज्झ पस्सदि जिणसासण सव्व ॥ १५ ॥

अर्थ—जो जीव आत्माको अबद्ध-अस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष तथा उपलक्षणसे नियत और असयुक्त देखता है वह द्रव्य-भावश्रुतरूप समस्त जिनागमके रहस्यको जानता है।

विशेषार्थ—जो अबद्ध-अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असयुक्त ऐसे पाँच भावरूप आत्माकी अनुभूति है वह सम्पूर्ण जिनशासनकी अनुभूति है, क्योकि श्रुतज्ञान स्वय आत्मा है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि जो ज्ञानकी अनुभूति है वही आत्माकी अनुभूति है। वस्तुकी मर्यादा तो यह है फिर भी ज अज्ञानी है और परज्ञेयोमें लुब्ध है वे सामान्यरूपसे प्रकट तथा विशेषरूपसे अप्रकट अनुभवमे आनेवाले ज्ञानके स्वादसे वञ्चित रहते हैं अर्थात् ऐसा ज्ञान उन्हे रुचिकर नही होता, यही दिखाते हैं—

जैसे नाना प्रकारके व्यञ्जनोके साथ लवणका सम्बन्ध होनेसे लवणका सामान्य स्वाद तिरोहित हो जाता है। उस समय जो व्यञ्जनके लोभी पुरुष हैं वे शुद्ध लवणके स्वादसे वञ्चित रहते हैं, विशिष्ट स्वादका अनुभव करते हैं। कोई कहता सेव नमकीन है, कोई दालमोटको नमकीन कहता है। कहाँ तक कहा जावे, जिस-जिस वस्तुके साथ लवणका सम्बन्ध हुआ है

---

१ अपदेशसूत्रमध्यम्—अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेश शब्दो द्रव्यश्रुतमिति यावत् सूत्र परिच्छित्तिरूप भावश्रुत ज्ञानसमय इति तेन शब्दसमयेन वाच्य ज्ञानसमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्य भण्यते इति। ता० वृ०।

उस-उस वस्तुको नमकीन कहते है, और शुद्ध लवणके स्वादसे वञ्चित रहते है। यद्यपि जो विशेष रूपसे लवणका स्वाद आ रहा है वह स्वाद सामान्यसे भिन्न नही है, किन्तु जो व्यञ्जनोमे लुब्ध हैं वे इस सामान्य स्वादसे अपनेको वञ्चित रखते हैं। इसी पद्धतिसे विचित्र ज्ञेयोके सम्बन्धसे सम्बन्धित जो ज्ञान है उसका घट-पट-मठादिके भेदसे अनेकाकार परिणमन हो रहा है। इस कालमे जो जीव ज्ञेयोमे लुब्ध है उन्हे ज्ञेयमिश्रित ज्ञानका स्वाद नही आता, क्योकि वे ज्ञेयोमे लुब्ध हैं। यद्यपि जो विशेपरूपसे ज्ञानका अनुभव हो रहा है, उसका सामान्य अनुभवसे वास्तविक भेद नही है। परन्तु जो ज्ञेयोमे लुब्ध हैं उन्हे इसका प्रत्यय नही होता है।

वस्तुस्थिति तो ऐसी है कि जो व्यञ्जनमे लुब्ध नही हैं उन्हे जैसे अन्यके सयोगसे रहित सैन्धव (नमक) की खिल्लीका सब ओरसे एक लवणरसपन होनेसे केवल लवणरूपसे स्वाद आता है। अर्थात् लवणकी ककडीका किसी ओरसे स्वाद लीजिये, केवल खारेपनका ही स्वाद आता है क्योकि उसमें द्रव्यान्तरका सम्वन्ध नही है। इसी तरह परद्रव्यके सम्बन्धसे रहित केवल आत्मा-का जो जीव अनुभव करनेवाले हैं उन्हे केवल एक आत्माका ही आस्वाद आता है क्योकि उसमे सव ओर विज्ञानघन वही आत्मा है, परपदार्थका वहाँ अवकाश नही। हैं तो वस्तु ऐसी, परन्तु अज्ञानी मनुष्योको उसकी स्वच्छतामे जो ज्ञेय आते हैं उनकी ही लुब्धता होनेसे ज्ञेयमिश्रित ज्ञानकी अनुभूति होती है। यद्यपि ऐसा होता नही, क्योकि ऐसा नियम है कि न ज्ञान ज्ञेयोमे जाता है और न ज्ञेय ज्ञानमे आता है। जब जाता नही तब स्वाद कैसा ? परन्तु बलिहारी अज्ञानकी, जो कल्पना न करे सो थोडी है। परपदार्थमे निजत्व कल्पना ही दु खका मूल कारण हे, इसीको पृथक् करनेके अर्थ यह सव तत्त्वज्ञान है, उसकी महिमा अपार है।

अब अमृतचन्द्र स्वामी कलश द्वारा भावना प्रकट करते है कि वह परम तेज हमारे प्रकट हो—

पृथ्वीछन्द

अखण्डितमनाकुल ज्वलदनन्तमन्तर्बहि-
र्मह परममस्तु न सहजमुद्विलास सदा।
चिदुच्छलननिर्भर मकलकालमालम्बते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायतम् ॥१४॥

अर्थ—जो अखण्डित है अर्थात् ज्ञेयोंके आकारसे खण्ड-खण्ड नही होता है, जिस प्रकार दर्पणमे नाना प्रकारके प्रतिबिम्ब पडनेपर भी उसकी अखण्डता अक्षुण्ण रहती है, इसी प्रकार समस्त पदार्थोंका ज्ञायक होनेपर भी जिसकी अखण्डता अक्षुण्ण रहती है, जो अनाकुल है अर्थात् मोहादि कर्मकि विपाकसे जायमान रागादि प्रयुक्त नाना प्रकारकी आकुलतासे रहित है, जो अनन्त है अर्थात् परके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले क्षायोपशमिकज्ञानका जिसमे अन्त हो जाता है, अथवा पहले परिमित पदार्थोंके अवबोधसे सान्त व्यपदेश पाता था, अब इन दोनो (क्षयोपशम और परिमितपना) कारणोका अभाव हो जानेसे जो अनन्त है, जो अन्तरङ्ग और बाह्यमे जाज्वल्यमान है अर्थात् आभ्यन्तरमे आत्माको जानता है और बाह्यमे बाह्य पदार्थोका प्रकाशक है, जो सहज है तथा सहज ही जिसका विलास है, जो चेतनाकी छलकमे अतिशय भरा हुआ है, जो अतिशय सुशो-

भित है और लवणखिल्यकी लीलाका आचरण करता हुआ जो सदा एकरसका आलम्बन करता है अर्थात् सदा एक ज्ञायकभावसे भरा रहता है वह विज्ञानघन परमतेज हमारे हो।

आगे सिद्धिके अभिलाषी पुरुषोको इसी आत्माकी उपासना करना चाहिये, यह कलशद्वारा कहते है—

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभि ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैक समुपास्यताम् ॥१५॥

अर्थ—जो पुरुष सिद्धि—मोक्षके अभिलाषी हैं उन्हे इसी ज्ञानघन आत्माकी निरन्तर उपासना करना चाहिये। यह आत्मा यद्यपि साध्य और साधकके भेदसे दो प्रकारका है तथापि परमार्थसे एक है।

भावार्थ—आत्मा वास्तवमे तो द्रव्यदृष्टिसे एक है, परन्तु कर्मजभावोंसे विशिष्ट जो आत्मा है वह ससारी है और कर्मजभावोंसे अतीत जो आत्मा है वह मुक्त है, ऐसा उसमे द्विविधपना है। जिन जीवोको काललब्धि आदि निमित्त मिल जाते हैं वे सम्यग्दर्शनको प्राप्तकर साधनावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं और वही साधनावस्था वृद्धिगत होते-होते एकदिन पूर्ण सामग्रीको पाकर अभीष्ट साध्यसिद्धिका लाभ करानेमे समर्थ हो जाती है ॥१५॥

आगे दर्शन, ज्ञान और चारित्र साधकभाव हैं, अतः साध्यकी सिद्धिके लिए इनकी उपासना करना चाहिये, यह कहते हैं—

दंसण-णाण-चरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥ १६ ॥

अर्थ—साधु पुरुषोको निरन्तर दर्शन, ज्ञान और चारित्र सेवन करने योग्य है। निश्चयसे दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनो ही आत्मा हैं।

विशेषार्थ—जीवकी मुक्त अवस्था साध्य है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उसके साधन हैं, अत साधु पुरुषोको इनकी निरन्तर उपासना करना चाहिये। तत्त्वदृष्टिसे ये तीनो आत्मा ही हैं, आत्मासे भिन्न नही हैं, इसलिये अभेद दशामे आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही साधन है। यही आचार्य श्रीनेमिचन्द्रने द्रव्यसग्रहमे कहा है—

सम्मद्दसण-णाण चरण मोक्खस्स कारण जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तिय-मइयो णियो अप्पा॥

अर्थ—व्यवहारसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनो मोक्षमार्ग हैं और निश्चयसे इन तीनसे तन्मय अपना आत्मा मोक्षमार्ग है, ऐसा जानो।

केवल गुण-गुणीकी भेदविवक्षासे आत्मा और ज्ञानादिगुणोमे भेदव्यवहार होता है। यदि गुण-गुणीकी भेदविवक्षा न की जावे तो कोई भेद नही है। द्रव्य और गुणमे प्रदेश-भेद नही, किन्तु लक्षणादि भेद है। यही श्री समन्तभद्र स्वामीने देवागममें कहा है—

द्रव्य-पर्याययोरैक्य तयोरव्यतिरेकत ।
परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावत ॥
सज्ञा-सख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषत ।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्व न सर्वथा ॥

अर्थ—अर्थात् प्रदेशभेदाभाव होनेसे द्रव्य और पर्यायमे एकता है तथा परिणामविशेष, शक्तिमान् और शक्तिभाव, सज्ञाविशेष, सख्याविशेष, स्वलक्षणविशेष तथा प्रयोजनादिके भेदसे उनमे नानापन है, सर्वथा नानापन नही है।

जिस भावसे आत्मा साध्य और साधनरूपसे विद्यमान है उसी भावके द्वारा नित्य ही उपासना करने योग्य है, ऐसा जब आपको निश्चय हो जाता है तब व्यवहारसे अन्यको यह जीव प्रतिपादन करता है कि साधु पुरुषके द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही नित्य उपासना करने योग्य है। परमार्थसे ये तीनो ही आत्मा है अत इनकी उपासनासे आत्माकी उपासना हो जाती है क्योकि इनसे भिन्न आत्मा अन्य कोई वस्तु नही है। जैसे देवदत्त नामक किसी पुरुषका ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र देवदत्तसे भिन्न नही हैं, देवदत्त ही है, क्योकि दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाव है और देवदत्त स्वभाववान् है। तथा स्वभाव स्वभाववान् पदार्थसे पृथक् नही होता। जैसे अग्निका स्वभाव उष्ण है तो क्या वह उष्ण स्वभाव अग्निसे भिन्न है ? नही। इसी तरह देवदत्तका ज्ञान-श्रद्धान-चारित्ररूप जो स्वभाव है वह क्या देवदत्तसे भिन्न है ? नही है। इसी प्रकार आत्माका जो ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र है, वह आत्मासे पृथक् नही है क्योकि जो स्वभाव है वह स्वभाववान्‌का अतिक्रमण नही करता। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनो आत्माके स्वभाव है, अत आत्माका अतिक्रमण कर अन्यत्र रहनेको असमर्थ हैं, अतएव ये आत्मा ही है, भिन्न वस्तु नही है। इससे यह स्वयमेव आ गया कि आत्मा ही उपासना करने योग्य है, यही भाव अमृतचन्द्र स्वामी कलशकाव्योके द्वारा प्रकट करते हैं—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वत स्वयम् ।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणत ॥१६॥

अर्थ—गुण-गुणीकी भेदविवक्षासे दर्शन-ज्ञान-चारित्रगुणोके द्वारा आत्मामे तीनपन है, परन्तु स्वय द्रव्यदृष्टिसे एक है। इसीसे नयदृष्टिसे यदि विचार किया जावे तो आत्मा नाना भी है और एक भी है और प्रमाणदृष्टिसे विचार किया जावे तो एक ही कालमे एकानेक, मेचकामेचक आदि नाना विरुद्धशक्तियोका पिण्ड है।

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभि परिणतत्वत ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचक ॥१७॥

अर्थ—आत्मा द्रव्यदृष्टिसे एक होता हुआ भी दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनरूप परिणमनके द्वारा व्यवहारसे नानारूपका अवलम्बन करता है। जैसे मनुष्य एक होकर भी बाल युवा, वृद्ध अवस्थाओके भेदसे नाना व्यवहारको प्राप्त होता है। ऐसे ही आत्मा एक होकर भी दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी प्ररूपणासे नानापनके व्यवहारका भागी होता है।

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैकक. ।
सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचक ॥१८॥

अर्थ—परमार्थ दृष्टिसे विचार किया जावे तो व्यक्त ज्ञातापनरूप ज्योतिसे आत्मा एक ही है क्योकि उसका ज्ञातृत्वस्वभाव अन्य सभी भावोको ध्वस्त करनेवाला है अर्थात् ज्ञायकभावको छोडकर अन्य भावोको अपनेमे आश्रय नही देता । इस तरह आत्मा अमेचक—एकरूप है ।

यहाँ अन्य भावोको अपनेमे आश्रय नही देता, इसका यह तात्पर्य नही कि अस्तित्वादि जो भाव अन्य पदार्थोंमे है उन्हे भी आश्रय नही देता । यह नही है, क्योकि सामान्य गुण तो सब पदार्थोंमे एकरूपसे रहते है, वे पदार्थोंकी भिन्नताके नियामक नही है । जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि । किन्तु जो असाधारण गुण हैं वही पदार्थोंकी भिन्नताके नियामक है । इसीसे आचार्यों-का कहना है कि पदार्थ अपने स्वरूपसे सत्स्वरूप होकर भी पदार्थान्तरकी अपेक्षासे असत्स्वरूप है अथवा अन्यापोहरूप है । इसीसे पदार्थ अमेचक भी है और मेचक भी है ।

आत्मनश्चिन्तयैवाल मेचकामेचकत्वयो ।
दर्शनज्ञानचारित्रै साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥१९॥

अर्थ—आत्मसम्बन्धी जो मेचक और अमेचककी चिन्ता है उसे छोडो । दर्शन-ज्ञान-चारित्र-गुणोंके द्वारा ही आत्मस्वरूप साध्यकी सिद्धि है और कोई भी उपायान्तर आत्माकी सिद्धिमे प्रयोजक नही है ।

इसी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रगुणकी जबतक मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप परिणति रहती है तबतक आत्मा इस ससारमे भ्रमण करता है और नाना प्रकारके दु खोका पात्र होता है । ऐसे दु ख, जिनका निरूपण करना अशक्य है, किन्तु विचारसे प्रत्येकको उन दु खोकी अप्रशस्तताका ज्ञान हो सकता है । इन दु खोसे बचनेका उपाय आचार्योंने सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही को बतलाया है । और जितने भी व्यापार है वे इसी रत्नत्रयकी प्राप्तिके अर्थ हैं । यदि इस रत्नत्रयीका लाभ नही हुआ तो व्रत, तपश्चरण आदिका जितना प्रयास है सब जल विलोवनेके सदृश है । अत जिन्हे इन ससार-सम्बन्धी यातनाओसे भय है उन्हे सब प्रकारके पुरुषार्थसे इस रत्नत्रयी-कण्ठिकाको अपने हृदयका हार बनाना चाहिये ॥१६॥

आगे दृष्टान्त द्वारा कहते हैं कि मोक्षकी सिद्धि आत्माकी उपासनासे ही हो सकती है—

जह णाम को वि पुरिसो रायाण जाणिऊण सद्दहदि ।
तो त अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥ १७ ॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्ख-कामेण ॥ १८ ॥
(जुगल)

अर्थ—जैसे धनका अर्थी पुरुष राजाको जानकर उसकी श्रद्धा करता है, तदन्तर प्रयत्न द्वारा उसके अनुकूल आचरण करता है, ऐसे ही मोक्षकी कामना रखनेवाले पुरुषको जीवरूपी राजाको जानना चाहिये, तदन्तर उसकी श्रद्धा करना चाहिये और तत्पश्चात् उसीके अनुकूल आचरण करना चाहिये ।

विशेषार्थ—लोकमे ऐसा देखा जाता है कि जिसे धनकी आकाक्षा होती है वह पुरुप जिसके यहाँसे धनका लाभ होगा उस पुरुपको जानता है, उसकी श्रद्धा करता है तथा उसके अनुकूल आचरण करता है। न तो जाननेसे ही धन मिलता है और न केवल श्रद्धा हो धनके लाभमे निमित्त है किन्तु श्रद्धान, ज्ञान और अनुकूल प्रवृत्ति ये तीनो ही धनके लाभमे कारण है। इसी तरह जिन्हे मोक्षकी कामना है उन्हें पहले ही जीव नामक पदार्थको जानना चाहिये, उसकी श्रद्धा करनी चाहिये और फिर उसके अनुकूल आचरण करना चाहिये, यही उपाय मोक्षलाभका है, सध्यकी सिद्धिका यही उपाय है, अन्य उपाय नही है। जैसे वह्निके सत्त्वमे ही धूम हो सकता है अन्यथा—वह्निके अभावमे—धूम नही हो सकता, क्योकि ऐसा नियम है कि कारणके सद्भावमे ही कार्य हो सकता है, कारणके अभावमे कार्य नही हो सकता। ऐसे ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके सद्भावमे ही मोक्ष हो सकता है, अन्यथा नही, यही दिखाते है—

जैसे आत्माका अनुभूयमान अनेक भावोका सकर होनेपर भी परमभेदज्ञानकी कुशलताद्वारा 'यह मै हूँ' ऐसी अनुभूतिरूप जब ज्ञान होता है तब उस आत्मज्ञानके साथ 'ऐसा ही है' ऐसा श्रद्धान होता है, उस समय अन्य समस्त भावोसे रहित होकर अपने आपमे नि शङ्कभावसे स्थित रहा जा सकता है, इसलिये उसीमे लीनतारूप चर्या होती है। इन तीनोकी जब एकता होती है तब साध्यसिद्धि होती है और जब आबाल-गोपाल सभीको सभी काल स्वय ही जिसका अनुभव हो रहा है ऐसे अनुभूतिस्वरूप भगवान् आत्माके विषयमे अनादिबन्धके वशसे परपदार्थोके साथ एकपनके अध्यवसायसे विमुग्ध पुरुपको 'यह मैं हूँ' ऐसी अनुभूतिरूप आत्मज्ञान नही होता, आत्मज्ञानके अभावमे जिस प्रकार बिना जाने हुए गधेके सीगकी श्रद्धा नही होती, उसी प्रकार आत्माकी श्रद्धा नही होती और श्रद्धाके अभावमे अन्य समस्त भावोका भेद न होनेसे नि शङ्क आत्मामे स्थित नही रहा जा सकता, इसलिये आत्मामे चर्या भी नही होती। इस प्रकार श्रद्धान, ज्ञान और चर्याके अभावमे आत्माकी सिद्धि होना असम्भव है, क्योकि आत्माके मोक्षका साधन सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं। जब उनका अभाव है तब मोक्षका होना कैसे सभव हो सकता है ?

यही भाव श्री अमृतचन्द्र स्वामी निम्न कलशके द्वारा दरशाते हैं—

मालिनीछन्द

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्न
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धि ॥२०॥

अर्थ—जो तीन रूपताको प्राप्त होकर भी एक रूपतासे च्युत नही है, जो सदा उदयरूप है, स्वच्छ हे तथा अनन्त—अविनाशी चैतन्य ही जिसका लक्षण है ऐसी इस आत्मज्योतिका हम सदाकाल अनुभव करते है, क्योकि अन्य प्रकारसे साध्यसिद्धि नही हो सकती।

भावार्थ—यद्यपि भेददृष्टिसे आत्मा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुणोके द्वारा त्रित्वको प्राप्त हो रहा है—तीन रूप अनुभवमे आ रहा है तथापि अभेददृष्टिसे वह एक रूप ही है। यह आत्मा यद्यपि अनादिकालीन उपाधिसे मलिन दिख रहा है तो भी स्वभावसे मलिन नही है,

उपाधिके पृथक् होनेपर स्वच्छ ही है ऐसे अनन्त चैतन्यलक्षणसे शोभित आत्माके अनुभवसे ही मोक्षरूपी साध्यकी सिद्धि होती है।

यहाँ शङ्काकारका कहना है कि जब आत्माका ज्ञानके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है तब आत्मा ज्ञानकी उपासना तो नित्य करता ही है, फिर उसे ज्ञानकी उपासनाका उपदेश किस लिये दिया जाता है ? इसके उत्तरमे आचार्य कहते हैं कि ज्ञानका तादाम्य होनेपर भी यह आत्मा क्षण भरके लिये भी ज्ञानकी उपासना नही करता है। जैसे हरिणके अण्डकोषमे कस्तूरी होनेपर भी वह उसके लिये भटकता फिरता है। ऐसे ही हमारी आत्मामे ज्ञानका तादात्म्य होनेपर भी हम एक क्षण मात्र भी उसकी उपासना नही करते—उसकी ओर लक्ष्य नही देते और मात्र निमित्तकारणोकी उपासनाकर कालको पूर्ण कर देते हैं। आत्माका ज्ञानकी ओर लक्ष्य तो तब जाता है जब वह काललब्धिके मिलनेपर स्वयबुद्ध हो जावे या कोई उसे उपदेश देकर प्रबुद्ध करे। तब क्या कारणके पहले आत्मा अज्ञानी है ? हाँ, नियमसे अज्ञानी है क्योकि वह निरन्तर अप्रतिबुद्ध है।

आचार्य आगे यह आत्मा अप्रतिबुद्ध कब तक रहता है, यह कहते हैं—

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहक च कम्म णोकम्म।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥ १९ ॥

अर्थ—जब तक ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादिक भावकर्म और शरीरादिक नोकर्ममे 'यह मै हूँ' और 'ये कर्म, नोकर्म मेरे हैं' ऐसी बुद्धि रहती है तब तक निश्चयसे यह जीव अप्रतिबुद्ध—अज्ञानी रहता है।

विशेषार्थ—जैसे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि भावोमे तथा पृथुबुध्नोदरादिके आकार परिणत पुद्गलस्कन्धोमे 'यह घट है' और 'घटमे स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादिभाव तथा पृथुबुध्नोदरादिके आकार परिणत यह पुद्गल स्कन्ध है' इस प्रकार अभेदबुद्धि होती है अर्थात् स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादि भाव तथा पृथुबुध्नोदरादिके आकार परिणत पुद्गल स्कन्ध घटसे भिन्न नही है और इनसे भिन्न घट नही है, ऐसी अभेदरूप बुद्धि होती है। वैसे ही ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादिरूप अन्तरङ्ग भावकर्म तथा शरीरादिक बहिरङ्ग पदार्थरूप नोकर्म, जो कि आत्माका तिरस्कार करने वाले हैं और पुद्गलके परिणाम हैं, इनमे 'मै आत्मा हूँ' अथवा 'आत्मामे ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म, मोहादिरूप अन्तरङ्ग भावकर्म तथा शरीरादिक बहिरङ्ग पदार्थरूप नोकर्म हैं', इस प्रकारकी अभेदानुभूति जब तक रहती है तब तक अप्रतिबुद्ध है—अज्ञानी है। अन्य वस्तुमे अन्य वस्तुकी सत्ता मानना यही तो मिथ्याज्ञान है।

आत्मा तो ज्ञाता-द्रष्टा है, उसमे मोहादिद्रव्यकर्मके उदयसे वैभाविकशक्तिके कारण रागादिक होते हैं, जो कि विकृतभाव हैं, आत्माके निजके भाव नही हैं, निमित्तसे उत्पन्न होते हैं तथा विनाशी हैं, उन्हे आत्माके निज भाव मान लेना मिथ्याज्ञानका ही कार्य है। जब ये रागादिक निज भाव नही है तब उनमे निमित्तभूत जो मोहादिक कर्म हैं वे आत्माके कैसे हो सकते हैं ? उनसे आत्मा सर्वथा भिन्न है, क्योकि मोहादिककर्म पुद्गलद्रव्यके पर्याय है। और नोकर्मरूप शरीरसे तो आत्मा भिन्न ही है, इन्हे आत्मा मानना स्पष्ट मिथ्याज्ञान है। ये सब भाव आत्माको

नाना प्रकारके दुखोका पात्र बना रहे हैं। इस प्रकार जब तक परमे आत्मानुभूति है तब तक यह जीव अज्ञानी ही है।

अब आचार्य दृष्टान्त द्वारा इसके पृथक् होनेकी पद्धति समझाते है, जिससे यह प्रतिबुद्ध बन सकता है। जैसे दर्पण रूपी पदार्थ है उसमे पुद्गलोका ऐसा परिणमन है कि वह स्व और परका अवभास कराता हे, इसीसे कहते है कि दर्पणमे ऐसी स्वच्छता है जो स्वपरके अवभासन करानेमे समर्थ है। जव दर्पणमे अग्निका प्रतिविम्ब पडता है तब उसमे अग्नि झलकती है, इसका यह अर्थ नही कि दर्पणमे अग्निका प्रवेश हो गया। अन्यथा दर्पणमे उष्णता और ज्वालाका भी सद्भाव होना चाहिये, सो तो है नही। तब दर्पणकी स्वच्छताका ही विकार है जो अग्निके सदृश प्रतीत होता है। उष्णता और ज्वाला अग्निमे ही है। उसी प्रकार नीरूप आत्मामे स्वपरका अवभासन कराने वाली ज्ञातृता है और पुद्गलद्रव्यमे कर्म-नोकर्म हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा ज्ञाताद्रव्य है। उसके अन्दर एक ज्ञानशक्ति ऐसी है जिसके द्वारा वह स्वरूप और पररूपको जानता है। जिस समय आत्माका ज्ञान पदार्थोके जाननेमे उपयोग लगाता है उस समय ज्ञानकी ऐसी स्वच्छता रहती है कि ज्ञेय उसममे भासमान होने लगता हे। यद्यपि जो ज्ञेय भासमान हो रहा है वह ज्ञानका ही परिणमन है, ज्ञेयका नही, परन्तु ज्ञेयके सदृश है, अत उसे ज्ञेयाकार कहते है, कुछ वह ज्ञान ज्ञेयाकार नही है, ज्ञान तो जैसा है वैसा ही है। यह आकार-व्यवहार भी केवल रूपगुणकी मुख्यतासे होता है। जब रस, गन्ध और स्पर्शका ज्ञान होता है तब कौन-सा आकार होता हे? अनादिकालसे आत्मामे मोहादिभावोका उदय होनेसे हमारी ऐसी विपरीत बुद्धि हो रही है कि यह ज्ञेय आत्मामे प्रविष्ट हो गये। जैसे जिस समय हम दर्पणमे मुख देखते है तब ऐसा भान होता है कि दर्पणमे मुख है इत्यादि।

जब अपने आप या परके निमित्तसे भेदविज्ञानमूलक अनुभूतिकी उत्पत्ति होती है तब यह बोध होता है कि यह कर्म और नोकर्म पुद्गलके है, हमारी आत्मामे ज्ञातृता है—जाननेकी शक्ति है। इसलिये दर्पणमे अग्निके सदृश वे आत्मामे भासमान होते है—कुछ आत्माके नही हैं। जब ऐसी अनुभूति होती है तभी आत्मा प्रतिबोधको प्राप्त हो जाता है—प्रवुद्ध कहलाने लगता है। जब तक आत्मा यह जानता है कि मैं कर्म और नोकर्ममे हूँ तथा कर्म और नोकर्म मुझमे है तब तक यह अज्ञानीशब्दसे कहा जाता है। जैसे कोई सीपको चाँदी मान लेवे तो उसे लोकमे मिथ्याज्ञानी कहते है और जिस समय यह ज्ञान हो जाय कि यह चाँदी नही है, सीप है, उसी समय उसका अज्ञान हट जानेसे वह ज्ञानी हो जाता हे—इसी तरह जिस समय कर्म-नोकर्ममे आत्मा नही है, ऐसा ज्ञान होने लगता है उसी समय मिथ्याज्ञानके अभावसे आत्मा ज्ञानी हो जाता है। अत हमे प्रयास करना चाहिये, जिससे कर्म-नोकर्ममे अहवुद्धि न हो।

इसी भावको श्रीअमृतचन्द्रस्वामी कलशाके द्वारा दर्शाते हैं—

मालिनीछन्द

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकारा सन्तत स्युस्त एव ॥२१॥

अर्थ—जो पुरुष स्वयमेव अथवा अन्यके उपदेशसे किसी प्रकार भेदविज्ञानमूलक निश्चल आत्मानुभूतिको प्राप्त कर लेते हैं वे पुरुष अपने आत्मामे अनन्तपदार्थोके प्रतिबिम्बित होनेपर भी दर्पणके समान निर्विकार ही रहते हैं।

यहाँ दर्पणका उल्लेख केवल 'उसमे प्रतिभासित होते हैं' इस अशको लेकर ही है, अन्यथा वह तो जड है, उसमे मोहका सद्भाव ही नही है। किन्तु आत्मा अनादिकालसे मोही हो रहा है। परपदार्थमे जो मोह है उसका हेतु अनादिसे आत्मामे लगा हुआ मिथ्याभाव है।

आगे अज्ञानी आत्मा किस प्रकार जाना जाता है, यही दिखाते हैं—

अहमेद एदमह अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
अण्णं ज परदव्व सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥ २० ॥
आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अह पि आसि पुव्व हि।
होहिदि पुणो वि मज्झ एयस्स अह पि होस्सामि ॥ २१ ॥
एय तु असभूद आद-वियप्प करेदि संमूढो।
भूदत्थ जाणतो ण करेदि दु त असमूढो ॥ २२ ॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—'मै यह हूँ' अर्थात् मैं परद्रव्यरूप हूँ, 'यह मैं हूँ' अर्थात् परद्रव्य मुझरूप है, 'मैं इसका हूँ' अर्थात् परद्रव्य मेरा स्वामी है, 'यह मेरा है' अर्थात् मैं परद्रव्यका स्वामी हूँ, 'यह पहले मेरा था', 'मैं भी पहले इसका था', 'यह फिर भी मेरा होगा' और 'मैं फिर इसका होऊँगा' इन मिथ्या आत्म-विकल्पोको अज्ञानी जीव करता है और ज्ञानी जीव यथार्थ वस्तुस्वरूपको जानता हुआ उन विकल्पोको नही करता है।

विशेषार्थ—इस लोकमे यह देखा जाता है कि जिनकी बुद्धि भ्रान्त रहती है वे ही परवस्तुको अपना माननेकी चेष्टा करते हैं और जो विवेकी हैं वे कदापि परवस्तुको नही अपनाते। यही दृष्टान्त द्वारा बताते हैं—

जैसे अग्नि और ईंधनको एक स्थानमे देख कोई पुरुष यह कल्पना करता है कि जो अग्नि है सो ईंधन है अथवा ईंधन है सो अग्नि है, अथवा अग्निका ईंधन है या ईंधनका अग्नि है, अथवा अतीतकालमे भी अग्निका ईंधन था अथवा ईंधनका अग्नि था। जैसा अतीतकालमे विकल्प करता है वैसा ही भविष्यकालमे भी यह विकल्प करता है कि अग्निका ईंधन होगा, ईंधनका अग्नि होगा, इस प्रकार ईंधनमे असद्भूत अग्निकी सत्ता और अग्निमे असद्भूत ईंधनकी सत्ता माननेवाला अज्ञानी है। ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीवोंके ज्ञानमे नही देखा जाता है। इसी तरह आत्मा और परको एक समझनेवाला अज्ञानी जीव भी कल्पना करता है कि मैं यह हूँ, और यह जो परपदार्थ है सो मुझरूप है, अथवा मेरे यह पदार्थ हैं अथवा मैं इन परपदार्थोंका हूँ, यह तो वर्तमान-कालका विकल्प है। इसी तरह अतीतकाल सम्बन्धी भी विकल्प करता है। अर्थात् अतीतकालमे मेरे यह परपदार्थ थे और मै इन परपदार्थोका था। इसी तरह आगामी कालका भी विकल्प

करता है अर्थात् मेरे यह सब पदार्थ होगे अथवा मै इन सब पदार्थोंका होऊँगा, इस तरह परद्रव्यमे आत्माको माननेवाला और आत्मामे परद्रव्यको माननेवाला अज्ञानी है।

अब यहाँ वस्तुस्वरूपका विचार करते है—अग्नि जो है वह ईंधन नही है क्योकि अग्निपर्याय अन्य है और ईंधनपर्याय अन्य है। अग्नि, अग्नि ही है और ईंधन, ईंधन ही है। इनका परस्परमे घट-पटकी तरह भेद है। इसी तरह अग्निका ईंधन नही है और ईंधनका अग्नि नही है। अग्निका ही अग्नि है और ईंधनका ही ईंधन है। इसी तरह अतीतकालमे भी अग्निका ईंधन नही था और ईंधन अग्निका नही था, अग्निका ही अग्नि था और ईंधनका ही ईंधन था। इसी प्रकार जो आनेवाला भविष्यकाल है उसमे भी अग्निका ही अग्नि होगा तथा ईंधनका ही ईंधन होगा। इस तरह जिस प्रकार किसी ज्ञानी जीवके अग्निमे अग्नि और ईंधनमे ईंधनका सद्भूत विकल्प होता है और उसके कारण वह प्रतिबुद्ध—ज्ञानी कहलाता है। इसी प्रकार किसी ज्ञानी जीवके मै यह नही हूँ, यह परवस्तु मुझरूप नही है, ये परपदार्थ मेरे नही हैं, मै इन परपदार्थोका नही हूँ, अतीतकालमे ये परपदार्थ मेरे नही थे, मै इन परपदार्थोका नही था और आगामी कालमे भी ये परपदार्थ मेरे नही होगे तथा मै इन परपदार्थोंका नही होऊँगा, इस प्रकारके सद्भूत विकल्प होते हैं तथा इनके कारण आत्माको आत्मा और परको पर जानता हुआ वह प्रतिबुद्ध—सम्यग्ज्ञानी कहलाता है। ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीव ही ससारके बन्धनोसे छूटनेका पात्र होता है। परद्रव्यमे आत्माकी कल्पना करना ही तो मिथ्याज्ञानीका लक्षण है। जैसे रज्जुमे सर्पको माननेवाला मिथ्याज्ञानी है और उस मिथ्याज्ञानजन्य दु खोका भोक्ता है। इसी प्रकार शरीरमे आत्मा माननेवाला मिथ्याज्ञानी है और उसका फल जो अनन्त ससार है उसका यह भोक्ता होता है। परमे आत्मबुद्धि करानेवाला मोहकर्म है। उसके दो भेद है—एक दर्शनमोह और दूसरा चारित्रमोह। दर्शनमोहके उदयसे यह जीव स्वरूपको भूलकर परको आत्मरूप और आत्माको पररूप मानने लगता है। तथा चारित्रमोहके उदयसे परको आत्माका और आत्माको परका मानने लगता है। ये अहकार और ममकार दोनो ही विकारी भाव हैं। इनके रहते हुये जीव अज्ञानी कहलाता है और इनके निकल जानेपर ज्ञानी कहा जाता है।

श्री अमृतचन्द्रस्वामी कलशा द्वारा उन विकारीभावोके जनक मोहको दूर करनेका उपदेश देते हैं—

मालिनीछन्द

त्यजतु जगदिदानी मोहमाजन्मलीढ
रसयतु रसिकाना रोचन ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेक
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥

अर्थ—हे जगत्! हे ससारके प्राणियो! आजन्मसे व्याप्त जो मोह है उसे अब तो त्यागो और मोक्षमार्गके रसिकजनोको रोचक तथा उदयको प्राप्त जो ज्ञान है उसका रसास्वाद करनेमे उद्यत होओ। इस लोकमे किसी प्रकार किसी कालमे आत्मा अनात्माके साथ एक होकर तादात्म्य-भावको प्राप्त नही होता है।

भावार्थ—परमार्थदृष्टिसे आत्मा परद्रव्यके साथ किसी क्षेत्र व किसी कालमे एकपनको

प्राप्त नही होता है, इससे आचार्य महाराजका कहना है कि तुम्हारा इन परपदार्थोंके साथ जो एकपनका मोह है, उसे त्यागो और अपना जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है उसका अनुभव करो। मोह मिथ्या है क्योकि नश्वर है। इसी मोहके निमित्तसे समस्त कर्मोंका बन्ध होता है और उसीके उदयमे यह जीव कर्मजन्यपर्यायोको अपनी सम्पत्ति मानता है। मोहका अभाव होनेपर यह जीव कर्मोदयसे जायमान किसी भी पर्यायका स्वामी नही बनता, उनसे सतत उदासीन रहता है। यही कारण है कि षट्खण्डका अधिपति इस उदयजन्य विभूतिका स्वामी नही बनता। उदयाधीन इनका भोग करता हुआ भी अन्तमे सबका त्यागकर दैगम्बरी दीक्षाका आलम्बन कर निज पदका लाभ लेता है।

आगे उसी अप्रतिबुद्ध जीवको समझानेके लिए आचार्य उपाय कहते हैं—

अण्णाण-मोहिद-मदी मज्झमिण भणदि पुग्गल दव्व।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहु-भाव-संजुत्तो ॥ २३ ॥
सव्वण्हु-णाण-दिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पुग्गलदव्वी-भूदो ज भणसि मज्झमिण ॥ २४ ॥
जदि सो पुग्गलदव्वी-भूदो जीवत्तमागद इदरं।
तो सत्तो वुत्तु जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्व ॥ २५ ॥

अर्थ—जिसकी बुद्धि अज्ञानसे मोहित है तथा जो रागद्वेषादि बहुत भावोंसे सहित है, ऐसा जीव कहता है कि यह शरीरादि बद्ध और धनधान्यादिक अबद्ध पुद्गलद्रव्य मेरा है, परन्तु सर्वज्ञके ज्ञानमे देखा गया और निरन्तर उपयोगलक्षणसे युक्त जो जीव है वह पुद्गलद्रव्य कैसे हो सकता है जिसे तू कहता है कि यह मेरा है। यदि जीव पुद्गलद्रव्यरूप हो जावे और पुद्गलद्रव्य जीवपनको प्राप्त हो जावे तो ऐसा कहा जा सकता है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है (परन्तु ऐसा नही है)।

विशेषार्थ—ससारमे जितने द्रव्य हैं सब स्वकीय-स्वकीय चतुष्टय द्वारा निरन्तर परिणमन कर रहे हैं। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ तादात्म्य नही होता, किन्तु एकक्षेत्रावगाह होनेसे भ्रमवश दिखाई देता है कि एक हैं। अन्यकी कथा तो दूर रही, पुद्गलद्रव्य जितनी सख्या द्वारा भगवान्के ज्ञानमे आया है उनमे एक परमाणु भी अन्य परमाणुके साथ तादात्म्यसे नही मिलता, फिर जीव और पुद्गलका मिलना तो दूर ही है।

ऐसा देखा जाता है कि स्फटिकमणि अति स्वच्छ है, परन्तु जब उसके साथ रक्त, हरित, पीत आदि नाना रगविशिष्ट जपापुष्प, कदली, काञ्चन आदि पदार्थोंका सयोग हो जाता है तब उन पदार्थोंके सयोगरूप उपाधिसे स्फटिकमणिकी जो स्वच्छता है वह तिरोहित हो जाती है। उसके स्वाभाविक स्वच्छ भावके तिरोहित होनेसे स्फटिकमणि लाल, हरा, पीले रगका दिखता है। इसी तरह आत्मद्रव्य स्वाभावसे ज्ञायक है, स्वच्छ है, परन्तु अनादिकालीन मोहकर्मके अवान्तर भेद—मोह, राग, द्वेषके उदय होनेपर मोह, राग, द्वेषरूप उपाधिके द्वारा उसकी जो स्वच्छता है वह तिरोहित हो जाती है। उसके तिरोहित हो जानेसे विवेक-ज्योतिके अस्तगत होनेपर महान्

अज्ञानके द्वारा विमोहित हृदयवाला जीव भेदको न कर यह जो औपाधिक मोह-राग-द्वेष भाव है उन्हे स्वीकृत करता हुआ ऐसा मानता है कि यह जो पुद्गलद्रव्य है वह मेरा है, ऐसा ही वह निरन्तर अनुभव करता है।

जिस व्यक्तिने यह नही जाना है कि स्फटिकमणिमे जपापुष्पादिक परद्रव्यके सम्बन्धसे यह रक्त, हरित, पीत रग भासमान हो रहे है वह मनुष्य स्फटिकको ही लाल, हरा और पीला मानता है, यह कोई आश्चर्यकी बात नही। जब कामलारोग हो जाता है तब शङ्ख पीला भासमान होता है और जब दूरत्वादि दोषसे रसरीमे सर्पकी भ्रान्ति हो जाती है तब रसरीमे सर्पज्ञान असभव नही।

यद्यपि स्फटिकमणि स्वभावसे न तो लाल है, न पीला है, न हरा है, यह सब प्रतीति औपाधिकी है, स्वभावसे तो वह स्वच्छ ही है। इसी तरह आत्मद्रव्यमे जब मोहादि कर्मोंका विपाककाल आता है तब मोह-राग-द्वेषकी उपाधिसे वह मोही है, रागी है, द्वेषी है ऐसा प्रतीत होने लगता है। यह कथन द्रव्यदृष्टिसे है। यदि वर्तमानपर्यायकी दृष्टिसे देखा जावे तो उस कालमे आत्मा रागी भी है, मोही भी है और द्वेषी भी है, क्योकि वैसा अनुभवमे आता है। प्रवचनसारमे भी कुन्दकुन्द स्वामीने स्वय कहा है—

परिणमदि जेण दव्व तक्काल तम्मयत्ति पण्णत्त।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो॥
जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हु परिणामसब्भावो॥

अर्थ—द्रव्य जिस कालमे जिसरूप परिणमन करता है उस कालमे वह तन्मय हो जाता है, ऐसा कहा गया है। इसीलिये धर्मरूप परिणत आत्मा धर्म है, ऐसा मानना चाहिये। जीव जिस समय शुभ अथवा अशुभरूप परिणमन करता है उस समय वह शुभ तथा अशुभ कहा जाता है और जिस समय शुद्धरूप परिणमता है उस समय शुद्ध होता है।

जिस कालमे आत्माके साथ औपाधिक भावोका सम्बन्ध होता है उस कालमे आत्माके जो दर्शन, ज्ञान, चारित्रगुण है वे मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणमन करनेसे मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्रशब्दोसे कहे जाते है और आत्माके अनन्त ससारके कारण होते है। परन्तु जब भेदज्ञानका उदय होता है तब सब स्वाग विलय हो जाता है। जब तक भेदज्ञानका उदय नही हुआ तभीतक जीव इस पुद्गलद्रव्यको निज ही अनुभव करता है। इसी अज्ञानी जीवको आचार्य प्रतिबोधन कराते है।

रे आत्मघाती! हाथीकी तरह जो तुम्हारा ज्ञेयमिश्रित ज्ञानके भक्षण करनेका स्वभाव है उसे तुम त्यागो। हाथीका ऐसा स्वभाव होता है कि वह सुन्दर भोजन और घासादि पदार्थोको एकमेक कर खाता है। इसी तरह यह आत्मा अनादि कालसे मोहके वशीभूत होकर परपदार्थोंके साथ ज्ञानका स्वाद लेता है। वास्तवमे परपदार्थ ज्ञानमे नही आता है परन्तु अज्ञानी जीवकी दशा ऐसी ही हो रही है कि वह ज्ञानमे ज्ञेयको सपृक्त कर ही उसका अनुभव करता है। परन्तु ऐसा है नही, क्योकि जिसने सशय, विपर्यय और अनध्यवसायको दूर हटा दिया है ऐसे सर्वज्ञ भगवान्‌के सर्वदर्शी ज्ञानने जीवको नित्योपयोगरूप लक्षण वाला कहा है। वह यदि जडात्मक पुद्गलद्रव्यरूप हो जाता तो 'पुद्गलद्रव्य मेरा है' ऐसा तुम्हारा अनुभव ठीक होता। सो तो है नही। यदि किसी

प्रकार पुद्गलद्रव्य जीवरूप हो जावे और जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो जावे तो लवणके उदककी तरह 'पुद्गलद्रव्य मेरा है' ऐसा तुम्हारा अनुभव यथार्थ हो जावे, सो तो किसी क्षेत्र और कालमे ऐसा होना ही असभव है। अर्थात् यह कभी नही हो सकता कि जीवद्रव्य पुद्गलरूप हो जावे और पुद्गलद्रव्य जीवरूप हो जावे। जैसे खारापन लक्षणसे युक्त लवण उदकरूप हो जाता है—पानी बन जाता है और तरलरूप लक्षणसे युक्त उदक लवण बन जाता है। क्योकि खारापन और तरलपन इन दोनोके एक साथ रहनेमे कोई विरोध नही है। साभर झीलका जो जल है वह लवणरूप हो जाता है और वही लवण वर्षाका निमित्त पाकर जलरूप हो जाता है। परन्तु नित्यो-पयोगलक्षणवाला जीवद्रव्य कभी पुद्गलद्रव्यरूप नही होता और निरन्तर अनुपयोग लक्षणवाला पुद्गलद्रव्य कभी जीवद्रव्यरूप नही होता, क्योकि उपयोग और अनुपयोगका प्रकाश और अन्धकारके समान एक साथ रहनेमे विरोध है। इसलिये जीवका पुद्गलरूप और पुद्गलका जीवरूप परिणमन नही हो सकता, अतएव पुद्गलद्रव्य मेरा है, यह अनुभव सर्वथा असभव है। जब ऐसा है तब हे चेतन! जो चैतन्यद्रव्य है वही मेरा है, ऐसा अनुभव करना तुम्हे योग्य है।

अनादिकालसे मोहके द्वारा निजात्मद्रव्यका ज्ञान न होनेसे परको अपना माननेका जीवका अभ्यास बन रहा है। इसी अभ्यासके बलसे शरीरको अपना मानता है तथा शरीरके सम्बन्धी जो-जो हैं उन्हे अपने मानकर निरन्तर उनके रखनेकी चेष्टामे तन्मय रहता है। आचार्य समझाते हैं—भाई! देख, श्रीसर्वज्ञ भगवान्ने जीवद्रव्यको ज्ञानस्वरूप कहा है और पुद्गलद्रव्यको जड कहा है। ये दोनो पूर्व-पश्चिमदिशाकी तरह अत्यन्त भिन्न हैं अत यह जो तेरा परपदार्थको अपना माननेका अज्ञान है उसे छोड और अपना जो चेतनस्वरूप है उसका अनुभवकर, इसीमे तेरा कल्याण है।

श्री अमृतचन्द्रस्वामी कलशा द्वारा शरीरसे एकत्वभावके छोडनेका उपदेश देते हैं—

मालिनीछन्द

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥ २३ ॥

अर्थ—हे भाई! तू किसी प्रकार महान् कष्टसे मरणपर्यन्तका भी कष्ट उठाना पडे तो उठाकर तत्त्वोका कौतूहली होता हुआ शरीरका एक मुहूर्त पर्यन्त पडोसी होकर आत्माका अनुभव कर, जिससे पृथक् विलसते हुए अपने आपका अवलोकन कर तू शीघ्र ही शरीरके साथ एकपनके मोहको छोड सके।

भावार्थ—यह आत्मा अनादिकालसे शरीरको अपना मानता आ रहा है। यदि दैवयोगसे इसका आसन्न सस्कार रह जावे तो परसे भिन्न आत्माको जानकर सम्यग्दृष्टि बनता है। तदनन्तर चारित्रमोहके क्षयोपशमसे मुनिव्रत अङ्गीकार कर श्रेणीके सम्मुख होता क्रम-क्रमसे चारित्रमोहकी प्रकृतियोका क्षय करता हुआ दशम गुणस्थानमे सूक्ष्म लोभका भी अन्त करता है तथा क्षीणमोह दशाको प्राप्त हो अन्तर्मुहूर्तमे ज्ञानावरणादि कर्मोका निर्मूलन कर केवलज्ञानका पात्र हो जाता है। पश्चात् आयुके अवसानमे मोक्षका पात्र होता है।

आगे अप्रतिबुद्ध जीव फिर कहता है कि शरीर ही आत्मा है क्योंकि शरीरसे भिन्न आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता, यही दिखाते हैं —

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरिय-संथुदी चेव ।
सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥ २६ ॥

अर्थ—यदि शरीर जीव नही है तो तीर्थंकरोकी आचार्योद्वारा की गयी यह जो स्तुति है वह सब मिथ्या हो जावे, इससे शरीर ही आत्मा है।

विशेषार्थ—शरीरसे भिन्न आत्मा नहो है, इस पक्षका प्रतिपादन करता हुआ अप्रतिबुद्ध—अज्ञानी जीव कहता है कि यदि पुद्गलद्रव्यात्मक शरीर जीव नही है तो तीर्थंकर भगवान्की आचार्योने जो यह स्तुति की है वह असगत हो जावेगी ॥२६॥

स्तुतिमे आचार्योने कहा है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कान्त्येव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये
धामोद्दाममहस्विता जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये ।
दिव्येन ध्वनिना सुख श्रवणयो साक्षात्क्षरन्तोऽमृत
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वरा सूरय ॥ २४ ॥

अर्थ—जो कान्तिके द्वारा मानो दशो दिशाओको स्नपन करा रहे है, जो अपने तेजके द्वारा उत्कट तेजस्वी सूर्य आदिके भी तेजको रोक देते है, जो अपने सुन्दर रूपके द्वारा निखिल प्राणियोके मनको अपहृत कर लेते हैं, जो दिव्यध्वनिके द्वारा कानोमे साक्षात् अमृतवर्षा करते हुए सुख उपजाते हैं तथा जो एक हजार आठ लक्षणोके धारक हैं वे तीर्थंकर आचार्य वन्दना करने योग्य है।

भावार्थ—इस स्तुतिमे जिन कान्ति, तेज, रूप, दिव्यध्वनि तथा अष्टोत्तर सहस्र लक्षणोकी महिमा गाई गई है वे सब शरीरके ही अङ्ग हैं। अत शरीरसे भिन्न आत्मा नही है, ऐसा अप्रतिबुद्ध शिष्यने अपना पूर्वपक्ष रखा है ॥२४॥

आगे आचार्य महाराज इस पूर्वपक्षका उत्तर देते हैं—

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एकट्ठो ॥ २७ ॥

अर्थ—व्यवहारनय कहता है कि जीव और शरीर एक है परन्तु निश्चयनयका कहना है कि जीव और शरीर कभी एक नही हो सकते।

विशेषार्थ—लोकमे उपचार अथवा प्रयोजन देखकर व्यवहारकी प्रवृत्ति होती है। जैसे लडकेको तेज स्वभाव देखकर उसको लोक कहने लगता है—'माणवकोऽग्नि'—यह बच्चा अग्नि

है । यहाँ क्या वालक अग्नि है ? नही, किन्तु अग्निके सदृश तेजस्वी देखकर यह व्यवहार होता है । अथवा यह भी व्यवहार होता है—'चन्द्रमुखी भार्या', तो क्या सचमुच ही भार्या चन्द्रमुखी है ? नही, किन्तु आह्लादकारित्व धर्मकी समानता देख यह व्यवहार जैसे होता है वैसे ही शरीर-के साथ आत्माका एकक्षेत्रावगाह होनेसे शरीरको आत्मा कहनेका व्यवहार होता है । जिस प्रकार प्रतिदिन मन्दिरमे मूर्तिके दर्शन करते समय हम यह व्यवहार करते हैं कि इस मूर्तिसे तो वीत-रागता टपक रही है । यद्यपि वीतरागता आत्माकी परिणतिका नाम है सो वह तो हममे उत्पन्न हो रही है । पर मूर्ति उसका निमित्त है, अत उसका मूर्तिमे उपचार करते हैं । इसी प्रकार शरीरमे आत्माका व्यवहार है । व्यवहारनयका कहना है कि जीव और शरीर एक हैं । परन्तु निश्चयनयका कहना है कि ये दोनो एकार्थ नही हैं, भिन्न-भिन्न हैं ।

जैसे इस लोकमे चाँदी और सोनेको गलानेसे एक पिण्ड हो जाता है और उसमे एकत्वका व्यवहार होने लगता है वैसे ही आत्मा और शरीर इन दोनोंके एक क्षेत्रमे स्थित होनेसे दोनोकी जो अवस्थाएँ हैं यद्यपि वे भिन्न-भिन्न हैं तथापि उनमे एकपनका व्यवहार होने लगता है । निश्चय-से ये दोनो एक नही हैं क्योकि आत्मा उपयोगस्वभाववाला है और शरीर अनुपयोगस्वभाववाला है । इन दोनोंमें पीत-पाण्डुरत्वस्वभाववाले सुवर्ण और चाँदीकी तरह अत्यन्त भिन्नपन होनेसे एकार्थपन नही है, नानापन ही है, यह नयविभाग कहता है । अत व्यवहारनयसे ही शरीरके स्तवन द्वारा आत्माका स्तवन उपपन्न होता है । शरीरको ही आत्मा माननेवाले अप्रतिवुद्ध शिष्यसे आचार्य कहते हैं—भाई ! तू इस नयविभागसे अनभिज्ञ है, नयविभागको समझ, तो तेरी शरीर और आत्मामे एकत्ववुद्धि दूर हो जावेगी ॥२७॥

यही बात आचार्य अगली गाथामे दिखाते हैं—

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमय थुणित्तु मुणी ।
मण्णदि हु सथुदो वंदिदो मए केवली भयव ॥ २८ ॥

अर्थ—जीवसे भिन्न इस पुद्गलमय शरीरकी स्तुति कर मुनि मानता है कि मेरे द्वारा केवली भगवान् स्तुत किये गये हैं अर्थात् मैंने केवली भगवान्की स्तुति की है, वन्दना की है ।

विशेषार्थ—जैसे रजत और सुवर्ण पृथक्-पृथक् पुद्गल हैं, रजतमे पाण्डुरपन (श्वेतपन) रहता है और सुवर्णमें पीलापन । दोनो ही अपने-अपने लक्षणोंसे भिन्न-भिन्न सत्तावाले हैं । परन्तु जव दोनो गलकर एक पिण्ड हो जाते हैं तव ऐसा व्यवहार होता है कि सुवर्ण पाण्डुर रग-वाला है, वास्तवमे सुवर्ण पाण्डुर रगवाला नही है, केवल चाँदीके साथ सम्वन्ध होनेमे ऐसा व्यवहार होता है । इसी तरह शरीरके धर्म शुक्ल-लोहितादि हैं, उनके स्तवन करनेसे परमार्थतया शुक्ल-लोहितादि गुणोंसे रहित तीर्थंकर केवली भगवान्का स्तवन नही होता, किन्तु अनन्तज्ञानादि गुणोके द्वारा ही उनका स्तवन होता है । अत निश्चयनयका कहना है कि शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन अनुपपन्न ही है ।

अव यहाँ यदि कोई यह आशङ्का करे कि जो शरीरकी स्तुति की, वह व्यर्थ है ? सो नही, उसका यह तात्पर्य है कि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नही है, निश्चयकी दृष्टिसे असत्यार्थ है । छद्मस्थ अल्पज्ञानीको आत्माका साक्षात् वोध नही होता, अत शरीरकी सौम्यता देख वे आत्माके

वीतरागभावोका अनुमान करते हैं। जैसे हमे क्षुधारोग नही दिखता, परन्तु जब उदर खाली हो जाता है तब हमे भोजनविषयक इच्छा होती है और भोजन करनेके अनन्तर वह इच्छा शान्त हो जाती है, अत हमे क्षुधा-निवृत्तिका अनुमान होता है। ऐसे ही शरीरकी सौम्य आकृतिसे शान्त भावोका और विषम आकृतिसे क्रोधादि भावोका अनुमान होता है। अत निचली अवस्थामे व्यवहारनय परमार्थका ज्ञायक होनेसे कार्यकारी है। वास्तविक स्वरूपका साक्षात्कार होनेके अनन्तर उसकी आवश्यकता नही रहती। जैसे कोई मनुष्य समुद्रके उस पार जानेके लिये नौकापर आरूढ हुआ, उसका जबतक वह तीरपर नही पहुँचा है तबतक नौकापर आरूढ होना कार्यकारी है, अभीष्ट स्थानपर पहुँच जानेके पश्चात् उसकी आवश्यकता नही रहती, अत निश्चयनयसे शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन नही हो सकता ॥२८॥

यही दिखाते हैं—

तं णिच्छगे ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो ।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥ २९ ॥

अर्थ—वह शरीरका स्तवन निश्चयसे ठीक नही है क्योकि जो शरीरके गुण है वे केवली भगवान्‌के गुण नही हैं। जो केवली भगवान्‌के गुणोका स्तवन करता है वही पुरुष परमार्थसे केवली प्रभुका स्तवन करता है।

विशेषार्थ—जैसे चाँदीका जो पाण्डुरपन गुण है वह सुवर्णमे नही है, अत चाँदीके पाण्डुरपन गुणके कथनसे सुवर्णका कथन नही हो सकता। सुवर्णका जो गुण है उसीके कथनसे सुवर्णका कथन हो सकता है अर्थात् सुवर्ण पीत रगवाला है ऐसा कथन ही सुवर्णका जतानेवाला है। ऐसे ही शरीरके गुण शुक्ललोहितादिके कथनसे तीर्थंकर केवली भगवान्‌का कथन नही हो सकता, क्योकि यह गुण तीर्थंकर भगवान्‌के नही हैं, उनके गुण तो सर्वज्ञता तथा वीतरागता आदि हैं, उन्हीके स्तवनसे निश्चयसे तीर्थंकर केवलीका स्तवन होता है ॥२९॥

अब यहाँपर आशङ्का होती है कि शरीरके स्तवन करनेसे शरीरके अधिष्ठाता जो तीर्थंकर भगवान् हैं उनकी स्तुति क्यो नहीं होती ? उसीका उत्तर देते हैं—

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वंतं ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥ ३० ॥

अर्थ—जिस प्रकार नगरका वर्णन करनेपर राजाका वर्णन किया हुआ नही होता, उसी प्रकार शरीरके गुणोका स्तवन करनेसे केवली भगवान्‌के गुणोका स्तवन नही होता है।

विशेषार्थ—नगर अन्य वस्तु है और राजा अन्य है, नगरके जो विशेषण हैं वे सब राजामे नही पाये जाते हैं। नगरका वर्णन इस प्रकार है—

प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम् ।
पिबतीव हि नगरमिद परिखावलयेन पातालम् ॥२५॥

अर्थ—जिसने अपने प्राकारसे आकाशको कवलित कर लिया है और बाग-बगीचोके समूह-

से जिसने पृथिवीतलको व्याप्त कर रखा है ऐसा यह नगर परिखाके चक्रसे ऐसा जान पडता है मानो पातालको ही पी रहा हो।

इस प्रकार नगरका वर्णन होनेपर भी नगरके अधिष्ठाता राजाका वर्णन नही होता, क्योकि उसमे प्राकार, उद्यानराजी और परिखावलयका अभाव है।

अब तीर्थंकरके शरीरका स्तवन देखिए—

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम्।
अक्षोभमिव समुद्र जिनेन्द्ररूप पर जयति ॥२६॥

अर्थ—जो नित्य है अर्थात् जिसमे कभी ह्रास नही होता, जिसमे समस्त अङ्ग निर्विकार भावसे अच्छी तरह स्थित है, जिसका स्वाभाविक सौन्दर्य अपूर्व है तथा क्षोभरहित समुद्रके समान जान पडता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌का उत्कृष्ट रूप जयवत है ॥२६॥

इस प्रकार शरीरका स्तवन करनेपर भी उसके अधिष्ठाता तीर्थंकर भगवान्‌का स्तवन नही होता, क्योकि उनकी आत्मामे लावण्य आदि शरीरके गुणोका अभाव है ॥३०॥

तब निश्चयसे स्तुतिका क्या स्वरूप है? यही दिखाते हैं—उसमे सर्वप्रथम ज्ञेय ज्ञायकके संकरदोषका परिहार करते हुए निश्चयस्तुतिको बतलाते हैं—

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिय मुणदि आद।
त खलु जिदिंदिय ते भणति जे णिच्छिदा साहू ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो इन्द्रियोको जीतकर ज्ञानस्वभावसे अधिक (असाधारण) आत्माको जानता है निश्चयनयमे स्थित साधु उसे जितेन्द्रिय कहते हैं।

विशेषार्थ—आत्मा यद्यपि अनादि अनन्त, चैतन्यस्वरूप, अमूर्तित्व आदि गुणोका पिण्ड है तथापि अनादिकालसे ही उसके साथ पौद्‌गलिक मूर्त्त कर्मोका सम्बन्ध हो रहा है। यहाँ यह तर्क नही करना चाहिये कि अमूर्त्त आत्माके साथ मूर्त्त कर्मोका सम्बन्ध कैसे हो गया? क्योकि जिस प्रकार अमूर्त्त ज्ञानमे रूपादि मूर्त्त पदार्थ भासमान होते हैं उसी प्रकार अमूर्त्त आत्माका मूर्त्त कर्मोके साथ एकक्षेत्रावगाहरूप बन्ध होनेमे कोई बाधा नही है। यहाँ कोई फिर यह शङ्का करे कि अमूर्त्त ज्ञानमे रूपादिक भासमान ही तो होते हैं कुछ रूपादिकका उसमे प्रवेश तो नही हुआ। जैसे दर्पणमे मयूरका प्रतिबिम्ब दिखता है किन्तु दर्पणमे मयूर नही चला गया? इस शङ्काका उत्तर यह है कि इसी तरह आत्माका मूर्तिक पुद्‌गल कर्मोके साथ तादात्म्य नही हो जाता, किन्तु मात्र एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध रहता है। और इसका कारण भी विभावनामकी शक्ति है जो कि जीव और पुद्‌गल इन दो ही द्रव्योमे है। अत मूर्तिकके साथ अमूर्तिक आत्माका बन्ध माननेमे कोई आपत्ति नही। दूसरी बात यह है कि निश्चयसे आत्माके साथ मूर्त्त कर्मोका सम्बन्ध है ही कहाँ? क्योकि निश्चयनय तो कहता है कि आत्मा अबद्धस्पृष्ट है उसका कर्मोके साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है? हाँ, व्यवहारनयसे आत्माका कर्मोके साथ निमित्तनैमित्तिक अथवा एकक्षेत्रावगाहरूप बन्ध स्वीकृत किया जाता है। सो व्यवहारनयसे आत्मा भी मूर्तिक कहा गया है। अत मूर्तिकका मूर्तिकके साथ सम्बन्ध होनेमे क्या बाधा है?

ऐसा होनेसे जिस प्रकार आत्माके साथ कर्मोका सम्बन्ध अनादिकालसे है उसी प्रकार नोकर्मरूप शरीरका भी सम्बन्ध अनादिसे है। उसी शरीरकी अवयवभूत इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियाँ दो प्रकारकी है—एक द्रव्येन्द्रिय, जो कि पुद्गलकी रचनाविशेष हैं, और दूसरी भावेन्द्रिय, जो कि ज्ञानविशेषरूप है। इन्द्रियोके विषय रूपादिक है। इन तीनोको अर्थात् द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा इन इन्द्रियोंके विषय रूपादिक पदार्थोंको जो मुनि विजित कर लेता है अर्थात् इनसे भिन्न अपने आत्माका अनुभव करता है वह ही जितेन्द्रिय है।

उनके जीतनेका प्रकार इस रीतिसे है—ये जो द्रव्येन्द्रियाँ है सो अनादि बन्धपर्यायकी आधीनता द्वारा समस्त स्व और परके विभागको नष्ट करने वाली हैं अर्थात् अनादिकालसे आत्माके साथ जो पुद्गलका सम्बन्ध हो रहा है उसके वशसे इनमे आत्मा और परका विभाग ज्ञान नही हो पाता है तथा ये शरीरपरिणामको प्राप्त करने वाली हैं अर्थात् शरीरके साथ एकमेक हो रही हैं। निर्मल भेदज्ञानके अभ्यासकी कुशलतासे जायमान तथा अन्तरङ्गमे देदीप्यमान अति सूक्ष्म चित्स्वभावके आलम्बनके बलसे इन द्रव्येन्द्रियोंसे भिन्न जो निज आत्माको जानना है यही उनका जीतना है।

यद्यपि विषय अखण्ड है और आत्माका स्वरूप भी अखण्ड है परन्तु कर्ममलीमस आत्मा इन्हे युगपत् स्वतन्त्ररूपसे नही जान सकता है। अत भावेन्द्रियोके द्वारा खण्डश पदार्थोको जानता है अर्थात् भावेन्द्रियाँ अपने-अपने प्रतिविशिष्ट विषयको खण्डश आकर्षण करने वाली है। जैसे पुद्गल तो स्पर्श -रस-गन्ध-वर्ण वाला है परन्तु उसे चक्षुरिन्दिय केवल रूपमुखसे ग्रहण करती है, घ्राणेन्द्रिय गन्धमुखसे ग्रहण करती है, रसनेन्द्रिय रसमुखसे ग्रहण करती है और स्पर्शनेद्रिय स्पर्शमुखसे ग्रहण करती है। स्पर्श, रस, गन्ध तथा रूपके समुदायरूप पुद्गलको समग्र रूपसे एक साथ ग्रहण करनेकी शक्ति भावेन्द्रियोमे नही है। इन भावेन्द्रियोसे प्रतीयमान अखण्ड एक चैतन्यशक्तिके द्वारा अपने आत्माका जो जानना है वही इन भावेन्द्रियोका जीतना है।

इसी प्रकार भावेन्द्रियोके द्वारा ग्रहणमे आने वाले जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण हैं वे ग्राह्यग्राहकलक्षणसम्बन्धप्रत्यासत्तिके वशसे ऐसे प्रतीत होते है मानो ये ज्ञान ही हैं अर्थात् ये स्पर्शादि ज्ञानमे आनेसे ज्ञानके समान भासमान होते हैं, ज्ञानस्वरूप नही है, क्योकि ज्ञान भिन्न पदार्थ है और ज्ञेय भिन्न पदार्थ हैं। उन्हे चेतनाशक्तिके स्वय अनुभवमे आने वाले असगपनसे आत्मासे पृथक् अनुभव करना चाहिए अर्थात् चेतनाशक्तिका जो विकास है उसमे चेतनाका ही परिणमन भासमान हो रहा है, अपनेमे प्रतिफलित ज्ञेयोसे चेतना सदा असग—निर्लिप्त ही रहती है। ऐसी चेतनाशक्तिकी महिमासे स्पर्शादिसे भिन्न अपने आत्मस्वरूपका जो अवबोध है, यही उनका जीतना है।

जब आत्मा इन द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा भावेन्द्रियोंके विषयभूत रूपादिकोसे अपने आपको भिन्न जान लेता है तब इन्द्रियजन्य ज्ञान और उनके विषयभूत रूपादिक पदार्थोमे जो ज्ञेय-ज्ञायक सकरदोष आता था वह स्वय दूर हो जाता है तथा उसके दूर होनेसे आत्मा अपने टङ्कोत्कीर्ण एकपनमे स्वय स्थित हो जाता है। जैसे टाँकीके द्वारा पत्थरमे उत्कीर्ण आकार स्थित रहता है ऐसे ही आत्मा भी अपने एकपनमे स्थित हो जाता है।

इस प्रकार जो समस्त विश्वको जानकर भी उसके ऊपर तैर रहा है, प्रत्यक्ष उद्योतरूप होनेसे जो अन्तरङ्गमे निरन्तर प्रकाशमान रहता है, अनपायी—अनश्वर है, स्वत सिद्ध है और

परमार्थसत् है ऐसे भगवान् ज्ञानस्वभावके द्वारा जो आत्माको अन्य समस्त द्रव्योंसे पृथक् जानता है वह जितेन्द्रिय जिन है, यह एक निश्चय-स्तुति है ॥३१॥

अब भाव्यभावक संकरदोषका परिहार करते हुए दूसरी निश्चय-स्तुति कहते हैं—

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥३२॥

अर्थ—जो मुनि मोहको जीतकर ज्ञानस्वभावसे अधिक अपने आत्माको जानता है उस मुनिको परमार्थके जाननेवाले 'जितमोह' कहते हैं।

विशेषार्थ—आत्माके साथ मोहकर्म सन्ततिरूपसे अनादिसे है, जब उसका उदयकाल आता है तब आत्मामें मोह, राग, द्वेषभावरूप परिणति होती है। दर्शनमोहके उदयमें मिथ्यात्व और चारित्रमोहके उदयमें रागादिक होते हैं और आत्मा उन्हीं परिणामोंके अनुकूल उस कालमें अपनी प्रवृत्ति करता है। इस तरह फल देनेमें समर्थ होनेसे मोह भावक है और तदनुरूप परिणति करनेसे आत्मा भाव्य है। जब जीवको तत्त्वविचारके द्वारा अपने स्वरूपका अवबोध होता है तब वह बलपूर्वक मोहको तिरस्कृत कर अपने आत्माको उससे पृथक् कर लेता है। उसी समय जो भाव्यभावक संकरदोष था उसका अभाव हो जाता है। उसका अभाव होनेपर आत्मा टङ्कोत्कीर्ण रूपसे अपने एकत्वमें स्थित हो जाता है।

इस प्रकार एकत्वस्वभावमें स्थित आत्माको जो समस्त विश्वके ऊपर तैरनेवाले, प्रत्यक्ष उद्योतरूप होनेसे अन्तरङ्गमें निरन्तर प्रकाशमान, अनपायी, स्वतःसिद्ध और परमार्थसत् भगवान् ज्ञानस्वभावके द्वारा द्रव्यान्तरके स्वभावसे होनेवाले समस्त अन्यभावोंसे परमार्थतया भिन्न अनुभव करता है वही निश्चय कर जितमोह जिन है यह द्वितीय निश्चय-स्तुति है।

इस प्रकार जो आत्मा मोहके उदयसे आत्मामें होनेवाले रागादिक भावोंको भेदज्ञानके बलसे औपाधिक जान उनसे अपने आत्माको पृथक् करनेका अभ्यास करता है तथा इसीके लिए श्रेणी चढनेकी चेष्टा करता है वह दशम गुणस्थानके अन्तमें मोहका क्षयकर क्षीणमोह हो जाता है।

यहाँ गाथामें जिस प्रकार मोहको लेकर व्याख्या की गयी है उसी प्रकार मोहपदको बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन इन सोलहकी व्याख्या करना चाहिये ॥३२॥

आगे भाव्यभावकभावका अभाव होनेपर आत्माकी जो अवस्था होती है उसका वर्णन करते हुए तृतीय निश्चयस्तुति कहते हैं—

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥३३॥

अर्थ—मोहको जीतनेवाले उस साधुका मोह जब क्षीण हो जाता है अर्थात् सत्तासे नष्ट हो जाता है तब निश्चयके जाननेवाले महापुरुषोंके द्वारा वह क्षीणमोह कहा जाता है।

विशेषार्थ—यहाँ पर निश्चयसे पूर्वप्रक्रियाके द्वारा जो आत्मा, अपने आत्माके मोहको तिरस्कृतकर प्रकट हुए ज्ञानस्वभावसे युक्त आत्माका अनुभव करता हुआ जितमोह होता है वही स्वभावभावकी भावनाकी कुशलताके बलसे जब मोहकी सन्ततिका इस तरह अत्यन्त नाश करता है कि जिस तरह वह फिर उत्पन्न न हो सके, तब उसका मोह क्षीण हो चुकता है अर्थात् सत्तासे पृथक् हो जाता है और वह भाव्यभावकभावका अभाव होनेसे एकत्वभावमे स्थित होता हुआ टङ्कोत्कीर्ण परमात्म अवस्थाको प्राप्त होकर क्षीणमोह जिन कहलाने लगता है। इस प्रकार तृतीय निश्चयस्तुति जानना चाहिये।

इसी प्रकार मोहपदको बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन सोलह सूत्रोकी व्याख्या करना चाहिये ?

पहले सामान्यरूपसे उद्यम था अर्थात् मोहादिप्रकृतियोके उपशम करनेका प्रयास था। और अब एकदम नाश कर क्षीणमोह होनेका लक्ष्य है। इसी तरह और भी जान लेना चाहिये। व्यवहारनयसे शरीर और आत्मामे एकपन कहा जाता है। निश्चयसे आत्मा और शरीर एक नही है, अत शरीरका स्तवन करनेसे ही आत्माका स्तवन नही हो सकता, किन्तु निश्चयसे आत्माका स्तवन करनेसे ही आत्माका स्तवन हो सकता है। अत आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। इस विवेचनसे, जो यह शङ्का की गयी थी कि शरीरका स्तवन करनेसे आत्माका स्तवन होता है उसका निरास हो जाता है ॥३३॥

यही भाव श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशामे प्रकट करते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एकत्व व्यवहारतो न तु पुन कायात्मनोर्निश्चया-
न्नु स्तोत्र व्यवहारतोऽस्ति वपुष. स्तुत्या न तत्तत्वत ।
स्तोत्र निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैव भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयो ॥२७॥

अर्थ—शरीर और आत्मामे एकपन व्यवहारसे है, निश्चयसे नही, अत शरीरकी स्तुतिसे आत्माकी स्तुति व्यवहारसे है, निश्चयसे नही। निश्चयसे तो आत्माकी स्तुति आत्माकी स्तुतिसे ही हो सकती है। इस तरह तीर्थंकरकी स्तुति विषयक प्रश्नका जो उत्तर दिया था उसके बलसे आत्मा और शरीरमे एकपन सिद्ध नही किया जा सकता ॥२७॥

मालिनीछन्द

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकताया
नयविभजनयुक्त्यात्यन्तमुच्छादितायाम् ।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्ट प्रस्फुटन्नेक एव ॥२८॥

अर्थ—इस तरह तत्त्वके अभ्यासी मुनियोके द्वारा नयविभागकी योजनासे जब आत्मा और शरीरकी एकताका बिलकुल निराकरण कर दिया गया, तब स्वरसके वेगसे खिंचकर एक स्वरूप

प्रकट हुआ किसका ज्ञान, ज्ञानमें अवतीर्ण नही होता ? अर्थात् किसका ज्ञान, ज्ञानमे प्रतिष्ठित नही होता ?

ज्ञानके साथ अनादि कालसे मोहजन्य विकारोंका मिश्रितपना चला आ रहा है उसीके प्रभावसे यह जीव पदार्थोंको जानकर उनमें इष्टानिष्टका विकल्प करता है, इस विकल्पके कारण उसका ज्ञान ज्ञानमे प्रतिष्ठित नही हो पाता। परन्तु जब मोह नष्ट हो जाता है तब उसके उदयमे जायमान विकल्प कहां रहेगे ? इस तरह विकल्पके अभावमें ज्ञान ज्ञानमे प्रतिष्ठित हो जाता है।

यहाँ निश्चय और व्यवहारनयके कथन द्वारा आत्मा और शरीरका भेद दिखाया गया है। जो पुरुष इस भेदको जानता है उसीने स्वरसको शीघ्र ही अपनी ओर आकृष्ट कर लिया और उसीका बोध वास्तविक बोध है ॥२८॥

इस तरह यह जीव अनादि मोहसतानके कारण सजात आत्मा और शरीरके एकत्व-सस्कारसे यद्यपि अप्रतिबुद्ध रहता है तो भी दृढ प्रयासके कारण उसके तत्त्वज्ञानरूपी ज्योति प्रकट हो जानेपर उस नेत्रविकारीके समान जिसके कि नेत्रका फूला दूर हो गया है, शीघ्र ही प्रतिबुद्ध हो जाता है और साक्षात् द्रष्टा अपने आपको अपने आप ही जानकर, उसीका श्रद्धाकर उसीका आचरण करना चाहता है अर्थात् उसीमें लीन होना चाहता है, ऐसा जीव आचार्य महाराजसे पूछता है कि हे भगवन् ! स्वात्माराम अर्थात् अपने आपमें ही लीन रहने वाले पुरुषको अन्यद्रव्यो-का प्रत्याख्यान करना पडता है, सो वह प्रत्याख्यान क्या वस्तु है ?

इस प्रश्नके उत्तरमे आचार्य आगे प्रत्याख्यानका स्वरूप कहते हैं—

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूण ।
तम्हा पच्चक्खाण णाण णियमा मुणेयव्व ॥३४॥

अर्थ—जिस कारण सब भाव पर हैं, ऐसा जानकर साधु उनका त्याग करता है, इस कारण ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ऐसा नियमसे जानना चाहिये।

विशेषार्थ—जिस कारणसे यह भगवान् ज्ञाता आत्मद्रव्य, अन्य परद्रव्यके स्वभावसे होने वाले सम्पूर्ण भावोको परत्वरूपसे जानकर त्यागता है, क्योंकि वे सम्पूर्ण परभाव अपने स्वभावसे व्याप्त नही हैं। इसीलिये जो पहले जानता है वही पश्चात् उन्हे त्यागता है, क्योकि जो ही आत्मा जानने वाला है वही आत्मा त्याग करने वाला है, अन्य त्याग करनेवाला नही है, इस प्रकार आत्मामें निश्चय करके प्रत्याख्यानके समय प्रत्याख्येय पदार्थ—त्यागने योग्य पदार्थ रूप उपाधिसे प्रवृत्तिमें आया जो (व्यवहारसे) कर्तापनेका व्यपदेश है उसके होने पर भी परमार्थ-से अव्यपदेश्य ज्ञानस्वभावसे च्युत न होनेके कारण ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ऐसा अनुभव करना चाहिये।

भावार्थ—वास्तवमे ज्ञान ज्ञेयको जानता है, न तो उसे ग्रहण करता है और न उसे त्यागता है, त्याग ग्रहणपूर्वक होता है। किन्तु अनादिकालसे एक ऐसी मोहकी उपाधि इस आत्म-द्रव्यसे लगी हुई है कि जिसके सम्बन्धसे यह परद्रव्यको अपना मानता है और जब तक मानता है तभी तक अनन्त ससारकी यातनाओको सहता हुआ चतुर्गतिका पात्र होता है। जब काललब्धि

आदि निमित्त मिलते है तब विभ्रमके मूल मिथ्यात्वके जानेपर अपनेको जानता है। उस कालमे परके ग्रहणका विकल्प ही नही होता, ज्ञानका परिणमन जानने मात्र रह जाता है। उसमे रागादि द्वारा जो इष्टानिष्ट कल्पनाओका उदय होता था वह स्वयमेव शान्त हो जाता है। उस समय ज्ञाता ज्ञाता ही रह जाता है, त्याग और ग्रहणका विकल्प कराने वाला जो था वह सत्तामे ही नही रहा, विकल्प कहाँसे हो ? अत आचार्योंका कहना है कि परमार्थसे अपने स्वरूपसे च्युत न होने वाले ज्ञानका ही नाम प्रत्याख्यान है ॥३४॥

अब ज्ञाताके प्रत्याख्यानमे कौन-सा दृष्टान्त है, यही दिखाते है—

जह णाम को वि पुरिसो परदव्वमिण ति जाणिदुं चयदि ।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुचदे णाणी ।।३५।।

अर्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष यह परद्रव्य है ऐसा जानकर उसे छोड देता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव समस्त परभावोको 'ये पर है' ऐसा जानकर छोड देता है।

विशेषार्थ—उक्त अर्थको आचार्य दृष्टान्त द्वारा समझाते है। जैसे कोई मनुष्य धोबीसे पराया वस्त्र लाकर तथा अपना समझ उस वस्त्रको ओढकर सो गया, क्योकि उसे यह ज्ञान नही था कि यह पराया वस्त्र है। अब जिसका वस्त्र था वह धोबीसे स्वकीय वस्त्र माँगने लगा। धोबीने कहा—आपका वस्त्र अमुकके घर भूलसे चला गया। इस बातको सुनकर वह शीघ्र ही जिसने अज्ञानसे अपना मानकर व्यवहारमे लिया था उसके घर आया और बलपूर्वक वस्त्रके अञ्चलको पकडकर ओढने वालेको उघाड दिया और कहा कि भाई ! यह वस्त्र भूलसे आप बदल लाये हो, अत शीघ्र ही हमारा वस्त्र हमको सौप दो। इस प्रकारका वाक्य श्रवणकर उसने सम्यक् रीतिसे परीक्षा कर यह निश्चय कर लिया कि यथार्थमे यह पराया है, तब शीघ्र ही उस वस्त्रको लौटा दिया। ऐसे ही ज्ञाता भी सम्भ्रान्तिसे परकीय भावोको ग्रहण कर तथा उन्हे आत्मीय जानकर आत्मामे उन भावोका अध्यास कर सो जाता है। अज्ञानके वशीभूत होकर उन्हे परकीय नही जानता। अतएव बेसुध सोते हुए की तरह कालयापन करता है। जब भाग्योदयमे श्री निर्ग्रन्थ गुरुका समागम होता है तब वे गुरु समझाते है—भाई ! तुम तो ज्ञान-दर्शनके पिण्ड हो, एक हो, यह जो भाव है वे परनिमित्तक है, वास्तवमे तुम्हारे नही है, विकारजन्य है तथा विकारी है, ऐसा शीघ्र ही प्रतिबोध कराते है, निश्चयकर आत्मा एक है, इस प्रकार बार-बार आगमवाक्योको श्रवण करता हुआ आत्मा सम्पूर्ण चिह्नोसे उन भावोकी परीक्षा कर यह निश्चय कर लेता है कि ये जो औपाधिक भाव है वे पर है, क्योकि परनिमित्तसे जायमान है। इस प्रकार जानकर शीघ्र ही सम्पूर्ण विभाव-भावोको त्याग देता है। जब तक अज्ञानसे यह आत्मा परवस्तुको अपनी जानता है तभी तक उसे अपनी मानता है और उसे ग्रहण किये रहता है। जिस समय यह ज्ञान हो जाता है कि यह तो परकीय वस्तु है तब त्यागनेमे विलम्ब नही करता है।

इस तरह यह आत्मा अनादि मोहके वशीभूत होकर अज्ञानी हो रहा है और उसी अज्ञानसे परनिमित्तसे जायमान रागादिक विभावोको स्वकीय मान रहा है। जब श्रीगुरुके निमित्तसे मोहका अभाव होनेपर स्वकीय स्वरूपका ज्ञानी हो जाता है तब झटिति उन परभावोको त्याग देता है ॥३५॥

यही वात अमृतचन्द्र स्वामी कलशा द्वारा प्रकट करते है—

मालिनीछन्द

अवतरति न यावत् वृत्तिमत्यन्तवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टि ।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्वभूव ॥२९॥

अर्थ—अनवम—जिनसे अवम—बुरे दूसरे नही ऐसे—परभावोके त्यागके लिए दिये दृष्टान्त-पर दृष्टि अत्यन्त वेगसे जवतक प्रवृत्तिको प्राप्त नही होती तव तक अन्य समस्त भावोंसे रहित यह अनुभूति शीघ्र ही स्वय प्रकट हो जाती है।

भावार्थ—आचार्य महाराजने परपदार्थोंके त्यागका जो दृष्टान्त दिया है उस पर दृष्टि शीघ्र ही जव तक स्थिर हो उससे पहले ही समस्त परभावोंसे रहित स्वानुभूति तत्काल प्रकट हो जाती है अर्थात् परको पर जानते ही उसके त्यागमे विलम्व नही लगता। यहाँ परभावके त्यागका जो दृष्टान्त है उसका यह आशय है कि जव आत्माने जान लिया कि ये परभाव है तव उनमे जो ममत्वभाव था उसका एकदम अभाव हो जाता है। यदि किसी सम्यक्त्वीके चारित्रमोहका उदय हो, तो वह उनमे उदासीन हो जाता है—आसक्त नही रहता। परको पर जाननेसे ही चक्रवर्ती ९६००० स्त्रियो और पट्खण्ड भरत क्षेत्रका आधिपत्य होते हुए भी उस विभवसे जलमे कमलपत्र-की तरह अलिप्त रहते हैं, कर्दममे पडा हुआ सुवर्ण कर्दमके लेपसे रहित ही रहता है। वालकका दुग्धादि द्वारा पोपण करती हुई भी धाय अन्तरङ्गसे उसे अपना नही समझती और माता दुग्धादि द्वारा पोपण न करती हुई भी अपना समझती है। इससे यह सिद्धान्त आया कि सम्यग्ज्ञान-के होनेपर परपदार्थमे ममत्वभावका अभाव हो जाता है ॥ २९ ॥

आगे अनुभूतिसे परभावका भेदज्ञान किस प्रकार होता है, यह आशङ्काकर उसका समा-धान करते हैं। भेदज्ञानके दो रूप हैं—एक तो अपने आत्माको रागादिकसे भिन्न जानना और दूसरा ज्ञेय पदार्थोंसे भिन्न जानना। इनमेसे पहले भावकमोहके द्वारा हुए जो भाव्यभाव हैं, उनसे भिन्न होनेका प्रकार दिखाते हैं—

णत्थि मम को वि मोहो वुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
त मोह-णिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥३६॥

अर्थ—मोह मेरा कोई भी नही है, मै तो एक उपयोगरूप ही हूँ, ऐसा जो जानता है, आगमके ज्ञाता उसे मोहसे निर्ममत्व जानते हैं।

विशेषार्थ—मोह चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ, कोई भी मेरा नही है, अकेला केवल उपयोग-स्वरूप हूँ, ऐसा जो जानता है समयके जानने वाले उसे मोहसे निर्मम कहते हैं। अर्थात् जो आत्मा ऐसा जानता है कि मेरा स्वरूप तो ज्ञानादि उपयोगरूप है, जो ये रागादिक औपाधिक भाव होते हैं वे मेरे लक्षण—स्वरूप नही हैं, नैमित्तिक विभाव भाव हैं, निमित्तका अभाव होनेपर इनका

विलय देखनेमे आता है, उस आत्माको आत्मा और परके जानने वाले तत्त्वज्ञानी जीव मोहसे निर्ममता वाला कहते हैं।

मै सत्यार्थ रूपसे ऐसा जानता हूँ कि यह जो मोह है वह मेरा कुछ भी नही है। जब तक मोहकर्म सत्तामे रहता है तब तक तो आत्मा कुछ भी विकार भाव करनेको समर्थ नही होता, किन्तु जब उसका विपाककाल आता है तब आत्मामे भाव्यभाव—रागादिक होते है और उन भावोके उत्पन्न होनेमे इसकी विपाक अवस्था निमित्तभूत है। इसीसे फलदानकी समर्थतासे जब यह उदयमे आता है तब आत्मामे जो रागादिक उत्पन्न होते हैं वह इसीके द्वारा होते है। अत उन भावोका उत्पादक यह मोहनीय पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म ही है, यही भावक कहलाता है। आत्मा टकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव वाला है। अत परमार्थसे विचार किया जावे तो यह भाव आत्माका स्वभावजन्य नही है। इसीलिये श्रीगुरुका कहना है कि पुद्गलद्रव्यात्मक मोहकर्म जिसका उत्पादक है ऐसा मोह मेरा कुछ भी नही है क्योकि परमार्थसे परभावके द्वारा पर नही हो सकता है। ज्ञानी मनुष्य ऐसा विचार करता है—जिसकी प्रतापरूप सपदा स्वय ही विश्वके समस्त पदार्थोके प्रकाश करनेमे चतुर है तथा निरन्तर विकासरूप है, ऐसे चैतन्यशक्तिरूप स्वभावके द्वारा भगवान् आत्माका ही अवबोध होता है। मै एक चैतन्यस्वभाव वाला हूँ परन्तु समस्त द्रव्योका जो परस्पर साधारण एकक्षेत्रावगाह हो रहा है उसकी अनिवार्यता—निवारण किये जानेकी असमर्थता—से परस्परमज्जित अवस्था भी हो रही है अर्थात् आत्मा और रागादिक विकारी भाव परस्पर मिलकर एक हो रहे है। परन्तु जिस प्रकार दही और खाड परस्पर मिलकर यद्यपि एकरूप प्रतीत होते है तथापि विवेकी जनोको दही और खाडका स्वाद पृथक्-पृथक् अनुभवमे आता है उसी प्रकार आत्मा और रागादिकको मज्जितावस्थामे भी भेदज्ञानी पुरुषोको आत्मा तथा रागादिकका स्वाद पृथक्-पृथक् अनुभवमे आता है। अत मै मोहके प्रति निर्मम ही हूँ। जीवका चैतन्यगुणके द्वारा भिन्न ही अनुभव होता है और मोहात्मक रागादिकोका आकुलतात्मक अनुभव भिन्न रूपसे होता है। अत आत्मा सदा अपने एकत्वसे तन्मय स्थितिको धारण करता हुआ स्थित है तथा मोह उससे भिन्न पृथक् ही पदार्थ है।

वास्तवमे मोहकर्म पुद्गलात्मक है। इसका जब विपाककाल आता है तब आत्माके उपयोग सम्बन्धी स्वच्छताकी विकाररूप परिणति हो जाती है और उसी परिणतिमे ये रागादिक कलुषभाव अवतीर्ण होते है। मिथ्यात्वके निमित्तसे यह आत्मा उन्हे अपने मानने लगता है। फलस्वरूप कभी अपनेको क्रोधी, कभी मानी, कभी मायावी और कभी लोभी बनाता है। इन्हीके द्वारा अनर्थपरम्पराका पात्र होता है। परन्तु जब भेदज्ञानका अवलम्बन करता है तब इन्हे विकृत भाव जान इससे भिन्न अपने ज्ञानानन्द स्वभावका अनुभव करता हुआ अनर्थपरम्पराका समूल उन्मूलन कर देता है। इस तरह भावक और भाव्यका विवेक प्रकट होता है ॥ ३६ ॥

अब श्री अमृतचन्द्रस्वामी इसी भावको कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

स्वागताछन्द

सर्वत स्वरसनिर्भरभाव चेतये स्वयमह स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोह शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥ ३० ॥

अर्थ—जो सब ओरसे स्वरसके भारसे भरा हुआ है ऐसे एक आत्मस्वरूपका ही मैं इस लोकमें स्वयं अनुभव करता हूँ, कोई भी मोह मेरा नहीं है, नहीं है, मैं तो शुद्ध चैतन्यरूप तेजका भाण्डार हूँ।

भावार्थ—मैं शुद्ध चेतनाकी निधि हूँ, मोहसे मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है, यह तो एक औपाधिक भाव है जो निमित्तवश मेरी स्वच्छतामें प्रतिभासमान होता था, कुछ मेरा स्वरूप नहीं था। जैसे स्फटिकमणि स्वभावसे स्वच्छ और निर्विकार है, किन्तु जपापुष्पादिके संयोगसे उसकी स्वच्छतामें लालिमा आदि अनेक रंग प्रतिभासमान होते हैं वे यद्यपि स्फटिकमणिमें वर्तमानरूपसे भासमान हो रहे हैं किन्तु तत्त्वदृष्टिसे स्फटिकके अभेदरूप नहीं हो गये हैं क्योंकि जपापुष्पादिके वियोगमें स्फटिकमणि स्वच्छ ही रहता है। इसी प्रकार आत्माके स्वच्छ उपयोगमें यह रागादिक, मोहकर्मके विपाकसे प्रतिभासमान होते हैं और उस समय अज्ञानी जीव उन्हें अपने स्वरूप मान लेता है। परन्तु जब भेदज्ञानका उदय होता है तब उपयोगकी स्वच्छतामें वे परमार्थसे आत्माके नहीं हैं, ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीवोंके अनुभव होने लगता है। इस तरह भावक-भाव्यभावका अवबोध-कर मोहपदके स्थानमें राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शनको रख कर सोलह पदोंका पृथक्-पृथक् व्याख्यान करना चाहिये॥ ३०॥

अब जिस प्रकार भावक-भाव्यभावसे आत्माको भिन्न किया उसी प्रकार ज्ञेय-ज्ञायकभावसे भी भिन्न जानना चाहिये, यह समझाने के लिये गाथा कहते हैं—

णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥३७॥

अर्थ—जो ऐसा जानता है कि ये धर्म आदि द्रव्य मेरे नहीं हैं, मैं तो एक उपयोगरूप ही हूँ उसे आगमके ज्ञाता मुनीश्वर धर्मनिर्ममत्व कहते हैं॥

विशेषार्थ—यह जो धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा मेरेसे भिन्न जीवद्रव्य और पुद्गल है वे सब पदार्थ स्वरससे उत्पन्न, अनिवार्य प्रसारसे युक्त तथा समस्त पदार्थोंको ग्रसित करनेवाली प्रचण्ड चैतन्य शक्तिके द्वारा ग्रासीभूत होनेसे यद्यपि अत्यन्त अन्तर्निमग्नके समान आत्मामें प्रकाश-मान हो रहे हैं तो भी मैं टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाववाला हूँ, और ये सब पदार्थ मुझसे भिन्नस्वभाववाले हैं तथा परमार्थसे बाह्यरूपताको छोडनेमें असमर्थ हैं। अर्थात् अपना बाह्यरूप छोडकर चेतनरूप परिणमन त्रिकालमें नहीं कर सकते, इसलिये मेरे नहीं हैं। जैसे स्वच्छताके कारण समुखागत पदार्थ दर्पणमें प्रतिबिम्बित-से जान पड़ते हैं, परमार्थसे दर्पण भिन्न है और पदार्थ भिन्न हैं, दर्पणकी स्वच्छता उन बाह्य पदार्थोंके निमित्तसे यद्यपि उन पदार्थोंके आकार परिणमन-को प्राप्त हो जाती है तथापि उन पदार्थोंके साथ उसका तादात्म्य नहीं होता। जो दर्पणमें भासमान हो रहे हैं वे सब दर्पणकी स्वच्छताके विकार हैं। इसी तरह आत्मामें ऐसी निर्मलता है कि यदि प्रतिबन्धक कारण न हो तो ज्ञेय पदार्थ उसमें प्रतिभासमान होते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे बाह्य ज्ञेय ज्ञानके आभ्यन्तरमें चले जाते हैं, जो ज्ञानमें भासमान हो रहे हैं वह ज्ञानका

ही परिणमन है। अत ये जो धर्म, अधर्म, अकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव हैं वे आत्माके नही है, ऐसा वहाँ समझना चाहिये। चैतन्यस्वभावके कारण नित्य ही उपयुक्त रहने वाला यह भगवान् आत्मा ही परमार्थसे निराकुल एक आत्मस्वरूपका वेदन करता हुआ यह जानता है कि मै निश्चयसे एक हूँ, इसलिये सवेद्य-सवेदक—ज्ञेय-ज्ञायकभावसे उत्पन्न परस्परमें सकलन—सम्मिश्रणके होनेपर भी आत्मा तथा परपदार्थोका स्वभाव स्पष्टरूपसे पृथक्-पृथक् अनुभवमे आता है। अत मै धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल तथा अन्य जीवरूप विजाजीय-सजातीय द्रव्योके प्रति निर्मम हूँ। पदार्थोकी ऐसी ही व्यवस्था हे कि वे सदाकाल आत्माके साथ एकपनको प्राप्त होकर भी अपने स्वरूपसे भिन्न ही रहते हैं। इस तरह ज्ञेयभावसे आत्माको भिन्न जानना चाहिये ॥ ३७ ॥

यही भाव अमृतचन्द्र स्वामी कलशा द्वारा दरशाते हैं—

मालिनीछन्द

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम् ।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥३१॥

अर्थ—इस प्रकार अन्य समस्त भावोके साथ भेद होनेपर इस जीवका यह उपयोग स्वय एक आत्माको धारण करता हुआ जिनका यथार्थ स्वरूप प्रकट है ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परिणति कर आत्मारूप उपवनमे ही प्रवृत्त होता है—उसी एकमे रम जाता है।

भावार्थ—जब तक आत्मामे मोहजन्य रागादि परिणामोका उदय रहता है और यह आत्मा उन्हे निज समझता है तव तक पदार्थोमे इष्ट कल्पना कर किसी पदार्थमे आसक्त होकर तन्मय हो जाता है और किसी पदार्थमे अनिष्ट कल्पना कर उसमे अनासक्त हो उसके नाशका उद्योग करता है। परन्तु जब भेदज्ञानका उदय होता है तब सब ओरसे उपयोग अपने आप परसे पृथक् होकर अपने स्वरूपमे स्वयमेव रमण करने लगता है ॥ ३१ ॥

आगे दर्शन, ज्ञान, चारित्रस्वरूप परिणत हुए आत्माके स्वकीय स्वरूपका सचेतन किस तरह होता है, यह कहते हुए आचार्य इस कथनका उपसंहार करते है—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसण-णाण-मइयो सदारूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥३८॥

अर्थ—निश्चयसे मै एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदाकाल अरूपी हूँ, अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा कुछ नही है।

विशेषार्थ—ससारमे जितने पदार्थ हैं वे सब अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावचतुष्टय कर अपने-अपने अस्तित्वमे लीन हैं। अन्य पदार्थोके साथ परस्परावगाहलक्षण सम्बन्ध होनेपर भी एक पदार्थका अन्य पदार्थके साथ तादात्म्य नही होता। निश्चयसे यह आत्मा अनादिकालसे

मोहके द्वारा अत्यन्त अप्रतिबुद्ध हो रहा है और इसी अप्रतिबुद्धताके कारण अपने और परके भेदसे अनभिज्ञ है। इसकी ऐसी दशा देख ससारसे विरक्त परमदयालु श्रीगुरुने इसे निरन्तर समझाया, उससे किसी तरह प्रतिबोधको प्राप्त हुआ। तब जैसे कोई मनुष्य सुवर्णको अपने हाथमे होते हुए भी अन्यत्र अन्वेषण करता है और न मिलनेसे दुखी होता है। उसकी यह अवस्था देख किसी मनुष्यने कहा—क्या खोजते हो ? वह कहता है—सुवर्ण खो गया है। तब उसने कहा—तुम्हारे हाथमे ही तो है। यह सुन वह एकदम आनन्दको प्राप्त हो गया। ऐसे ही आत्मा है तो आत्मामे ही, परन्तु अज्ञानी उसे शरीरादि परपदार्थोंमे खोजकर दु खका पात्र होता है। अब श्रीगुरुके उपदेशसे परमेश्वर आत्माको जानकर तथा श्रद्धाकर और उसीमे चर्याकर समीचीन आत्मामे ही आत्माका रमण करता हुआ एकदम आनन्दपुञ्जका आस्वाद लेकर ऐसा तृप्त हो जाता है कि अनन्त ससारको यातनाएँ एकदम विलीन हो जाती हैं। वही मैं एक आत्मा हूँ। यद्यपि आत्मामे क्रम और अक्रमसे प्रवर्तमान व्यावहारिकभावोंके द्वारा नानापनका व्यवहार होता है तथापि चैतन्यमात्र आकारके द्वारा मुझमे कोई भेद नही है, अतएव मैं एक हूँ। नारकादिक जीवके विशेष तथा अजीवरूप पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये जो व्यवहार-से नव तत्त्व है उनसे मैं टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावके द्वारा अत्यन्त भिन्न होनेसे शुद्ध हूँ। मैं चेतनामात्र हूँ और सामान्यविशेषोपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शनोपयोगके साथ जो तन्मयता है उसका कभी भी अतिक्रमण नही कर सकता, अत ज्ञान-दर्शनमय हूँ। स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण इनका सवेदन करनेवाला हूँ। अर्थात् मेरे ज्ञानमे ये प्रतिभासमान होते हैं, मैं इनका जाननेवाला हूँ परन्तु इनरूप नही परिणमता। अत परमार्थसे सर्वदा अरूपी हूँ। इस प्रकार इनसे अपने स्वरूपको भिन्न जानता हुआ इन्हे जानता भर हूँ। यद्यपि बाह्य पदार्थ अपनी विचित्र स्वरूप-सम्पदाके द्वारा मेरे ज्ञानमे स्फुरित होते है—झलकते है तो भी परमाणुमात्र भी अन्य द्रव्य मेरा नही है जो भावकपनसे या ज्ञेयपनसे मुझमे फिर मोह उत्पन्न कर सके। जब आत्मामे भावक-भाव्यभाव और ज्ञेय-ज्ञायकभाव मोहके उत्पन्न करनेमे समर्थ नही होते हैं तब यह स्वरससे ही, फिर उत्पन्न न हो सके, इस तरह मोहका समूल उन्मूलन करता है और उस समय इसके महान् ज्ञानका उद्योत अर्थात् सपूर्ण ज्ञानका प्रकाश स्वयमेव प्रकट हो जाता है।

आत्माकी महिमाका गान करते हुए श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशा द्वारा कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ता ।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणी भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धु ॥३२॥

अर्थ—विभ्रमरूपी परदाको शक्तिपूर्वक दूरकर यह भगवान् ज्ञानरूपी सागर प्रकट हुआ है सो लोकपर्यन्त छलकते हुए इसके शान्त रसमे ये समस्त प्राणी एक साथ अतिशयरूपसे निमग्न हो।

भावार्थ—इस जीवका भेदज्ञानरूपी सागर मिथ्यादर्शनरूपी परदाके भीतर छिपा है। इसीसे ससारके समस्त प्राणी बाह्य पदार्थोमे अहकार-ममकार करते हुए निरन्तर अशान्त रहते हैं। अत उस मिथ्यादर्शनरूपी परदाको अत्यन्त दूरकर यह भगवान भेदविज्ञानरूपी सागर प्रकट हुआ है सो इसके शान्त रसमे—आह्लाददायक परिणतिमे ससारके समस्त प्राणी एकसाथ अच्छी तरह अवगाहन करे। ससारके अन्य समुद्रोंका रस अर्थात् जल तो क्षाररूप होनेसे अवगाहनके योग्य नही होता, परन्तु इस भेदविज्ञानरूपी सागरका रस अर्थात् जल अत्यन्त शान्त है, आह्लाद-दायक है और लोकान्त तक छलक रहा है। अत अवगाहनके योग्य है। यहाँ आचार्य महाराजने यह कामना प्रकट की है कि ससारके साथ प्राणी विभ्रम अर्थात् मिथ्यात्वको नष्टकर भेदज्ञानी होते हुए शान्तिका अनुभव करें, क्योकि विना भेदज्ञानके परसे ममत्व नही हट सकता और परमे ममत्वके हटे विना शान्तिका अनुभव नही हो सकता।

आत्मख्याति-टीकाके रचयिता श्री अमृतचन्द्र स्वामीने इस समयसारका वर्णन एक नाटकके रूपमे प्रकट किया है। नाटकके प्रारम्भमे एक पूर्वरग[1] नामका प्रकरण होता है, जिसमे नट रगभूमि सम्बन्धी विघ्नोकी शान्तिके लिये स्तवन आदि करते है। यहाँ पूर्वरग नामक प्रकरणको समाप्त करते हुए अमृतचन्द्राचार्यने भेदज्ञानका स्तवन किया है ॥ ३२ ॥

अव आगे जीव और अजीव दोनो एक होकर प्रवेश करते हैं। सो उन दोनोमे भेदको दिखलाने वाला जो ज्ञान है उसकी प्रशसामे कलश-काव्य लिखते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

जीवाजीव-विवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदा-
नाससारनिबद्धबन्धनविधिध्वसाद्विशुद्ध स्फुटत्।
आत्माराममनन्तधाममहसाध्यक्षेण नित्योदित
धीरोदात्तमनाकुल विलसति ज्ञान मनो ह्लादयत् ॥३३॥

अर्थ—जो जीव और अजीवके भेदको दिखलानेवाली विशाल दृष्टिसे सभासदोको भिन्न द्रव्यकी प्रतीति कराता है, जो अनादि ससारसे बँधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मोका नाश करनेसे शुद्ध है, विकासरूप है, आत्मामे ही रमण करता है, अनन्त तेज स्वरूप है, प्रत्यक्ष तेजसे नित्य उदित है, धीर है, उदात्त है, आकुलतासे रहित है और मनको आह्लादित करनेवाला है ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान मनको आनन्दरूप करता हुआ विकाशरूप उदित होता है। अनादि-

---

१. यन्नाट्यवस्तुन पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये।
कुशीलना प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्ग स उच्यते॥ —साहित्यदर्पण परिच्छेद ६।
सभापति सभासभ्या गायका वादका अपि।
नटी नटश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यान् रञ्जनात्॥
अतो रङ्ग इति ज्ञेय पूर्वं यत्स प्रकल्पते।
तस्मादय पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिरुच्यते॥ —भावप्रकाशिका।

कालसे आत्मा इसके बिना दु खमय जीवन बिता रहा था और हीन मनुष्यके सदृश धनके अभावमे परम दुखी था। पश्चात् धनके प्राप्त होनेसे जैसे रङ्क मनुष्य सानन्द होता है, ऐसे ही सम्यग्ज्ञानके प्राप्त होनेपर आत्मा आह्लादभावको प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान जीव और अजीवका स्वरूप दिखाकर सभासदोको यथार्थ प्रतीति कराता है, अनादिकालसे लगे हुए जो ज्ञानावरणादि कर्म हैं उनके बन्धनकी विधिको ध्वस्त करनेके कारण विशुद्ध है, पुष्पकी कलीके समान विकासको प्राप्त है, उसके रमणका स्थान आत्मा ही है अर्थात् पहले मोहके निमित्तसे परपदार्थमे जाता था, अब मोहका अभाव होनेसे स्वीय आत्मामे ही विश्रान्त हो गया, अनन्त ज्ञेय पदार्थो को जाननेवाला होकर भी आत्मतत्त्वमे ही रमण करता है, अनन्त प्रकाशमय है, प्रत्यक्ष तेजकर नित्य ही उदयरूप है, धीर है, उदात्त है अर्थात् मोहके सम्बन्धसे होनेवाले विकारी भावोंसे पहले विकृत था, पर अब मोहका अभाव होनेसे शुद्ध दर्पणकी तरह हो गया, केवल ज्ञेयोके बिम्ब पडनेसे ज्ञेयाकारका व्यवहार होता है। तात्त्विकदृष्टिसे ज्ञानका परिणमन ज्ञानरूप ही है, आत्माके स्वरूपको नही जानकर पहले नाना प्रकारकी अकुलताओंसे युक्त था, अब यथार्थ प्रतीति होनेसे निराकुल हो गया ॥३३॥

आगे जीव और अजीवके एकरूप होकर प्रवेश करनेसे जीवका यथार्थ स्वरूप समझनेमे जो विभ्रम होता है उसे दिखाते हैं—

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।
जीव अज्झवसाणं कम्म च तहा परूविंति ॥३९॥
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीव ।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्म चावि जीवो त्ति ॥४०॥
कम्मस्सुदय जीव अवरे कम्माणुभागमिच्छति ।
तिव्वत्तण-मदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥४१॥
जीवो कम्म उहय दोण्णि वि खलु के वि जीवमिच्छति ।
अवरे सजोयेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥४२॥
एवविहा बहुविहा परमप्पाणं वदति दुम्मेहा ।
ते ण परमट्ठवाई णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा ॥४३॥

(पचकम्)

अर्थ—आत्माको नही जानते हुए तथा परको आत्मा कहते हुए कितने ही ऐसे मूढ हैं जो अध्यवसानरूप भावको जीव मान लेते हैं। कितने ही ऐसे मूढ है जो कर्मको ही जीव मानते है। कितने ही ऐसे मूढ है जो अध्यवसानभावोमे तीव्र-मन्द अनुभागको जीव मान लेते हैं। बहुतसे ऐसे अज्ञानी जीव हैं जो नोकर्म—शरीरको ही जीव मान कर सतोष कर लेते है। कोई ऐसे हैं जो कर्मके उदयको ही जीव मानते हैं। कितने ही ऐसे हैं जो तीव्र और मन्दपनरूप गुणोंके द्वारा भेदरूपको प्राप्त कर्मोंका अनुभाग ही जीव है ऐसा मानते हैं। बहुत वादी ऐसे है जो जीव और कर्मकी मिली हुई अवस्थाको जीव मानते है। और कितने ही ऐसे है जो कर्मोंके सयोगसे होनेवाली परि-

णतिको जीव मानते है। इस प्रकार तथा अन्य भी बहुत प्रकारसे दुष्टबुद्धिवाले मिथ्यादृष्टि जीव परको आत्मा मानते हैं। परन्तु वे परमार्थवादी नही है, ऐसा निश्चयनयके जाननेवालोने कहा है।

विशेषार्थ—निश्चयसे इस ससारमे जिन्होने उस आत्मद्रव्यका असाधारण लक्षण नही जाना है वे नपुसकपनसे अत्यन्त मूढ होते हुए पारमार्थिक आत्माको नही जानकर परको आत्मा कहते हैं। परमार्थरूपसे जब तक वस्तुका यथार्थ परिज्ञान नही होता तभी तक मिथ्याज्ञानसे पदार्थके स्वरूपमे नाना प्रकारकी कल्पनाएँ हुआ करती हैं। जैसे—मानसरोवरका एक हस दैवयोगसे एक कूपपर पहुच गया। कूपका मण्डूक आगन्तुक हसको देखकर पूछता है—महाशय! कहाँसे आपका आगमन हुआ? हस कहता है—हिमालय मध्यस्थित मानसरोवरसे आया हूँ। तब वह मण्डूक पूछता है—कितना बडा मानसरोवर है? हसने उत्तर दिया—बहुत भारी है। मेण्डकने एक पाव पसार दिया, क्या इतना बडा है? हसने कहा—नही भाई, बहुत भारी है। तब दूसरा पाव फैला दिया, क्या इतना बडा है? हसने कहा—नही, वह बहुत विस्तारसे है। तब मेण्डकने सर्वाङ्ग फैला दिया, क्या इतना विपुल है? हसने कहा—भाई, उसका विस्तारक्षेत्र बहुत विस्तृत है। तब मेण्डक समस्त कूपमे भ्रमणकर कहने लगा, यदि अधिक-से-अधिक होगा तो इतना होगा, यदि इससे भी विपुल है तो केवल कहनेकी बात है, है नही। इसी तरह आत्माके आभ्यन्तर स्वरूपसे जो अपरिचित हैं तथा शरीरादिकको ही जिन्होने आत्मा मान रखा है वे उसका स्वरूप जाननेमे असमर्थ हैं। अत जो कुछ अपनी कल्पनामे आ गया उसे ही जीव मान लेते हैं। उन्ही मिथ्यावादियोके थोडेसे भेदोका आचार्य विवेचन करते है—

कितने ही वादी ऐसे हैं जिनका कहना है कि नैसर्गिक राग-द्वेपसे कलुपित जो अध्यवसान भाव है वे ही तो जीव है क्योकि रागद्वेपात्मक अध्यवसानभावसे भिन्न अगारके कृष्णपनकी तरह जीवकी उपलब्धि नही होती है। अर्थात् जैसे अगारसे भिन्न कृष्णपन नही देखा जाता, ऐसे ही रागद्वेपरूप कलुपित अध्यवसानभावसे भिन्न आत्माकी उपलब्धि नही होती है।

कितने ही वादी ऐसे हैं जिनका कहना है कि अनादि अनन्त अथवा पूर्वापरीभूत अवयवोमे एक ससरणरूप क्रियासे क्रीडा करता हुआ जो कर्म है वही जीव है क्योकि इस कर्मसे भिन्न जीव अनुभवमे नही आता।

बहुतसे वादियोका कहना है कि तीव्र और मन्द अनुभागसे जिनमे भेद है अर्थात् जिनमे कभी तो तीव्र रागादिक होते हैं और कभी मन्द रागादिक होते हैं। जब इनकी तीव्रता होती है तब यह हिंसादि कार्योमे प्रवृत्ति करता है और जब इनकी मन्दता होती है तब दया आदि कार्योमे प्रवृत्ति करता है। इस तरह तीव्र, मन्द अनुभागसे भेदको प्राप्त तथा दु खदायक रागरससे पूरित अध्यवसानभावोकी जो सतति है वही जीव है क्योकि इनसे भिन्न जीवकी उपलब्धि नही देखी जाती। यदि इनसे भिन्न जीवकी उपलब्धि आपके अनुभवमे आती है तो स्पष्टरीतिसे कहो, ससारमे रागादिक परिणामोके सिवाय अन्य कुछ नही देखा जाता। अत इन्हीको जीव मानना उचित है, ऐसा बहुतसे ऊपरी दृष्टिवाले लोगोका प्रलाप है

नवीन और पुरानी अवस्थाके भेदसे प्रवृत्तिमे आ रहा जो शरीर है वही जीव है, क्योकि उससे अतिरिक्त जीव देखनेमे नही आता। किसीने कहा भी है—

न जन्मन प्राड्‍ न च पञ्चताया
परो विभिन्नेऽवयवे न चान्त ।

विगन्न निर्यन्न च दृश्यतेऽस्माद्
भिन्नो न देहादिह कश्चिदात्मा ॥ —(धर्मशर्माभ्युदयमें पूर्वपक्ष)।

अर्थात् इस ससारमे जन्मसे पहले और मरनेके वाद तथा हाथ, पैर आदि अवयवके कट जानेपर, भीतर प्रवेश करता अथवा भीतरसे वाहर निकलता हुआ कोई जीव शरीरसे भिन्न दिखाई नही देता है।

इस तरह नया और जीर्ण शरीर ही जीव है, ऐसा कितने ही वादी कहते हैं।

ससार पुण्य और पापके विपाकसे ही पूरितावस्थ हो रहा है। अत कर्मविपाक ही जीव है क्योकि शुभ और अशुभ भावोको छोडकर भिन्नरूपसे किसी जीवतत्त्वकी उपलब्धि नही होती, ऐसा वहुतसे वादियोका मन्तव्य है।

कितने ही वादियोका यह मत है कि साता और असाताके भेदसे युक्त कर्मोंका अनुभाग ही ससारमे देखनेमे आता है। जव साताकर्मका अनुभाग आता है तव सुख और जव असाता कर्मका अनुभाग आता है तव दु ख होता है। अत सुख और दु खको छोडकर अन्य जीवकी सत्ता अनुभवमे नही आती है।

कोई कहते हैं कि जिस प्रकार मज्जितावस्थामे दही और खाड मिलकर एक भासमान होते हैं उसी प्रकार आत्मा और कर्म इन दोनोकी मिली अवस्थाको ही जीवशब्दसे व्यवहृत करते हैं, क्योकि उस अवस्थाको छोडकर अन्य कोई जीव नही है, यदि होता तो अनुभवमे आता।

अर्थक्रियामे समर्थ जो कर्मसयोग है वही जीव है। जिस प्रकार आठ काठोका सयोग ही खट्वा है उसी प्रकार आठ कर्मोका सयोग ही जीव है, इनसे अतिरिक्त कोई भिन्न जीव नही है, ऐसा वहुतसे वादियोका मत है।

इसी प्रकार और भी अनेक वादी परको आत्मा शब्दसे व्यहृत करते हैं। परन्तु वे सव विपरीतवुद्धि वाले हैं, अतएव परमार्थवादी नही हैं, ऐसा निश्चयके जाननेवाले कहते हैं ॥३९,४०,४१,४२,४३॥

ये सब मिथ्यावादी क्यों हैं ? इसीका आगे आचार्य उत्तर देते है—

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चति ॥४४॥

अर्थ—ये पूर्वमें कहे हुए अध्यवसान आदि सव भाव पुद्गलद्रव्यके परिणामसे निष्पन्न हुए हैं, ऐसा श्रीकेवली जिनेन्द्रने कहा है, तव वे जीव कैसे कहे जा सकते हैं ?

विशेषार्थ—क्योकि अध्यवसानादिक जितने भाव हैं इन सवको सर्वज्ञ भगवान्‌ने पुद्गलद्रव्यमय कहा है। अत ये सव भाव चैतन्यशून्य पुद्गलद्रव्यसे भिन्न चैतन्यस्वभाववाला जो जीवद्रव्य है उसरूप नही हो सकते। इस तरह आगम, युक्ति और स्वानुभवसे वाधित पक्ष होनेके कारण अध्यवसानादिक भावोको जीव माननेवाले जो वादी हैं वे परमार्थवादी नही हैं।

'अध्यवसानादयो भावा न जीवा' यही इसमे आगम है, क्योकि यह वचन परम्परासे चला आया है तथा इसमे कोई वाधक प्रमाण नही है। परम्परासे भी जो वाक्य चला आवे, किन्तु प्रत्य-

क्षादिक प्रमाणसे वाधित हो तो वह प्रमाणकोटिमे नही आ सकता। यह जो अध्यवसानादिक भाव है वे उपयोगकी तरह स्थायी नही है किन्तु मोहादि पौद्गलिक कर्मप्रकृतिके विपाकसे आत्मामे एक विभावपरिणति होती है उसीरूप होनेसे नैमित्तिक हैं, अस्थायी हैं, अत आत्मा नही है।

स्वानुभवगर्भा युक्ति भी इसमे है, यही दिखाते है—निश्चयसे नैसर्गिक रागद्वेपसे कलुपित जो अध्यवसान भाव है वे जीव नही है क्योकि जैसे कालिमासे भिन्न सुवर्ण है ऐसे ही अध्यवसान भावोंसे भिन्न चैतन्यस्वभाववाला जीव भी भेदज्ञानियोके अनुभवमे प्रत्यक्ष आ रहा है। अनाद्यनन्त पर्यायोमे परिभ्रमण करानेरूप क्रियासे क्रीडा करनेवाला जो कर्म है वह जीव नही है क्योकि कर्मसे भिन्न चैतन्यस्वभाववाले जीवका अनुभव भेदज्ञानियोको स्वय हो रहा है। निश्चय कर तीव्र-मन्द-रूपसे विद्यमान दु खदायक जो रागरसकी सतान है वह भी जीव नही है क्योकि रागादिकसे भिन्न चैतन्यस्वभाववाले जीवका अनुभव भेदज्ञानियोको होता है। इसमे सदेहको स्थान नही है क्योकि सब प्रमाणोसे अनुभव प्रमाणकी बलवत्ता आवालगोपाल विदित है। इसी तरह यह जो कहा था कि नई पुरानी अवस्थावाला जो शरीर है वही जीव है सो निश्चयसे विचार करनेपर असगत ठहरता है क्योकि शरीरसे भिन्न चैतन्यस्वभाववाला जीवतत्त्व ज्ञानियोके ज्ञानमे आ रहा है। पुण्य-पापरूपसे ससारपर आक्रमण करनेवाला कर्मका विपाक ही जीव है, यह कहना ठीक नही है, शुभ-अशुभ भावोसे भिन्न चैतन्यस्वभाववाला जीव भेदज्ञानियोंके प्रत्यक्षज्ञानमे आ रहा है। साता और असातारूपसे व्याप्त तीव्र तथा मन्दत्व गुणसे भेदको प्राप्त हुआ जो कर्मोका अनुभाग है वही जीव है ऐसा कहना भी ठीक नही है क्योकि सुख और दु खसे भिन्न चैतन्यस्वभाववाला जीव स्व-सवेदनप्रत्यक्षके द्वारा तत्त्वज्ञानियोके अनुभवमे आ रहा है। किन्ही महानुभावोका कहना है कि मज्जितावस्थामे जैसे दो पदार्थोकी एक विजातीय अवस्था भासमान होती है ऐसे ही आत्मा और कर्म इन दोनोको जो मज्जितावस्था अर्थात् मिश्र दशा है वही जीव है, सो इनका यह कहना प्रमाणसे बाधित है क्योकि चैतन्यस्वभावके द्वारा जीवका भिन्नरूपसे अनुभव होता है। इसी तरह किन्ही वादियोका यह कहना कि जिस तरह आठ काठके सयोगका नाम खाट है उसी तरह आठ कर्मोका सयोग ही जीव है, ठीक नही है क्योकि जिस प्रकार आठ काठके सयोगसे निर्मित खाटपर शयन करनेवाले पुरुपका खाटसे पृथक् अनुभव होता है उसी तरह आठ कर्मोसे भिन्न चैतन्य स्व-भाववाले जीवका अनुभव पृथक् होता है।

इस प्रकरणमे पुद्गलसे भिन्न आत्माका अपलाप करनेवाले वादियोको साम्यभावसे समझना चाहिये, क्योकि विवाद करनेसे पक्ष-पुष्टिकी प्रवलता होनेसे, समझना तो दूर रहा, प्रत्युत दोप हो जाता है। जब सव जीव चेतनागुणवाले है और सभी जीव ससार सम्वन्धी दु खसे भीरु है तब उन्हे वह मार्गप्रदर्शन करना उचित है जिससे उन्हे शान्ति मिले। जिसे कामलारोग है वह जीव शङ्ख-को पीला कहता है। अव आप ही बताइये, कामलारोगी यदि शङ्खको पीला कहता तो उस अवस्थामे उसका वैसा कहना क्या मिथ्या है? यद्यपि विपयकी अपेक्षा वह ज्ञान मिथ्या है परन्तु अन्तर्ज्ञेयाकारकी अपेक्षा भी क्या मिथ्या है? अत उसका कामलारोग जावे ऐसा उपाय करना योग्य है। केवल उसे मिथ्याज्ञानी कहनेसे न आपको लाभ है और न उसे। उसका रोग तो दूर करनेका प्रयास न किया जावे और उस अवस्थामे यह कहा जावे कि तुम्हारा ज्ञान मिथ्या है तो वह कदापि सन्मार्गपर नही आ सकता। इसी प्रकार मिथ्यात्व दशामे यह जीव यदि शरीरादिकको आत्मा माने तो उस दशामे उसे वुरा-भला कहना उसके मिथ्यात्वको पुष्ट करना है। अत जहाँ

तक बने उसे साम्यभावसे पदार्थप्रणालीकी अवगति कराकर समीचीन मार्गमे लानेका प्रयत्न करना तत्त्वज्ञानियोंका कर्त्तव्य है। उससे उपेक्षा कर जीवकी अवहेलना करना क्या श्रेयोमार्गके पथिकोंको उचित है? सभव है, आपके सुमधुर सत्य उपदेशसे वह मिथ्यात्वसे च्युत होकर सम्यग्दर्शनका पात्र हो जावे। श्रीअमृतचन्द्र स्वामीने कहा है—'इह खलु पुद्गलभिन्नात्मोपलब्धि प्रति विप्रतिपन्न मास्नैवेवमनुशास्य' अर्थात् इस प्रकरणमे पुद्गलसे भिन्न आत्माकी उपलब्धिके प्रति विवाद करनेवाले पुरुषको शान्तिसे ही इस प्रकार समझाना चाहिये। किस तरह समझाना चाहिये? यह कलशा द्वारा कहते हैं—

मालिनीछन्द

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृत सन् पश्य पण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुस पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धि ॥३४॥

अर्थ—रुको, व्यर्थके विभिन्न कोलाहलसे क्या साध्य है? तूं स्वय ही निश्चल होकर छह माह तक एक आत्मतत्त्वका अवलोकन कर—उसीका अभ्यास कर। फिर देख कि पुद्गलसे भिन्न तेजवाले आत्मतत्त्वकी हृदयरूपी सरोवरमे उपलब्धि होती है या अनुपलब्धि।

भावार्थ— अकार्य कोलाहलसे साध्यकी सिद्धि नही होती, अत व्यर्थके वितण्डावादसे विरक्त होओ तथा अपने आप निश्चलवृत्तिको स्वीकारकर छह मास पर्यन्त हृदयरूपी सरोवरमे पुद्गलसे भिन्न तेजवाले चैतन्यपुरुषका अवलोकन करो, नियमसे उसकी प्राप्ति होगी, अनुपलब्धिकी आशङ्का मत करो।

पुरुषार्थ ही आत्मतत्त्वकी उपलब्धिमे कारण है। आज तक हम उस तत्त्वको कठिन-कठिन सुनकर वञ्चित रहे। बतलाओ तो सही, जिसके द्वारा ससार चल रहा है और जिसके प्रभावसे ही ससारमे नाना मतोकी सृष्टि हुई। जिसके द्वारा ही ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी कल्पना हुई और जिसके द्वारा ही इन कल्पनाजालोको असत् ठहराया गया, उसीके जाननेमे हमे नाना प्रकारकी कठिनाई बताई जावे, यह सब हमारी दुर्बलता है। जो इन सब कल्पनाओका स्रष्टा है वही आत्मदेव है, उसके आभ्यन्तरमे जो विकृत भाव हो रहे हैं उन्हे त्यागकर हमे अपने चैतन्यमात्र स्वरूपकी रक्षा करना चाहिये। शुद्ध स्वरूपके उत्पन्न करनेकी चेष्टा करना आवश्यक नही। आवश्यक यह है कि उसमे जो विकार आ गया है उसे त्याग देना चाहिये। जैसे जब वस्त्रमे स्नेहका सम्बन्ध हो जाता है तब उस वस्त्रकी धूलि आदिके सम्बन्धसे मलिनावस्था हो जाती है। उस समय जो बुद्धिमान् मनुष्य हैं वे उस वस्त्रमे परपदार्थके सम्बन्धसे जो स्निग्धता आ गई थी उसे हटाते हैं। उसके हटनेसे वस्त्रकी स्वच्छताका विकास स्वयमेव हो जाता है। इसी तरह आत्मामे परपदार्थके ससर्गसे जो राग-द्वेष-मोहरूप मलिन परिणति हो रही है तथा जिसके द्वारा यह आत्मा अनन्त ससारके दु खोका पात्र बन रहा है, सर्वप्रथम उसी मलिन परिणतिको त्यागना चाहिये। उसके जाते ही देखोगे कि आत्मा स्वय शान्तिका पिण्ड है, शान्ति कहीसे आती नही है, दुग्धमे मक्खन क्या कहीसे आता है? उसके फोक भागको निकाल दो, वह वस्तु तो उसमे स्वय विद्यमान है। व्यर्थ दु खी होनेसे कोई तत्त्व निकलने वाला नही है।

यहाँ आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके लिये छह माह तक अभ्यास करनेकी जो बात कही गई है वह उत्कृष्टताकी अपेक्षासे है। वैसे अन्तर्मुहूर्तके अभ्याससे भी उसका विकास हो जाता है। यह आत्मा अनादि कालसे परपदार्थोंके सहवाससे स्वकीय तत्त्वकी ओर लक्ष्य नही देता, यही उसके आत्मतत्त्वकी अनुपलब्धिका कारण है। अत स्वकीय तत्त्वकी ओर लक्ष्य देनेका प्रयास करना चाहिये ॥ ४४ ॥

आगे शिष्यका प्रश्न है कि ये अध्यवसानादि भाव भी तो चेतनानुयायी प्रतिभासमान होते हैं, अतः इन्हे पुद्गल कैसे माना जावे ? इसका उत्तर देते है—

अट्ठविहं पि य कम्म सव्व पुग्गलमय जिणा विंति ।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥४५॥

अर्थ—आठो प्रकारके सभी कर्म पुद्गलमय हैं ऐसा जिनेन्द्र भगवान् कहते है। उदयमें आते हुए जिन कर्मोका फल दु ख है ऐसा कहा जाता है ॥

विशेषार्थ—अध्यवसानादिक भावोका जनक जो आठ प्रकारका कर्म है वह सबका सब पुद्गलमय है, ऐसा सकलज्ञ—सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेवका कथन है। जब इस कर्मके विपाकका काल आता है तब उससे जो फल प्राप्त होता है वह अनाकुलतालक्षण सुखरूप आत्मस्वभावसे विलक्षण होनेके कारण दु ख कहा जाता है। अर्थात् ये कर्म जब विपाककालमे अपना रस देते है तब आत्मा दु खी हो जाता है। आकुलतारूप लक्षणसे युक्त यह अध्यवसानादिक भाव भी इसी दु खमे गर्भित है। इसलिये इनमे चेतनाके अन्वयका विभ्रम होनेपर भी ये आत्माके स्वभाव नही है किन्तु पुद्गलस्वभाव हैं। परमार्थसे आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा है परन्तु अनादि कालसे इसके कर्मोका सम्बन्ध चल रहा है। उन कर्मोका उदय होनेपर नाना प्रकारके आकुलतामय परिणाम द्वारा दु खी हो जाता है। इसीसे ये जो अध्यवसानादिक भाव है वे सब दु खमय हैं। यद्यपि इनमे चेतनपनका विभ्रम होता है तो भी तत्त्वदृष्टिसे ये चेतन नही है, कर्मजन्य है। अतएव निमित्तकी मुख्यतासे पुद्गल हैं ॥ ४५ ॥

अब यहाँ पर यह आशङ्का होती है, यदि ये अध्यवसानादिक भाव पुद्गलके है तो सर्वज्ञके आगममे इन्हे जीव-भाव कैसे कहा ? इसके उत्तरमे आचार्य गाथासूत्र कहते है—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादयो भावा ॥४६॥

अर्थ—ये अध्यवसानादिक सब भाव जीव है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्ने जो उपदेश कहा है वह व्यवहारनयका मत है अर्थात् श्री जिनेन्द्रदेवने अध्यवसानादिक सम्पूर्ण भावोको व्यवहारनयसे जीवके हैं, ऐसा कहा है।

विशेषार्थ—ये सम्पूर्ण अध्यवसानादिक भाव जीव हैं, ऐसा जो समस्त पदार्थोंके जानने वाले सर्वज्ञ भगवान्ने कहा है वह व्यवहारनयका मत है। यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तो भी जिस प्रकार म्लेच्छोको समझानेके लिये म्लेच्छ भाषाका अङ्गीकार करना उचित है उसी प्रकार व्यव-

हारी जीवोको परमार्थका प्रतिपादक होनेसे तीर्थकी प्रवृत्तिके निमित्त अपरमार्थ होनेपर भी व्यवहारनयका दिखलाना न्यायसगत है। अर्थात् व्यवहारनय सर्वथा असत्य नही है। अत उसके आलम्बनसे पदार्थका प्रतिपादन करना उचित है। अन्यथा व्यवहारके विना परमार्थनयसे जीव शरीरसे सर्वथा भिन्न दिखाया गया है, इस दशामे जिस प्रकार भस्मका नि शङ्क उपमर्दन करनेसे हिंसा नही होती उसी प्रकार त्रस-स्थावरजीवोका नि शङ्क उपमर्दन करनेसे हिंसा नही होगी और हिंसाके न होनेसे वन्धका अभाव हो जायगा, वन्धके अभावसे ससारका अभाव हो जायगा। इसके अतिरिक रागी, द्वेषी और मोही जीव वन्धको प्राप्त होता है उसे ऐसा उपदेश देना चाहिये कि जिससे वह राग, द्वेप, मोहसे छूट जावे, यह जो आचार्योंने मोक्षका उपाय वताया है वह व्यर्थ हो जावेगा, क्योकि परमार्थसे जीव, राग, द्वेप, मोहसे भिन्न ही दिखाया जाता है। जव भिन्न है तव मोक्षके उपाय स्वीकार करना असगत होगा और इस तरह मोक्षका भी अभाव हो जायगा[१]।

भावार्थ—परमार्थनयका यदि सर्वथा यह आशय लिया जाय कि जीव शरीर और रागादिकसे सर्वथा भिन्न है, तो जैसे पुद्गलके घातसे हिंसा नही होती उसी तरह एकेन्द्रिय, विकलत्रय तथा असज्ञी-सज्ञी जीवके घातसे भी हिंसा नही होगी और हिंसाके अभावमे वन्ध भी नही होगा। इसी तरह रागादि तो जीवके सर्वथा हैं ही नही, यह माना जाय तो रागादिकके निवारणके लिये व्रत, तपश्चरण आदिका जो उपदेश है वह सर्वथा विफल होगा। मोक्षके कारणोका अभाव होनेसे मोक्षका भी अभाव हो जायगा, अत व्यवहारनयसे आत्माका ही शरीर है और अशुद्ध निश्चयनयसे रागादिक आत्माके ही चारित्रगुणके विकार हैं। द्रव्यप्राण—पञ्च इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय ये तीन वल, श्वासोच्छ्वास तथा आयु ये यथासम्भव एकेन्द्रियादि जीवोंके जानना चाहिये। अर्थात् एकेन्द्रियके चार प्राण होते है—स्पर्शनेन्द्रिय, कायवल, आयु और श्वासोच्छ्वास। द्वीन्द्रिय जीवके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ, कायवल और वचन बल तथा आयु और श्वासोच्छ्वास ये छह प्राण होते हैं, त्रीन्द्रिय जीवके उक्त छह तथा घ्राणेन्द्रिय इस तरह सात प्राण होते हैं, चतुरिन्द्रिय जीवके उक्त सात तथा चक्षुरिन्द्रिय इस तरह आठ प्राण होते हैं, असज्ञी पञ्चेन्द्रियके श्रवणेन्द्रिय और होनेसे नव प्राण होते हैं और सज्ञी पञ्चेन्द्रियके मनोवल अधिक होनेसे दश प्राण

---

१ व्यवहारो हि व्यवहारिणा म्लेच्छभाषेव म्लेच्छाना परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्त दर्शयितु न्याय्य एव, तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणा भस्मन इव नि शङ्कमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद्भवत्येव वन्धस्याभाव । तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो वध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेपमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभाव ॥ ४६ ॥ —अमृतचन्द्राचार्यकृतात्मख्याति-टीका ।

यद्यप्यय व्यवहारनयो वहिर्द्रव्यालम्बनत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिवहिर्द्रव्यालम्बनरहितविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्वावलम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद् दर्शयितुमुचितो भवति। यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्तीति मत्वा नि शङ्कोपमर्दन कुर्वन्ति जना । ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येक दूषण, तथैव शुद्धनयेन रागद्वेपमोहरहित पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठान कोऽपि न करोति ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीय च दूषणम्। तस्माद् व्यवहारनयव्याख्यानमुचित भवतीत्यभिप्राय. ॥ ४६ ॥ —तात्पर्यवृत्ति ।

होते हैं। व्यवहारमे इन प्राणोके सयोगसे जीव ससारमे जीता है और इनका वियोग होनेसे मरण अवस्थाको प्राप्त होता है। निश्चयसे सुख, सत्ता, चैतन्य और वोध ये प्राण जीवके हैं।

अब विचार करो, जब ये दश प्राण पुद्गलसे जायमान होनेके कारण पुद्गलके ही हैं तब इनके घातसे आत्माका घात कैसे माना जावे ? और आत्माका घात न होनेमे हिंसाका मानना निरर्थक है। पर यह कहना या मानना ठीक नही है क्योकि इनके घातमे सक्लेश परिणाम होते है और वे ही सक्लेश परिणाम हिंसाके कारण है। यह प्राण तो अतिसान्निध्यकी वस्तु है, पुत्रादिकोंके वियोगमे जीवोके आताप परिणाम देखे जाते हैं। अथवा पुत्रादि भी दूर रहो, धनादि पदार्थोंके नष्ट होने पर आत्मा दु खी होता है। परमार्थसे हिंसाका कारण, हिंसा करने वालेका कपायभाव है। परकी हिसा हो या न हो, प्रमत्तयोगके सद्भावमे हिसा होती हे। अतएव श्रीगुरुओने लिखा है[1]—जीव मरो, चाहे मत मरो, जिनकी अयत्नाचारसे प्रवृत्ति होती है उनके नियमसे हिंसा होती है और जहाँ पर यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति है वहाँ बाह्यमे जीवका घात हो अथवा न हो, हिंसा नही होती। जैसे तपोधन यतीन्द्र ईर्यासमितिपूर्वक गमन कर रहे हैं, चार हाथ प्रमाण पृथिवीको सावधानतापूर्वक देख कर पैर उठाते हैं उस समय यदि कालका प्रेरा सूक्ष्म जीव उनके पगतलके नीचे दवकर मरणको भी प्राप्त हो जावे तो भी तपोधन यतीन्द्र हिंसाके भागी नही, क्योकि उनके प्रमाद नही है ॥ ४६ ॥

अब किस दृष्टान्तसे इस व्यवहारकी प्रवृत्ति हुई ? यही कहते है—

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो ।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ॥४७॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाण ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो ॥४८॥
(जुगलं)

अर्थ—जिस तरह जहाँ पर सेनाका समुदाय निकलता है वहाँ पर व्यवहारसे यह कथन होता है कि यह राजा निकला। निश्चयसे विचार किया जाये तो सेनासमुदायसे राजा भिन्न पदार्थ है परन्तु व्यवहारसे ऐसा कथन होता है कि राजा निकला, परमार्थसे राजा एक है। इसी तरह अध्यवसानादिक तो अन्य भाव हैं उनको परमागममे 'जीव हैं' ऐसा व्यवहारसे निरूपण किया है, निश्चयसे विचार किया जावे तो जीव एक ही है।

---

१ मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥ —प्रवचनसार गाथा २१७ ।

२ उच्चालयम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए ।
आवाधेज्ज कुलिंग मरिज्ज त जोगमासेज्ज ॥ १ ॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बधो सुहुमो वि देसिदो समये ।
मुच्छा परिग्गहो च्चिय अज्झप्पमाणदो दिट्ठो ॥ २ ॥ —प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति ॥

विशेषार्थ—जैसे—'यह राजा पञ्च योजनके विस्तारको व्याप्त कर निकल रहा है' इस कथनमे निश्चयसे परामर्श किया जावे तो एक राजाका पञ्च योजन क्षेत्रमे विस्तार होना अलीक है, तो भी व्यवहारी मनुष्योका सेनासमूहमें 'राजा' ऐसा व्यवहार होता है और इसलिए व्यवहार-दृष्टिसे वह अलीक भी नही है। परमार्थसे यद्यपि राजा एक है और उसका पञ्चयोजन विस्तारमे सद्भाव होना असभव है तथापि राजा सम्बन्धिनी सेना होनेसे उस स्थलमे यह व्यवहार उपयुक्त ही है। इसी तरह यह जीव सम्पूर्ण रागस्थानोमे व्याप्त होकर रहता है, यह कथन होता है। परन्तु निश्चयसे विचारा जावे तो एक जीवका समस्त रागादिस्थानोमे व्याप्त होकर रहना अलीक है क्योकि परमार्थसे जीव एक ही है। पर्यायदृष्टिसे देखा जावे तो ये अध्यवसानादिक भाव जीवके ही परिणमनविशेप है और जबतक जीवके मोहादिक कर्मोके सम्बन्धसे ससार है तबतक ये सब नियम-से होते रहेगे। फिर भी द्रव्यदृष्टिसे आत्मा एक ही है क्योकि सामान्यदृष्टिमे विशेप कथन गौण रहता है ॥४७, ४८॥

अब शिष्यका यह प्रश्न है कि यदि वे अध्यवसानादिक भाव जीव नही हैं तो एक टङ्कोत्कीर्ण परमार्थ जीवका क्या स्वरूप है ? आचार्य इसका उत्तर देते है—

अरसमरूवमगंध अव्वत्त चेदणागुणमसद्द ।
जाण अलिंगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसठाण ॥४९॥

अर्थ—हे भव्य ! तू आत्माको ऐसा जान कि वह रसरहित है, रूपरहित है, गन्धरहित है, अव्यक्त है अर्थात् स्पर्शरहित है, शब्दरहित है, अलिङ्ग ग्रहण है अर्थात् किसी खास लिङ्गसे उसका ग्रहण नही होता तथा जिसका कोई आकार निर्दिष्ट नही किया गया है ऐसा है किन्तु चेतनागुण-वाला है। आत्मामे यह चेतना ही ऐसा विलक्षण गुण है जो अपना और परका प्रतिभास करा रहा है। इसी गुणकी सामर्थ्य है कि वह स्वपरको बोधित करा रहा है। इसके अभावमे सर्वत्र अन्ध-कार ही है।

विशेषार्थ—वस्तुस्वरूपके प्रतिपादनके दो अङ्ग हैं—पहला पररूपापोहन अर्थात् परसे उसकी व्यावृत्ति करना और दूसरा स्वरूपोपादान अर्थात् अपने रूपका ग्रहण करना। यहाँ जीवपदार्थका वर्णन करते हुए आचार्य महाराजने दोनो अङ्गोको अपनाया है। प्रथम अङ्गमे परकी व्यावृत्ति करते हुए कहा है कि जीव रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द, लिङ्ग तथा आकारसे रहित है क्योकि ये सब पुद्गलके धर्म हैं और दूसरे अङ्गमे स्वरूपका ग्रहण करते हुए कहा है कि वह चेतनागुणसे सहित है अर्थात् चेतना जीवका स्वगुण है और रसादिक साथमे लगे हुए पुद्गलके गुण हैं। इन्ही अङ्गोका स्पष्ट वर्णन इस प्रकार है—

जो आत्मा है वह पुद्गलद्रव्यके गुणोसे भिन्न है क्योकि पुद्गल और जीव भिन्न-भिन्न लक्षण वाले हैं, यही दिखाते है—आत्मा पुद्गलद्रव्यसे भिन्न है क्योकि रसगुण उसमे नही है, जिसमे रसगुण नही वह पुद्गलद्रव्यसे भिन्न है। और आत्मा स्वय रसगुणात्मक नही, इससे पुद्-गलद्रव्यका गुण भी नही है। परमार्थसे आत्मा पुद्गलद्रव्यका स्वामी भी नही है। इसीसे द्रव्येन्द्रियके अवष्टम्भसे रसरूप नही है तथा भावेन्द्रियके अवलम्बनसे भी रसरूप नही है क्योकि आत्मामे स्व-

भावसे क्षायोपशमिक भावका अभाव है। आत्माका जो ज्ञान है वह सकल ज्ञेय साधारण है अर्थात सब ज्ञेयोको जाननेकी सामर्थ्यसे युक्त है। अत अकेले रसज्ञानके सद्भवसे भी रसरूप नही है। ज्ञेयोको जाननेवाला ज्ञान है परन्तु ज्ञेयरूप नही हो जाता। अत रसके ज्ञानका आश्रय होनेपर भी स्वय रसरूप परिणत नही है। इस तरह छह प्रकारसे आत्मा रसरूप न होनेसे अरस है। इसी तरह रूप, गन्ध तथा स्पर्शका भी निषेध जानना चाहिये। अर्थात् आत्मा न रूपस्वरूप है, न गन्धरूप है और न स्पर्शरूप है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श तो पुद्गलके गुण हे। सो जिस प्रकार आत्मा इन पुद्गलके गुणोसे रहित हैं उसी प्रकार पुद्गलद्रव्यके पर्यायरूप भी नही है अर्थात् पौद्गलिक पर्यायोसे रहित हे। आत्मा पुद्गलद्रव्यसे अन्य है अतएव शब्दपर्यायरूप नही है। तथा पुद्गलद्रव्यकी पर्याय आत्मा नही है अतएव शब्दपर्यायरूप नही है। द्रव्यइन्द्रियके अवष्टम्भसे भी शब्दपर्यायरूप नही है क्योकि परमार्थसे पुद्गलद्रव्यका स्वामी नही है। स्वभावसे क्षायोपशामिक भाव आत्मामे नही है अतएव भावेन्द्रियके अवलम्बनसे भी शब्दरूप नही है। आत्माका ज्ञान सकल ज्ञेयसाधारण है अत केवल शब्दज्ञानरूप न होनेसे भी आत्मा शब्दरूप नही है, इस तरह छह प्रकारसे पुद्गलपर्यायसे भी आत्मा भिन्न है। अब अनिर्दिष्ट सस्थानको कहते है—

द्रव्यान्तर जो पुद्गल द्रव्य है उसके द्वारा रचित शरीरके सस्थान (आकार विशेष) के द्वारा आत्माके सस्थानका निरूपण होना अशक्य है। जिनके सस्थान नियत नही ऐसे अनन्त शरीरोमे नियत स्वभावसे रहता है अत शरीरके सस्थानोसे भी उसके सस्थानका निर्णय नही हो सकता है। सस्थाननामकर्मका विपाक पुद्गलोमे है अत इससे भी आत्माके सस्थानका निर्णय नही हो सकता। भिन्न-भिन्न आकारसे परिणमने वाले जो समस्त पदार्थ है वे ज्ञानमे प्रतिबिम्बित होते हैं अर्थात् ज्ञान ज्ञेयोके निमित्तसे तद्-तद् ज्ञेयोंके आकार परिणमन करता है फिर भी अखिल लोकके सवलनसे शून्य रहता है, केवल अपनी निर्मल अनुभूतिरूप ही रहता है अतएव आत्माका कोई निर्दिष्ट सस्थान नही है। इस तरह चार हेतुओसे भी आत्मा अनिर्दिष्ट सस्थान है। अब अव्यक्त बतानेका उपक्रम करते हैं—

षड्द्रव्यात्मक लोक है। वह ज्ञेय है तथा व्यक्त है, उससे जीव अन्य हे अर्थात् लोक व्यक्त है जीव व्यक्त नही, इससे अव्यक्त है। कषायका समूह जो भावकभाव है वह व्यक्त है उससे जीवनामक पदार्थ भिन्न हे, इसलिये भी आत्मा अव्यक्त है। चित्सामान्यमे चैतन्यकी सब व्यक्तियाँ अन्तर्भूत हो जाती हैं इसलिये भी अव्यक्त हे। क्षणिकव्यक्तिमात्रके न होनेसे भी अव्यक्त है। व्यक्त और अव्यक्त ये दोनो भाव मिश्ररूपसे यद्यपि इसमे भासमान होते हैं तो भी केवल व्यक्त भावका स्पर्श नही करता हे इस कारण भी अव्यक्त है। निश्चयसे आत्मा स्वयमेव बाह्य और आभ्यन्तर स्पष्ट रूपसे प्रतिभासमान होनेपर भी व्यक्तरूपको स्पर्श नही करता, इससे भी अव्यक्त है। इस तरह छह हेतुओसे आत्माको अव्यक्त कहा।

इस प्रकार रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, सस्थान तथा व्यक्त स्वरूपके अभाव होनेपर भी स्वसवेदन प्रत्यक्षके बलसे अपने आप प्रत्यक्षका विषय होनेसे केवल अनुमानका गोचर भी नही, इससे आत्मा अलिङ्गग्रहण कहा जाता है अर्थात् आत्मा स्वसवेदन प्रत्यक्षका विषय है तब उसका लिङ्ग द्वारा अनुमान करना व्यर्थ है।

इस तरह परापोहन अर्थात् परद्रव्यकी व्यावृत्तिपूर्वक जीवद्रव्यका वर्णन कर अब स्वरूपोपादान अर्थात् स्वकीयगुणग्रहणपूर्वक जीवद्रव्यका वर्णन करते है—

वह जीवद्रव्य चेतनागुणसे सदा अन्तरङ्गमे प्रकाशमान है, इससे चेतनागुणवाला है। वह चेतनागुण सम्पूर्ण एकान्तवादियोकी समस्त विप्रतिपत्तियो—विरोधोका निराकरण करनेवाला है, उसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानियोको सौंप दिया है, सम्पूर्ण लोकालोकको ग्रासीभूत कर अर्थात् अपने ज्ञानका विषय बनाकर बहुत भारी तृप्तिके भारसे मन्थर हुएकी तरह वह अपने स्वरूपसे किञ्चिन्मात्र भी चलायमान नही होता तथा अन्य द्रव्यसे असाधारण है, अर्थात् आत्माके अतिरिक्त अन्य द्रव्योसे इसका अस्तित्व नही, अत जीवका स्वभावभूत होकर स्वय अनुभवमे आ रहा है, ऐसे चेतनागुणके द्वारा ही आत्माका अस्तित्व है। अरस-अरूपत्व आदि धर्म तो जीवके सिवाय धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्यमे भी विद्यमान हैं, अत उनके द्वारा पुद्गलद्रव्यसे व्यावृत्ति होनेपर भी अन्य अजीव द्रव्योसे व्यावृत्ति न होनेसे जीवका अस्तित्व सिद्ध नही किया जा सकता। जीवका अस्तित्व तो एक चेतनागुणके द्वारा ही होता है। इस तरह चेतनागुणसे युक्त, निर्मल प्रकाशका धारक, एक टङ्कोत्कीर्ण भगवान् आत्मा ज्योति स्वरूप विराजमान है ॥४९॥

यही भाव श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशाके द्वारा प्रकट करते हैं—

मालिनीछन्द

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्त
स्फुटतरमवगाह्य स्व च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरि चरन्त चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम् ॥३५॥

अर्थ—हे भव्य जीवो! चैतन्यशक्तिसे रहित समस्त अन्यभावोका शीघ्र ही परित्याग कर तथा चैतन्यशक्तिरूप निजस्वभावमे अच्छी तरह अवगाहन कर समस्त विश्वके ऊपर विचरण करते हुए अर्थात् सबसे पृथक् अनुभवमे आते हुए परमात्मस्वरूप अविनाशी आत्माका अपनी आत्मामे ही अनुभव करो।

भावार्थ—हे भव्यलोको! केवल एक अपने निजात्माका निज आत्मामे अनुभव करो। उसके लिये चिच्छिक्तिसे भिन्न जो भाव हैं—चाहे वे द्रव्यरूप हो, चाहे गुणरूप हो अथवा चाहे कर्मनिमित्तसे जायमान औदयिक आदि विभावरूप हो—उन सबका शीघ्र ही त्याग करना आवश्यक है तथा चिच्छिक्तिमात्र अर्थात् रागादिककी पुष्टिसे रहित मात्र ज्ञायकशक्तिरूप निजस्वरूपमे अच्छी तरह अवगाहन करना—उसीका मनन करना अपेक्षित है। वह निज आत्मा स्वपरावभासक होनेसे समस्त लोकके ऊपर विचरण करता है अर्थात् उसकी सत्ता सबसे पृथक् अनुभूतिमे आती है, वह परमात्मस्वरूप है अर्थात् पर्यायार्थिकनयसे यद्यपि एकेन्द्रियादि पर्यायोमे परिभ्रमण करता हुआ रागी, द्वेषी और अज्ञानी हो रहा है तथापि द्रव्यदृष्टिसे वह परमात्माके समान सर्वज्ञ-वीतराग है तथा अनन्त अविनाशी है ॥३५॥

अनुष्टुप्छन्द

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ता सर्वेऽपि भावा पौद्गलिका अमी ॥३६॥

अर्थ—चैतन्यशक्तिसे व्याप्त है सर्वस्वसार जिसका ऐसा जीव तो इतने मात्र है और इसके सिवाय जितने भी भाव है वे सभी पुद्गमय हैं।

भावार्थ—आत्माका सर्वस्वसार चेतनाशक्तिसे व्याप्त है। इससे शून्य जो भी भाव है वे सब पुद्गलजन्य होनेसे पुद्गलके ही हैं उनमे आत्माका अस्तित्व खोजना शशश्रृङ्गके तुल्य है। यहाँ ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म तथा शरीर तो स्पष्ट ही पुद्गलद्रव्यके परिणमन होनेसे पौद्गलिक है परन्तु रागादिक भावकर्मको भी पुद्गलके निमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण पौद्गलिक कहा है। यह निमित्तकी मुख्यतासे कथन है। उपादानकी मुख्यतासे वे आत्माके ही विकारी भाव हैं ॥३६॥

आगे इसीका विशेष विवरण आचार्य छह गाथाओमे कहते हैं—

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गधो ण वि रसो ण वि य फासो ।
ण वि रूवं ण सरीर ण वि संठाण ण संहणण ॥५०॥
जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्म णोकम्म चावि से णत्थि ॥५१॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्डया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥५२॥
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥५३॥
णो ठिदिबधट्ठाणा जीवस्स ण सकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥५४॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥५५॥

(षट्कम्)

अर्थ—जीवके न वर्ण है, न गन्ध है, न रस है, न स्पर्श है, न रूप है, न शरीर है, न सस्थान है, न सहनन है। जीवके न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न प्रत्यय (आस्रव) हैं, न नौकर्म है। जीवके न वर्ग है, न वर्गणा है, न स्पर्धक हैं, न अध्यात्मस्थान हैं, न अनुभागस्थान हैं। जीवके न कोई योगस्थान हैं, न बन्धस्थान है, न उदयस्थान हैं, न मार्गणास्थान हैं। जीवके न स्थितिबन्धस्थान है, न सक्लेशस्थान है, न विशुद्धिस्थान हैं, न सयमलब्धिस्थान है। जीवके न जीवस्थान हैं और न गुणस्थान हैं क्योकि ये सब पुद्गलद्रव्यके परिणमन है।

विशेषार्थ—जो वस्तु जिसका परिणाम होती है, वह उसी रूप होती है, यह नियम है। अत ये वर्णादिक जब पुद्गलके परिणाम है तब पुद्गलके ही होगे, इन्हे जीव मानना न्यायपथका अनुसरण नही करना है।

जो काला, हरा, पीला, लाल, सफेद वर्ण है वह रूपगुणका परिणमनविशेष है। रूपगुण

पुद्गलका गुण है अत ये सब रूपगुणके पर्यायरूपसे अभिन्न है और रूप पुद्गलद्रव्यका गुण है अत वह पुद्गलका ही है, जीवका नही है, क्योकि पुद्गलद्रव्यका परिणमनमय होनेसे वह निज अनुभूति-से भिन्न है। इस लिए आत्माके ज्ञानमे रूप भासमान होता है क्योकि ज्ञेय है। जो ज्ञेय है वह ज्ञान नही होता, ज्ञेयनिमित्तिक जो ज्ञानका परिणमन होता है उस परिणमनका ज्ञानके साथ तादात्म्य है, उसीका अनुभव ज्ञानमे होता है, किन्तु जो बाह्य ज्ञेय है वह ज्ञानसे अत्यन्त भिन्न है उसका अनुभव ज्ञानमे नही होता, परन्तु मोही जीवोको बाह्य ज्ञेयका ही अनुभव ज्ञान द्वारा होता है। जो सुगन्ध और दुर्गन्ध है वह भी जीव नही है क्योकि पुद्गलद्रव्यका परिणाम है, अतएव अनुभूतिसे भिन्न है। कटुक, कषाय, तिक्त, अम्ल, मधुररूप रसका जो परिणमन हो रहा है वह सब परिणमन जीव नही है क्योकि वह पुद्गलद्रव्यका परिणाम है। अत अनुभूतिसे भिन्न है। जो स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण, गुरु, लघु, मृदु, कठिन स्पर्श हैं वे सब जीव नही हैं क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम है, अत जीवकी अनुभूतिसे भिन्न हैं। जो स्पर्शादि सामान्यपरिणाममात्ररूप है वह भी जीवद्रव्य नही है, क्योकि पुद्गलद्रव्यका परिणाम है अतएव अनुभूतिसे भिन्न है। जो औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण शरीर हैं ये सब जीव नही है क्योकि इनका उत्पाद पुद्गलद्रव्यसे होता है, अतएव आत्माकी अनुभूतिसे भिन्न है। जो समचतुरस्र, न्यग्रोध, परिमण्डल, स्वाती, कुब्जक, वामन, हुण्डक सस्थान हैं वे सब जीव नही हैं, क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम हैं, अतएव अनुभूतिसे भिन्न हैं। जो वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलक और स्फाटिक सहनन हैं वे सब जीव नही है, क्योकि पुद्लद्रव्यके परिणामविशेष है, अत अनुभूतिसे भिन्न हैं।

जो प्रीतिरूप परिणाम है वह राग है। वह भी जीव नही है क्योकि पौद्गलिक मोहकर्मके उदयसे जायमान होनेसे पुद्गलका परिणाम है, अतएव अनुभूतिसे भिन्न है। अप्रीतिरूप जो भाव है वह द्वेष है। वह भी जीव नही है क्योकि द्वेषरूप मोहप्रकृतिके उदयसे होता है, अतएव पुद्गल है और अनुभूतिसे भिन्न है। तत्त्वकी जो अप्रतीतिरूप जो मोह है वह भी जीव नही है, क्योकि पुद्गलात्मक मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जायमान है, अत अनुभूतिसे भिन्न है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योगरूप जो प्रत्यय हैं वे ही कर्मबन्धके निमित्त हैं अतएव इन्हे आस्रव कहते हैं। ये जो मिथ्यात्व आदि प्रत्यय हैं वे जीव नही हैं, क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणामविशेष हैं, अत अनुभूतिसे भिन्न है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप जो आठ कर्म हैं वे भी जीव नही हैं क्योकि ये सब पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेसे अनुभूतिसे भिन्न हैं। तथा छह पर्याप्ति और तीन शरीरके योग्य वस्तुभूत जो नोकर्म हैं वे जीव नही हैं, क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न हैं।

अविभागप्रतिच्छेदोंके धारक कर्मपरमाणुओंका नाम वर्ग है। वह वर्ग भी जीव नही है क्योकि पुद्गलद्रव्यात्मक होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न है। वर्गोंके समुदायरूप जो वर्गणा है वह जीव नही है क्योकि पुद्गलद्रव्यका परिणाम होनेसे अनुभूतिसे भिन्न है। वर्गणाओंका समुदायरूप जो स्पर्द्धक है वह भी जीव नही है क्योकि पुद्गलद्रव्यका परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न है। स्वपरमे एकत्वका अध्यास—मिथ्या आरोप होने पर विशुद्ध चैतन्य परिणामसे भिन्न जो अध्यात्म स्थान हैं वे सब जीव नही हैं क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न हैं। और भिन्न-भिन्न प्रकृतियोके रसपरिणामरूप लक्षणसे युक्त जो अनुभागस्थान हैं वे भी जीव नही हैं क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न हैं।

काय, वचन और मनोवर्गणाके निमित्तसे आत्मप्रदेशोमे होने वाले परिस्पन्दको योगस्थान कहते है। ये सब योगस्थान जीव नही हैं क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न हैं। भिन्न-भिन्न प्रकृतियोके परिणामरूप जो बन्धस्थान हैं वे सब जीव नही है क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न है। अपना फल प्रदान करनेमे समर्थ कर्मोंकी अवस्थारूप जो उदयस्थान हैं वे सब जीव नही हैं क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणामके होनेके अनुभूतिसे भिन्न हैं। और गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सज्ञित्व औरके भेदसे जो चौदह प्रकारके मार्गणास्थान हैं वे सब जीव नही हैं क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न है।

भिन्न-भिन्न स्वभाववाली कर्मप्रकृतियोका कालान्तरमे स्थित रह सकना जिनका लक्षण है ऐसे स्थितिबन्धान जीव नही हैं क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न हैं। कषायके उदयकी तीव्रतारूप लक्षणसे युक्त जो सक्लेशस्थान हैं वे सब जीव नही हैं क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न है। कपायके उदयकी मन्दतारूप लक्षणसे सहित जो विशुद्धिस्थान है वे सब भी जीव नही हैं क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न हैं। और चारित्रमोहके विपाककी क्रमसे निवृत्ति होना ही जिनका लक्षण है ऐसे सब सयमलब्धिस्थान जीव नही है क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न हैं।

बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सज्ञी पञ्चेन्द्रिय और असज्ञी पञ्चेन्द्रिय इन सातके पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे चौदह जीवस्थान होते है। इन्हे ही जीवसमास कहते है, ये सब जीव नही हैं, क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न हैं। तथा मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यदृष्टि, सयतासयत, प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसयत, अपूर्वकरणोपशमक-क्षपक (उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणीवाला अपूर्वकरण), अनिवृत्तिबादरसाम्परायोपशमक-क्षपक (उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणीवाला अनिवृत्तिकरणपरिणामोसे युक्त बादरसाम्पराय), सूक्ष्मसाम्परायोपशमक-क्षपक (उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणीवाला सूक्ष्मसाम्पराय), उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली ये जो चौदह गुणस्थान है वे जीव नही है, क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न है। ये सव वर्णादिक जीवके क्यो नही है ? इसका उत्तर देते हुए आचार्य महाराजने कहा है क्योकि ये सब पुद्गलद्रव्यके परिणाम हैं अर्थात् इनमे कितने ही साक्षात् पुद्गलद्रव्यके परिणमन हैं और कितने ही पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे जायमान आत्माके विकारीभाव हैं। जिस प्रकार अग्निके निमित्तसे होनेवाली जलकी उष्णता यथार्थमे अग्निकी कही जाती है उसी प्रकार पुद्गलकर्मके निमित्तसे होनेवाले रागादिक पुद्गलके कहे जाते है ॥ ५०-५५ ॥

अब वर्णादिकका पृथक्पन अमृतचन्द्र स्वामी कलशाके द्वारा प्रकट करते है—

शालिनीछन्द

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा
भिन्ना भावा सर्व एवास्य पुस ।
तेनैवान्तस्तत्त्वत पश्यतोऽमी
नो दृष्टा स्युर्दृष्टमेक पर स्यात् ॥ ३७ ॥

अर्थ—वर्णादिक अथवा रागमोहादिक सभी भाव इस आत्मासे भिन्न हैं, इसलिये परमार्थसे अन्त करणमे अवलोकन करनेवाले पुरुषको ये सब भाव नही दिखते, केवल एक आत्मतत्त्व ही उसे दिखाई देता है।

भावार्थ—वर्णादिक व रागमोहादिक जितने भी भाव ऊपर कहे गये है वे सब जीवके नही हैं क्योकि जीवसे भिन्न हैं। यही कारण है कि जो अन्तर्दृष्टिसे देखनेवाले है अर्थात् परमार्थसे जीवके स्वरूपको देखते हैं वे इन सब भावोको जीवमे नही देखते। जो जीवकी सब अवस्थाओमे पाये जावें, वही तो जीवके भाव हैं, अतएव जीवकी सब अवस्थाओमे व्याप्त होकर रहनेवाला केवल एक चैतन्यभाव है उसीको परमार्थसे देखते हैं ॥ ३७ ॥

अब यहाँपर यह आशङ्का होती है कि ये भाव यदि जीवके नहीं हैं तो अन्य सिद्धान्त-शास्त्रोमे ये जीवके क्यो कहे गये हैं ? इसका उत्तर स्वयं आचार्य नीचेकी गाथामें देते हैं—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।
गुणठाणता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥५६॥

अर्थ—वर्णको आदि लेकर गुणस्थान पर्यन्तके ये भाव व्यवहारनयसे जीवके हैं, परन्तु निश्चयनयसे कोई भी जीवके नही है।

विशेषार्थ—यहाँ पर व्यवहारनय पर्यायके आश्रय है, अतएव इसकी दृष्टिमे इस जीवका अनादिकालसे पुद्गलद्रव्यके साथ वन्ध होनेके कारण जिस तरह कुसुम्भरङ्ग सूती वस्त्रका कहा जाता है उसी तरह औपाधिकभावोका अवलम्बनकर उपर्युक्त सब भाव जीवके कहे जाते हैं, क्योकि व्यवहारनय परकीय भावोको परका कहता है और निश्चयनय केवल द्रव्यके आश्रित होनेसे सम्पूर्ण परभावोका परमे निषेध करता है। अत निश्चयनयकी दृष्टिमे ये वर्णादिसे लेकर गुणस्थानपर्यन्त जितने भी भाव हैं, वे सब जीवके नही हैं। इस तरह वर्णको आदि लेकर गुण-स्थानपर्यन्त तकके भाव व्यवहारनयसे जीवके हैं, परन्तु निश्चयनयसे जीवके नही है।

परमागममे पदार्थको द्रव्य और पर्यायरूप कहा गया है। इसीको दर्शनशास्त्रमे सामान्य-विशेषात्मक कहा जाता है क्योकि द्रव्य सामान्य है और पर्याय विशेष है। जो नय द्रव्यकी प्रधानता-से वर्णन करता है वह द्रव्यार्थिकनय कहलाता है। इसीको निश्चयनय कहते हैं। और जो पर्यायकी प्रमुखतासे वर्णन करता है वह पर्यायार्थिकनय कहलाता है। इसीको व्यवहारनय कहते हैं। पर्याय दो प्रकारकी होती हैं, एक स्वनिमित्तक और दूसरी स्वपरनिमित्तक। कालादि सामान्यनिमित्तो-की विवक्षा न करनेपर धर्म, अधर्म आदि सभी द्रव्योका अनादिकालसे जो परिणमन चला आ रहा है वह स्वनिमित्तक पर्याय है और पुद्गलद्रव्यके सयोगसे जीवमे जो रागादिकरूप परिणमन होता है वह, तथा जीवके सयोगसे पुद्गलमे जो कर्मादिरूप परिणमन होता है वह स्वपरनिमित्तक पर्याय है। इनमे स्वनिमित्तक पर्याय तो द्रव्यकी है ही, परन्तु व्यवहारनय परनिमित्तक (विभाव) पर्यायको भी द्रव्यकी है ऐसा वर्णन करता है। जिस प्रकार कुसुम्भरङ्गसे रगा हुआ वस्त्र लाल दिखता है, यहाँ जो लालिमा है वह वास्तवमे कुसुम्भरङ्गकी है, परन्तु व्यवहारमे वस्त्रको लाल कहा जाता है। अर्थात् लालिमा वस्त्रकी है ऐसा निरूपण किया जाता है। इसी प्रकार रागादिक-द्रव्यकर्मके उदयसे आत्मा राग-द्वेषी देखा जाता है। यहाँ राग और द्वेष, द्रव्यकर्मके उदयसे जाय-

मान होनेके कारण द्रव्यकर्मके हैं परन्तु व्यवहारमे आत्माको रागी-द्वेषी कहा जाता है अर्थात् रागद्वेष आत्माके हैं ऐसा निरूपण किया जाता है। परन्तु जब द्रव्यार्थिकनय अथवा निश्चयनयकी अपेक्षा विचार किया जाता है तब रागादिक जीवके स्वनिमित्तक परिणमन नही है इसलिए ये जीवके नही हैं, ऐसा निरूपण किया जाता है। अत अन्य शास्त्रोमे जहाँ रागादिकको जीवका कहा गया है वह व्यवहारनयका कथन जानना चाहिये ॥ ५६ ॥

आगे फिर आशङ्का होती है कि ये सब भाव निश्चयसे जीवके क्यो नही है? इसीका आचार्य नीचे लिखी गाथासे उत्तर देते हैं—

एएहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥५७॥

अर्थ—इन वर्णादिकके साथ जीवका सम्बन्ध दूध और पानीके समान जानना चाहिये, क्योकि जीव उपयोगगुणसे अधिक है। अत वर्णादिक जीवके नही हैं।

विशेषार्थ—यद्यपि क्षीर और जलका परस्परावगाहलक्षण सम्बन्ध है और उसे ही देखकर लोग क्षीर और जलको एक मानते है, तो भी क्षीरका कुछ ऐसा विलक्षण स्वाद है कि जो जलमे नही पाया जाता अथवा क्षीरमे क्षीरत्वनामका एक ऐसा असाधारण धर्म है जैसा कि अग्निमे उष्णतागुण होता है। उसी क्षीरत्वनामक असाधारण धर्मके द्वारा क्षीर जलसे भिन्न है। जिस प्रकार अग्निका उष्णताके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है उस प्रकार क्षीरका जलके साथ तादात्म्य सम्बन्ध नही है, अत निश्चयसे क्षीर जल नही है। इसी प्रकार वर्णादिमान् जो पुद्गलद्रव्य है उसीका परिणमन शरीर तथा ज्ञानावरणादि कर्म हैं और इन्हीके निमित्तसे रागादिक औपाधिक भाव होते हैं। इन सबके साथ यद्यपि जीवका परस्परावगाहलक्षण सम्बन्ध अनादिकालसे धारावाहीरूपमे चला आ रहा है और इसीको देखकर अज्ञानी लोग शरीरादि परद्रव्य और जीवको एक मान लेते हैं, परन्तु जैसा उष्णगुणके साथ अग्निका तादात्म्य सम्बन्ध है वैसा शरीरादिकका जीवके साथ तादात्म्य नही है। जीवका स्वलक्षण उपयोगगुण है, उसीके साथ उसका तादात्म्य सम्बन्ध है, यह उपयोगगुण एक जीवद्रव्यमे ही पाया जाता है, अन्य द्रव्योमे नही। इसलिए इस असाधारण गुणके कारण जीवद्रव्य सब द्रव्योसे अतिरिक्त पृथक् अनुभवमे आता है। अत निश्चयनयसे वर्णादिक पुद्गलके परिणाम हैं, जीवके नही ॥ ५७ ॥

आगे प्रश्न होता है कि यदि वर्णादिक जीवके नहीं है तो यह पुरुष काला है, यह गोरा है, यह मोटा है, यह पतला है इत्यादि व्यवहार विरोधको प्राप्त होता है? ऐसा प्रश्न होनेपर आचार्य व्यवहारका अविरोध दिखलाते हैं। अथवा पूर्वोक्त व्यवहारमे जो विरोध आता है उसका लोकप्रसिद्ध दृष्टान्तके द्वारा परिहार करते हैं—

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥५८॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥५९॥

गंध-रस-फास-रूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥६०॥

अर्थ—जिस प्रकार मार्गमे किसी सार्थ—यात्रीसघको लुटता देखकर व्यवहारी लोग कहते हैं कि यह मार्ग लुटता है परन्तु परमार्थसे कोई मार्ग नही लुटता, इसी प्रकार जीवमे कर्म और नोकर्मके वर्णको देखकर 'यह वर्ण जीवका है' ऐसा व्यवहारसे जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है। इस तरह गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर तथा सस्थान आदिक जितने हैं वे सब व्यहारसे जीवके हैं, ऐसा निञ्चयके देखने वाले कहते हैं।

विशेषार्थ—जैसे मार्गमे जाने वाले वनजारोके समूहको लुटता देखकर उपचारसे लोग ऐसा कह देते है कि यह मार्ग लुटता है। यदि निश्चयसे देखा जावे तो मार्ग आकाशके विशेप प्रदेशोमे स्थित पृथिवी आदिका परिणमनविशेप है उसे कोई लूटता नही। ऐसे ही जीवमें अनादि कालसे कर्म और नोकर्मका सम्बन्ध है, उस कर्म और नोकर्मके वर्णको देखकर 'यह जीवका वर्ण है' ऐसा भगवान्‌ने व्यवहारसे कहा है। परन्तु निश्चयसे जीव अमूर्तस्वभाववाला तथा उपयोग गुणसे अधिक है, अत उसका कोई भी वर्ण नही है, यही कहनेमे आता है। इस तरह गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, सस्थान, सहनन, राग, द्वेप, मोह, प्रत्यय, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्घक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबधस्थान, सक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, सयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान ये सब व्यवहारनयसे जीवके हैं, ऐसा अर्हन्त भगवान्‌ने यद्यपि कहा है तो भी निश्चयनयसे जीव नित्य ही अमूर्तस्वभाववाला तथा उपयोग गुणसे अधिक है, अत ये सभी भाव जीवके नही है, क्योकि जीवके साथ इनका तादात्म्य सम्वन्ध नही है किन्तु सयोग सम्बन्ध है जो कि दो द्रव्योमे ही होता है ॥ ५८, ५९, ६० ॥

आगे जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य सम्बन्ध क्यो नहीं है ? इसीका उत्तर देते हैं—

तत्थ भवे जीवाणं ससारत्थाण होंति वण्णादी।
ससारपमुक्काण णत्थि हु वण्णादओ केई ॥६१॥

अर्थ—वर्णादिक, ससारस्थ जोवोके उस ससारमे रहते हुए होते हैं। ससारसे छूटे हुए जीवोके वर्णादिक कोई भी नही हैं।

विशेषार्थ—जब तक जीवोके शरीरका सम्बन्ध है तब तक उन जीवोंके वर्णादिका सम्बन्ध कह सकते हैं। परन्तु जो ससारसे मुक्त हो चुके हैं उनके वर्णादिका सम्बन्ध नही है। अत जीवकी वर्णादिके साथ व्याप्ति मानना सर्वथा अयुक्त है। निश्चयसे जो वस्तु सब अवस्थाओमे उस रूपसे व्याप्त हो और उस स्वरूपकी व्याप्तिसे कभी भी रहित न हो उन दोनोका परस्परमें तादात्म्य सम्बन्ध होता है। जैसे अग्नि सब अवस्थाओमे उष्णगुणके साथ व्याप्त होकर रहती है और उष्ण स्वरूपकी व्याप्तिसे कभी भी शून्य नही होती, इसलिये अग्निका उष्णगुणके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। ऐसे ही पुद्गलद्रव्य सब अवस्थाओमे वर्णादि स्वरूपसे व्याप्त रहता है, किसी भी अवस्थामे वर्णादि रहित नहीं होता, अत पुद्गलद्रव्यका वर्णादिगुणोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। यद्यपि जीवकी ससार अवस्थामे वर्णादिकोंके साथ व्याप्ति है और ससार अवस्थामे वर्णादिकको

के साथ व्याप्ति है और ससार अवस्थामे वर्णादिककी व्याप्तिकी कभी शून्यता भी नही है तो भी जीवकी सव अवस्थाएँ ऐसी नही है जो वर्णादिकको व्याप्तिकी अपेक्षा करती हो, क्योकि मोक्ष जीवकी ऐसी अवस्था है जिसमे वर्णादिकका सम्वन्व नही है। अत यह सिद्ध हुआ कि जीवका वर्णादिकके साथ तादात्म्य सम्बन्ध किसी भी तरह नही है ॥६१॥

आगे, यदि जीवका वर्णादिकके साथ तादात्म्य सम्बन्ध माननेका दुराग्रह है, तो उसमे यह दोष आवेगा यह कहते है—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावा त्ति मण्णसे जदि हि ।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥६२॥

अर्थ—यदि तू ऐसा मानता है कि ये वर्णादिक सब भाव जीव हैं तो तेरे मतमे जीव और अजीवमें कोई विशेपता नही रह जावेगी।

विशेषार्थ—पुद्‌गलके जो वर्ण, रस आदि गुण हैं उनमे क्रमसे अनेक परिणतियोका अविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। जैसे आमका वर्ण अपक्व अवस्थामे हरा रहता है और पक्व अवस्थामे पीला हो जाता है, अपक्व अवस्थामे उसका रस आम्ल रहता है और पक्व अवस्थामे मधुर हो जाता है। इस प्रकार वर्णादिक प्रकट और अप्रकट अवस्थाको प्राप्त हुई अपनी उन-उन परिणतियोसे पुद्‌गलद्रव्यका अनुगमन करते हुए जिस तरह पुद्‌गलद्रव्यका वर्णादिके साथ तादात्म्य सम्बन्ध प्रसिद्ध करते है उसी तरह वर्णादिक भाव, अपनी प्रकट और अप्रकट अवस्थाको प्राप्त हुई उन-उन परिणतियोसे जीवका अनुगमन करते हुए जीवका वर्णादिकके साथ तादात्म्य सम्वन्व प्रसिद्ध करते है ऐसा जिसका अभिप्राय है उसके मतमे शेप द्रव्योसे असाधारण वर्णादिमत्त्व जो पुद्‌गलद्रव्यका लक्षण था उसे जीवद्रव्यने स्वीकृत कर लिया, अत जीव और पुद्‌गलमे अविशेपताका प्रसङ्ग आ जावेगा, अर्थात् दोनो एक समान हो जावेंगे। इस स्थितिमे पुद्‌गलद्रव्यसे भिन्न जीवका अस्तित्व समाप्त हो जानेसे जीवका अभाव हो जायेगा। अत जीवका वर्णादिकके साथ तादात्म्य सम्बन्ध माननेमे मूलोच्छेद दोप आता है ॥६२॥

आगे ससार अवस्थामे यदि जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य माना जावे तो क्या आपत्ति है ? इसका भी गुरु उत्तर देते है—

अह ससारत्थाण जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी ।
तम्हा ससारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥६३॥
एवं पुग्गलदव्व जीवो तहलक्खणेण मूढमदी ।
णिव्वाणमुपगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो ॥६४॥
(जुगल)

अर्थ—यदि तेरे मतमे ससारस्थ जीवोका वर्णादिके साथ तादात्म्य है ऐसा माना जावे, तो ससारस्थ जीव रूपीपनेको प्राप्त हो जावेंगे, ऐसा मानने पर पुद्‌गलद्रव्य ही जीव सिद्ध हुआ और पुद्‌गलके समान लक्षण होनेसे हे मूढमते! निर्वाणको प्राप्त हुआ पुद्‌गल द्रव्य ही जीवपनको प्राप्त हुआ।

विशेषार्थ—ससारावस्थामे जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य है ऐसा जिसका आग्रह है उसके मतमे उस समय वह ससारी जीव अवश्य ही रूपीपनको प्राप्त होता है। और अन्य द्रव्योमे नही पाया जाने वाला रूपीपन किसी द्रव्यका लक्षण है तव उस रूपीपनसे लक्ष्यमाण जो कुछ होता है वह जीव होता है। रूपीपनसे लक्ष्यमाण पुद्गलद्रव्य ही होता है, इस प्रकार स्वयमेव पुद्गलद्रव्य ही जीव होता है अन्य कोई नही। ऐसा होनेपर मोक्ष अवस्थामे भी नित्य स्वीय लक्षणसे लक्षित जो द्रव्य है वह अपनी समस्त अवस्थाओमे अनपायी तथा अनादिनिधन है, अत पुद्गलद्रव्य ही स्वय जीव हुआ, अन्य कोई नही, वही पुद्गलद्रव्य मोक्षको प्राप्त हुआ और ऐसा होनेसे पुद्गलसे भिन्न जीवद्रव्यका अभाव ठहरता है, इस तरह ससारस्थ जीवोका भी वर्णादिके साथ तादात्म्य है ऐसा माननेपर जीवका अभाव होता है, इससे सिद्ध हुआ कि चाहे जीव ससारस्थ हो और चाहे ससारातीत, किसीका भी वर्णादिके साथ तादात्म्य नही है किन्तु ससारस्थ जीवोका वर्णादिके साथ क्षीर-नीरके समान परस्परावगाहरूप सयोग सम्बन्ध है ॥ ६३, ६४ ॥

आगे आचार्य इसका विशेष वर्णन करते हैं—

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा ।
वादर पज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥६५॥
एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं ।
पयडीहिं पुग्गलमईहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ॥६६॥

अर्थ—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रि, पञ्चेन्द्रिय, वादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त जीव ये सव नामकर्मकी प्रकृतियाँ हैं। कारणभूत इन प्रकृतियोंके द्वारा ही जीवस्थान रचे गये हैं। अत पुद्गलमयी उन प्रकृतियोंके द्वारा रचे गये जीवस्थान जीवके कैसे कहे जा सकते हैं ?

विशेषार्थ—निश्चयनयसे कर्म और करणमे अभिन्नता है। जो जिसके द्वारा रचा जाता है वह वही होता है। जैसे सुवर्णके द्वारा रचा गया सुवर्णपत्र सुवर्ण ही होता है अन्य नही। जब ऐसी वस्तुकी सीमा है तव वादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, असज्ञी और सज्ञी, पर्याप्त और अपर्याप्त नामक नामकर्मकी पुद्गलमय प्रकृतियोंसे रचे गये जीवस्थान पुद्गल ही होगे, जीव नही। नामकर्मकी प्रकृतियोकी पुद्गलात्मकता आगमसिद्ध है तथा इस अनुमानसे भी सिद्ध है—'नामकर्मकी प्रकृतियाँ पुद्गलात्मक हे क्योकि उनका दिखाई देने वाला शरीरादि मूर्तिक कार्य पुद्गलात्मक हैं'। इसी प्रकार गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शरीर, सस्थान और सहनन भी पुद्गलात्मक नामकर्मकी प्रकृतियोंके द्वारा रचे जानेसे पुद्गलसे अभिन्न ही हैं। इससे यह निष्कर्ष निकला कि वर्णादिक जीव नही है ॥ ६५, ६६ ॥

इसी वातको श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशा द्वारा कहते हैं—

उपजातिछन्द

निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित्
तदेव तत्स्यान्न कथचनान्यत् ।

रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं
पश्यन्ति रुक्मं न कथंचनासिम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—इस संसारमे जो वस्तु जिसके द्वारा रची जाती है वह उसी रूप होती है, अन्य रूप किसी तरह नहीं होती। जैसे सुवर्णसे बनी हुई तलवारकी म्यानको लोग सुवर्णकी देखते है, तलवारको सुवर्णकी किसी तरह नही देखते।

भावार्थ—तलवारकी म्यान सुवर्णकी बनी है और तलवार लोहेकी, तो ससारमे लोग म्यानको सुवर्णकी और तलवारको लोहेकी ही देखते है क्योकि ऐसा नियम है कि जो वस्तु जिससे बनती है वह उसी रूप होती है। यहाँ प्रकृतमे वर्णादिक पुद्‌गलमय नामकर्मकी प्रकृतियोसे रचे गये हैं इसलिये वे पुद्‌गलके ही है। चैतन्यका पुञ्ज जीव पुद्‌गलमय प्रकृतियोसे नही रचा गया है, इसलिये वह उनसे भिन्न स्वतन्त्र द्रव्य है ॥ ३८ ॥

पूर्व कलशमे वस्तूत्पत्तिकी सीमा बनाकर उससे प्रकृत अर्थको सिद्ध करते हुए दूसरा कलश कहते है—

उपजातिछन्द

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु
निर्माणमेकस्य हि पुद्‌गलस्य।
ततोऽस्त्विदं पुद्‌गल एव नात्मा
यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥ ३९ ॥

अर्थ—वर्णको आदि लेकर गुणस्थान पर्यन्तकी यह सभी सामग्री एक पुद्‌गलद्रव्यकी रचना है, ऐसा आप जानें। अतएव यह सब पुद्‌गल ही है, जीव नही हैं, क्योकि विज्ञानघन जीव उनसे भिन्न है।

भावार्थ—यहाँ वर्णादि परपदार्थोसे शुद्ध आत्मतत्त्वको पृथक् सिद्ध करनेके लिये आचार्यने कहा है कि यह वर्णादिक सामग्री पुद्‌गलकी है, विज्ञानघन जीव इससे भिन्न पदार्थ है, अतः दोनोको भिन्न-भिन्न समझकर भेदविज्ञानको पुष्ट करो ॥ ३९ ॥

आगे इससे अन्य जितना भी है वह सब व्यवहार है, ऐसा कहते है—

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥६७॥

अर्थ—जो पर्याप्त और अपर्याप्त तथा सूक्ष्म और बादर ये जो शरीरकी जीवसज्ञाएँ सूत्रमे कही गई हैं वे व्यवहारसे कही गई हैं।

विशेषार्थ—बादर और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारके एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी, सज्ञीके भेदसे दो प्रकारके पञ्चेन्द्रिय, इन सातके पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे दो-दो भेद होते हैं, अतः सब मिलाकर चौदह जीवस्थान होते हैं। ये जीवस्थान शरीरकी सज्ञाएँ है, परन्तु सूत्र—आगममे इन्हे जीवकी सज्ञाएँ कहा है, सो यह परकी प्रसिद्धिसे घीके घडेके समान

व्यवहार है। परन्तु यह व्यवहार अप्रयोजनार्थ है। यहाँ अप्रयोजनार्थका अर्थ सर्वथा प्रयोजन नही, ऐसा नही है किन्तु अनुदरा कन्याके समान ईषद् अर्थमे 'नञ्' का प्रयोग होनेसे कुछ प्रयोजनसे सहित, ऐसा है, यही दिखाते हैं—जैसे किसीकी प्रसिद्धिमे आजन्मसे घीका घडा ही आ रहा है, उससे अतिरिक्त मिट्टीके घडाको वह नही जानता, उसके प्रबोधके लिए ऐसा कहा जाता कि जो यह घीका घडा है वह मिट्टीका बना हुआ है, घृतमय नही है, इस प्रकार उसके जाननेके लिये जैसे 'घृतकुम्भ' यह व्यवहार होता है, ऐसे ही इस अज्ञानी जीवको, जिसके ज्ञानमे अनादि ससारसे अशुद्ध जीव ही आ रहा है तथा जो शुद्ध जीवसे अनभिज्ञ है, उसके समझानेके लिये यह कहा जाता है कि यह जो वर्णादिमान् जीव है वह ज्ञानात्मक है वर्णादिमान् नही है, इस प्रकार उसकी प्रसिद्धिके लिए जीवमे वर्णादिमान् यह व्यवहार चला आ रहा है ॥ ६७ ॥

यही बात श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशामे कहते हैं—

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत् ।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मय ॥ ४० ॥

अर्थ—जिस प्रकार 'घृतकुम्भ' ऐसा कहनेपर भी कुम्भ घृतमय नही हो जाता उसी प्रकार वर्णादिमान् जीव है ऐसा कहनेपर भी जीव वर्णादिमय नही हो जाता।

भावार्थ—जिस प्रकार घीके सयोगसे मिट्टीके घडेको व्यवहारमे घीका घडा कहा जाता है उसी प्रकार बादर, सूक्ष्म आदि शरीरके सयोगसे जीवको बादर, सूक्ष्म आदि कहा जाता है। वास्तवमे जैसे घडा मिट्टीका ही है, घीका नही, ऐसे ही जीव ज्ञानघन ही है, बादर, सूक्ष्मादिरूप नही। अत शास्त्रमे जहाँ बादर, सूक्ष्म आदिके शरीरको जीव कहा है वहाँ व्यवहारनयसे कहा है तथा अज्ञानी जीवोंके प्रबोधनार्थ वह व्यवहारनय ईषत् प्रयोजनभूत है ॥४९॥

आगे जिस प्रकार जीवस्थान जीव नहीं हैं उसी प्रकार गुणस्थान भी जीव नहीं हैं, यह दिखाते हैं—

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा ।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥६८॥

अर्थ—जो ये गुणस्थान मोहकर्मके उदयसे वर्णन किये गये हैं वे जीव कैसे हो सकते हैं, क्योकि ये नित्य अचेतन कहे गये हैं।

विशेषार्थ—ये जो मिथ्यात्वादि चतुर्दश गुणस्थान हैं वे सब पौद्गलिक मोहकर्मकी प्रकृतियोंके उदयसे होनेके कारण अचेतन है तथा कार्य कारणके अनुरूप ही होते हैं। जैसे 'यवधान्यसे यव ही उत्पन्न होते हैं' इस न्यायसे ये गुणस्थान पुद्गल ही हैं, जीव नही हैं। जब इन गुणस्थानोका कारण जो मोहकर्म है वह पुद्गलात्मक है तब ये गुणस्थान भी निर्विवाद पुद्गलात्मक ही हैं। गुणस्थान अचेतन हैं, इसमे आगम ही प्रमाण है तथा चैतन्यस्वभावसे व्याप्त आत्मासे ये गुणस्थान भिन्न हैं, ऐसी भेदज्ञानियोको उपलब्धि हो रही है उसमे भी इनका अचेतनपन सिद्ध होता है। स्वय अचेतन होने तथा पौद्गलिक मोहकर्मके उदयसे जायमान होनेके कारण गुणस्थान पुद्गलमय हैं। इसी तरह राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान,

योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, सक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान और सयमलब्धिस्थान ये सभी पुद्गलकर्म पूर्वक होनेसे नित्य ही अचेतन हैं। अतएव पुद्गल है, जीव नही, ऐसा स्वयमेव सिद्ध हुआ। इसीलिये रागादिक भाव जीव नही है, यह निर्विवाद सिद्ध हुआ।

मोह और योगके निमित्तसे आत्माके गुणो—भावोका जो क्रमश विकास होता है उसे गुणस्थान कहते है। ये गुणस्थान आत्माकी शुद्ध परिणतिरूप नही हैं किन्तु परके निमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण अशुद्ध परिणतिरूप हैं। निश्चयनय स्वमे स्वके निमित्तसे जो परिणति होती है उसे ही ग्रहण करता है, अत उसकी दृष्टिमे परके निमित्तसे आत्मामे होने वाली परिणतिरूप जो गुणस्थान है वे नही आते। निश्चयनयकी दृष्टिमे पौद्गलिक तथा अचेतन मोहकर्मके उदयसे होनेवाले गुणस्थान पौद्गलिक तथा अचेतन कहे जाते है। यहाँ अचेतनका यह अर्थ नही कि घटपटादिके समान सर्वथा जड हैं किन्तु चेतन जो आत्मद्रव्य, उसकी स्वकीय परिणति नही हैं, यह अर्थ ग्राह्य है। कुन्दकुन्दस्वामीने निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो ही नय स्वीकृत किये है। इनमे द्रव्यकी निज परिणतिको विषय करने वाला निश्चयनय है और परपरिणति तथा परके निमित्तसे होने वाली निजकी परिणतिको विषय करने वाला व्यवहारनय है। ग्रन्थान्तरोमे निश्चयनयके शुद्ध निश्चय और अशुद्ध निश्चय ऐसे दो भेद बतलाये है। निजमे निजके निमित्तसे होने वाली परिणतिको विषय करने वाला शुद्ध निश्चयनय है और परके निमित्तसे जायमान निजकी परिणतिको विषय करनेवाला अशुद्ध निश्चयनय है। इस कथनमे गुणस्थान तथा रागादिक भाव अशुद्ध निश्चयनयसे आत्माके हैं ऐसा प्रतिपादन किया जाता है ॥ ६८ ॥

अब यहाँ यह शङ्का स्वयमेव होती है कि यदि ये गुणस्थानादि सब भाव जीव नही हैं तो फिर जीव क्या है ? इस शङ्काका उत्तर अमृतचन्द्र स्वामी कलशामे देते है—

अनुष्टुप्छन्द

अनाद्यनन्तमचल स्वसवेद्यमिद स्फुटम्।
जीव स्वय तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥४१॥

अर्थ—जो स्वसवेद्य है, अनादि है, अनन्त है, अचल है अर्थात् जिसका कभी विनाश नही होता, प्रकट है और चैतन्यस्वरूप है, ऐसा जीवनामक पदार्थ स्वय अतिशयकर प्रदीपवत् प्रकाशमान हो रहा है।

भावार्थ—यह जीवतत्त्व द्रव्यदृष्टिसे अनादि अनन्त है अर्थात् कभी नया उत्पन्न नही हुआ है और न कभी सत्ताका उच्छेदकर अन्तको भी प्राप्त होगा। अचल है अर्थात् चैतन्यस्वभावसे कभी चलायमान नही होता। मैं सुखी हूँ, मैं दु खी हूँ, मै ज्ञानी हूँ इत्यादि रूपसे इसकी प्रतीति सबको होती है, अत स्वसवेद्य है। सबके अनुभवमे आता है, अत स्फुट है तथा ज्ञान-दर्शनका पुञ्ज होनेसे चैतन्यरूप है। ऐसा यह जीव स्वय ही अतिशयरूपसे प्रकाशमान हो रहा है, इसके जाननेके लिये पदार्थान्तरके साहाय्यकी आवश्यकता नही है ॥४१॥

चैतन्य ही जीवका निर्दोष लक्षण है, यह कलशामे दरशाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

वर्णाद्यै. सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्व तत ।

इत्यालोच्य विवेचकै समुचित नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्त व्यञ्जितजीवतत्त्वमचल चैतन्यमालम्ब्यताम् ॥४२॥

अर्थ—यदि जगत् अमूर्तत्त्वगुणकी उपासना कर जीवतत्त्वका अवलोकन करता है तो यह लक्षण अतिव्याप्ति दोषसे दूषित है क्योकि जीवसे भिन्न जो अजीव है वह भी वर्णादिसे रहित और वर्णादिसे सहित इस तरह दो प्रकारका है। इसलिये विवेचन करने वाले आचार्योने चैतन्यको ही जीवका लक्षण बताया है। उसे ही स्वीकृत करना चाहिये, क्योकि यह चैतन्य समुचित है अर्थात् असभव दोषसे रहित है, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषसे वर्जित है, व्यक्त है अर्थात् प्रकटरूपसे अनुभवमे आता है, जीवतत्त्वको प्रकट करनेवाला है और अचल—अविनाशी है।

भावार्थ—अमूर्तिकपन जीवका लक्षण नही हो सकता, क्योकि अजीव पदार्थ दो प्रकारके हैं—एक तो मूर्तिक, जैसे पुद्गल और एक अमूर्तिक, जैसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इसलिये अमूर्तिकपनकी उपासना कर जगत्के जीव जीवतत्त्वका अवलोकन नही कर सकते, क्योकि अमूर्तिकपन आकाशादिमे भी रहता है। ऐसा विचारकर विवेचक जीवोने अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषोसे रहित व्यक्तरूपसे जीवका लक्षण चैतन्य ही स्वीकृत किया है। लक्षण वही हो सकता है जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव दोषोसे रहित है। यदि जीवका लक्षण रागादिक माना जावे तो इसमे अव्याप्ति दोष आवेगा, क्योकि लक्षणका फल लक्ष्यको अलक्ष्यसे पृथक् कराना है। जैसे प्रकृतमे यदि जीवका लक्षण रागादि माना जावे तो इस प्रकारकी अनुमिति होगी कि 'जीव अजीवादि पञ्चपदार्थोसे भिन्न है क्योकि रागादिमान् है'। यहाँ पर जीव पक्ष है, अजीवादि भिन्नपन साध्य है, रागादिमत्त्व हेतु है। हेतुको अपने पक्षमात्रमे रहना चाहिये, सो जब जीवकी मोहिनीयादि कर्मोका अभाव होनेपर वीतराग दशा हो जाती है तब यह रागादिमत्त्व हेतु उस जीवमे नही रहता, अत भागासिद्ध दोष होनेसे जीवकी अजीवसे भिन्न सिद्ध करने वाली अनुमितिमे साधक नही होता।

इसी प्रकार यदि जीवका लक्षण अमूर्तत्व माना जावे, तो ऐसी अनुमिति होगी कि 'जीव अजीवाद् भिन्न अमूर्तत्वात्' अर्थात् जीव अजीवसे भिन्न है क्योकि अमूर्तिक है। यहाँ जीव पक्ष है, अजीवसे भिन्नपन साध्य है, और अमूर्तत्व हेतु है। यह हेतु पक्षसे भिन्न जो विपक्ष आकाशादिक हैं उनमे भी पाया जाता है अत व्यभिचारी हुआ, क्योकि जो हेतु पक्षमे भी रहे और विपक्षमे भी रहे वह व्यभिचारी होता है, और व्यभिचारी होनेसे स्वकीय साध्यमे गमक नही हो सकता, यह अतिव्याप्ति दोष है।

इसी तरह यदि जीवका लक्षण जडत्व माना जावे तो असभव दोष होगा, क्योकि यहाँपर अनुमानका ऐसा आकार होगा कि 'जीव अजीवसे भिन्न है क्योकि जडत्वसे सहित है।' यहाँपर जीव पक्ष है, अजीव-भिन्नता साध्य है, और जडत्व हेतु है। यह जडत्व हेतु पक्षमे सर्वथा ही नही रहता, इससे स्वरूपासिद्ध है।

इत्यादि अनेक दोषोसे रहित जीवका वास्तविक लक्षण चैतन्य है। वह जीवकी सब अवस्थाओमे रहता है। अत वही अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असभव दोषोसे रहित है॥४२॥

इस तरह ज्ञानीके जीव और अजीवका भिन्न-भिन्न ज्ञान होनेपर भी अज्ञानीका मोह पुन पुन अतिशय नृत्य करता है, इसपर आचार्य आश्चर्य प्रकट करते हुए कलशा कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं
　　ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तम् ।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं
　　मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥४३॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्वकथित लक्षणसे अजीव जीवसे भिन्न है ऐसा ज्ञानीजन स्वय उल्लसित होनेवाले अजीवतत्त्वका अनुभव करते हैं। परन्तु अज्ञानी जीवका निर्मर्यादितरूपसे वृद्धिको प्राप्त हुआ यह मोह क्यो वार-वार अतिशयरूप नृत्य कर रहा है, यह आश्चर्य और खेदकी बात है।

भावार्थ—जीव और अजीव दोनो ही अपने-अपने लक्षणोसे भिन्न-भिन्न है, ऐसा ज्ञानी जीव स्वय अनुभव करते हैं। परन्तु अज्ञानी जीवका मोह अर्थात् मिथ्यात्व इतना अधिक विस्तार-को प्राप्त हुआ है कि वह उसे स्पष्ट सिद्ध जीव और अजीवका भेदज्ञान नही होने देता। इसीलिये वह शरीरादि अजीव पदार्थोंमे जीवबुद्धि कर चतुर्गतिमे भ्रमण करता है ॥४३॥

आचार्य कहते है कि अज्ञानीका वह मोह भले ही नृत्य करो, परन्तु ज्ञानीको ऐसा भेदज्ञान होता ही है—

वसन्ततिलकाछन्द

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाटये
　　वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्य.।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध—
　　चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीव ॥४४॥

अर्थ—यह जो अनादिकालमे बहुत बडा अविवेकका नाट्य हो रहा है उसमे वर्णादिमान् पुद्गल ही नृत्य करता है, अन्य नही, क्योकि यह जीव, रागादिक पुद्गलके विकारोसे विरुद्ध, शुद्ध, चैतन्यधातुमय मूर्तिमे सयुक्त है अर्थात् वीतरागविज्ञान इसका स्वरूप है।

भावार्थ—अनादि कालसे इस जीवका पुद्गलके साथ परस्परावगाहरूप सम्बन्ध हो रहा है, इसलिये अज्ञानी जीवोको इसमे एकत्वका भ्रम उत्पन्न हो रहा है। उसी भ्रमको दूर करनेके लिये आचार्यने दोनोके भिन्न-भिन्न लक्षण बताते हुए कहा है कि जीव तो रागादिक पुद्गलके विकारोसे रहित शुद्ध चैतन्यधातुका पिण्ड है और पुद्गल वर्णादिमान् है। इस अविवेक अर्थात् अभेदज्ञानमूलक नाट्यमे सारी भूमिका पुद्गलकी ही है। वही राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म और नोकर्म आदिका रूप रखकर अपने नाना स्वाग दिखला रहा है, जीव तो सब अवस्थाओमे एक चैतन्यका ही पिण्ड रहता है ॥४४॥

इस तरह भेदज्ञानकी प्रवृत्तिसे ही ज्ञायक आत्मदेव प्रकट होता है, यह कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
　　जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः ।

विश्व व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृद्रव्य स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥४५॥

अर्थ—इस प्रकार ज्ञानरूप करोतकी क्रियासे विदारणका अभिनयकर अर्थात् पृथक्-पृथक् होकर जबतक जीव और अजीव स्पष्ट रूपसे विघटनको प्राप्त नही होते तब तक अतिशयरूपसे विकसित तथा प्रकट चैतन्यमात्रकी शक्तिसे समस्त विश्वको व्याप्तकर यह ज्ञाताद्रव्य आत्मा अपने आप बडे चावसे अत्यधिक प्रकाशमान होने लगता है।

भावार्थ—इस ससारमे अनादिकालसे जीवकी पुद्गलके साथ सयोगी दशा चली आ रही है। जब तक भेदज्ञान नही होता तब तक यह जीव शरीरादि दृश्यमान पदार्थोंको आत्मा मानता रहता है, 'ज्ञायक आत्मद्रव्य इन शरीरादिकसे भिन्न द्रव्य है' ऐसी अनुभूति इस जीवको नही होती, परन्तु जब भेदज्ञानरूप करोत इसके हाथ लगती है तब यह उसके चलानेके अभ्याससे जीव और पुद्गलरूप अजीवको अलग-अलग समझने लगता है। अब उसकी प्रतीतिमे आता है कि अहो, चैतन्यस्वभावको लिये हुए ज्ञायक आत्मद्रव्य तो इन शरीरादिकसे भिन्न पदार्थ है। अभी तो उसने जीव और अजीवको केवल श्रद्धाके द्वारा अलग-अलग समझा था, पर जब चारित्ररूप पुरुषार्थके द्वारा वह जीव और अजीवको अर्थात् जीव और रागादिक विकारी परिणतिको वास्तवमे अलग-अलग कर देता है—वीतराग दशाको प्राप्त कर लेता है तब अन्तर्मुहूर्तमे ही अपनी चैतन्यशक्तिके द्वारा समस्त विश्वको व्याप्तकर अर्थात् केवलज्ञानका विषय बनाकर यह ज्ञायक आत्मद्रव्य स्वय ही प्रकाशमान हो उठता है। यहाँ कार्यकी शीघ्रता बतलानेके लिये आचार्यने कहा है कि जीव और अजीव जब तक विघटनको प्राप्त नही हो पाते कि उसके पहले ही ज्ञायक आत्मद्रव्य प्रकट प्रकाशमान होने लगता है। वास्तवमे क्रम यह है कि पहले जीव और अजीवका भेदज्ञान होता है, तदनन्तर आत्मद्रव्य भासमान होता है ॥४५॥

इस तरह जीव और अजीव पृथक् होकर रङ्गभूमिसे बाहर निकल गये ॥६८॥

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत समयप्राभृतके
जीवाजीवाधिकारका प्रवचन समाप्त हुआ।

२. कर्तृकर्माधिकार

अनन्तर जीव और अजीव ही कर्ता और कर्मका स्वाग रखकर रङ्गभूमिमे प्रवेश करते है। उनके यथार्थ स्वरूपको जानने वाली ज्ञान-ज्योति है। अत प्रारम्भमे श्रीअमृतचन्द्र स्वामी उसी ज्ञान-ज्योतिकी महिमाका गान करते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

एक कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी'
इत्यज्ञाना शमयदभित कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्।
ज्ञानज्योति स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीर
साक्षात्कुर्वन्निरुपधि पृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम् ॥४६॥

अर्थ—इस ससारमे मै जो एक चेतनात्मक आत्मा हूँ सो कर्ता हूँ और ये क्रधादिक मेरे कर्म है' अज्ञानी जीवोकी इस कर्तृ-कर्मप्रवृत्तिका सब ओरसे शमन करती हुई ज्ञान-ज्योति प्रकट होती है। ज्ञानज्योति परम उदात्त है, अत्यन्त धीर है, निरुपधि है, अर्थात् परकृत उपाधिसे रहित है, पृथक्-पृथक् द्रव्योको अवभासित करने वाली है और समस्त विश्वका साक्षात् करने वाली है ॥४६॥

आगे कहते हैं कि आत्मा और आस्रव इन दोनोंके अन्तरको नहीं समझना ही बन्धका कारण है—

जाव ण वेदि विसेसंतर तु आदासवाण दोह्न पि।
अण्णाणी तावदु सो कोधादिसु वट्टदे जीवो ॥ ६९ ॥
कोधादिसु वट्टतस्स कम्मस्स सचओ होदि।
जीवस्सेव बधो भणिदो खलु सव्वदरसीहि ॥ ७० ॥

अर्थ—जब तक जीव, आत्मा और आस्रव इन दोनोके विशेष अन्तरको नही जानता है, तव तक अज्ञानी हुआ वह क्रोधादिकमे प्रवृत्ति करता है और क्रोधादिकमे प्रवृत्ति करने वाले उस जीवके कर्मका सचय होता है। इस प्रकार जीवके कर्मोका वन्ध सर्वज्ञदेवने निश्चयसे कहा है।

विशेषार्थ—जीव जब तक आत्मा और आस्रवके भिन्न-भिन्न स्वरूपको नही जानता, तब तक वह अज्ञानी है और क्रोधादिक आस्रवोमे प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार क्रोधादिक आस्रवोमे प्रवृत्ति करते हुए जीवके कर्मका सचय होता है। इस प्रकार भगवान् सर्वज्ञ द्वारा निश्चयसे इस जीवके वन्ध कहा गया है।

जिस प्रकार यह आत्मा तादात्म्य सम्बन्धसे आत्मा और ज्ञानमे विशेष न होनेसे भेदको नही देखता हुआ नि शङ्कभावसे आत्मीय ज्ञान जानकर ज्ञानमे प्रवृत्ति करता है, उस ज्ञानक्रियामे प्रवर्तमान आत्माके ज्ञानक्रियाके साथ साथ स्वभावभूतपन अर्थात् ज्ञानक्रियाका उपादानकारण आत्मा ही है, अतएव उसका प्रतिषेध नही हो सकता, इसीलिये आत्मा उसको जानता है। इसी

प्रकार सयोग सम्बन्धके द्वारा निमित्तसे जायमान जो क्रोधादिक हैं उनके साथ यद्यपि आत्माका ज्ञानकी तरह सम्बन्ध नही है फिर भी अपने अज्ञानसे यह अज्ञानी जीव आत्मा और क्रोधादिक आस्रवोमे भेदको नही देखता है। इसीसे नि शङ्क, होकर ज्ञानके सदृश क्रोधादिकमे आत्मीय बुद्धिसे प्रवृत्ति करता है और जब क्रोधादिकमे प्रवृत्त होता है तब यद्यपि यह क्रोधादिक क्रिया परभावभूत होनेसे प्रतिषेध करने योग्य है, किन्तु अज्ञानी उनमे स्वभावभूतपनका अध्यास कर क्रोध भी करता है, राग भी करता है और मोह भी करता है। सो यहाँ यह आत्मा अपने आप अज्ञानस्वरूप होकर स्वकीय ज्ञानभवनमात्र जो उदासीन भाव है उसको त्यागकर कर्ता हो जाता है और अन्तरङ्गमे ज्ञानके भवनमात्रसे भिन्न जिन क्रोधादिकको करता है वे इसके कर्म हैं। इस प्रकार यह अनादि तथा अज्ञानसे जायमान कर्ता-कर्मकी प्रवृत्ति है। इस तरह इस आत्माकी अपने ही अज्ञानसे कर्ता-कर्मरूपसे क्रोधादिकमे प्रवृत्ति होती है और जब इसकी उनमे प्रवृत्ति होती है तब इसके क्रोधादिक प्रवृत्तिरूप परिणामोंके निमित्तसे परिणमनशील पुद्गलकर्मका सचय हो जाता है, एव जीव और पुद्गलका एकक्षेत्रावगाह लक्षण सम्बन्धरूप बन्ध स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। यहाँपर इतरेतराश्रय दोष नही है क्योकि बीज-वृक्षकी तरह इनकी सतान, जब तक ससारका नाश नही होता तब तक, बराबर अखण्ड प्रवाहसे चली जाती है ॥६९-७०॥

अब प्रश्न यह है कि इस अनादिकालीन कर्तृ-कर्मप्रवृत्तिका अभाव कब होता है? इसी प्रश्नका उत्तर कहते हैं—

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतर तु तइया ण बंधो से ॥ ७१ ॥

अर्थ—जब इस जीवके द्वारा आत्मा और आस्रवोका विशेष अन्तर जान लिया जाता है तब इसके बन्ध नही होता।

विशेषार्थ—इस जगत्मे जो पदार्थ है वे सब अपने-अपने स्वभावमे तल्लीन हैं, क्योकि जो अपना भवन है अर्थात् अपनी परिणति है वही तो अपना निज भाव है। इस कारण ज्ञानका जो होना है वही तो निश्चयसे आत्माका स्वभाव है। अर्थात् जो ज्ञान है वही आत्मा है, क्योकि जैसे उष्ण गुणसे भिन्न अग्नि नही, वैसे ज्ञानगुणसे भिन्न आत्मा भी नही है। इससे जो ज्ञानका होना है निश्चयसे वही आत्मा है, और क्रोधादिकोका जो होना है वह क्रोधादिक हैं। जो ज्ञानका होना है वह क्रोधादिकका होना नही है, क्योकि ज्ञानके होनेमे ज्ञान ही होता हुआ प्रत्ययमे आता है, क्रोधादिकका होना प्रत्ययमे नही आता, और जो क्रोधादिकका होना है वह ज्ञानका होना नही है, क्योकि क्रोधादिकके होनेमे क्रोधादिक ही होते हुए प्रत्ययमे आते हैं,—ज्ञानका होना प्रत्ययमे नही आता। इस तरह आत्मा और क्रोधादिकोंके निश्चयसे एकवस्तुपन नही है। इस प्रकार आत्मा और आस्रवका विशेष (भेदज्ञान) होनेपर जब यह आत्मा उन दोनोंके भेदको जान लेता है तब इसकी अनादिकालीन अज्ञानजन्य कर्तृ-कर्मकी प्रवृत्ति निवृत्त हो जाती है और उसके निवृत्त होनेपर अज्ञान-निमित्तक पुद्गलद्रव्यकर्मका सम्बन्ध भी निवृत्त हो जाता है। जब ऐसी वस्तुस्थिति हो जाती है तब ज्ञानमात्रसे ही बन्धका निरोध सिद्ध होता ॥ ७१ ॥

आगे प्रश्न होता है कि ज्ञानमात्रसे बन्धका निरोध किस तरह होता है? इसका उत्तर देते हैं—

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च ।
दुक्खस्स कारण ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥ ७२ ॥

अर्थ—आस्रवोका अशुचिपन और विपरीतपन तथा ये दु खके कारण हैं ऐसा जानकर जीव उनसे निवृत्ति करता है अर्थात् आस्रवोको अपवित्र, विपरीत और दु खका कारण जानकर जीव उनसे निवृत्त होता है।

विशेषार्थ—जैसे जलमे शेवाल हो जानेसे जल मलिन हो जाता। ऐसे ही ये आस्रव भाव आत्माको कलुषित बना देते हैं, अत. अशुचिरूप हैं। परन्तु भगवान् आत्मा नित्य ही अतिनिर्मल चिन्मात्रपनसे उपलब्ध होनेके कारण अत्यन्त पवित्र है। ये आस्रव जड हैं तथा परके द्वारा जाने जाते है, इसलिये आत्मासे अन्य स्वभाव है और भगवान् आत्मा नित्य ही विज्ञानघनस्वभाव है। अतएव स्वय चेतक होनेसे अन्य स्वभावरूप नही होता किन्तु निरन्तर ज्ञानस्वभावात्मक है। ये आस्रव आकुलताके उत्पादक है, अत दु खके कारण है और भगवान् आत्मा नित्य ही अनाकुल स्वभाव वाला होनेसे दु.खका कारण नही है। इस प्रकार आत्मा और आस्रवके विशेषके देखनेसे जिस कालमे यह आत्मा आस्रव और आत्माके भेदको जानता है, उसी कालमे क्रोधादिक आस्रवोसे पृथक् हो जाता हैं, क्योकि क्रोधादिक आस्रवसे निवृत्त हुए बिना पारमार्थिक भेदज्ञानकी सिद्धि होना असभव है। इसीसे क्रोधादिक आस्रवोसे निवृत्त होनेपर ही सम्यग्ज्ञानका होना अविनाभावी है। इस सम्यग्ज्ञानसे ही अज्ञानजन्य पौद्गलिककर्मका बन्ध रुक जाता है।

यहाँपर किसीकी आशङ्का है कि जो यह आत्मा और आस्रवका भेदज्ञान है, वह क्या ज्ञानस्वरूप है ? या अज्ञानस्वरूप है ? यदि अज्ञानस्वरूप है तो आस्रवके साथ होने वाले अभेदज्ञानसे इसमे कुछ विशेष नही हुआ। अर्थात् अन्तर नही आया और यदि ज्ञानस्वरूप है तो क्या आस्रवोमे प्रवृत्त है या आस्रवोंसे निवृत्त है ? यदि आस्रवोमे प्रवृत्त है तो आस्रवोके साथ अभेदज्ञान होनेसे कोई भी विशेष नही हुआ। यदि आस्रवोसे निवृत्त है तब ज्ञानसे ही बन्ध-निरोध सिद्ध क्यो न हुआ ? इस अवस्थामे क्रियानयवादीका जो यह पक्ष था कि क्रियासे ही आस्रवकी निवृत्ति हुई, ज्ञानमे क्या रखा है ? उसका निषेध हो गया, क्योकि जब तक सम्यग्ज्ञान न हो जावे तब तक केवल ऊपरी क्रियाकाण्डसे कुछ होने वाला नही है। अब ज्ञानसे ही सिद्धि मानने वालोका कहना है कि आत्मा और आस्रवका जो भेदज्ञान है वह सिद्धिका कारण है। इसपर आचार्य महाराजका कहना है कि आत्मा और आस्रवका जो भेदज्ञान है यदि वह आस्रवसे निवृत्ति नही करता तो वह ज्ञान ही नही है। इससे जो ज्ञानसे ही सिद्धि मानने वाले है उनका निराकरण हो गया। अर्थात् जिस ज्ञानके होनेपर आस्रवादिकी निवृत्ति नही होती है वह ज्ञान सिद्धिका जनक नही है। तथा जिस चारित्रकी प्रवृत्ति सम्यग्ज्ञानपूर्वक नही वह चारित्र भी ससार-लतिकाके छेदनेमे समर्थ नही होता, अत सम्यग्ज्ञानपूर्वक जो आचरण है वही मोक्षमार्गमे सहायी है। ऐसा जानकर मात्र ज्ञान अथवा मात्र क्रियाके द्वारा सिद्धि होनेके पक्षपातको त्यागो, क्योकि दोनोका सहयोग ही सिद्धिका प्रयोजक है—मोक्षका साधक है ॥७२॥

यही भाव श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशा द्वारा अभिव्यक्त करते है—

मालिनीछन्द

परपरिणतिमुज्झत् खण्डयद्भेदवादा-
निदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः ।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः ॥४७॥

अर्थ—जो परपरिणतिको छोड रहा है, भेदवादका खण्डन कर रहा है, स्वय अखण्डरूप है तथा अतिशय तेज पूर्ण है ऐसा यह उत्कृष्ट ज्ञान उदित हुआ है। इसके उदित होनेपर कर्तृ-कर्मकी प्रवृत्तिको अवकाश कैसे मिल सकता है और पौद्गलिक कर्मबन्ध किस प्रकार हो सकता है।

भावार्थ—मोहके निमित्तसे ज्ञानकी परपदार्थोंमे परिणति होती थी अथवा ज्ञानमे रागादि विकारी भावोकी परिणति होती थी, सो जब परपरिणतिका कारण जो मोह था वही निकल गया, तब ज्ञान उस परपरिणतिको छोडकर अपने स्वभावमे ही परिणति करने लगा। क्षयोपशमके निमित्तसे ज्ञानमे नाना भेदोकी आपत्ति होती है परन्तु अब क्षयोपशमका अभाव हो गया है। अत भेद-वादोको खण्डकर ज्ञान एक अखण्ड प्रतिभासरूप रह गया। ऐसा अतिशय तेजस्वी उत्कृष्ट ज्ञान जब प्रकट हो जाता है तब कर्तृ-कर्मकी प्रवृत्ति स्वय हट जाती है। और कर्तृ-कर्मकी प्रवृत्तिके हटनेपर पौद्गलिक कर्मबन्ध स्वय समाप्त हो जाता है ॥४७॥

आगे वह कौन-सी विधि है जिसके द्वारा आस्रवसे आत्माकी निवृत्ति हो जाती है, इस आशङ्काका उत्तर देते हैं—

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाण-दसण-समग्गो ।
तम्हि ठिओ तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि ॥ ७३ ॥

अर्थ—मैं निश्चयसे एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममत्वरहित हूँ, ज्ञान-दर्शनसे पूर्ण हूँ तथा उसीमे स्थित और उसीमे तल्लीन होता हुआ इन सब क्रोधादिक भावोको क्षयको प्राप्त कराता हूँ ॥

विशेषार्थ—वास्तवमे तत्त्वदृष्टिसे देखा जावे तो इस ससारमे यावत् पदार्थ हैं वे सब अपने अपने स्वरूपमे समवस्थित भिन्न-भिन्न ही हैं, मै द्रव्यदृष्टिसे एक हूँ (स्वानुभव) प्रत्यक्षका विषय हूँ, किसीके द्वारा मुझमे कदापि किसी प्रकारकी बाधा नही आती, इससे अक्षुण्ण हूँ तथा अनन्त चिन्मात्र ज्योति स्वरूप हूँ, नित्य ही विज्ञानघनस्वभाववाला होनेसे एक हूँ, समस्त जो षट्कारकचक्रकी प्रक्रिया है वह भेददृष्टिमे है, अभेददृष्टिमे इसका अस्तित्व नही। अत मैं स्वकीय निर्मल अनुभूति-मात्रके सद्भावसे सर्वदैव शुद्ध हूँ, पुद्गल जिनका स्वामी है ऐसे क्रोधादिक नानाप्रकारके भावोका मैं स्वामी नही हूँ, अत तद्रूप परिणमनके अभावमे निर्ममत्व हूँ, आत्मपदार्थ चिन्मात्र तेजवाला हूँ तथा वस्तुस्वभावके कारण सामान्यविशेषरूप भावसे परिपूर्ण हैं, अत मैं ज्ञान-दर्शनसे समग्र हूँ, गगनादिकके सदृश मैं भी पारमार्थिक विशेष पदार्थ हूँ, इसीसे मैं अब इसी आत्मामे सम्पूर्ण परद्र-व्योकी प्रवृत्तिसे निवृत्तिकर निश्चलरूपसे अवस्थित होता हूँ, परद्रव्योंके निमित्तसे जायमान राग-दिकभावरूप चञ्चल कल्लोलमालाओका निरोधकर इसी निजस्वरूपका अनुभव करता हूँ, स्वकीय अज्ञानसे आत्मामे जो अनेकविध विकारभाव उत्पन्न होते थे उन सबका नाश करता हूँ, ऐसा जब इस जीवको आत्मामे निश्चय हो जाता है तब वह, जिसने चिरकालसे पकडे हुए जहाजको छोड़

दिया ऐसे समुद्रके आवर्त्तके समान, शीघ्र ही समस्त विकल्पोको उगल देता है तथा अचलित और अमल आत्मस्वभावका अवलम्बन करता हुआ विज्ञानघनस्वरूप होकर निश्चित ही आस्रवोसे निवृत्त हो जाता है।

यहाँ कोई यह आशङ्का करे कि आत्मज्ञान और आस्रवकी निवृत्ति एक ही कालमे किस प्रकार होती है ? तो उसका उत्तर यह है कि जब इस जीवको आत्मा और आस्रवका यथार्थ सम्यग्ज्ञान हो जाता है तब आस्रवकी निवृत्ति स्वयमेव हो जाती है। मिथ्यादर्शनके अभावसे आत्मा-मे जहाँ सम्यग्दर्शन होता है वहाँ मिथ्यात्वगुणस्थानमे बँधने वाली मिथ्यात्वप्रकृति, हुण्डकसस्थान, नपुसकवेद, असप्राप्तसृपाटिका सहनन, एकेन्द्रियजाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, विकलत्रय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और नरकायु ये सोलह प्रकृतिया आस्रवरूप नही रहती अर्थात् इनका बन्ध मिथ्यात्वगुणस्थानमे ही होता है। इसी प्रकार क्रमसे गुणस्थानोकी परिपाटीके अनुसार जैसे-जैसे ज्ञान और चारित्रकी वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे इन सवका अभाव होता जाता है। यह ग्रन्थ ज्ञानगुणकी विशेषताका वर्णन करता है। अत आचार्योका कहना है कि ज्ञान और आस्रवकी निवृत्ति समकालीन है ॥ ७३ ॥

यही दिखाते हैं—

जीवणिबद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य ।
दुक्खा दुक्खफला त्ति य णादूण णिवत्तए तेहिं ।।७४।।

अर्थ—जीवके साथ लगे हुए ये आस्रव अध्रुव हैं, अनित्य है, अशरण हैं, दु खरूप हैं, और दु खरूप फलसे युक्त हैं ऐसा जानकर ज्ञानी जीव उनसे निवृत्त होता है।

विशेषार्थ—ये आस्रव, लाख और वृक्षके समान वध्यघातकस्वभावसे आत्माके साथ निवद्ध हो रहे है अर्थात् जिस प्रकार पीपल आदि वृक्षोका लाखके सम्बन्धसे घात होता है उसी प्रकार आत्मा-के साथ आस्रवोका सम्बन्ध होनेसे उसके ज्ञानदर्शनादि गुणोका घात होता है। यहाँ घातका अर्थ ज्ञानादिक गुणोमे नाना प्रकारकी इष्टानिष्ट कल्पनाएँ होकर आत्मीय स्वस्थ अवस्थाका प्रलय हो जाना है। इस तरह ये आस्रव विरुद्ध स्वभाववाले है, अविरुद्ध स्वभावका अभाव होनेसे जीव-स्वरूप नही है। ये आस्रव अपस्मार (मृगी) रोगके वेगके समान कभी तो तीव्ररूपसे होने लगते हैं और कभी मन्दरूपसे। जब मिथ्यात्वादि कर्मोंका तीव्र उदय रहता है तव यह जीव हिंसादि पापोमे धर्मबुद्धिकी श्रद्धाकर नाना प्रकारके कुकृत्योमे अपनी सम्पूर्ण शक्तिका दुरुपयोग करता हुआ भी आपको धार्मिक मानता है। इन्हींके तीव्र उदयमे देवता आदि मानसिक आहार वालोके उद्देश्यसे वकरे, भैंसे आदि दीन पशुओके वध करनेमे भी इस निर्दयीको दया नही आती। और जब इनका मन्दोदय होता है तब दया आदि गुणोके पोपक परोपकारादि कार्योमे प्रवृत्ति करता हुआ यह जीव अपने समयका सदुपयोग करता है। इस तरह ये आस्रव एकरूप नही रहते। अत अध्रुवस्वभाव वाले हैं परन्तु जीव ध्रुव है तथा चैतन्यचमत्कारवाला है। ये आस्रव शीत-दाहज्वर-के आवेशके समान क्रमसे उत्पन्न होते हैं अत अनित्य है। अर्थात् कभी तो शुभास्रव होता है और कभी अशुभास्रव होता है इसलिये अनित्य है। नित्य यदि है तो विज्ञानघनस्वभाव वाला जीव ही है। जिस प्रकार काम-सेवनके समय वीर्यके छूटनेपर कामका दारुण वेग नष्ट होने लगता है

उसे कोई रोक नही सकता, इसी प्रकार जब अपना फल देकर ये आस्रव झडने लगते हैं तब इनका रक्षक कोई नही होता, अत ये आस्रव अशरण है। इसके विपरीत यदि शरण सहित है तो स्वय गुप्त और सहजचैतन्यशक्तिवाला जीव ही है। ये आस्रव नित्य ही आकुलतास्वभाववाले तथा आकुलताके उत्पादक हैं, अत दु खस्वरूप हैं। यदि अदु खस्वरूप है तो अनाकुलतारूप स्वभावसे युक्त जीव ही है। ये आस्रव वर्तमानमे ही दु खरूप हैं सो नही, उत्तरकालमे भी अकुलताके कारण हैं। अतएव आकुलताको उत्पन्न करने वाले पुद्गलपरिणामके उत्पादक होनेसे दु खरूप फलसे युक्त हैं। इसके विपरीत यदि दु खरूप फलसे रहित कोई है तो सभी प्रकारके पुद्गल परिणामका अकारण जीव ही है।

इस प्रकार जब आत्मा और आस्रवका भेदज्ञान हो जाता है तब कर्मविपाक शिथिल हो जाता है और उसके शिथिल होनेसे जैसे घनसमूहके विघटनेसे दिशाओका समूह अत्यन्त विस्तृत हो जाता है वैसे ही स्वभावसे ही आत्माकी चेतनाशक्ति अत्यन्त विस्तृत हो जाती है और जैसे-जैसे उसके उदयकी वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे ही आत्मा आस्रवो से निवृत्त होता जाता है और जैसा-जैसा आस्रवोंसे निवृत्त होता जाता है वैसा-वैसा ही विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है। यह आत्मा ज्यो ही विज्ञानघनस्वभाव होता है त्यो ही आस्रवोंसे अच्छी तरह निवृत्त हो जाता है और ज्यो ही आस्रवोंसे निवृत्त होता है त्यो ही विज्ञानघनस्वभाव हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानका उदय और आस्रवकी निवृत्ति दोनो ही एककालमे होते हैं। जिस तरह सूर्योदय और तमोनिवृत्ति इनमे कालभेद नही है। इसी तरह सम्यग्ज्ञान और आस्रवनिवृत्ति इनमे कालभेद नही है। इसका भाव यह है कि गुणस्थानपरिपाटीके अनुसार जैसे-जैसे आत्मा गुणस्थानोको प्राप्त करता है वैसे-वैसे ये मिथ्यात्वादि आस्रव निवृत्त होते जाते हैं ॥७४॥

अब इसी भावको श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशामे प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

इत्येव विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्ति परा
स्व विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवान परम्।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्त स्वय
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगत साक्षी पुराण पुमान् ॥४८॥

अर्थ—इस प्रकार यह पुराण पुरुष—अनादि सिद्ध आत्मा जब परद्रव्यसे पूर्ण निवृत्ति कर अतिशय उत्कृष्ट अपने विज्ञानघनस्वभावका निर्भयतापूर्वक आश्रय लेता है तब अज्ञानसे उत्थित कर्तृकर्मभावसे उत्पन्न होनेवाले क्लेशसे स्वय छूट जाता है और तदनन्तर एक ज्ञानस्वरूप होकर जगत्का साक्षात्कार करता हुआ प्रकाशमान होता है।

भावार्थ—इस प्रकार जब आत्मा इन आस्रवोंके स्वरूपको समीचीन रूपसे जान लेता है तब परपदार्थोसे एक ही बारमे अपनी प्रवृत्तिको निवृत्त कर लेता है और विज्ञानघनस्वरूप जो अपना स्वभाव है केवल उसे ही निर्भयतासे अङ्गीकृत करता है। उस समय अज्ञानसे उत्पन्न होने वाले कर्तृ-कर्मके व्यवहारसे जो नाना दु ख उत्पन्न होते हैं उनसे स्वय निवृत्त हो जाता है और इससे आगामी कालमे स्वय ज्ञानस्वरूप होकर जगत्का ज्ञाता-दृष्टा बनकर प्रकाशमान रहता है ॥४८॥

आगे ज्ञानीभूत आत्मा कैसे जाना जाता है, यह कहते हैं—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।७५।।

अर्थ—जो आत्मा कर्मके परिणामको और इसी तरह नोकर्मके परिणामको नही करता है किन्तु जानता है वह ज्ञानी है।

विशेषार्थ—निश्चयकर मोह, राग, द्वेष, सुख, दु ख आदि रूपसे अन्तरङ्गमे उत्पन्न होने वाले कर्मके परिणाम और स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, बन्ध, सस्थान, स्थौल्य, सौक्ष्म्य आदि रूपसे बाह्यमे प्रकट होने वाले नोकर्मके परिणाम, ये सब पुद्गलद्रव्यके ही परिणमन हैं। अतएव जैसा घट और मृत्तिकाका परस्परमे व्याप्यव्यापकभाव है वैसा ही इन मोह-राग-द्वेपादि तथा रूप-रसादि परिणामोका पुद्गलद्रव्यके साथ व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध है क्योकि इनके करनेमे स्वय पुद्गल-द्रव्य स्वतन्त्ररूपसे कर्ता है अर्थात् पुद्गलद्रव्य व्यापक है और जो मोह-राग-द्वेषादि तथा रूप-रसादि परिणाम हैं वे स्वय व्याप्य होनेसे कर्म है। पुद्गलपरिणाम और आत्मामे घट और कुम्भकारके सदृश व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे कर्तृ-कर्मभावका अभाव है। अतएव आत्मा इन भावोका कर्ता नही है किन्तु यहाँ पर यह विशेषता है कि परमार्थसे यद्यपि पुद्गलपरिणामका ज्ञान और पुद्गल इन दोनोमे घट और कुम्भकारके समान व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे कर्तृ-कर्मभाव सिद्ध नही होता है तो भी आत्मपरिणाम और आत्मा इन दोनोमे घट और मृत्तिकाके समान व्याप्य-व्यापकभावका सद्भाव होनेसे कर्तृ-कर्मभाव सिद्ध होता है अर्थात् आत्मा स्वतत्र व्यापक होनेसे कर्ता है और आत्मपरिणाम व्याप्य होनेसे कर्म है। यहाँ जो पुद्गलपरिणामका ज्ञान है, उसे आत्म-परिणाम मानकर कर्मरूपसे स्वीकृत किया गया है। इस तरह पुद्गलपरिणामके ज्ञानरूप आत्म-परिणामको कर्मरूपसे करते हुए आत्माको जो जानता है वही अन्यसे विविक्त ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानीव्यपदेशको प्राप्त करता है। यहाँ ऐसी आशका नही करना चाहिये कि ज्ञाता जो आत्मा है उसका पुद्गलपरिणाम व्याप्य हो गया, क्योकि पुद्गल और आत्मामे ज्ञेयज्ञायकसम्बन्धका ही व्यवहार है, व्याप्यव्यापकसम्बन्धका व्यवहार नही है। किन्तु पुद्गलपरिणामनिमित्तक जो ज्ञान है वह ज्ञाताका व्याप्य है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुष कर्म और नोकर्मके परिणामका कर्ता नही है किन्तु ज्ञाता है ।।७५।।

इसी भावको श्रीअमृतचन्द्रस्वामी कलशाके द्वारा प्रकट करते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थिति ।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहो भारेण भिन्दस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसित कर्तृत्वशून्य पुमान् ।।४९।।

अर्थ—व्याप्यव्यापकभाव तत्स्वरूपमे ही होता है न कि अतत्स्वरूप मे भी। और व्याप्य-व्यापकभावके सभव बिना कर्ता-कर्मकी स्थिति क्या है ? कुछ भी नही, इस प्रकारके उत्कट विवेकको

भक्षण करनेवाले—नष्ट करनेवाले अज्ञानतिमिरको जोर देकर भेदता हुआ यह पुरुष जब ज्ञानी होकर सुशोभित होता है, अहो, तभी यह कर्तृत्वसे शून्य होता है। यहाँ 'उद्दामविवेकघस्मर-महोभारेण' ऐसा यदि एक पद माना जावे तो उसका अर्थ होता है उत्कट विवेकरूपी सर्वग्रासी ज्ञानतेजके भारसे अज्ञानतिमिरको भेदता हुआ।

भावार्थ—जो सब अवस्थाओमे नियमरूपसे रहे वह तो व्यापक है और जो विशेष अवस्थाएँ हैं वे व्याप्य हैं, ऐसी वस्तुको व्यवस्था होनेसे द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य हैं। वे पर्याय द्रव्यके साथ कथञ्चित् तादात्म्यसम्बन्धसे अनुस्यूत है। कोई भी ऐसा समय नही, जिसमे पर्यायसे वियुक्त द्रव्यका सत्त्व पाया जावे और न कोई ऐसा समय है, जिसमे द्रव्यसे वियुक्त पर्यायोका सत्त्व पाया जावे। केवल द्रव्य अन्वयरूपसे सर्वदा नित्य रहता है और पर्याय व्यतिरेकरूप हैं—एकके सद्भावमे अन्य पर्यायका स्वत्व नही रहता, क्योकि पर्याय क्षणध्वसी है और द्रव्य नित्य है। इस प्रकार द्रव्य और पर्याय दोनोमे अविनाभावका नियम है। यही श्रीप्रवचनसारमे स्वय कुन्दकुन्द महाराजने लिखा है—

णत्थि विणा परिणाम अत्थो अत्थ विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो॥

अर्थात् परिणामके विना अर्थ नही है और अर्थके विना परिणाम नही है। जो द्रव्य, गुण और पर्यायोमे स्थित है वही अर्थ है, वह अर्थ अपने अस्तित्वसे स्वय सिद्ध है। परमार्थसे व्याप्यव्यापकता एकद्रव्यमे बनती है, भिन्न द्रव्योमे नही बनती और व्याप्यव्यापकभावके विना कर्तृकर्मकी व्यवस्था नही होती, क्योकि जो व्यापक होता है वह कर्ता कहलाता है और जो व्याप्य होता है वह कर्म कहा जाता है। जब एकद्रव्यमे ही व्याप्यव्यापकभाव बनता है तब कर्तृकर्मभाव भी एक द्रव्यमे ही बनेगा। इस तरह भिन्न द्रव्य होनेसे आत्मा रागादिरूप कर्मपरिणामका और रसगन्धादिरूप शरीरके परिणामका कर्ता कैसे हो सकता है? इस प्रकारका उत्कट विवेक जब इस जीवको उत्पन्न होता है तब वह अनादिवासनासे वासित मिथ्याज्ञान-तिमिरको नष्टकर ज्ञानी होता है और तभी परद्रव्यके कर्तृत्वसे मुक्त होता है।

आगे पुद्गलकर्मको जाननेवाला जीव है उसका पुद्गलके साथ कर्तृ-कर्मभाव क्या है, क्या नहीं है, इसी आशकाका उत्तर देते हैं—

ण वि परिणमइ ण गिण्हइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणतो वि हु पुग्गलकम्म अणेयविह॥७६॥

अर्थ—ज्ञानी जीव अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मको जानता हुआ भी परद्रव्यकी पर्यायरूप न तो परिणमन करता है, न उन्हे ग्रहण करता है और न उन रूप उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ—प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यके भेदसे कर्म तीन प्रकारका है। जहाँ सिद्ध पदार्थको ग्रहण करनेके लिये कर्ता यत्नपर होता है वहाँ प्राप्य कर्म कहलाता है। जैसे देवदत्त ग्राम-को जाता है। यहाँ जो ग्राम पदार्थ है वह सिद्ध है, इसीसे उसे प्राप्य कर्म कहते हैं। जहाँ परपदार्थ द्रव्यान्तरके सम्बन्धसे विकारभावको प्राप्त होता है, उसे विकार्य कर्म कहते हैं। जैसे दुग्ध खटाईके योगसे दधिरूपताको प्राप्त होता है। और जो पर्यायान्तरको तो प्राप्त हो जावे परन्तु विकारभाव-

रूप परिणत न हो उसे निर्वर्त्य कर्म कहते हैं। जैसे मृत्तिका घटरूप परिणमनको प्राप्त होती है। यहाँ मृत्तिकाका घटात्मक परिणमन तो अवश्य हुआ, परन्तु विकृतावस्थारूप रिणमन नही हुआ। इसीसे इसे निर्वर्त्य कर्म कहते है। प्रकृतमे प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यके भेदसे त्रिविध कर्मरूप जो पुद्गलके परिणामन है वे व्याप्य हैं, उनमे पुद्गलद्रव्य अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य, अन्त अवस्थाओमे व्याप्त होता हुआ उन्हे ग्रहण करता है, उन रूप परिणमन करता है और उनमे उत्पद्यमान होता है। इस प्रकार पुद्गलद्रव्यके द्वारा कर्मकी उत्पत्ति होती है। उस कर्मको ज्ञानी यद्यपि जानता है तो भी आत्मा स्वय अन्तर्व्यापक होकर बाह्यमे रहनेवाले परद्रव्योके परिणामको मृत्तिका-कलशकी तरह आदि, मध्य और अन्त अवस्थाओमे व्याप्त होकर न तो ग्रहण करता है, न उनरूप परिणमता है और न उनमे उत्पन्न होता है। इस तरह परद्रव्यके परिणमनरूप व्याप्य-लक्षणवाले कर्मको नही करनेवाला तथा पुद्गलकर्मको जाननेवाला जो ज्ञानी जीव है उसका पुद्-गल्के साथ कर्तृकर्मभाव नही है। तात्पर्य यह है कि जीव अपनेसे भिन्न जो पुद्गलद्रव्य है उस रूप कभी परिणमन नही करता है क्योकि जीव चेतन है और पुद्गलद्रव्य अचेतन है, चेतन, अचेतनरूप परिणमन नही कर सकता। इसी तरह जीव पुद्गलको ग्रहण नही करता, क्योकि जीव अमूर्त्तिक है, और पुद्गल मूर्त्तिक है, और परमार्थसे जीव पुद्गलको उत्पन्न नही करता है क्योकि चेतन, अचेतनको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्यसे शून्य है। इस तरह पुद्गल जीवका कर्म नही है और जीव पुद्गलका कर्त्ता नही है, जीवका स्वभाव तो ज्ञाता है, अत वह ज्ञानरूप परिणमन करता हुआ पुद्गलद्रव्यको जानता भर है। इस तरह जाननेवाले जीवका पुद्गलके साथ कर्तृकर्मभाव कैसे हो सकता है ? ॥७६॥

आगे स्वकीय परिणामको जाननेवाला जो जीव है उसका क्या पुद्गलके साथ कर्तृ-कर्म भाव हो सकता है या नहीं, इस आशङ्काका उत्तर देते है—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणाम अणेयविहं ॥७७॥

अर्थ—ज्ञानी अनेक प्रकारके स्वकीय परिणामको जानता हुआ भी परद्रव्यकी पर्यायोरूप न परिणमन करता है, न उन्हे ग्रहण करता है और न उन रूप उत्पन्न ही होता है।

विशेषार्थ—प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यके भेदसे भेदत्रयको प्राप्त जो आत्मपरिणामरूप कर्म है वह व्याप्य है, आत्मा अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्त अवस्थाओमे व्याप्त होता हुआ उस आत्मपरिणामको ग्रहण करता है उस रूप परिणमन करता है और उस रूप उत्पन्न होता है। अत आत्मा कर्त्ता है और उसके द्वारा किया हुआ आत्मपरिणाम कर्म है। ज्ञानी जीव उस आत्म-परिणामरूप कर्मको यद्यपि जानता है तो भी स्वय अन्तर्व्यापक होकर बाह्य स्थित परद्रव्यके परि-णामको, मृत्तिका-कलशके समान आदि, मध्य और अन्त अवस्थाओमे व्याप्त होकर न ग्रहण करता है, न उस रूप परिणमन करता है और न उस रूप उत्पन्न होता है। अतएव प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यके भेदमे त्रिरूपताको प्राप्त जो परद्रव्यका परिणामरूप कर्म है उसका कर्त्ता नही है किन्तु स्वकीय परिणामको जानता है। इस तरह परद्रव्यके परिणामस्वरूप कर्मको नही करनेवाला तथा स्वकीय परिणामको जानने वाला जो ज्ञानी है उसका पुद्गलद्रव्यके साथ कर्तृ-कर्मभाव नही है।

पहली गाथामें पुद्गलके परिणामको जाननेवाले जीवका पुद्गलके साथ कर्तृ-कर्मभाव अथवा व्याप्य-व्यापकभाव नहीं है, यह बताया गया है और इस गाथामें अपने परिणामको जानने वाले ज्ञानीके साथ पुद्गलका कर्तृ-कर्मभाव अथवा व्याप्यव्यापकभाव नहीं है, यह बताया गया है ॥७७॥

आगे पुद्गलकर्मके फलको जाननेवाले जीवका पुद्गलके साथ कर्तृ-कर्मभाव क्या निष्पन्न हो सकता है या नहीं, इस आशङ्काका उत्तर देते हैं—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं ॥७८॥

अर्थ—ज्ञानी जीव अनन्त प्रकारके पुद्गलकर्मफलको जानता हुआ भी परद्रव्यकी पर्यायोंरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ—ज्ञानी अनन्त पुद्गलकर्मके फलको जानता है तो भी परद्रव्यपर्यायोंमें न तो परिणमता है न उनको ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न होता है क्योंकि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य है लक्षण जिसका ऐसा व्याप्यरूप कर्म है। यहाँपर सुखदु खादिरूपमें जो पुद्गलकर्मका फल है वही व्याप्यरूप कर्मसे विवक्षित है। उस सुखदु खादिरूप पुद्गलकर्मफलको, पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर उसकी आदि, मध्य, अन्त अवस्थाओंमें व्याप्त होता हुआ ग्रहण करता है, उसरूप परिणमता है और उसीरूप उत्पन्न होता है, इसीसे पुद्गलद्रव्यके द्वारा यह सुखदु खादि-फलरूप पुद्गलकर्मका फल किया जाता है। अत पुद्गलद्रव्य कर्त्ता है और सुखदु खादिफलरूप पुद्गलकर्मफल कर्म है। ज्ञानी जीव इस पुद्गलकर्मफलको यद्यपि जानता है तो भी स्वयं अन्तर्व्यापक होकर बाह्यस्थित जो परद्रव्य है उसके परिणामको मृत्तिका-कलशके सदृश आदि, मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर न तो ग्रहण करता है, न उस रूप परिणमता है और न उसरूपमें उत्पद्यमान होता है। इसलिये प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यके भेदसे त्रिरूपताको प्राप्त, व्याप्यलक्षण वाला जो परद्रव्यका परिणामरूप कर्म है उसका कर्ता नहीं है किन्तु सुखदुखादिरूप पुद्गलकर्मफलको जानता है। इस तरह परद्रव्यके परिणामस्वरूप कर्मको नहीं करनेवाला तथा सुखदु खादिरूप पुद्गलकर्म-फलको जानने वाला जो ज्ञानी जीव है उसका पुद्गलके साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है। इस गाथामें यह दिखलाया गया है कि पुद्गलकर्मके फल सुखदु खको जाननेवाला जो जीव है उसका भी पुद्-गलके साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है ॥७८॥

अब जीवके परिणामको, अपने परिणामको तथा अपने परिणामके फलको नहीं जानने वाला जो पुद्गलद्रव्य है उसका जीवके साथ कर्तृकर्मभाव क्या उपपन्न हो सकता है या नहीं, यह दिखाते हैं—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं ॥७९॥

अर्थ—जिस प्रकार जीव परद्रव्यपर्यायोंमें न उत्पन्न होता है, न परिणमता है और न उन्हें ग्रहण करता है। इसी प्रकार पुद्गलद्रव्य भी परद्रव्यपर्यायोंको न ग्रहण करता है, न उनमें उत्पन्न होता है और न तद्रूप परिणमता है, किन्तु स्वकीय पर्यायोंके द्वारा परिणमन करता है।

विशेषार्थ—क्योकि जीवपरिणामको, अपने परिणामको और अपने परिणामके फलको भी नही जानने वाला पुद्‌गलद्रव्य स्वय अन्तर्व्यापक होकर परद्रव्यके परिणामको मृत्तिकाकलशके समान आदि, मध्य और अन्तमे व्याप्तकर उसें न ग्रहण करता है, न उसरूप परिणमन करता है और न उसरूप उत्पन्न होता है किन्तु प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यके भेदसे त्रिरूपताको प्राप्त व्याप्यलक्षणसे युक्त स्वभावरूप जो कर्म है उसे स्वय अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्तमे व्याप्तकर उसीको ग्रहण करता है, उसीरूप परिणमता है और उसीरूप उत्पन्न होता है। इसलिये प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यके भेदसे त्रिरूपताको प्राप्त, व्याप्यलक्षणसे युक्त परद्रव्यके परिणाम-रूप कर्मको नही करनेवाला तथा जीवपरिणाम और स्वपरिणामस्वरूप कर्मफलको नही जानने वाला जो पुद्‌गलद्रव्य है उसका जीवके साथ कर्तृ-कर्मभाव नही है ॥७९॥

यही निष्कर्ष श्रीअमृतचन्द्रस्वामी कलशामे प्रकट करते है—

स्रग्धराछन्द

ज्ञानी जानन्नपीमा स्वपरपरिणतिं पुद्‌गलश्चाप्यजानन्,
व्याप्तृ-व्याप्यत्वमन्त कलयितुमसहो नित्यमत्यन्तभेदात् ।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्,
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवदय भेदमुत्पाद्य सद्य ॥५०॥

अर्थ—ज्ञानी इस निज और परकी परिणतिको जानता है तो भी, और पुद्‌गल इस निज और परकी परिणतिको नही जानता है तो भी, ये दोनो नित्य ही अत्यन्त भेदरूप होनेसे अन्तरङ्ग-मे व्याप्य-व्यापकभावको प्राप्त करनेमे असमर्थ हैं। इनमे जो कर्तृ-कर्मकी भ्रमपूर्ण बुद्धि है वह अज्ञानसे भासमान है और वह तब तक भासमान होती रहती है जब तक करोतकी तरह निर्दयता-पूर्वक दोनोमे भेद उत्पन्न कर शीघ्र ही भेदज्ञानरूपी ज्योति प्रकाशमान नही होने लगती।

भावार्थ—ज्ञानी जीव अपने और परके परिणामको जानता है और पुद्‌गलद्रव्य अपने तथा परके परिणामको नही जानता है। इस प्रकार दोनोमे अत्यन्त भेद होनेसे कर्तृ-कर्मभावका होना अत्यन्त असम्भव है। यह कर्तृ-कर्मभावकी प्रवृत्ति अज्ञानसे होती है। जिस समय विज्ञानरूपी ज्योतिका उदय होता है उस समय अपने आप, जैसे क्रकचके द्वारा काष्ठके दो खण्ड हो जाते है वैसे ही, यह प्रवृत्ति भिन्न हो जाती है—जीव और पुद्‌गल दोनो अलग भासमान हो जाते है ॥५०॥

आगे यद्यपि जीव और पुद्‌गलपरिणाममे परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है तथापि उनमें कर्तृ-कर्मभाव नहीं है, यह कहते हैं—

जीवपरिणामहेदु कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्ह पि ॥८१॥

एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८२॥

अर्थ—पुद्गल जीवके रागादिक परिणामोंका निमित्त पाकर कर्मभावको प्राप्त हो जाते हैं। उसी तरह जीव भी ज्ञानावरणादि कर्मोंके विपाककालरूप निमित्तको पाकर स्वीय रागादि भावरूप परिणम जाता है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध होनेपर भी जीवद्रव्य कर्ममें किसी गुणका उत्पादक नहीं है। अर्थात् पुद्गलद्रव्य स्वयं ज्ञानावरणादिभावको प्राप्त हो जाता है। उसी तरह कर्म भी जीवमें किन्हीं गुणोंको नहीं करता है किन्तु मोहनीय आदि कर्मके विपाकको निमित्तकर जीव स्वयमेव रागादिरूप परिणमन करता है। इतना होनेपर भी पुद्गल और जीव इन दोनोंका परिणमन परस्परनिमित्तक है, ऐसा जानो। इसीसे आत्मा अपने भावोंके द्वारा अपने परिणमनका कर्ता होता है, पुद्गलकर्मकृत जो सब भाव हैं उनका कर्ता नहीं है। अर्थात् पुद्गलके जो ज्ञानावरणादि कर्म हैं उनका कर्ता पुद्गल है और जीवके जो रागादिभाव हैं उनका कर्ता जीव है।

विशेषार्थ—जिस कारणसे जीवके रागादिक परिणामोंका निमित्त पाकर कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणम जाता है तथा पुद्गलज्ञानावरणादि कर्मोंके विपाककालको पाकर जीव स्वयमेव रागादिकभावरूप पर्यायको प्राप्त हो जाता है। इस कारण जीव और पुद्गलपर्यायोंमें परस्परहेतुत्वका उपन्यास होनेपर भी जीव और पुद्गलमें चूँकि व्याप्य-व्यापकभाव नहीं है अत जीवके पुद्गलपरिणामोंका और पुद्गलकर्मोंके जीवपरिणामोंका कर्तृ-कर्मभाव सिद्ध नहीं होता है। किन्तु मात्र निमित्त-नैमित्तिकभावका प्रतिषेध नहीं है। अत परस्पर निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध द्वारा दोनोंका परिणमन होता है। अर्थात् पुद्गलकर्मके विपाककालमें जीव रागादिकरूप परिणमनको प्राप्त होता है और जीवके रागादिक परिणामोंका निमित्त पाकर कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादिभावको प्राप्त होता है।

यही पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें श्रीअमृतचन्द्रसूरिने कहा है—

जीवकृत परिणाम निमित्तमात्र प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला कर्मभावेन ॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकै स्वयमपि स्वकैर्भावै।
भवति हि निमित्तमात्र पौद्गलिक कर्म तस्यापि ॥

अर्थात् जीवकृत रागादिपरिणामको निमित्तमात्र प्राप्तकर अन्य—पुद्गलस्वयमेव कर्मरूप-से परिणमन करते हैं और अपने चिदात्मक रागादिभावोसे परिणमन करने वाले जीवको पौद्गलिक कर्म निमित्तमात्र होता है।

क्योंकि जीव और पुद्गलका परस्परमे निमित्त-नैमित्तिकभाव सम्बन्ध है। इसलिये मृत्तिका-कलशके समान स्वकीय भावके द्वारा स्वकीयभावके करनेसे जीवनामक जो पदार्थ है वह अपने रागादिक भावोंका कर्ता कदाचित् हो सकता है, किन्तु मृत्तिका-वसनकी तरह स्वकीय भावके द्वारा परभावका करना असम्भव है, अतएव पुद्गलभावोका कर्ता कभी भी नहीं हो सकता, ऐसा निश्चय

सिद्धान्त है। इसका तात्पर्य यह है कि मृत्तिका जिस तरह वसनरूप पर्यायका कर्ता नही, इसी तरह जीव भी पुद्गलपरिणामोका कर्ता कदाचित् भी नही हो सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवका अपने परिणामोंके साथ ही कर्तृ-कर्मभाव और भोक्तृ-भोग्यभाव है।

कार्योत्पत्तिकी प्रक्रियामे उपादानकारण और निमित्तकारण ये दो कारण होते हैं। उपादान कारण वह है जो स्वय कार्यरूप परिणत होता है। जैसे घटका उपादान कारण मृत्तिका। और निमित्त कारण वह है जो उपादानकी कार्यानुकूल परिणतिमे सहायक होता है। जैसे घटकी उत्पत्तिमे कुलाल, दण्ड, चक्र, चीवरादि। यहाँ आचार्यने उपादानकारणकी मुख्यतासे कथन किया है। उपादानकी मुख्यतामे विवक्षा यह है कि जीव और पुद्गल दोनो स्वतन्त्र द्रव्य है। अत दोनोंका परस्पर एकद्रव्यरूप परिणमन नही हो सकता। स्वकीय परिणमनका स्व ही उपादानकारण हो सकता है, ऐसा नियम है। अत पुद्गलद्रव्यमे जो कर्मरूप परिणमन होता है उसका उपादानकारण पुद्गल ही है। इसी तरह जीवमे जो रागादिकरूप परिणमन है उसका उपादान कारण जीव ही है। जीव और पुद्गलका यह परिणमन सर्वथा परनिरपेक्ष नही है क्योकि यदि सर्वथा परनिरपेक्ष माना जायगा तो अकारणवान् होनेसे उसमे नित्यत्वका प्रसङ्ग आ जावेगा, परन्तु जीवके रागादिक परिणाम और पुद्गलके कर्मरूप परिणमन नित्य नही है। जब अनित्य है तब किसी कारणसे ही उनकी उत्पत्ति होना चाहिये। इस स्थितिमे निमित्तकारणकी अपेक्षा आवश्यक रहती है। निमित्तकारण स्वय कार्यरूप परिणत नही होता। इसलिये भिन्न द्रव्यके निमित्त बननेमे आपत्ति नही है। अत पुद्गलके कर्मरूप परिणमनमे जीवका रागादिभाव निमित्तकारण है और जीवके रागादिभावरूप परिणमनमे पौद्गलिककर्म निमित्तकारण हैं। उपादानोपादेयभाव एकद्रव्यमे बनता है और निमित्त-नैमित्तिकभाव दो द्रव्योमे बनता है। यहाँ प्रकरण कर्तृ-कर्मभावका है। परमार्थसे कर्तृ-कर्म उन्हीमे बनता है जिनमे व्याप्यव्यापकभाव होता है और चूँकि व्याप्यव्यापकभाव एक ही द्रव्यमे हो सकता है। अत रागादि भावोका कर्ता जीव ही है, पौद्गलिक कर्म नही, और ज्ञानावरणादि कर्मोका कर्ता पुद्गल ही है, जीव नही है ॥८०।८१।८२॥

यही दिखाते हैं—

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८३॥

अर्थ—निश्चयनयका यह सिद्धान्त है कि आत्मा आत्माको ही करता है और आत्मा आत्माही भोगता है, यह तू जान ॥

विशेषार्थ—जैसे वायुके सचरणका निमित्त पाकर समुद्रकी उत्तरङ्ग अवस्था हो जाती है अर्थात् जब वायुका वेग होता है तब समुद्रमे कल्लोले उठने लगती हैं और जब वायुका वेग मन्द हो जाता है तब समुद्रकी निस्तरङ्ग अवस्था हो जाती है। अर्थात् वायुके वेगके अभावमे कल्लोलोका उठना स्वयमेव शान्त हो जाता है। इस तरह वायुके सचरण और असचरणरूप निमित्तको पाकर यद्यपि समुद्रकी सतरङ्ग और निस्तरङ्ग अवस्था हो जाती है तो भी वायु और समुद्रका परस्परमे व्याप्यव्यापकभाव नही है। और व्याप्यव्यापकभावके अभावसे कर्तृकर्मभावकी भी असिद्धि है। उस असिद्धिके होनेपर समुद्र स्वय अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्त अवस्थाओमे उत्तरङ्ग तथा निस्तरङ्ग अवस्थाओको व्याप्तकर कभी उत्तरङ्गरूप आत्मा [अपने]

को करता है और कभी निस्तरङ्गरूप आत्मा [अपनेको] करता है। इसी तरह आत्मा केवल एक अपने आत्माको करता हुआ प्रतिभासमान होता है, अन्यको करता हुआ नही।

जैसे वही समुद्र भाव्यभावकभावके अभावमे परभावका परके द्वारा अनुभव न होना अशक्य है, इसीसे उत्तरङ्ग और निस्तरङ्गरूप अपने आत्माका अनुभवन करता हुआ केवल स्वीय आत्माका अनुभव करता हुआ प्रतिभासमान होता है, अन्यको आपरूप कदापि अनुभव नही करता है। ऐसे ही जब पुद्गलकर्मका विपाक होता है तब आत्माकी ससार अवस्था होती है और पुद्गलकर्मके विपाकके अभावमे असंसार-अवस्था होती है। ऐसा होनेपर भी पुद्गल कर्म और जीवका व्याप्य-व्यापकभाव नही है। इसीसे इन दोनोका परस्परमे कर्तृ-कर्मभाव भी नही है। इसके न होनेसे केवल जीव ही स्वय अन्तर्व्यापक भावमे आदि, मध्य और अन्त अवस्थाओमे ससंसार और असंसार अवस्थाओको व्याप्तकर कभी ससार अवस्थारूप आत्माको करता है और कभी असंसार अवस्थारूप आत्माको करता है। इस तरह इन दो अवस्थाओको करता हुआ प्रतिभासमान होता है। इसी तरह यही आत्मा भाव्यभावकभावके अभावसे, क्योकि परभावका परके द्वारा अनुभवन होना अशक्य है अत ससंसार और नि ससार अवस्थारूप आत्माका अनुभवन करता हुआ एक आत्मा का ही अनुभव करने वाला भासमान होता है, अन्यका अनुभवन करनेवाला नही ॥८३॥

अब आगे व्यवहारको दिखलाते हैं—

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्म करेदि णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥८४॥

अर्थ—व्यवहारनयका यह मत है कि आत्मा अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मको करता है और फिर उसी अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मको भोगता है।

विशेषार्थ—जैसे अन्तर्व्याप्यव्यापकभावसे मिट्टीके द्वारा कलश किया जाता है और भाव्य-भावकभावसे मृत्तिकाके द्वारा ही अनुभवन किया जाता है। ऐसी व्यवस्था होने पर भी बाह्य व्याप्यव्यापकभावसे कलशकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापारको करनेवाला और कलशधृततोयोपयोगसे जायमान तृप्तिको भाव्यभावकभावसे अनुभवन करने वाला जो कुलाल है वह कलशको करता है और उसका अनुभवन भी करता है। इस प्रकार लोगोका अनादि रूढ व्यवहार चला आ रहा है। ऐसे ही अन्तर्व्याप्यव्यापकभावसे पुद्गलद्रव्यके द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जानेपर तथा भाव्य-भावकभावसे अनुभूयमान होनेपर भी बाह्य व्याप्यव्यापकभावके द्वारा अज्ञानभावसे पुद्गलकर्मकी उत्पत्तिके अनुकूल स्वकीय रागादिक परिणामोको करने वाला और पुद्गलकर्मके विपाकसे सपादित तथा विषयके सान्निध्यसे होनेवाली सुख-दु खात्मक परिणतिको भाव्यभावकभावके द्वारा अनुभवन करनेवाला जो जीव है वह पुद्गलकर्मको करता है और भोगता है, ऐसा अज्ञानी जीवोका आससार प्रसिद्ध व्यवहार चला आ रहा है ॥८४॥

अब इस व्यवहारको दूषित करते हैं—

जदि पुग्गकम्ममिणं कुव्वदि त चेव वेदयदि आदा।
दो-किरियावदिरित्तो पसज्जए सो जिणावमदं ॥८५॥

अर्थ—यदि आत्मा इस पुद्गलकर्मको करता है और उसी पुद्गलकर्मको भोगता है तो वह दो क्रियाओसे अभिन्न ठहरता है सो यह जिनेन्द्रदेवको अस्वीकृत है ।

विशेषार्थ—इस लोकमे जितनी भी क्रियाएँ है वे सब परिणामलक्षणवाली होनेके कारण परिणामसे भिन्न नही है और क्योकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तुएँ है अत परिणाम परिणामीसे भिन्न नही है। इस तरह जो भी क्रिया होती है वह सब क्रियावान्से भिन्न नही होती। अतएव वस्तुस्थितिके अनुसार क्रिया और कर्त्तामे अभिन्नता सिद्ध होती है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जैसे व्याप्यव्यापकभावसे जीव अपने परिणामको करता है। और भाव्य-भावकभावसे उसका अनुभवन करता है। यदि ऐसे ही जीव व्याप्यव्यापकभावसे पुद्गलकर्मको भी करने लगे और भाव्यभावकभावसे उसीका अनुभव करने लग जाय तो स्व और परमे रहनेवाली दो क्रियाओमे अभेदका प्रसङ्ग आ जावेगा और उस स्थितिमे स्व तथा परके बीच परस्परका भेद समाप्त हो जानेसे एक आत्मा अनेकरूप हो जायगा तथा एक आत्माका अनेकरूपसे अनुभव करने-वाला आत्मा मिथ्यादृष्टि हो जावेगा, सो यह सर्वज्ञ भगवान्को अभिमत नही है।

यहाँ चर्चा जीव और पुद्गल दो द्रव्योकी है। जीव चेतनद्रव्य है और पुद्गल जड द्रव्य है। दोनो द्रव्योकी क्रियाएँ वस्तुमर्यादाके अनुसार भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् जीवकी क्रिया जीवमे होती है और पुद्गलकी क्रिया पुद्गलमे होती है। इसी सिद्धान्तके अनुसार जीव जीवपरिणामोका कर्ता है और जीवपरिणामोका ही भोक्ता है। इसी तरह पुद्गल पुद्गलपरिणामोका कर्ता है और पुद्गलपरिणामोका ही भोक्ता है। इस वस्तुस्थितिका उल्लङ्घन कर व्यवहारनय जीवको पुद्गल-कर्मोका कर्ता और भोक्ता बतलाता है। सो इस निरूपणमे जीवमे दो क्रियाओका समावेश हो जायगा—एक जीवकी अपनी क्रियाका तथा दूसरी पुद्गलकी क्रियाका। और क्रियाका क्रियावान्-से अभेद होता है। इसलिए जीवका उपर्युक्त दोनो क्रियाओके साथ अभेद होनेसे जिस प्रकार उसमे जीवत्व रहता है उसी प्रकार पुद्गलत्व भी रहने लग जायगा। इसलिये जीवद्रव्य जो पहले जीवत्वकी अपेक्षा एकरूप था अब वह पुद्गलका भी कर्त्ता मान लेनेपर पुद्गलरूप होनेके कारण अनेकरूप हो जायगा। और इस विपरीत तत्त्वव्यवस्थाको माननेवाला मिथ्यादृष्टि हो जायगा। यही कारण है कि सर्वज्ञदेवने इस सिद्धान्तको अवमत (अस्वीकृत) किया है ॥ ८५ ॥

आगे दो क्रियावादी किस तरह मिथ्यादृष्टि होता है, इसीको गाथा द्वारा स्पष्ट करते है—

जम्हा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दो वि कुव्वंति ।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति ॥८६॥

अर्थ—जिस कारण जीव आत्मभाव तथा पुद्गलभाव दोनोको करते हैं, इसलिये दो-क्रिया-वादी लोग मिथ्यादृष्टि होते है।

विशेषार्थ—क्योकि दो-क्रियावादी अर्थात् दो क्रियाओका कर्ता एक होता है, ऐसा कथन करनेवाले लोग आत्माको आत्मपरिणाम और पुद्गलपरिणाम इन दोनोका करनेवाला मानते है, इसलिये वे मिथ्यादृष्टि है, यह सिद्धान्त है। यह कदापि नही हो सकता कि एकद्रव्यके द्वारा दो द्रव्योके परिणाम हो जावे। जैसे कुलाल जब घट बनाता है तब जिस प्रकारका घट बनना है उसके अनुकूल ही अपने व्यापार व परिणामका कर्ता होता है और उस कुलालका वह परिणाम

कुलालसे अभिन्न होता है। तथा उसकी परिणतिरूप जो क्रिया है वह भी उससे भिन्न नही है। उस क्रियासे कुलाल घटको करता हुआ प्रतिभासित होता है, किन्तु ऐसा प्रतिभासित नही होता कि कुलाल घटका कर्ता है। भले ही वह कुलाल 'मै घट बनाता हूँ' इस प्रकारके अहकारसे भरा हो और अपने व्यापारके अनुरूप मिट्टीकी घटरूप परिणतिको कर रहा हो, परन्तु मिट्टीमे जो घट-रूप परिणाम हो रहा है वह यथार्थमे मिट्टीसे अभिन्न है तथा मिट्टीसे अभिन्न परिणतिमात्र क्रियाके द्वारा क्रियमाण है। तात्पर्य यह हुआ कि परमार्थसे घटका कर्ता कुलाल नही है किन्तु मिट्टी है, कुलाल तो अपने हस्तपादादिकके व्यापारका ही कर्ता है। इसी प्रकार 'आत्मा पुद्गलकर्मका कर्ता है' यहाँ परमार्थसे विचार किया जावे तो आत्मा आत्मपरिणामका ही कर्ता है क्योकि आत्मा अज्ञानवश पुद्गलपरिणामके अनुकूल जिस व्यापारको करता है वह आत्मासे अभिन्न है और उस परिणतिके होनेमे जो आत्माकी परिणतिमात्र क्रिया हुई उससे भी आत्मा अभिन्न है। इस प्रकार आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मोके अनुकूल आत्मपरिणामको करता हुआ प्रतिभासित होता है। किन्तु ऐसा प्रतिभासित नही होता कि आत्मा पुद्गलपरिणामका कर्ता है, भले ही वह 'मै पुद्गल-परिणामको कर रहा हूँ' इस प्रकारके अहकारसे भरा हो तथा अपने परिणामके अनुकूल पुद्गलपरि-णामको कर रहा हो, क्योकि उसका वह व्यापार पुद्गलसे अभिन्न है और जिस परिणतिमात्र क्रियासे वह व्यापार किया जा रहा है वह भी पुद्गलसे अभिन्न है। तात्पर्य यह हुआ कि पुद्गल-परिणामका कर्ता पुद्गल है, आत्मा नही, आत्मा तो केवल अपने परिणामका कर्ता है। इस तरह जब आत्माको आत्मपरिणामका और पुद्गलको पुद्गलपरिणामका ही कर्ता मान लिया तब एक द्रव्यमे एक ही क्रिया हुई, दो क्रियाएँ नही हुई। परन्तु इसके विपरीत जब यह माना जाता है कि आत्मा, आत्मपरिणाम और पुद्गलपरिणाम इन दोनोका कर्ता है तब द्विक्रियावादियोका मिथ्या सिद्धान्त आता है ॥८६॥

इसी अभिप्रायको श्रीअमृतचन्द्राचार्य निम्नलिखित कलशोमे प्रकट करते हैं—

आर्याछन्द

य परिणमति स कर्ता य परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणति॰ क्रिया सा त्रयमपि भिन्न न वस्तुतया ॥५१॥

अर्थ—जो परिणमन करता है वही कर्ता है, जो परिणाम है वह कर्म है और जो परिणति है वह क्रिया है, ये तीनो वास्तवमे भिन्न नही हैं, अर्थात् सामान्यदृष्टिसे विचार किया जाये तब तीनो एक ही वस्तु हैं। इनमे भिन्नता नही, परन्तु विशेषदृष्टिसे परस्परमे भिन्नता है।

एक परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणति॰ स्यादनेकमप्येक एव यत ॥५२॥

अर्थ—वस्तु सदा एकाकी परिणमन करती है, जो परिणाम होता है वह सदा एकका ही होता है, और जो परिणति है वह भी सदा एकको ही होती है क्योकि वस्तु अनेकरूप होकर भी पर-मार्थसे एक ही है ॥५२॥

नोभौ परिणमत खलु परिणामो नोभयो प्रजायेत।
उभयोर्न परणिति स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥५३॥

अर्थ—निश्चयसे दो द्रव्य एकरूप परिणमन नही करते, दो द्रव्योका एकरूप परिणाम नही होता और दो द्रव्योकी एक परिणति नही होती, क्योकि जो अनेक है वे सदा अनेक ही रहते है ॥५३॥

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य ।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥५४॥

अर्थ—एक कर्मके दो कर्ता नही होते, एक कर्ताके दो कर्म नही होते और एक द्रव्यकी दो क्रियाएँ नही होती, क्योकि जो एक है वह अनेक नही हो सकता ।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

आसंसारत एव धावति पर कुर्वेऽहमित्युच्चकैः-
दुर्वार ननु मोहिनामिह महाहकाररूप तम ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलय यद्येकवार व्रजेत्
तत्कि ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मन ॥५५॥

अर्थ—अहो, निश्चयसे इस ससारमे मोही जीवोके जबसे ससार है तभीसे 'मै परद्रव्यका कर्ता हूँ' ऐसा बहुत भारी दुर्निवार महान् अहकाररूपी अन्धकार चला आ रहा है। सो वह अन्धकार वास्तविक अर्थके ग्रहण करनेसे यदि एक बार भी विलयको प्राप्त हो जावे तो फिर ज्ञानघन आत्मा का बन्धन क्या हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता।

भावार्थ—ससारमे अज्ञानी जीव अनादिकालसे अपने आपको परका कर्ता मानकर कर्मोका बन्ध कर रहा है। अपने आपको परका कर्ता मानना ही मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व ही कर्मबन्धका प्रमुख कारण है। यहाँ मिथ्यात्वको दुर्निवार अन्धकारका रूपक दिया गया है। वस्तुका परमार्थ स्वरूप समझनेसे वह मिथ्यात्वरूपी अन्धकार यदि एक बार भी नष्ट हो जाता है तो फिर यह जीव अनन्त ससार तक बन्धनका पात्र नही रह सकता, क्योकि मिथ्यात्वका क्षय कर सम्यक्त्वकी प्राप्ति उसी जीवको होती है जिसका ससारका काल अधिक-से-अधिक अर्धपुद्गल परावर्तनमात्र रह गया हो।

अनुष्टुप्छन्द

आत्मभावान् करोत्यात्मा परभावान् सदा पर ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावा परस्य पर एव ते ॥५६॥

अर्थ—आत्मा सदा आत्मभावोको ही करता है और परद्रव्य परभावोको ही करता है, आत्माके भाव आत्मा ही हैं और परके भाव पर ही है।

भावार्थ—'ससारका प्रत्येक द्रव्य सदा अपने-अपने भावोका कर्ता है' इस सिद्धान्तसे आत्मा आत्माके ही भावोका कर्ता है और आत्माके अतिरिक्त जो परद्रव्य हैं वे अपने भावोके कर्ता हैं। भाव और भाववान्मे परमार्थसे कोई भेद नही है, इसलिये आत्माके जो भाव हैं वे आत्मा ही हैं और परके जो भाव हैं वे पर ही हैं ॥ ५६ ॥

आगे मिथ्यात्व आदि भावोंकी द्विविधरूपताका वर्णन करते हैं—

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं ।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ॥८७॥

अर्थ—जो पहले मिथ्यात्व कहा गया है वह जीव और अजीवके भेदसे दो प्रकारका है, उसी प्रकार अज्ञान जो है वह भी जीव व अजीवके भेदसे दो प्रकारका है। इसी तरह अविरति, योग, मोह और क्रोधादिक जो भाव हैं वे सब जीव और अजीवके भेदसे दो-दो प्रकारके हैं।

विशेषार्थ—मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि जो भाव हैं वे सब भाव मयूर और मुकुरुन्द (दर्पण) के सदृश जीव और अजीव दोनोंके द्वारा भाव्यमान होनेसे जीव और अजीव दोनों ही स्वरूप हैं। मयूर और दर्पणके दृष्टान्तको व्यक्तरूपसे दिखलाते हैं—जैसे नील, कृष्ण, हरित, पीतादिक जो रूपगुणके विकार हैं वे मयूररूप पुद्गलद्रव्य (शरीरके) द्वारा भाव्यमान होनेसे मयूर हैं क्योंकि उन नील, कृष्ण, हरित, पीतादिक विकारोंका अस्तित्व मयूरसे अतिरिक्त नहीं पाया जाता, अतः वे सब मयूर ही हैं, और जो मयूरका प्रतिबिम्ब दर्पणमें पड़ता है वह दर्पणकी ऐसी स्वच्छता है कि जिससे वह मयूर दर्पणमें भासमान हो रहा है। यहाँपर वास्तवमें दर्पणमें मयूरका अस्तित्व नहीं है किन्तु एक ऐसा विलक्षण निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि यदि कोई प्रतिबन्धक न हो तो मयूर निमित्तको पाकर दर्पणकी स्वच्छतामें मयूर जैसा आकार प्रतिभासमान होता है। वहाँपर जो नील, कृष्ण, हरित, पीतादिभावरूप परिणमन हो रहा है वह दर्पणकी स्वच्छताका विकार है। जिस प्रकार दर्पणके द्वारा भाव्यमान होनेसे नील, कृष्ण, हरित, पीतादिभाव दर्पण ही हैं उसी प्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादिक जो भाव हैं वे पुद्गलद्रव्यके द्वारा भाव्यमान होनेसे अजीव ही हैं। तथा मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि जो भाव जीवमें विकाररूपसे होते हैं वे जीवके द्वारा भाव्यमान होनेसे जीव ही हैं। यहाँपर यह जानने योग्य है कि जो मिथ्यात्व आदि मोहनीयकर्मकी प्रकृतियाँ हैं वे तो अजीवरूप हैं और इनके विपाककालमें जो अतत्त्वश्रद्धादिरूप मिथ्यात्व आदि भाव होते हैं वे जीव हैं ॥ ८७ ॥

आगे इन मिथ्यात्वादिक भावोंमें जीव कौन है ? और अजीव कौन है ? इसका उत्तर देते हैं—

पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं ।
उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो दु ॥८८॥

अर्थ—पुद्गलकर्मरूप जो मिथ्यात्व, योग, अविरति तथा अज्ञान हैं वे तो अजीव है और उपयोगरूप अर्थात् भावरूप जो अज्ञान, अविरति, मिथ्यात्व तथा योग हैं वे जीव हैं ॥

विशेषार्थ—जो निश्चयकर मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि अजीव हैं वे सब अमूर्तिक चैतन्यपरिणामसे भिन्न मूर्तिकद्रव्यरूप पुद्गलकर्म हैं और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जीव हैं वे सब मूर्तिकपुद्गलकर्मसे अन्य चैतन्यपरिणामके विकार हैं। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्वप्रकृति, मन-वचन-कायरूप द्रव्ययोग, अविरतिमें कारणभूत अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्र-

मोहकी प्रकृतियाँ तथा ज्ञानको कुज्ञान बनाने वाली मिथ्यात्व आदि प्रकृतियाँ अथवा मतिज्ञानावरणादि ज्ञानावरणकी प्रकृतियाँ ये सब अजीव है क्योकि पौद्गलिककर्म है। और इन उपर्युक्त प्रकृतियोंके विपाककालमे जायमान जो विपरीताभिनिवेश अथवा अतत्त्वश्रद्धानरूप श्रद्धागुणकी विपरीतपरिणति, आत्मप्रदेशोमे प्रकम्पनकी शक्तिरूप भावयोग, अविरतिरूप चारित्रगुणकी विपरीतपरिणति तथा मतिज्ञानादिगुणोकी अज्ञानरूप विपरीतपरिणति है वह सब जीव है क्योकि उपयोगस्वरूप होनेसे वे जीवकी ही विशिष्ट परिणतियाँ है ॥ ८८ ॥

अब मिथ्यादर्शनादि भाव चैतन्यपरिणामके विकार कैसे है ? यही दिखाते हैं—

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्त अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ॥८९॥

अर्थ—मोहयुक्त उपयोगके अनादिसे तीन तरहके परिणाम होते है। वे परिणाम मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिरूप जानने योग्य हैं ॥

विशेषार्थ—तात्त्विकदृष्टिसे देखा जावे तो सर्व ही पदार्थ—स्वकीय-स्वकीय परिणामरूप परिणमनेमे समर्थ है। यह सब पदार्थोंका वास्तविक स्वभाव-सामर्थ्य है, कोई स्वकीय परिणमनमे उपादानरूपसे किसी अन्यकी अपेक्षा नही करता है। उपयोगमे स्वभावसे समस्त वस्तुओंके आकार परिणमनेकी सामर्थ्य है। अतएव उसके साथ अनादिकालसे वस्त्वन्तरभूत जो मोहका सम्बन्ध है उसके निमित्तसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और अविरतिरूप तीन तरहका उस उपयोगका विकाररूप परिणमन हो जाता है और यह बात अलीक नही, क्योकि ऐसा होना देखा गया है—जैसे स्फटिकमणि स्वभावसे स्वच्छ है किन्तु निमित्त पाकर उसकी स्वच्छता विकृतरूप हो जाती है, यही दिखाते हैं—

स्फटिककी स्वच्छता अपने स्वरूपरूप परिणमनमे सर्वदा सामर्थ्यशालिनी है। किन्तु जब उसके साथ नील-हरित-पीत-तमाल-कदली-काञ्चनपात्रकी उपाधिका सम्बन्ध हो जाता है तब उसके तीन तरहके नील-हरित-पीतविकाररूप परिणमन हो जाते हैं, यह सबके दृष्टिगोचर कथा है। इसी तरह उपयोगका वस्त्वन्तरभूत मोहके साथ सम्बन्ध होनेसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतरूप तीन तरहका परिणामविकार देखा जाता है। इसका आशय यह है कि जैसे स्फटिकमणि स्वभावसे स्वच्छ है, परन्तु उस स्फटिकमणिको जिस रङ्गकी डाक लगाई जाती है उसी तरहका उसका परिणाम हो जाता है। इसी प्रकार आत्माका जो उपयोग है वह स्वच्छ है परन्तु जब उसके साथ मिथ्यादर्शनादि उपाधिका सम्बन्ध रहता है तब वह मिथ्यादर्शनादिरूप परिणामको प्राप्त हो जाता है ॥ ८९ ॥

आगे आत्मामे तीन प्रकारके परिणामोका कर्तृत्व है, यही दिखाते है—

एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो ।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥९०॥

अर्थ—यद्यपि उपयोग आत्माका शुद्ध-निरञ्जन भाव है तो भी इन मिथ्यादर्शन, अज्ञान

और अविरतिरूप निमित्तोंके सद्भावमे मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिके भेदसे तीन प्रकारका हो जाता है। वह उपयोग जिस भावको करता है उसका वह कर्ता होता है।

विशेषार्थ—यद्यपि यह उपयोग परमार्थसे शुद्ध-निरञ्जन-अनादिनिधन-वस्तु जो आत्मा सो सर्वस्वभूत चैतन्यमात्र भावके कारण एक प्रकारका है तो भी अनादि-वस्त्वन्तरभूत अर्थात् अनादिकालमे साथमे लगे हुए पृथक् वस्तुस्वरूप मोहकर्मसे युक्त होनेके कारण आत्मामे जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिभावरूप तीन प्रकारके परिणामविकार प्रकट हो रहे हैं उनका निमित्त पाकर अशुद्ध, साञ्जन और अनेकताको प्राप्त होता हुआ तीन प्रकारका हो रहा है। यही तीन प्रकारका उपयोग स्वय अज्ञानरूप परिणम कर कर्तृत्वको प्राप्त होता है और विकाररूप परिणमकर आत्माके जिस-जिस भावको करता है उस-उस भावका कर्ता होता है।

उपयोग आत्माका गुण है और गुण, गुणीसे पृथक् नही रहता, अत उपयोगको कर्ता कहनेसे आत्मामे कर्तृत्व आ जाता है। पहले निमित्तकी मुख्यतासे यह कहा गया था कि आत्मामे जो मोह, राग, द्वेप आदि विकारी भाव हैं उनका कर्ता पुद्गलद्रव्य है। यहाँ उपादानकी मुख्यतासे कहा गया है कि इनका कर्ता आत्मा है क्योकि ये मोह, राग, द्वेप आदि विकारी भाव परनिमित्तसे जायमान आत्माकी ही अशुद्ध परिणतिरूप हैं ॥९०॥

इस तरह जब आत्मा मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति इन तीन प्रकारके विकारी परिणामोका कर्ता होता है तब उनका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य स्वय कर्मभावको प्राप्त हो जाता है, यही दिखाते हैं—

ज कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्त परिणमदे तम्हि सय पुग्गल दव्व ॥९१॥

अर्थ—आत्मा जिस भावको करता है उस भावका वह कर्ता होता है और उसके होनेपर पुद्गलद्रव्य स्वय कर्मरूप परिणम जाता है।

विशेषार्थ—आत्मा स्वय ही उस प्रकारके परिणमनसे जिस भावको करता है मन्त्रसाधक पुरुषकी तरह वह उस भावका कर्ता होता है और उस भावके निमित्त होनेपर पुद्गलद्रव्य स्वय ही ज्ञानावरणादिरूप परिणमनको प्राप्त हो जाता है। यही दिखाते हैं—जिस प्रकार मन्त्रका साधनेवाला उस प्रकारके ध्यानभावसे स्वय परिणमन करता हुआ ध्यानका कर्ता होता है और उस ध्यानभावके सम्पूर्ण साध्यभावकी अनुकूलताके कारण निमित्तमात्र होनेपर अन्य किसी—साधक कर्ताके विना ही सर्पादिकके विषका प्रसार स्वयमेव दूर हो जाता है, स्त्रियाँ विडम्बनाको प्राप्त हो जाती हैं तथा बन्धन ध्वस्त हो जाते हैं। उसी प्रकार यह आत्मा अज्ञानसे मिथ्यादर्शनादिरूप स्वय परिणमन करता हुआ मिथ्यादर्शनादिभावका कर्ता होता है और उस मिथ्यादर्शनादिभावके अपनी अनुकूलताके कारण निमित्तमात्र होनेपर आत्मारूप कर्ताके विना पुद्गलद्रव्य स्वय ही मोहनीय आदि कर्मरूप परिणम जाता है।

आत्मामे वैभाविक शक्ति होनेके कारण मिथ्यादर्शनादिरूप परिणमन करनेकी योग्यता है। अत अन्तरङ्गमे उस योग्यतासे तथा वहिरङ्गमे पूर्ववद्ध मिथ्यात्व आदि द्रव्यकर्मके विपाकसे इधर आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन करता है उधर पुद्गलद्रव्यमे भी वैभाविक शक्ति

होनेके कारण कर्मरूप परिणमन करनेकी योग्यता है। अत अन्तरङ्गमे उस योग्यतासे तथा वहिरङ्गमे जीवके मिथ्यादर्शनादि विभावभावके निमित्तसे पुद्‌गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करता है। यहाँ आत्मा और पुद्‌गल दोनोमे विद्यमान वैभाविकशक्तिसे जायमान योग्यताको लक्ष्यमे रखकर कथन करते हुए कहा गया है कि आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन स्वय करता है और पुद्‌गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन स्वय करता है। जव आत्मा और पुद्‌गलकी उस योग्यताको गौणकर वहिरङ्ग निमित्तकी प्रधानतासे कथन किया जाता है तव कहा जाता है कि पूर्ववद्ध द्रव्यकर्मरूप पुद्‌गलके निमित्तसे आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन करता है और आत्माके मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमनके निमित्तसे पुद्‌गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करता है। यहाँ मन्त्रसाधकके दृष्टान्तसे भी यही वात प्रकट की गई है, क्योकि मन्त्र सिद्ध करने वाला पुरुप ध्यानविषयक योग्यताको स्वय रखता है, उस योग्यतासे ही वह ध्यानरूप परिणमन करता हुआ ध्यानका कर्ता कहलाता है उधर सर्पादिकके विपमे दूर होनेकी योग्यता स्वय है। अत जव मन्त्रसाधक और सर्पादिकके विप, दोनोकी अपनी-अपनी योग्यताओको लक्ष्यमे रखकर कथन होता है तव कहा जाता है कि मन्त्रसाधक स्वय ध्यानरूप परिणमन करता है और सर्पादिकका विष स्वय दूर होता है। परन्तु जव उनकी उस योग्यताको गौणकर बाह्य निमित्तकी प्रधानतासे कथन होता है तब कहा जाता है कि अमुक मन्त्रसाधकके ध्यानके प्रसादसे सर्पका विष दूर हो गया, अमुक व्यक्तिके वशीकरण मन्त्रसे स्त्रियाँ विडम्वनाको प्राप्त हो गई तथा अमुक व्यक्तिकी मन्त्रसाधनाकी महिमासे वन्धन खुल गये। यहाँ एक वात ध्यानमे रखनेकी और है कि वहिरङ्ग निमित्त, साध्यभावकी अनुकूलतासे ही निमित्त-पनको प्राप्त होता है क्योकि साध्यभावकी अनुकूलताके विना केवल निमित्तसे साध्यकी सिद्धि नही होती ॥९१॥

अव यह बात कहते हैं कि अज्ञानसे ही कर्म होते हैं—

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाण पि य पर करिंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥ ९२ ॥

अर्थ—अज्ञानमय जीव परको अपना और आपको पर करता हुआ कर्मोका कर्ता होता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे यह आत्मा अज्ञानभावके द्वारा पर और आत्माका भेदज्ञान नही कर सकता है और भेदज्ञानके अभावमे परको तो अपना करता है और अपनेको पररूप करता है, अत स्वय अज्ञानमय होता हुआ कर्मोका कर्ता प्रतिभासमान होता है। यहाँ 'प्रतिभाति' क्रिया देनेका यह तात्पर्य है कि परमार्थसे कर्ता तो नही है किन्तु भासमान होता है। उसीको स्पष्ट रूपसे दिखाते हैं—राग, द्वेप, सुख, दु ख आदि पुद्‌गलपरिणामकी अवस्थाएँ है और ये अवस्थाएँ 'मै रागी हूँ, द्वेपी हूँ, सुखी हूँ, दु खी हूँ' इस प्रकारके अनुभव करानेमे समर्थ है। परन्तु जैसे शीत, उष्ण पुद्‌गल-परिणामकी अवस्थाएँ हैं और वे शीत, उष्णके अनुभव करानेमें समर्थ है तथा पुद्‌गलसे अभिन्न है वैसे ही ये राग, द्वेप, सुख, दु खादि अवस्थाएँ भी पुद्‌गलसे अभिन्न है और इन अवस्थाओके निमित्त-से जो अनुभव होता है वह अनुभव आत्मासे अभिन्न तथा पुद्‌गलमे नित्य ही भिन्न है किन्तु इस अनुभवका और रागादिरूप अवस्थाका अज्ञानसे परस्पर भेदज्ञान न होने पर दोनोमे एकत्वका अध्यास हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा शीत, उष्णरूप परिणमन करनेमे असमर्थ है उसी प्रकार

परमार्थसे अज्ञानमय राग, द्वेष, सुख, दु खादिरूप भी परिणमन करनेमे असमर्थ है। परन्तु ऊपर कहे हुए एकत्वके अध्याससे यह आत्मा राग, द्वेष, सुख, दु खादिरूप अज्ञानमयभावसे परिणमन करता हुआ अपने ज्ञानकी अज्ञानताको प्रकट करता है तथा स्वय अज्ञानमय होता है और 'यह जो मै हूँ सो राग करता हूँ' इत्यादि विधिसे ज्ञानसे विरुद्ध रागादि कर्मका कर्ता प्रतिभासमान होता है।

तत्त्वदृष्टिसे देखा जावे तो पुद्गलकर्मके विपाकसे आत्माका जो चारित्रगुण है वह रागादिरूप परिणम जाता है उस कालमे आत्माका जो ज्ञानात्मक उपयोग है वह इन भावोको अपनेमे देखता है। ज्ञानकी ऐसी स्वच्छता है कि जो वस्तु उसके समक्ष आती है उसे जानता है। यदि केवल जानना रहता तो आत्माकी कुछ हानि न थी, परन्तु उनरूप अपनेको मानने लगता है। वास्तवमे ज्ञान और ज्ञेय एकरूप कदापि नही होते, परन्तु अज्ञानमे यह बात नही बनती। यही कारण है कि अज्ञानी जीव रज्जुमे सर्पभ्रान्तिके द्वारा भयभीत होकर उस स्थानसे पलायमान होनेकी चेष्टा करते हैं। यद्यपि वस्तुस्वरूप कभी नही बदलता, परन्तु अज्ञानमें भासमान होता है। इसीसे अज्ञानी जीव सर्वदा दु खी और असतुष्टरूप रहता है। अत सिद्ध हुआ कि अज्ञानसे ही कर्मोंका आविर्भाव होता है, ज्ञानसे नही ॥९२॥

आगे ज्ञानसे कर्म नहीं उत्पन्न होता, यह कहते हैं—

परमप्पाणमकुव्व अप्पाण पि य पर अकुव्वतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि ॥ ९३ ॥

अर्थ—जो जीव अपनी आत्माको पररूप नही करता है और परपदार्थको अपने आत्मस्वरूप नही करता है वही जीव ज्ञानमय है तथा कर्मोंका अकर्ता होता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे यह आत्मा ज्ञानसे पर और आत्माके भेदको जानता है। ऐसा भेदज्ञान जिस आत्मामे हो जाता है वह परको आत्मरूप नही करता और आत्माको पररूप नही करता। ऐसी व्यवस्थाके सद्भावमे स्वयमेव ज्ञानी हुआ कर्मोंका कर्ता नही होता है। यही दिखाते हैं—

जैसे शीतोष्ण पुद्गलकी अवस्थाविशेष है और यह अवस्था शीतोष्णरूप ज्ञानके सम्पादनमे समर्थ है, किन्तु इसकी अभिन्नता पुद्गलके साथ ही है। ऐसे ही राग, द्वेष, सुख, दु ख भी पुद्गलकी अवस्थाएँ हैं क्योकि रागद्वेषात्मक जो मोहकर्म है उसके उदयसे ही इनका आविर्भाव होता है। यह रागादिरूप अवस्था रागादिके ज्ञान करानेमे समर्थ है फिर भी पुद्गलसे अभिन्न है और आत्मासे तो नित्य ही अत्यन्त भिन्न है। किन्तु इसके निमित्तसे जो अनुभव होता है वह अनुभव आत्मासे अभिन्न है और पुद्गलसे नित्य ही अत्यन्त भिन्न है। अतएव जिनके सम्यग्ज्ञान है वे इस अनुभव और राग, द्वेषादिका पृथक्-पृथक् स्वरूप जानते हैं। इस सम्यग्ज्ञानसे अनुभव और रागादिकमे नानात्वका विवेक हो जाता है अर्थात् दोनो जुदे-जुदे हैं, यह ज्ञान हो जाता है। इस नानात्वके विवेकसे, जिस प्रकार आत्मा शीतोष्णरूप परिणमन करनेमे अशक्य है उसी तरह राग, द्वेष, सुख, दु खरूप अज्ञानमय भावसे भी परिणमन करनेमे अशक्य है। अत तद्रूप किञ्चिन्मात्रका परिणमन न करता हुआ यह आत्मा अपने ज्ञानके ज्ञानपनको प्रकट करता है और स्वय ज्ञानमय होता हुआ ऐसी श्रद्धा करता है कि 'यह जो मैं हूँ सो जानता ही हूँ रागादिरूप परिणमन तो पुद्गल करता है' इत्यादि विधिसे वह आत्मा अज्ञानस्वरूप जो रागादिक कर्म हैं उन सभीका अकर्ता होता है।

रागादिरूप अवस्था और रागादिरूप अवस्थाका अनुभव ये दो ज्ञानमे भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। यद्यपि दोनो ही आत्मामे भासमान हो रही है फिर भी रागादिरूप अवस्था पौद्गलिक कर्मके निमित्तसे उत्पद्यमान होनेके कारण आत्माकी न कही जाकर पुद्गलकी कही जाती है। जैसे शीतोष्णरूप अवस्थाका पुद्गलके साथ अभेदभाव है। ऐसे ही रागादि अवस्थाका भी निमित्त-कारणकी प्रधानतामे पुद्गलसे अभेदभाव है। परन्तु रागादिरूप अवस्थाका जो अनुभव—ज्ञान होता है वह परसे जायमान नही है क्योकि ज्ञान, आत्माका गुण है, उसका आविर्भाव आत्मासे ही होता है परसे नही, अत ज्ञान आत्मासे अभिन्न और पुद्गलसे अत्यन्त भिन्न है। अज्ञानी जीवको इस प्रकारका भेदज्ञान नही होता, इसलिये वह रागादिरूप अज्ञानमय भावसे परिणमन करता हुआ अपने ज्ञानको अज्ञानरूप प्रकट करता है और उस अज्ञानकी महिमासे अपने आपको रागादि कर्मोंका कर्ता बताता है, परन्तु ज्ञानी जीवको उक्त भेद-ज्ञान हो जाता है। इसलिये वह रागादिरूप अज्ञानमय भावसे कुछ भी परिणमन नही करता हुआ अपने ज्ञानको ज्ञानरूप ही प्रकट करता है और उस ज्ञानकी महिमासे वह समझता है कि मेरा काम तो केवल जानना है, रागादिरूप परिणमन करना नही, रागादिरूप परिणमन करना पुद्गलका काम है। इस तरहकी श्रद्धासे वह रागादि कर्मोंका कर्ता नही होता है ॥९३॥

आगे अज्ञानसे किस प्रकार कर्म होते हैं, यही दिखाते है—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ कोहो ह।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥ ९४ ॥

अर्थ—यह तीन प्रकारका उपयोग जब आत्मामे ऐसा विकल्प करता है कि 'मै क्रोध हूँ' तब वह आत्मभावरूप उस उपयोगका कर्ता होता है।

विशेषार्थ—यह जो आत्माका सविकार चैतन्य परिणाम है वह सामान्यसे तो एक अज्ञान-रूप है और विशेपसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिके भेदसे तीन प्रकार का है। जिस कालमे पर और आत्माका न तो विशेष दर्शन होता है, न विशेषज्ञान होता है और न विशेष विरति होती है उस कालमे समस्त भेदोका अपलाप कर भाव्यभावकभावको प्राप्त चेतन-अचेतन पदार्थोंका समानाधिकरणरूपसे अनुभव होने लगता है। उस अनुभवके प्रभावसे आत्मामे ऐसा विकल्प उठता है कि मै क्रोध हू। इस विकल्पसे यह आत्मा भ्रान्तिके द्वारा 'मै क्रोध हूँ' इस प्रकार चैतन्यपरि-णामके द्वार परिणमन करता हुआ उस विकारी चैतन्यपरिणामरूप आत्मभावका कर्ता होता है। इसी तरह 'क्रोध' पदको परिवर्तित कर मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रवण, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन सोलह सूत्रोकी व्याख्या कर लेनी चाहिये। इसी प्रक्रियासे अन्य तत्त्व भी ऊहापोह करनेके योग्य हैं।

उपयोग आत्माका गुण है, और गुण गुणीसे अभिन्न रहता है, अत यहाँ उपयोगशब्दसे आत्माका बोध होता है। आत्माका अज्ञानरूप विकारी-परिणमन सामान्यसे यद्यपि एक प्रकारका है तो भी विशेषकी अपेक्षा वह मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिके भेदसे तीन प्रकारका हो रहा है। यह मिथ्यादर्शनादिरूप परिणमन आत्माका निजका स्वभावरूप परिणमन नही है, किन्तु परके निमित्तसे जायमान होनेके कारण विकारी परिणमन है। इस विकारी परिणमनके प्रभावसे आत्मा-

को पर तथा आत्माका भेदज्ञान नही हो पाता है। इस भेदज्ञानके अभावमे वह भाव्यभावकभावको प्राप्त जो चेतन-अचेतन पदार्थ है उनका एकरूपसे अर्थात् चेतनरूपसे ही अनुभव करता है। क्रोधादिरूप परिणत आत्मा भाव्य है और उसमे कारणभूत भावक्रोध भावक है, यहाँ भाव्य अर्थात् आत्मा तो चेतन है और भावक अर्थात् भावक्रोध अचेतनके निमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण अचेतन है। आत्मामे जो क्रोधरूप परिणति हो रही है उसमे आत्मा तो चेतन है और क्रोध अचेतन है। इस तरह इन दोनोमे स्पष्ट भेद है। परन्तु अज्ञानी आत्माको इनमे भेदका अनुभव नही होता और उसके न होनेसे वह ऐसा विकल्प करने लगता है कि 'मैं क्रोध हूँ'। इस विकल्पकी महिमासे आत्मा अपने विकारी परिणामका कर्ता होता है और वह विकारी परिणाम उसका कर्म होता है। इस तरह सिद्ध होता है कि अज्ञानसे ही कर्मका प्रादुर्भाव है ॥ ९४ ॥

इस तरह भाव्य-भावकविषयक भेदके अज्ञानसे कर्मका प्रादुर्भाव दिखलाकर अब ज्ञेयज्ञायकभावविषयक भेदके अज्ञानसे कर्मका प्रादुर्भाव दिखलाते हैं—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि धम्माई ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥ ९५ ॥

अर्थ—यह तीन प्रकारका उपयोग आत्मामे जब ऐसा विकल्प करता है कि 'मैं धर्मादिक द्रव्यरूप हूँ' तब वह आत्म-परिणामरूप उस उपयोगका कर्ता होता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे आत्माका जो विकारसहित चैतन्यपरिणाम है वह सामान्यसे एक अज्ञानरूप है और विशेषसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान तथा अविरतिके भेदसे तीन प्रकारका है। जब इन परिणामोका उदय रहता है तब पर और आत्माका न तो विशेपरूपसे अर्थात् पृथक्-पृथक् श्रद्धान होता है, न विशेषरूपसे ज्ञान होता है और न विशेषरूपसे आत्मा परपदार्थोंसे विरत रहता है। इसीसे समस्त स्व और परके भेदका अपलापकर ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्धसे पर और आत्माका तादात्म्यरूपसे अनुभवकर कभी तो यह विकल्प करता है कि मैं धर्म हूँ, कभी अधर्म हूँ, कभी आकाश हूँ, कभी काल हूँ, कभी पुद्गल हूँ अथवा जीवान्तर हूँ अर्थात् जो वस्तु ज्ञानमे आती है उसी रूप अपनेको मानने लगता है और उसी तरहका विकल्प आत्मामे उत्पन्न करता है। इसीसे यह आत्मा मै धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ मै आकाश हूँ, मै काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, अथवा मैं अन्य जीव स्वरूप हूँ इस प्रकार भ्रान्तिज्ञानके द्वारा उपाधिसहित चैतन्य परिणाम (सविकार चैतन्य) रूप परिणमता हुआ उपाधिसहित चैतन्यपरिणामरूप आत्मभावका कर्ता होता है है। इससे यह स्थित हुआ कि कर्तृत्वका मूल कारण अज्ञान है।

आत्मा ज्ञायक है और उसके सिवाय जो धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल तथा अन्य जीव द्रव्य हैं वे ज्ञेय हैं। जिस प्रकार स्वच्छताके कारण दर्पणमे घटपटादि पदार्थोंके प्रतिविम्ब पडते हैं उसी प्रकार ज्ञायक जो आत्मा उसकी स्वच्छताके कारण उसमे धर्म, अधर्म आदि ज्ञेयोका प्रतिविम्ब पडता है अर्थात् आत्मामे उनका विकल्प आता है। परमार्थसे ज्ञायक (आत्मा) और उसमे पडे हुए ज्ञेयो (धर्माधर्मादि द्रव्यो)के विकल्प भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। परन्तु अज्ञानसे यह जीव दोनोमे एकत्व बुद्धिकर ऐसा विकल्प करता है कि मैं धर्मद्रव्य हूँ, मैं अधर्मद्रव्य हूँ इत्यादि। इस तरह परद्रव्यरूप ज्ञेयोमे आत्मबुद्धिरूप अज्ञानसे यह जीव कर्मोका कर्ता होता है ॥९५॥

अब अज्ञानसे आत्मा कर्ता होता है, इसका उपसहार करते हैं—

एव पराणि दव्वाणि अप्पय कुणदि मदवुद्धीओ ।
अप्पाणं अवि य पर करेइ अण्णाणभावेण ॥ ९६ ॥

अर्थ—इस प्रकार मन्दवुद्धि अर्थात् अज्ञानी जीव अज्ञानभावसे परद्रव्योको आत्मरूप करता है और आत्माको भी परद्रव्यरूप करता है ॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार यह आत्मा 'मै क्रोध हूँ'[1] इत्यादिके समान और 'मैं धर्मद्रव्य हूँ'[2] इत्यादिके समान परद्रव्योको अपना करता है उसी प्रकार आत्माको भी परद्रव्यरूप करता है। यद्यपि यह आत्मा अशेप वस्तुओके सम्बन्धसे रहित विशुद्ध चैतन्यमय धातुका पिण्ड है तो भी स्वकीय अज्ञानभावसे ही सविकार और उपाधिसहित चैतन्यपरिणामके द्वारा उस प्रकारके आत्म-भावका कर्ता प्रतिभासित होता है। इसीसे आत्माके भूताविष्ट व ध्यानाविष्ट पुरुषके सदृश कर्तृत्व-का मूल कारण जो अज्ञानभाव है वह प्रतिष्ठाको प्राप्त होता है अर्थात् कर्तृत्वका मूल कारण अज्ञान है यह सिद्ध होता है। यही बात दिखाते हैं—

जैसे निश्चयकर जिस समय किसीके शिरपर भूत सवार हो जाता है उस समय वह प्राणी, भूत और आत्माको एक मानने लगता है और जो मनुष्योके करने योग्य नही है ऐसे व्यापार करने लगता है। वे व्यापार अत्यन्त भयकर और विशिष्ट व्यापार साध्य हैं, अत्यन्त गम्भीर हैं, वास्तव-मे मनुष्य उन व्यापारोको नही कर सकता है। पर भूताविष्ट मनुष्य उन व्यापारोका अपने आपको कर्ता मानता है। ऐसे ही यह आत्मा भी अज्ञानसे भाव्यभावकरूप पर और आत्मा इन दोनोको एक करता हुआ अविकार अनुभूतिरूप भावकभावके अयोग्य विचित्र भावरूप क्रोधादि विकारोसे मिले हुए चैतन्य परिणामके विकारपनसे जो उस प्रकारके भाव होते है उनका कर्ता होता है। यह भाव्यभावकभावकी अपेक्षा दृष्टान्त है। अब ज्ञेयज्ञायकभावकी अपेक्षा दूसरा दृष्टान्त देते हैं—जैसे कोई भोला मनुष्य अपरीक्षक आचार्यके आदेशसे महिपका ध्यान करने लगा और अज्ञानसे ध्यानके कालमे महिष तथा अपने आपको एक मानने लगा और ऐसा माननेके बाद आकाश पर्यन्त जिसके शृङ्ग हैं ऐसे महिषका आत्मामे अध्यास होनेसे जो कुटियाका द्वार था उसमे निकलनेसे रह गया, क्योंकि कुटियाका द्वार तो मनुष्यके निकलनेके योग्य था और यह मनुष्य अपने आपको आकाश-पर्यन्त सीगवाला महिप मानने लगा तव द्वारसे बाहर किस प्रकार हो ? यहाँ वह ध्यान करनेवाला पुरुष जिस तरह महिष और अपने आपमे एकत्वका अध्यास करता हुआ अपने आपको महिष मानने लगता है। उस समय वह उस भावका कर्ता होता है। इसी तरह यह आत्मा अज्ञानसे ज्ञेय और ज्ञायक इन दोनोको एक करता हुआ अपने आत्मामे परद्रव्यका अध्यास होनेसे नोइन्द्रियके विपयीभूत धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीवान्तरके द्वारा चैतन्यधातुके विरुद्ध होने (ज्ञान न होने) तथा इन्द्रियोके विषय किये हुए रूपी पदार्थोके द्वारा केवल वोधके तिरोहित होने-से मृतक कलेवरकी तरह मूर्च्छित परमामृत विज्ञानघनपन कर उस प्रकारके भावका कर्ता होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे आत्मामे क्रोधादिक भाव होते है यद्यपि वे विकारी है क्योंकि

१. भाव्यभावकभावके भेदाज्ञानसे।
२ ज्ञेयज्ञायकभावके भेदाज्ञानसे।

मोहादिक पौद्गलिक कर्मोके निमित्तसे जायमान है, आत्माका अहित करनेवाले हैं तथा इन्हींके द्वारा आत्मा अनन्त ससारका पात्र बनता है फिर भी यह अज्ञानी जीव उन्हे निज भाव मानता है। ऐसे ही जो धर्मादिक द्रव्य हैं वे ज्ञानमे प्रतिभासमान होते हैं क्योकि ज्ञान एक ऐसी निर्मल शक्ति है कि जो पदार्थ उसके समक्ष आवे उसे अपनेमे प्रतिभासित करने लगता है। यद्यपि ज्ञान तद्रूप नही हो जाता तो भी अज्ञानी जीव उन्हे अपने समझ अनन्त ससारका पात्र बनकर चतुर्गतियोमे परिभ्रमण करता है। इससे यह सिद्धान्त निकला कि ज्ञानसे ही कर्तृपनका नाश होता है ॥९६॥

आगे यही कहते हैं—

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्त ॥ ९७ ॥

अर्थ—इस पर और आत्मद्रव्यके एकत्वाध्याससे आत्मा कर्ता होता है ऐसा निश्चयके जानने-वालोने कहा है, निश्चयसे जो ऐसा जानता है वह ज्ञानी निखिल कर्तृपनको त्यागता है।

विशेषार्थ—जिस हेतुसे यह आत्मा अपने आपमे पर और आत्माके एकत्वका सकल्प करता है, उसी हेतुसे यह अज्ञानी आत्मा निश्चयसे कर्ता प्रतिभासित होता है और जो आत्मा इस प्रकार जानता है वह सम्पूर्ण कर्तृपनको त्याग देता है। इसीसे निश्चय कर वह आत्मा अकर्ता होता है। यही दिखाते हैं—

इस ससारमे निश्चयसे जब यह आत्मा अज्ञानी हो जाता है तब इसकी भेदसवेदनकी शक्ति अर्थात् समस्त पदार्थोको पृथक्-पृथक् जाननेकी सामर्थ्य तिरोहित हो जाती है, अत उस कालमे ज्ञेयमिश्रित ज्ञानका स्वाद लेता है, अनादिसे इसकी यही अवस्था हो रही है। इसीसे यह पर और आत्माको एकरूप जानता है और इसी मिश्रित ज्ञानसे 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि विकल्प करता है। उन विकल्पोकी महिमासे निर्विकल्प, अकृतक तथा एकस्वरूप जो विज्ञानघन है। उससे भ्रष्ट होकर वारम्बार अनेक विकल्पो द्वारा परिणमन करता हुआ अपनेको उनका कर्ता समझता है। और जो ज्ञानी है वह ज्ञानस्वरूप अपने आपको करता हुआ ज्ञानकी महिमासे सर्वप्रथम प्रकट होनेवाले ज्ञेय और ज्ञानके भिन्न-भिन्न स्वादसे अपनी भेदसवेदनकी शक्तिको प्रकट करने वाला होता है। उस समय इसे ऐसा भान होता है कि यह आत्मा तो अनादिनिधन, निरन्तर स्वादमे आनेवाले तथा अन्य समस्त रसोंसे भिन्न अत्यन्त मधुर एक चैतन्यरससे परिपूर्ण है और ये कषाय भिन्न रसवाले हैं क्योकि वे सादि-सान्त, अनित्य, आकुलता तथा अशुचि आदि स्वरूप हैं। उन कषायोंके साथ जो आत्माके एकत्वका विकल्प हो रहा है वह अज्ञानसे ही हो रहा है। इस प्रकारके भानसे वह आत्मा और कषायोको भिन्न-भिन्न रूपसे जानता है। इसी कारणसे अकृतक (स्वभावजनित) एक ज्ञान-स्वरूप ही मैं हूँ, कृतक (परनिमित्तजनित) अनेक, क्रोधादि स्वरूप मैं नही हूँ, इस प्रकारके भेद-ज्ञानके होनेसे 'मैं क्रोध हूँ' यह विकल्प किञ्चत् भी आत्माके नही होता है। इसीसे ज्ञानी आत्मा सम्पूर्ण कर्तृभावको त्याग देता है, इसीसे नित्य ही उदासीन अवस्थाको धारणकर केवल जानता हुआ ही स्थित रहता है और इसीसे निर्विकल्पक, अकृतक, एक विज्ञानघन होता हुआ अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासता है।

जबतक अज्ञानसे परद्रव्योको अपना मानता था तबतक उनका कर्ता बनता था, परन्तु सम्यग्ज्ञानके होनेपर जब परको पर और अपनेको अपना मानने लगा तब आपसे आप अकर्ता हो गया ॥ ९७ ॥

इसी भावको श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशोके द्वारा प्रकट करते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी
ज्ञान स्वय किल भवन्नपि रज्यते य ।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया
गा दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालाम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य स्वय ज्ञानरूप होता हुआ भी अज्ञानसे तृणसहित सुन्दर आहारको खानेवाले हाथी आदिके समान राग करता है वह निश्चित ही रसाला (श्रीखण्डको) पीकर दही और इक्षुरसके खट्टे-मीठे स्वादकी गृद्धतासे दूधकी तरह गायसे रसालाको दुहता है।

भावार्थ—जैसे हस्ती अज्ञानसे तृणसहित सुन्दर अन्नादिक आहारोको एकमेक जानकर भक्षण करता है। ऐसी ही आत्मा स्वय ज्ञानस्वरूप है परन्तु मोहसे पर पदार्थोंमे रक्त हो जाता है। जैसे कोई मनुष्य शिखरिणीको पीकर उसके खट्टे-मीठे स्वादको न जानकर उसकी इच्छासे गायको दोहन करता है। शिखरिणीमे जो स्वाद आ रहा है वह तो दधि और शर्कराके सम्बन्धसे विजातीय रसका स्वाद है। उस स्वादका लोभी उसे न जानकर शिखरिणी पानेके लिए गायको दुहता है। भला, विचारकर देखो, क्या केवल दुग्धमे वह स्वाद है ? नही, इसी तरह यह अज्ञानी निराकुलता-रूप सुखकी तो इच्छा करता है और उसको जानता है नही, अत उसकी प्राप्तिके लिये विषयोमे प्रवृत्ति करता है। विषय तो जड है, उनमे रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द ही तो हैं, सुख नही है। जैसे उनमे सुख नही है वैसे दु ख भी नही है, क्योकि सुख-दु खरूप जो परिणमन होता है वह चेतनमे ही होता है। यह अज्ञानी मूढ, अन्यमे आरोपकर व्यर्थ ही खेद खिन्न होता हुआ अनन्त ससार-रूप फलका उपभोक्ता होता है ॥ ५७ ॥

अव अज्ञान ही कर्तृपनका कारण है, यह कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अज्ञानान्मृगतृष्णिका जलधिया धावन्ति पातु मृगा
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जना ।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिवत्
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवन्त्याकुला ॥ ५८ ॥

अर्थ—अज्ञानसे मृगसमुदाय जलबुद्धिसे मृगतृष्णाका पान करनेके लिये धावन करते है, इसी तरह अन्धकारमे जनसमुदाय रस्सीमे सर्पबुद्धिका अध्यासकर डरसे भागने लगते हैं, इसी तरह अज्ञानसे नानाप्रकारके विकल्पोकोकर हवासे लहराते हुए समुद्रकी तरह, शुद्ध ज्ञानमय भी जो आत्माएँ हैं वे नानाप्रकारके आकुलित परिणामोको करते हुए कर्ता हो जाते हैं।

भावार्थ—मृगतृष्णिका अर्थात् मरु देशमे सूर्यकी किरणोंके पडनेसे वालू चमकने लगती है,

उसमे जल भासने लगता है, उस कालमे पिपासाकुल मृगगण उसकी शान्तिके अर्थ वहाँ दौडकर जाता है परन्तु पास पहुँचने पर जब वहाँ जल नही पाता तब फिर आगे दौडता है। जल तो वहाँ है नही, भ्रान्तिसे भटकते-भटकते अन्त दशाको प्राप्त हो जाता है। तथा इसीतरह अन्धकारमे जहाँ टेढी-मेडी रस्सी पडी है वहाँ भ्रान्तिसे मनुष्यको सर्पका भान होने लगता है और उससे वह भयभीत होकर भागने लगता है। इसी तरह यह आत्मा यद्यपि निराकुल है, ज्ञानघन है, परन्तु अज्ञानसे परपदार्थमे अपने आनन्दगुणको खोजता है, इसीके लिए अनेकविध परिश्रमसे विषयोका सग्रह करता है और उन्हे पञ्चेन्द्रियोके द्वारा ग्रहण करनेकी चेष्टा कर सुखी बनना चाहता है। वास्तवमे तो उनमे सुख है नही, मात्र मनोराज्यवत् कल्पनाकर व्यर्थ ही अपना समय बिताता हुआ अनन्त ससारका पात्र बनता है और आकुलित होता हुआ कर्ता बनता है ॥५८॥

आगे ज्ञानी जानता है, करता कुछ नही है, यह कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
जानाति हस इव वा पयसोर्विशेषम् ।
चैतन्यधातुमचल स सदाधिरूढो
जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ॥५९॥

अर्थ—जिस प्रकार हस, पानी और दूध की विशेषताको जानता है, इसी प्रकार जो ज्ञानसे अपनी विवेचक बुद्धि—भेदज्ञान कलाके द्वारा पर और आत्माके विशेषको जानता है वह सदा अविनाशी चैतन्यधातुका आश्रय लेता हुआ जानता ही है, करता कुछ भी नही है।

भावार्थ—जो जीव ज्ञानी हैं वे ज्ञानसे पर और आत्माको विवेकके द्वारा जैसे हस, दूध और जलको भिन्न-भिन्न जानता है ऐसे ही जानते हैं, वे महामना सदा अचल चैतन्यधातुविज्ञानघन आत्माका आश्रय करते हुए जाननेवाले होते है, करते कुछ भी नही है। जैसे हसका स्वभाव है कि वह दुग्ध और जलको पृथक्-पृथक् कर देता है तथा ग्राह्य दूधका आश्रय लेता है, जलको त्याग देता है। ऐसे ही सम्यग्ज्ञानी जीवका यह स्वभाव है कि वह पर और आत्माको पृथक्-पृथक् जानता है। इसीसे परपदार्थमे ममत्व त्यागकर अपने आत्मस्वरूपमे लीन हो जाता है, कुछ अन्यको करता नही है ॥५९॥

अब ज्ञानकी महिमा बताते है—

मन्दाक्रान्ताछन्द

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदास ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातो
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥६०॥

अर्थ—ज्ञानसे ही अग्नि और पानीमे क्रमसे उष्णता और शीतलताकी व्यवस्था होती है, ज्ञानसे ही लवणके स्वादभेदका निराकरण होता है और ज्ञानसे ही स्वकीय रस—आत्मस्वभावसे सुशोभित चैतन्यधातु—आत्मा और क्रोधादिकमे भेद सिद्ध होता है, ऐसा भेद जो कि कर्तृत्वभावको नष्ट करनेवाला है।

भावार्थ—ज्ञानमे ही ऐसी सामर्थ्य है कि वह अग्निमे उष्णता और जलमे शीतताकी व्यवस्था करता है। ज्ञान ही इस बातका बोध कराता है कि यह लवणका स्वाद है और यह व्यञ्जनका स्वाद है। और ज्ञान ही स्वरसके विकाससे सुशोभित चैतन्यपिण्ड और क्रोधादिकके भेदको ज्ञात कराता है तथा कर्तृभावके भेदका भेदन करता हुआ आत्माके अकर्तापनका ज्ञान कराता है।

अग्निके सम्बन्धसे जल जब गरम हो जाता है तब ज्ञानकी ही यह महिमा है कि वह इसका बोध करता है कि जलमे जो यह उष्णताकी प्रतीति हो रही है वह नैमित्तिक है परमार्थसे जलकी नही, किन्तु अग्निके निमित्तसे ऐसा परिणमन है, परमार्थसे जल शीत है। इसी तरह भोजनमें लवणके सम्बन्धसे क्षारपनका स्वाद आता है। तत्त्वरीतिसे विचार किया जावे तो क्षारपन भोजनका नही, लवणका है, लवणके निमित्तसे भोजनमे क्षारपनका स्वाद आ रहा है। इसी प्रकार चैतन्यरूप आत्मामे जो क्रोधादिककी प्रतीति हो रही है वह वास्तवमे मोहनीय नामक पुद्गल-कर्मके निमित्तसे है, आत्माका चैतन्यगुण तो स्वभावसे स्वच्छ है ॥ ६० ॥

आगे आत्मा आत्मभावका करता है, परका नही, यह कहते है—

अनुष्टुप्

अज्ञान ज्ञानमप्येव कुर्वन्नात्मानमञ्जसा।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥ ६१ ॥

अर्थ—परमार्थसे ज्ञानरूप आत्माको मोहादिक कर्मके निमित्तसे अज्ञानरूप करता हुआ आत्मा, आत्मभावका ही कर्ता हो सकता है, परभावका कर्ता कही नही हो सकता।

भावार्थ—तत्त्वदृष्टिसे आत्मा ज्ञानरूप ही है परन्तु मोहकर्मके विपाककालमे वह रागादिरूप परिणति होनेके कारण अज्ञानरूप जान पडता है। उसी अज्ञानदशामे आत्मा कर्ता होता है परन्तु वहाँ भी आत्मभावका ही कर्ता होता है, परभावका कर्ता नही होता ॥ ६१ ॥

आगे आत्मा परभावका कर्ता क्यो नही है ? इसका उत्तर देते हैं—

अनुष्टुप्

आत्मा ज्ञान स्वय ज्ञान ज्ञानादन्यत् करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽय व्यवहारिणाम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—आत्मा ज्ञान है, जब आत्मा स्वय ज्ञानरूप है तब ज्ञानसे भिन्न अन्य किसको करे ? आत्मा परभावका कर्ता है, यह कहना व्यवहारी जनोका मोह है—अज्ञान है।

भावार्थ—गुण और गुणीका अभेददृष्टिसे जब कथन होता है तब जो गुण है वही गुणी है और जो गुणी है वही गुण है। इस तरह आत्मा और ज्ञान दोनो एक ही है। जब आत्मा स्वय ज्ञान हो गया तब वह ज्ञानके सिवाय अन्य किसको करे ? यद्यपि आत्मामे रागादिक भाव प्रतिभासमान होते हैं, पर भेदज्ञानने उन्हे मोहजन्य होनेके कारण आत्मासे पृथक कर दिया। अब आत्माके पास ज्ञानके सिवाय रहा ही क्या, जिसका वह कर्ता हो सके ? इस स्थितिमे आत्माको परभावका कर्ता कहना, यह व्यवहारी जीवोका मोह ही है—अज्ञान ही है ॥६२॥

आगे यही दिखाते हैं—

ववहारेण दु आदा करेदि घड-पड-रथाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥ ९८ ॥

अर्थ—आत्मा व्यवहारनयसे घट, पट, रथ आदि कार्योंको करता है, स्पर्शनादि पञ्च-इन्द्रियोको करता है, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों तथा क्रोधादिक भावकर्मोंको करता है और शरीरादिक नानाप्रकारके नोकर्मोंको करता है।

विशेषार्थ—क्योकि व्यवहारी जीवोको जिस प्रकार यह प्रतिभास होता है कि यह आत्मा अपने विकल्प और प्रयत्नके द्वारा घटादिक परद्रव्यरूप बाह्य कर्मको करता है उसी प्रकार क्रोधादिक परद्रव्यरूप समस्त अन्त कर्मको भी करता है क्योकि दोनोमे कुछ विशेषता नही है, ऐसा व्यामोह अनादिकालसे है, सो यह समीचीन नही है ॥९८॥

आगे वह व्यामोह समीचीन क्यो नही है, यह दिखाते हैं—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥ ९९ ॥

अर्थ—यदि यह आत्मा परद्रव्योको करे तो नियमसे तन्मय हो जावे, किन्तु यह आत्मा तन्मय नही होता, इसलिये परद्रव्योका कर्ता नही होता।

विशेषार्थ—यदि निश्चयकर यह आत्मा परद्रव्यात्मक कर्मको करनेवाला हो जावे तो परिणामपरिणामिभावकी अन्यथा अनुपपत्ति होनेसे नियमसे तद्रूप हो जावे, किन्तु ऐसा बन नही सकता, क्योकि भिन्नद्रव्यरूप होनेसे स्वीयद्रव्यका उच्छेद हो जावे। अत यह सिद्धान्त निर्विवाद सिद्ध हुआ कि एकद्रव्य अन्यद्रव्यरूप नही हो सकता है। इसलिये व्याप्यव्यापकभावके द्वारा आत्मा परद्रव्यका कर्ता नही है।

एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे अत्यन्ताभाव है, अत वह अन्य द्रव्यरूप नही हो सकता और अन्यरूप हुए बिना कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका कर्ता नही हो सकता। निश्चयदृष्टिसे जिसमे व्याप्यव्यापकभाव होता है उसीमे कर्तृ-कर्मभाव बनता है, जैसे घट व्याप्य है और मिट्टी व्यापक है, तो यहाँ घटका कर्ता मिट्टी हो सकती है क्योकि मिट्टी घटाकार परिणत हो जाती है। परन्तु आत्मा घटपटादिरूप परिणमन त्रिकालमे भी नही कर सकता, इसलिये आत्माको घटपटादिकका कर्ता मानना समीचीन नही है। यह उपादानदृष्टिसे कथन है। इसमे उपादानोपादेयभावकी प्रधानता रहती है और निमित्त-नैमित्तिकभावकी गौणता होती है ॥९९॥

आगे निमित्तनैमित्तिकभावसे भी आत्मा घटपटादिकका कर्ता नहीं है, यह दिखाते हैं—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥

अर्थ—जीवद्रव्य न तो घटको करता है, न पटको करता है और न बाकीके अन्य द्रव्योको करता है, किन्तु आत्माके योग और उपयोग उन सब कार्योके कर्ता होते हैं।

विशेषार्थ—जो घटादिक और क्रोधादिक परद्रव्यात्मक कर्म है यदि इन्हे आत्मा व्याप्य-व्यापकभावसे करे तो तद्रूपताका प्रसङ्ग आ जावे और निमित्त-नैमित्तिकभावसे करे तो नित्य-कर्तृपनका प्रसङ्ग आ जावे, परन्तु ऐसा है नही, क्योकि न तो आत्मा उनसे—तन्मय ही है और न नित्यकर्ता ही है। अत न तो व्याप्यव्यापकभावसे कर्ता है और न निमित्तनैमित्तिकभावसे कर्ता है। किन्तु अनित्य जो योग और उपयोग है वे ही घटपटादिद्रव्योके निमित्त कर्ता है। उपयोग और योग आत्माके विकल्प और व्यापार है अर्थात् जब आत्मा ऐसा विकल्प करता है कि मै घट-को बनाऊँ तब काययोगके द्वारा आत्माके प्रदेशोमे चञ्चलता आती है और उस चञ्चलताकी निमित्तता पाकर हस्तादिकके व्यापार द्वारा दण्डनिमित्तक चक्रभ्रमि होती है तब घटादिककी निष्पत्ति होती है। यह विकल्प और योग अनित्य हैं, कदाचित् अज्ञानके द्वारा करनेसे आत्मा इनका कर्ता हो भी सकता है परन्तु परद्रव्यात्मक कर्मोका कर्ता नही हो सकता है।

यहाँ निमित्तकारणको दो भागोमे विभाजित किया गया है—एक साक्षात् निमित्त और दूसरा परम्परा निमित्त। कुम्भकार अपने योग और उपयोगका कर्ता है, यह साक्षात् निमित्तकी अपेक्षा कथन है क्योकि इनके साथ कुम्भकारका साक्षात् सम्बन्ध है और कुम्भकारके योग तथा उपयोगसे दण्ड तथा चक्रादिकमे जो व्यापार होता है तथा उससे जो घटादिककी निष्पत्ति होती है वह परम्परानिमित्तकी अपेक्षा कथन है। यहाँ परम्परानिमित्तसे होनेवाले निमित्त-नैमित्तिकभाव-को गौणकर कथन किया गया है। लोकमे जो यह व्यवहार प्रचलित है कि कुम्भकार घटका कर्ता है और कुविन्द पटका कर्ता है, यह परम्परानिमित्तसे जायमान निमित्त-नैमित्तिकभावकी अपेक्षा कथन है[1] ॥ १०० ॥

आगे ज्ञानी जीव ज्ञानका ही कर्ता है, यह कहते है—

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥१०१॥

अर्थ—जो ज्ञानावरणरूप पुद्गलद्रव्योके परिणाम होते है उन परिणामोको आत्मा नही करता है, ऐसा जो जानता है वह ज्ञानी होता है।

विशेषार्थ—जैसे गोरसके दधि और दुग्ध परिणाम होते है, उन परिणामोमे दधि खट्टा और दुग्ध मधुर होता है। तटस्थ गोपाल उन परिणामोका कर्ता नही है, किन्तु देखने-जाननेवाला है क्योकि उनके निमित्तसे जो ज्ञान होता है वह आत्मासे व्याप्य है अर्थात् आत्मा व्यापक है और दधि-दुग्धका ज्ञान व्याप्य है। ऐसे ही पुद्गलद्रव्यके जो ज्ञानावरणरूप परिणाम है उनका करनेवाला आत्मा नही है क्योकि उन परिणामोकी पुद्गलद्रव्यके साथ ही व्याप्ति है, ज्ञानावरण-कर्म व्याप्य है और पुद्गलद्रव्य व्यापक है। ज्ञानावरणरूप परिणामोके निमित्तसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आत्मद्रव्यसे व्याप्त है अत उन परिणामोका जाननेवाला आत्मा है। इस तरह आत्मा अपने ज्ञानका ही कर्ता है। इसी पद्धतिसे ज्ञानावरणपदको परिवर्तित कर कर्मसूत्रके विभागोपन्यास द्वारा दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन सात सूत्रोके साथ मोह,

---

१. इति परम्परया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्वं स्यात्। यदि पुन मुख्यवृत्त्या निमित्तकर्तृत्व भवति तर्हि जीवस्य नित्यत्वात् सर्वदैव कर्मकर्तृत्वप्रसङ्गात् मोक्षाभाव.। (तात्पर्यवृत्ति)

राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन ये सोलह सूत्र व्याख्यान करनेके योग्य हैं। इसी रीतिसे अन्यका भी ऊहापोह कर लेना चाहिये ॥ १०१ ॥

आगे ज्ञानीकी तो कथा दूर रही, अज्ञानी भी परभावका कर्ता नहीं होता है, यही दिखाते है—

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०२॥

अर्थ—आत्मा जिस शुभ-अशुभ भावको करता है निश्चयसे वह उसका कर्ता होता है और वह भाव उस आत्माका कर्म होता है तथा वही आत्मा उस भावका भोक्ता होता है।

भावार्थ—निश्चयसे इस संसारमें यह आत्मा अनादिकालीन अज्ञानके प्रभावसे पर और आत्मामें एकत्वका अध्यास कर रहा है। उस एकत्वाध्यासके कारण मन्द और तीव्र स्वादवाली पौद्गलिक कर्मोंकी विपाकदशासे यद्यपि स्वय कभी चलायमान न होनेवाले एक विज्ञानघन स्वादसे युक्त है तो भी उसके स्वादमे भेद डालता हुआ अज्ञानरूप जिस शुभ-अशुभको करता है उस भावसे उस कालमें तन्मयीभाव होनेसे व्यापक होनेके कारण आत्मा उस भावका कर्ता होता है और वह भाव तन्मयीभाव होनेसे व्याप्य होनेके कारण आत्माका कर्म होता है तथा वही आत्मा उस-कालमें तन्मयीभावसे भावक होनेके कारण उस भावका भावक अर्थात् अनुभव करनेवाला होता है और वह भाव भी तन्मयीभावसे भाव्य होनेके कारण आत्माका अनुभाव्य अर्थात् अनुभव करने योग्य होता है। तात्पर्य यह हुआ कि अज्ञानी आत्मा उस शुभादिक भावका अनुभव करनेवाला होता है और वह भाव उस आत्माके अनुभवमें आनेसे अनुभाव्य कहलाता है। इस पद्धतिसे अज्ञानी जीव भी परभावका कर्ता नही होता है।

यद्यपि आत्मा परमार्थसे अपने एक विज्ञानघन स्वादसे कभी विचलित नही होता तो भी पुद्गलमय कर्मके मन्दोदयमें शुभरूप और तीव्रोदयमें अशुभरूप परिणाम करता हुआ उसके साहजिक स्वभावमे भेद डाल देता है। यह शुभ और अशुभ दोनो प्रकारके भाव आत्माके अज्ञानमय-भाव हैं और वे वास्तवमे आत्मस्वभावसे भिन्न हैं, परन्तु अनादिकालीन अज्ञानके कारण यह जीव उन्हे स्वकीय मान रहा है। इस अज्ञानदशाकी अपेक्षा भी जब जीवके कर्तृ-कर्म और भोक्तृ-भोग्य-भावका विचार करते हैं तब यही निष्कर्ष निकलता है कि जीव अपने शुभ-अशुभ भावोका ही कर्ता और भोक्ता हो सकता है, परद्रव्यका कर्ता और भोक्ता नही हो सकता। यद्यपि परमार्थसे जीव शुभ-अशुभ भावोका भी कर्ता और भोक्ता नही है तो भी यहाँ अशुद्ध उपादानकी अपेक्षा उसे उनका कथंचित् कर्ता और भोक्ता कहा गया है। तथापि परभावका कर्त्ता तो वह कदापि नही है ॥ १०२ ॥

आगे परभाव परके द्वारा हो भी नहीं सकता, यही दिखाते है—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण सकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१०३॥

अर्थ—जो वस्तु जिस द्रव्य और गुणमे वर्तता है वह वस्तु अन्य द्रव्य व गुणमे सक्रमणरूप नही होता अर्थात् अन्यरूप पलटकर नही होता। वह वस्तु जब अन्यमे सक्रमण नही करता है तब अन्य द्रव्यको कैसे परिणमा सकता है ?

विशेषार्थ—इस लोकमे जितने कुछ वस्तु-विशेष है वे सब अपने चेतनस्वरूप अथवा अचेतन-स्वरूप द्रव्य और गुणमे सहज स्वभावसे अनादिसे ही वर्त रहे है, वस्तुस्थितिकी इस अचलित सीमाका कोई उल्लङ्घन नही कर सकता। इसलिये जो वस्तु जिस द्रव्य और गुणरूप अनादिसे है वह उसी द्रव्य और गुणरूप सदा रहती है, अन्य द्रव्य और अन्य गुणमे उसका सक्रमण नही हो सकता, अर्थात् पलटकर अन्यरूप नही हो सकता। जब अन्य द्रव्य और अन्य गुणमे उसका सक्रमण नही तब वह उन्हे अन्यरूप कैसे परिणमा सकता है ? इससे यह निश्चय हुआ कि परभाव किसीके द्वारा नही किया जा सकता है ॥ १०३ ॥

अतः निश्चित हुआ कि आत्मा पुद्गलकर्मोका कर्त्ता नही है, यही दिखाते है—

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयम्हि कम्मम्म ।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता ॥१०४॥

अर्थ—आत्मा पुद्गलमय ज्ञानावरणादिकर्ममे न तो अपने द्रव्यको करता है और न गुणको करता है। जब वह उसमे द्रव्य-गुण—दोनोको नही करता तब वह उसका कर्ता कैसे हो सकता है ?

विशेषार्थ—जैसे निश्चयसे मृत्तिकामय कलश कर्म, मृत्तिका द्रव्य और मृत्तिकाके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णरूप, गुणोमे स्वभावसे विद्यमान रहता है, क्योकि वस्तुकी मर्यादासे, भिन्न द्रव्य और भिन्न गुणका भिन्न द्रव्य और भिन्न गुणमे प्रवेश निषिद्ध है। अत कलशकार उस कलशमे न तो अपने आपको प्रविष्ट कराता है और न अपने गुणोको ही प्रविष्ट कराता है। अन्य द्रव्यमे प्रवेश किये बिना अन्य वस्तुको परिणमाना अशक्य है। इसलिये जब कलशकार कलशमे अपने द्रव्य और अपने गुणोको धारण नही कर सकता तब तत्त्वदृष्टिसे वह उसका कर्ता प्रतिभासमान नही होता। ऐसे ही पुद्गलमय ज्ञानावरणादिकर्म, पुद्गलद्रव्य और उसके गुणोमे स्वभावसे हो रह रहा है। क्योकि अन्यद्रव्यका अन्यद्रव्यमे और अन्यगुणका अन्यगुणमे प्रवेश नही कराया जा सकता, इसलिये आत्मा उस ज्ञानावरणादिकर्ममे न तो अपने आत्माको धारण करता है और न अपने गुणोको धारण करता है। अन्य द्रव्यमे प्रवेश किये बिना अन्यवस्तुका परिणमाना अशक्य है। इसलिये जब आत्मा ज्ञानावरणादिकर्ममे अपने द्रव्य और गुणोको धारण नही कर सकता तब तत्त्वदृष्टिसे वह उनका कर्ता कैसे प्रतिभासित हो सकता है। अत परमार्थसे यही सिद्ध हुआ कि आत्मा पुद्गलकर्मोका कर्ता नही है ॥१०४॥

आगे इससे अन्य जो कथन है वह उपचार है, यह कहते हैं—

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं ।
जीवेण कद कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥१०५॥

अर्थ—यह जीव जब रागादिभावरूप परिणमन करता है तब जीवके निमित्तको पाकर

पुद्‌गलद्रव्यका ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन हो जाता है उसे देखकर उपचारमात्रसे यह कहा जाता है कि जीवने ज्ञानावरणादिकर्म किये।

विशेषार्थ—निश्चयसे इस लोकमें आत्मा स्वभावसे पौद्‌गलिक ज्ञानावरणादि कर्मोंका निमित्त नही है, यह वस्तुकी मर्यादा है परन्तु अनादिकालीन मोहका सम्बन्ध होनेसे आत्मामे अनेक प्रकारके अज्ञानभाव होते है उनका निमित्त पाकर पौद्‌गलिक ज्ञानावरणादिकर्मोंका स्वयमेव आत्माके साथ एकक्षेत्रावगाहरूप बन्ध हो जाता। उसे देखकर 'आत्माने कर्म किये' ऐसा निर्विकल्प ज्ञानसे भ्रष्ट और विकल्पोंसे तन्मय जीवोंका विकल्प होता है परन्तु वह उपचार ही है, परमार्थ नही है।

वास्तवमें आत्मा और पुद्‌गलमे जो वैभाविक शक्ति है उसके कारण आत्मामे रागादिरूप और पुद्‌गलद्रव्यमे ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणमन स्वय होता है, ऐसा उपादानकी प्रमुखतामे कथन होता है और जीवके रागादिभावोंका निमित्त पाकर पुद्‌गलद्रव्यमे कर्मरूप परिणमन होता है ऐसा निमित्तकी प्रधानतामे कथन होता है। निमित्तकी प्रधानतामे द्रव्यके स्वकीय परिणमनको गौणकर परद्रव्यजनित परिणमनको प्रमुखता दी जाती है, इसलिये वह उपचारकथन कहलाता है ॥ १०५॥

आगे इस उपचारकथनको दृष्टान्तद्वारा प्रतिपादित करते हैं—

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो।
तह ववहारेण कद णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥

अर्थ—जैसे रणभूमिमे योद्धा लोग जाकर युद्ध करते है अर्थात् युद्धके करनेवाले शूरवीर योद्धा ही है परन्तु लौकिक मनुष्योंका यह व्यवहार है कि राजाने युद्ध किया। ऐसे ही लौकिक मनुष्योका यह व्यवहार है कि ज्ञानावरणादि कर्म जीवने किये।

भावार्थ—जिस प्रकार युद्धरूप परिणामसे स्वय परिणमन करनेवाले योद्धाओके द्वारा युद्ध किये जानेपर स्वय युद्धरूप परिणमन न करनेवाले राजाके विषयमे लोग ऐसा कथन करते है कि यह युद्ध राजाने किया है, परन्तु ऐसा कथन उपचार है, परमार्थ नही। इसी प्रकार ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणामसे स्वय परिणमन करनेवाले पुद्‌गलद्रव्यके द्वारा ज्ञानावरणादिकर्मोंके किये जाने पर ज्ञानावरणादि कर्मरूप स्वय परिणमन न करनेवाले आत्माके विषयमे व्यवहारसे ऐसा कथन होता है कि जीवने ज्ञानावरणादि कर्म किये, परन्तु यह कथन उपचार है, परमार्थ नही।

जिस प्रकार युद्धरूप परिणमन होता तो योद्धाओमे है परन्तु उसके कर्तृत्वका आरोप राजामे किया जाता है उसी प्रकार कर्मरूप परिणमन होता तो पुद्‌गलद्रव्यमे है परन्तु उसके कर्तृत्व-आरोप जीवमे किया जाता है। अन्य द्रव्यके परिणमनका अन्य द्रव्यमे आरोपकर कथन करना उपचारकथन है। व्यवहारनयसे ऐसा कथन होता है, निश्चयसे नही ॥१०६॥

आगे इसी व्यवहारनयके कथनको दिखलाते हैं—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥१०७॥

अर्थ—आत्मा पुद्गलद्रव्यको उत्पन्न करता है, कराता है, बाँधता है, परिणमाता है और ग्रहण करता है यह व्यवहारनयका कथन है। वास्तवमे न तो उत्पन्न करता है, न कराता है, न बाँधता है, न परिणमाता है और न ग्रहण करता है, केवल व्यवहारकी यह महिमा है।

विशेषार्थ—प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यके भेदसे पुद्गलद्रव्यात्मक कर्मके तीन भेद है। व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे यह आत्मा तीनो प्रकारके पुद्गलद्रव्यात्मक कर्मको न ग्रहण करता है, न परिणमाता है, न उपजाता है, न करता है और न बाँधता है परन्तु व्याप्यव्यापक-भावके अभावमे भी जो ऐसा कथन किया जाता है कि आत्मा उपर्युक्त तीन प्रकारके पुद्गल-द्रव्यात्मक कर्मको ग्रहण करता है, परिणमाता है, उपजाता है, करता है और बाँधता है, यह उपचार कथन है। यह उपचारकथन व्यवहारनयका विषय है ॥१०७॥

आगे इसी उपचारको दृष्टान्त द्वारा दिखाते है—

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥१०८॥

अर्थ—जिस प्रकार व्यवहारसे राजा, प्रजामे दोष और गुणोका उत्पादक है, ऐसा कहा गया है उसी प्रकार व्यवहारसे जीव, पुद्गलद्रव्यके गुणोका उत्पादक है, ऐसा कहा गया है। ऐसी पुरानी श्रुति भी है—

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठा पापे पापा समे समा।
राजानुमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा ॥

अर्थात् राजाके धर्मात्मा बननेपर लोग धर्मात्मा होते है, पापी होनेपर पापी होते है और सम होनेपर सम होते है। लोग राजाका ही अनुसरण करते हैं। सो ठीक ही है क्योकि जैसा राजा होता है वैसी प्रजा होती है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार लोगोके गुण और दोष व्याप्यव्यापकभाव होनेसे स्वभावसे ही उत्पन्न होते है, राजाके साथ उनका कोई व्याप्यव्यापकभाव नही रहता, तो भी राजा उन गुणो और दोषोका उत्पादक है, ऐसा उपचार होता है, उसी प्रकार व्याप्यव्यापकभाव होनेसे पुद्गल-द्रव्यके गुण और दोष स्वभावसे ही उत्पन्न होते है, जीवके साथ उनका व्याप्यव्यापकभाव नही रहता तो भी जीव उनका उत्पादक है, ऐसा उपचार होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे लोकके व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्धके द्वारा स्वभावसे ही गुणो और दोषोकी उत्पत्ति होती है, उनके होनेमे राजाके व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्धका अभाव है तो भी उन गुणो और दोषोका उत्पन्न करनेवाला राजा है, ऐसा उपचार है। ऐसे ही व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्धके द्वारा पुद्गलद्रव्यके गुण और दोप स्वभावसे ही उत्पन्न होते है, उनके होनेमे जीवका व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध नही है तो भी जीव उनका उत्पादक है, ऐसा उपचार होता है ॥१०८॥

अब आगे यदि जीव पुद्गलकर्मका कर्ता नही है तो फिर कौन है? यह आशङ्का उठा कर कलशाद्वारा आगामी कथनकी भूमिका दिखाते है—

वसन्ततिलकाछन्द

जीव. करोति यदि पुद्गलकर्म नैव
कर्स्ताहि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय
सकीर्त्यते श्रृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥६३॥

अर्थ—यदि जीव पुद्गलकर्मको नही करता है तो फिर कौन करता है ? इस आशङ्कासे ही इस समय तीव्र वेगशाली मोहको दूर करनेके लिये पुद्गलकर्मके कर्ताका निरूपण किया जाता है, हे भव्यजनो ! सुनो।

भावार्थ—ऊपरकी गाथाओंमे यह कथन किया गया है कि पुद्गलकर्मका कर्ता जीव नही है। इस स्थितिमे इस आशङ्काका उठना स्वाभाविक है कि यदि इन्हे जीव नही करता है तो कौन करता है ? क्योकि व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे जिस प्रकार जीव इनका कर्ता नही है उसी प्रकार निर्बुद्धि होनेसे पुद्गल भी इनका कर्ता नही हो सकता। इस प्रकार पुद्गलकर्मके कर्तापनके विषयमें जो अत्यन्त तीव्र अज्ञान फैला हुआ है उसका निराकरण करनेके लिये पुद्गलकर्मके कर्ता-का वर्णन किया जाता है। हे भव्यजनो ! उसे श्रवण करो ॥६३॥

आगे कर्मबन्धके कारण बतलाते हैं—

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य बोद्धव्वा ॥१०९॥
तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरस-वियप्पो।
मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥११०॥
एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा।
ते जदि करंति कम्मं ण वि तेसिं वेदगो आदा ॥१११॥
गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥११२॥

(चतुष्कम्)

अर्थ—निश्चयसे बन्धके करनेवाले सामान्यरूपसे चार कारण कहे है। उनके नाम मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जानना चाहिये।

इन्हींके मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर सयोगकेवलीपर्यन्त तेरह भेद कहे गये हैं, क्योकि ये गुणस्थान पुद्गलकर्मके उदयसे होते हैं, अत अचेतन है। यदि ये गुणस्थान कर्मोको करते है तो आत्मा उनका भोक्ता नही होता है।

ये प्रत्यय (कारण) गुणस्थाननाम वाले हैं तथा क्योंकि ये ही कर्मोको करते है, इसलिये जीव अकर्ता है। ये गुणस्थान इन कर्मोको करते है।

विशेषार्थ—निश्चयसे पुद्गलकर्मका कर्ता एक पुद्गलद्रव्य ही है। उसीके विशेष मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग है, जो सामान्यरूपसे बन्धके चार हेतु कहे गये हैं। ये चार हेतु ही भेद करनेपर मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर सयोगकेवलीपर्यन्त तेरह प्रकारके हैं। ये तेरह गुणस्थान पुद्गलकर्मके उदयके विकल्पस्वरूप होनेसे अत्यन्त अचेतन है, अत: अचेतन पुद्गल कर्मोके साथ इनका व्याप्यव्यापकभाव बन जाता है। इस स्थितिमे यदि ये किसी पुद्गलकर्मको करें तो करे, इसमे जीवका क्या आया ? अथात् अचेतन गुणस्थान अचेतन पुद्गलकर्मोके कर्ता यदि होते हैं तो हो, उनके कर्तृत्वसे जीवमे कर्तृत्व सिद्ध नही हो सकता। यदि कदाचित् यह तर्क किया जावे कि पुद्गलात्मक मिथ्यात्वादि भावोको वेदन करता हुआ जीव स्वयमेव मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्मको करता है तो निश्चयसे यह अज्ञान है क्योकि आत्माका उन पुद्गलमय भावोके साथ भाव्यभावकभावका अभाव है। इस स्थितिमे जब आत्मा पुद्गलमय मिथ्यात्व आदि भावोका वेदक ही नही है तब पुद्गलमय मिथ्यात्वादि कर्मोंका कर्ता किस प्रकार हो सकता है ? इससे यह सिद्धान्त आया कि पुद्गलद्रव्यमय चार सामान्य प्रत्ययोके विकल्पस्वरूप तथा गुणस्थानके नामसे व्यवहृत होनेवाले जो तेरह प्रकारके विशेष प्रत्यय है वे अकेले ही अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूपसे निरपेक्ष रहकर ही कर्मोको करते है। इस तरह जीव पुद्गलकर्मोका अकर्ता है उक्त तेरह गुणस्थान ही पुद्गलकर्मोके कर्ता हैं और वे गुणस्थान पुद्गलद्रव्यके विपाकसे जायमान होनेके कारण पुद्गलद्रव्य ही हैं। इससे सिद्ध हुआ कि पुद्गल कर्मोका कर्ता एक पुद्गलद्रव्य ही है।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगके निमित्तसे आत्माके गुणोमे जो तारतम्य होता है उसे गुणस्थान कहते हैं। ये गुणस्थान यद्यपि आगममें चौदह बतलाये गये है, परन्तु चौदहवे गुणस्थानमें मोह और योग दोनोका अभाव हो जानेसे कर्मबन्धका कुछ भी कारण नही है, इसलिये यहाँ बन्धके विशेष प्रत्ययोमे मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर सयोगकेवलीपर्यन्त तेरह गुणस्थान ही बतलाये हैं। ये गुणस्थान आत्माकी शुद्ध परिणतिरूप नही है तथा पुद्गलमय अचेतन कर्मोके उदयमे उत्पद्यमान होनेके कारण निमित्तप्रधानदृष्टिके कथनमे अचेतन हैं। यहाँ अचेतनशब्दसे घटपटादिकके समान सर्वथा जडरूप है, ऐसा नही समझना चाहिये, किन्तु आत्माकी शुद्ध चैतन्यपरिणतिसे भिन्न है, ऐसा आशय समझना चाहिये। ये गुणस्थान ही कर्मोके कर्ता है, गुणस्थान क्योंकि पुद्गलात्मक है इसलिये पुद्गल ही पुद्गलकर्मोका कर्ता है, जीव नही है, यह बात सिद्ध हो जाती है। इस तरह 'जीव करोति यदि पुद्गलकर्म नैव' इस कलशामे जो यह आशंका उठाई गई थी कि यदि जीव पुद्गल कर्मका कर्ता नही है तो फिर उसका कर्ता कौन है ? इस आशकाका उत्तर देते हुए कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान ही कर्मोके कर्ता हैं तथा वे गुणस्थान पुद्गलकर्मके विपाकसे होनेके कारण पुद्गलरूप है ॥ १०९-११२ ॥

आगे जीव और प्रत्ययोंमे एकपन नहीं बन सकता, यह दिखाते है—

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥११३॥

एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो ।
अयमेयत्ते दोसो पच्चय-णोकम्म-कम्माणं ॥११४॥
अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा ।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥११५॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—जिस प्रकार उपयोग जीवसे अभिन्न है उसी प्रकार यदि क्रोध भी जीवसे अभिन्न माना जावे तो ऐसा माननेसे जीव और अजीव दोनोमे एकत्व आता है ।

इस तरह जीव और अजीवमे एकत्व माननेसे ससारमे जो जीव है वही नियमसे अजीव हो जायेगा । जीव और क्रोधके एकत्वमे जो दोप आता है वही दोप प्रत्यय, कर्म और 'नोकर्मोके एकत्वमे भी आता है ।

इस दोपसे बचनेके लिए यदि तेरे मनमे क्रोध अन्य है और उपयोगात्मक आत्मा अन्य है तो जिस प्रकार क्रोध अन्य है उसी प्रकार प्रत्यय, कर्म तथा नोकर्म भी अन्य हैं, ऐसा मानना चाहिये ।

विशेषार्थ—जैसे जीवका तन्मयभाव होनेसे उपयोग जीवसे अभिन्न है, वैसे ही जड क्रोध भी यदि जीवसे अभिन्न माना जावे तो चिद्रूप और जडका अभेद होनेसे जीवके उपयोगमयत्वके सदृश जड क्रोधके साथ भी तन्मयताकी आपत्ति आ जावेगी । और उसके आनेपर जो जीव है वही अजीव हो जावेगा, तब एक द्रव्यका लोप नियमसे मानना पडेगा । इसी प्रकार प्रत्यय, कर्म तथा नोकर्मोकी जीवके साथ अभिन्नता माननेसे यही दोष आवेगा । इसलिये इस दोषके भयसे उपयोगस्वरूप आत्मा अन्य है और जडस्वभाव क्रोध अन्य है, ऐसा स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है । तब जैसे उपयोगस्वरूप जीवसे जडस्वभाव क्रोध अन्य है, ऐसे ही प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी अन्य हैं क्योकि जडस्वभाववाले ये तीनो ही हैं, और इसलिए जडस्वभावताकी अपेक्षा क्रोध और इन तीनोमे कोई विशेषता नही है । इस तरह जीव और प्रत्यय आदिमे एकताकी अनुपपत्ति है[1] ॥११३–११५॥

---

१. किञ्च शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्याकर्तृत्वमभोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्व च भवतीति व्याख्याने कृते सति द्वितीयपक्षे व्यवहारेण कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्चाभिन्नत्व च लभ्यते एव । कस्मात् ? निश्चय-व्यवहारयो परस्परसापेक्षत्वात् । कथमिति चेत् ? यथा दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्यय देवदत्त इत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यनुक्त सिद्धमिति । ये तु पुनरेव परस्परसापेक्षनयविभाग न मन्यन्ते साख्यसदाशिव-मतानुसारिणस्तेषा मते यथा शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवति क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि । ततश्च क्रोधादिपरिणमनाभावे सति सिद्धानामिव कर्मबन्धाभाव । कर्मबन्धाभावे ससाराभाव, संसाराभावे सर्वदा मुक्तत्व प्राप्नोति । स च प्रत्यक्षविरोध, संसारस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानत्वादिति ।

(*तात्पर्यवृत्ति*)

यहाँ शुद्धनिश्चयनयसे जीव अकर्ता है, अभोक्ता है तथा क्रोधादिकसे भिन्न है ऐसा व्याख्यान किये जाने पर दूसरे पक्षमें व्यवहारनयसे जीव कर्ता है और भोक्ता है तथा क्रोधादिकसे अभिन्न है, यह बात स्वयं प्राप्त होती है क्योकि निश्चय और व्यवहारनय परस्परमें सापेक्ष है । जिस प्रकार देवदत्त दाहिने

अब पुद्गलद्रव्य परिणमनशील है, यह सांख्यमतके अनुयायी शिष्यके प्रति कहते हैं—

जीवे ण सयं बद्धं ण परिणमदि कम्मभावेण ।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥११६॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संख-समओ या ॥११७॥
जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा ॥११८॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥११९॥
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चि य होदि पुग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥१२०॥
(पञ्चकम्)

अर्थ—यह पुद्गलद्रव्य जीवके साथ न तो स्वय बँधा है और न स्वय कर्मभावसे परिणमन करता है। यदि ऐसा माना जाय तो वह अपरिणामी हो जावेगा तथा जब कार्मण वर्गणाएँ कर्मरूपसे परिणमन नही करेगी तब ससारका अभाव हो जायगा अथवा साख्यमतका प्रसङ्ग आ जावेगा। इस दोषका निवारण करनेके लिये यदि ऐसा माना जावे कि जीव पुद्गलद्रव्योको कर्मरूपसे परिणमाता है तो यहाँपर दो प्रश्न उठते हैं—पुद्गलद्रव्य स्वय कर्मरूप परिणमन करनेवालेको कर्मरूप परिणमाता है ? या स्वय कर्मरूप नही परिणमन करने वालोको परिणमाता है ? यदि वे स्वय नही परिणमन करनेवाले है तो आत्मा उन्हे कैसे परिणमन करा सकेगा ? और यदि वे स्वय परिणमते है तो जीव उन्हे कर्मभावरूप परिणमाता है, यह कहना अलीक है। अत सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्य ही कर्मरूप परिणत होता हुआ नियमसे कर्मरूप होता है तथा वही ज्ञानावरणादिरूप परिणत होता है, ऐसा जानो।

विशेषार्थ—पुद्गलद्रव्य जीवके साथ अपने आप बन्ध-अवस्थारूप नही है, यदि ऐसा माना जावे तो ऐसा माननेमे वह पुद्गलद्रव्य अपरिणामी हो जावेगा और अपरिणामी होनेपर ससारका अभाव हो जावेगा। यदि ऐसा माना जावे कि जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्यको कर्मभावसे परिणमन कराता है क्योकि ऐसा माननेसे न तो ससारका अभाव होगा और न साख्यमतकी आपत्ति आवेगी,

नेत्रसे देखता है, यह कहने पर बाये नेत्रसे नही देखता, यह बात बिना कहे ही आ जाती है उसी प्रकार निश्चयके कहने पर व्यवहारका पक्ष बिना कहे ही आ जाता है। किन्तु जो लोग परस्परमे सापेक्षनयविभागको नही मानते हैं वे साख्य अथवा सदाशिव मतके अनुयायी हैं। उनके मतमे जिस प्रकार जीव शुद्धनिश्चयनयसे कर्ता नही होता तथा क्रोधादिकसे भिन्न रहता है उसी प्रकार व्यवहारसे भी है। तब ऐसा मानने पर क्रोधादिरूप परिणमनका अभाव होने पर सिद्धोके समान कर्मबन्धका अभाव हो जावेगा, कर्मबधका अभाव होने पर संसारका अभाव हो जायगा, ससारका अभाव होने पर सर्वदा मुक्तपनका प्रसङ्ग आ जावेगा और वह प्रत्यक्षका विरोध कहलावेगा, क्योकि ससार प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

ऐसा तर्क किया जावे, तो ऐसी आशङ्का होती है कि अपने आप नही परिणमन करनेवाले पुद्गल-द्रव्यको जीव कर्मभावरूप परिणमाता है ? अथवा अपने आप परिणमते हुए पुद्गलद्रव्यको कर्मभाव-रूप परिणमाता है ? इनमे प्रथम पक्ष ठीक नही है क्योकि अपने आप परिणमन न करने वालेको अन्य तद्रूप परिणमन करानेमे सर्वथा असमर्थ है, "जो शक्ति स्वय नही है वह दूसरेके द्वारा नही की जा सकती।" यदि दूसरा पक्ष अगीकृत किया जावे अर्थात् स्वय परिणमनशील है ऐसा माना जावे तो परने क्या किया ? "अपने आप परिणमता हुआ पदार्थ अन्य परिणमन कराने वालेकी अपेक्षा नही करता, क्योकि वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा कभी नही करती है।" इससे यह बात सिद्ध हुई कि पुद्गलद्रव्य अपने आप परिणामस्वभाववाला है। ऐसा होनेपर जैसे कलशरूप परिणत मिट्टी स्वयमेव कलश है वैसे ही जडस्वभाव ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत जो पुद्गलद्रव्य है वही स्वय ज्ञानावरणादिकर्म है। इस तरह पुद्गलद्रव्यका परिणामस्वभाव सिद्ध हो जाता है ॥११६-१२०॥

इसीके समर्थनमे श्रीअमृतचन्द्रस्वामी कलशा लिखते हैं—

उपजातिछन्द

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य
स्वभावभूता परिणामशक्ति ।
तस्या स्थिताया स करोति भाव
यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥६४॥

अर्थ—इस पद्धतिसे पुद्गलद्रव्यकी परिणमनशक्ति निर्विघ्न स्वभावभूत सिद्ध है। उस शक्तिके रहते हुए पुद्गलद्रव्य अपने जिस भावको करता है उस भावका वही पुद्गलद्रव्य कर्ता होता है।

भावार्थ—यहाँ उपादानकी प्रधानतासे पुद्गलद्रव्यको ही कर्मका कर्ता बताया गया है।

इस प्रकार पुद्गलद्रव्यके परिणामस्वभावको सिद्ध कर अब जीवके परिणामस्वभावको सिद्ध करते हैं—

ण सय बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदी ॥१२१॥
अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२२॥
पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥१२३॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥१२४॥
कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१२५॥
(पञ्चकम्)

अर्थ—यदि तुम्हारा यह मत हो कि यह जीव न तो अपने आप कर्मके साथ बँधा है और न स्वय क्रोधादिरूप परिणमन करता है तो वह अपरिणामी हो जावेगा और जब जीव क्रोधादिक भावरूप स्वय परिणमन नही करेगा तब ससारका अभाव हो जावेगा अथवा साख्यसिद्धान्तकी आपत्ति उपस्थित होगी। उसका वारण करनेके लिए यदि ऐसा माना जावे कि पुद्गलकर्म क्रोधादिक (द्रव्यकर्म) जावको क्रोधादिरूप (भावकर्मरूप) परिणमाते है तो सहज ही यह आशङ्का होती है कि पुद्गलकर्म क्रोध, अपने आप क्रोधादिरूप परिणमन करने वाले जीवको क्रोधादिरूप परिणमाता हे ? या नही परिणमन करने वाले जीवको क्रोधादिरूप परिणमाता है ? प्रथम पक्षमे स्वय क्रोधादिरूप न परिणमते हुए जीवको पुद्गलकर्म क्रोधादिक तद्रूप कैसे परिणमा सकता है ? द्वितीय पक्षमे जीव स्वय क्रोधादिरूप परिणमन करता है, ऐसी यदि तुम्हारी बुद्धि है तो फिर पुद्गलकर्म क्रोधादिक जीवको क्रोधादिरूप परिणमाता है, यह कहना नितान्त मिथ्या हो जावेगा। अत यह सिद्ध हुआ कि जब आत्मा क्रोधसे उपयुक्त होता है तब स्वय क्रोध है, जब मानसे उपयुक्त होता है तब स्वय मान है, जब मायासे उपयुक्त होता है तब स्वय माया है और जब लोभसे उपयुक्त होता है तब स्वय लोभ है।

विशेषार्थ—जीव कर्मके साथ न तो स्वय बँधा है और न स्वय क्रोधादिरूप परिणमन करता है, यदि ऐसा माना जावे तो जीव अपरिणामी ही ठहरता है और ऐसा होनेपर ससारके अभावका प्रसङ्ग आता है। इसके निवारणके लिए यदि यह तर्क उपस्थित किया जावे कि पुद्गलकर्म क्रोधादिक, जीवको क्रोधादिभावरूप परिणमाता है, इससे ससारका अभाव नही होगा, तो यहाँ यह आशङ्का होती है कि पुद्गलकर्म क्रोधादिक, अपने आप न परिणमते हुए जीवको क्रोधादिरूप परिणमाता है ? या अपने आप क्रोधादिरूप परिणमते हुए जीवको क्रोधादिरूप परिणमाता है ? प्रथम पक्षमे स्वय क्रोधादिरूप नही परिणमता हुआ जीव अन्य-पुद्गलकर्मके द्वारा तद्रूप कैसे परिणमाया जा सकता है ? क्योकि जो शक्ति पदार्थमे स्वय नही है वह अन्यके द्वारा नही की जा सकती। द्वितीय पक्षमे यदि स्वय परिणमनशील जीवको पुद्गलद्रव्य क्रोधादि, क्रोधादिभावरूप परिणमाते है, ऐसा माना जावे, तो ठीक नही है क्योकि स्वय परिणमनशील पदार्थ अन्य परिणमन करानेवालेकी अपेक्षा कभी नही करता। जो वस्तुकी शक्तियाँ है वे दूसरीकी अपेक्षा कभी नही करती है, अत यह सिद्ध हुआ कि जीवद्रव्य स्वयमेव परिणामस्वभाववाला है। ऐसा होनेपर जिस प्रकार मन्त्रका साधक जब गरुडका ध्यान करता है तब वह गरुडके ध्यानरूप परिणत होनेसे स्वय गरुड हो जाता हे उसी प्रकार अज्ञानस्वभाव क्रोधादिरूप जिसका उपयोग परिणमन हो रहा है, ऐसा जीव स्वय क्रोधादिरूप हो जाता है। इस तरह जीवद्रव्य परिणामस्वभाववाला है, यह सिद्ध हुआ ॥ १२१-१२५ ॥

यही भाव श्रीअमृतचन्द्रस्वामी कलशामे प्रकट करते है—

उपजातिछन्द

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया
स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥६५॥

अर्थ—इस पद्धतिसे जीवकी स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध होती है उस शक्तिके रहते हुए जीव अपने जिस भावको करता है उसी भावका वह कर्ता होता है।

भावार्थ—वैभाविकी शक्तिके कारण जीवमे क्रोधादिरूप परिणमन करनेकी योग्यता स्वय विद्यमान है। इस योग्यताके रहते हुए पुद्गलमय द्रव्यकर्म क्रोधादिककी विपाकदशाका निमित्त पाकर जीव स्वय क्रोधादिरूप परिणमन करता है। अपनी इस परिणमन-सम्बन्धी योग्यतासे जीव जिस भावको करता है। उसी भावका कर्ता कहलाता है ॥६५॥

आगे इसीको दिखाते हैं—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१२६॥

अर्थ—आत्मा जिस भावको करता है वह उसी भावरूप कर्मका कर्ता होता है। ज्ञानीके वह भाव ज्ञानमय होता है और अज्ञानीके अज्ञानमय।

विशेषार्थ—इस प्रकार यह आत्मा अपने आप परिणामस्वभाववाला है। अत. जब जिस भावको करता है वही भाव इसका कर्म कहलाता है और आत्मा उस भावका कर्ता होता है। ज्ञानी जीवके समीचीनरूपसे स्वपरका भेदज्ञान है। उसके बलसे इसके आत्मख्याति (आत्मानुभूति) का अत्यन्त उदय रहता है। उस आत्मख्यातिके उदयसे इसका वह भाव ज्ञानमय ही होता है। और जो अज्ञानी जीव है उसक स्वपरभेदज्ञानका अभाव है। अतएव उसके शुद्ध आत्मख्यातिका अत्यन्त अस्तपन है। अर्थात् आत्मख्यातिका उसके अभाव है, इसीसे अज्ञानी जीवके अज्ञानमय भाव होता है।

परमार्थसे ससारके प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने परिणमनके कर्ता होते है, वस्तुस्वभावकी यही मर्यादा है। इस मर्यादासे जीव भी अपने ही परिणमनका कर्ता होता है और उसका वह परिणमन ही उसका कर्म कहलाता है। अनादिकालसे जीवका परिणमन रागादि विकारोसे सवलित हो रहा है। इस सवलनके कारण शुद्ध आत्माकी परिणति तिरोहित हो रही है, परन्तु ज्ञानी जीवको स्व और परका यथार्थ भेदज्ञान हो चुकता है, इसलिये उसे शुद्ध आत्माकी परिणतिका अनुभव होने लगता है। आत्माकी शुद्ध परिणति ज्ञानमय परिणति है क्योकि उसीके साथ इसका त्रैकालिक व्याप्यव्यापकभाव रहता है। इस दशामे ज्ञानी जीवका परिणमन ज्ञानरूप होता है। उसी परिणमनका ज्ञानी जीव कर्ता होता है और वही परिणमन ज्ञानी जीवका कर्म होता है। परन्तु अज्ञानी जीवको समीचीन रूपसे स्व और परका भेदज्ञान नही होता, इसलिये वह मोहकर्मके उदयसे जायमान रागादिरूप परिणतिसे भिन्न शुद्ध आत्मपरिणतिका अनुभव करनेमे असमर्थ रहता है। रागादिरूप परिणति आत्माकी निजकी परिणति नही है क्योकि उसके साथ आत्माका त्रैकालिक व्याप्यव्यापकभाव नही है। इस रागादिरूप परिणतिको अज्ञानमयभाव कहते हैं। अज्ञानी जीव इसी अज्ञानमयभावको करता है, इसलिये वह इसीका कर्ता होता है। और वही अज्ञानी जीवका कर्म होता है ॥१२६॥

आगे ज्ञानमयभावसे क्या होता है? और अज्ञानमयभावसे क्या होता है, यह कहते है—

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि ॥१२७॥

अर्थ—अज्ञानी जीवके अज्ञानमयभाव होता है, इसीसे वह कर्मोको करता है और ज्ञानी जीवके ज्ञानमय भाव होता है, इसीसे वह कर्मोको नही करता है।

विशेषार्थ—अज्ञानी जीवके स्व और परका सम्यक् भेदज्ञान नही है। इसीसे उसके आत्मज्ञानका अत्यन्त अभाव है, और उसका अभाव होनेके उसके अज्ञानमय ही भाव होता है, उस अज्ञानमय भावके होनेपर स्व और परमे एकत्वका अध्यास होता है, उस एकत्वाध्यासके कारण ज्ञानमात्र निजस्वरूपसे भ्रष्ट होता हुआ यह जीव पररूप रागद्वेषके साथ एकरूप होकर अहकारमे प्रवृत्ति करता है अर्थात् परद्रव्यको आत्मरूप मानने लगता है और फिर यह मानता है कि मै रागी हूँ, मै द्वेषी हूँ। तथा उस अज्ञानमयभावसे अज्ञानी होकर पररूप रागद्वेपको अपनाकर कर्मोको करता है। किन्तु ज्ञानी जीवके स्व तथा परका समीचीन भेदज्ञान होनेसे परपदार्थसे भिन्न शुद्ध आत्माकी अनुभूतिका अत्यन्त उदय हो जाता है, इसलिये उसके ज्ञानमय ही भाव होता है। उस ज्ञानमय भावके होनेपर स्व-परमे नानात्वरूप भेदज्ञान होनेसे वह ज्ञानमात्र स्व-स्वरूपमे अच्छी तरह स्थिर हो जाता है, पररूप रागद्वेषसे पृथक्भूत होनेके कारण इसका अहकार अर्थात् परपदार्थोमे आत्मभाव स्वय निवृत्त हो जाता है, अत वह स्वय पदार्थोको मात्र जानता ही है, उनमे न राग करता है और न द्वेष। इसीसे ज्ञानी जीव ज्ञानमय भावसे पर जो रागद्वेष है उनरूप अपनेको नही करता हुआ कर्मोको नही करता है। तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जीव भेदज्ञानके अभावमे उदयागत मोह तथा रागद्वेपमे अहकार और ममकार करता हुआ कर्मोका कर्ता होता है। और ज्ञानी जीव भेदज्ञानकी महिमासे उदयागत मोह तथा रागद्वेपमे अहकार और ममकार न करता हुआ कर्मोका कर्ता नही होता है। इस तरह अज्ञानी जीवका अज्ञानमय भाव ही कर्मोका कारण है और ज्ञानी जीवका ज्ञानमय भाव कर्मोका कारण नही है ॥१२७॥

अब आगेकी गाथाओको भूमिकाके लिये प्रश्नरूप कलशा करते है—

आर्याछन्द

ज्ञानमय एव भाव कुतो भवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्य ।
अज्ञानमय सर्व कुतोऽयमज्ञानिनो नान्य ॥६६॥

अर्थ—ज्ञानी जीवके ज्ञानमय ही भाव क्यो होता है अन्य भाव क्यो नही होता और अज्ञानी जीवका सब भाव अज्ञानमय ही क्यो होता है अन्य भाव क्यो नही होता ? ॥६६॥

इसीका आचार्य आगे समाधान करते हैं—

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो ।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ॥१२८॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो ।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥१२९॥

(युग्मम्)

अर्थ—जिस कारण ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय ही भाव उत्पन्न होता है, इसलिए ज्ञानीके निश्चयकर सकल भाव ज्ञानमय ही होते हैं और जिस कारण अज्ञानमय भावसे अज्ञानमय ही भाव

उत्पन्न होता है, इसलिए अज्ञानी जीवके अज्ञानमय भाव ही होते हैं।

विशेषार्थ—जिस कारण निश्चयकर अज्ञानमय भावसे जो कोई भी भाव होता है वह सम्पूर्ण भाव अज्ञानरूपताका अतिक्रमण न करता हुआ अज्ञानमय ही होता है, इस कारण अज्ञानी जीवके जितने भाव हैं वे सब अज्ञानमय ही होते हैं और जिस कारण ज्ञानमय भावसे जो कुछ भी भाव होता है वह सम्पूर्ण भाव ज्ञानरूपताका अतिक्रमण न करता हुआ ज्ञानमय ही होता है, इस कारण ज्ञानी जीवके सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं ॥१२८-१२९॥

इसी भावको कलशामे दिखाते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥६७॥

अर्थ—ज्ञानी जीवके सब भाव ज्ञानसे ही निष्पन्न होते हैं और अज्ञानी जीवके सब भाव अज्ञानसे ही रचे जाते हैं ॥६७॥

आगे इसी सिद्धान्तका दृष्टान्तसे समर्थन करते हैं—

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा।
अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी ॥१३०॥
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३१॥

अर्थ—जैसे सुवर्णमय भावसे सुवर्णात्मक ही कुण्डलादिक होते हैं और लोहमय भावसे लोहरूप ही कड़े आदि उत्पन्न होते हैं वैसे ही अज्ञानी जीवके अज्ञानमय भावसे सम्पूर्ण अज्ञानमय ही भाव उत्पन्न होते हैं और ज्ञानी जीवके ज्ञानमय भावसे सम्पूर्ण भाव ज्ञानमय ही उत्पन्न होते हैं।

विशेषार्थ—जैसे निश्चयसे यद्यपि पुद्गल स्वय परिणामस्वभाववाला है तो भी 'कार्योकी उत्पत्ति कारणोके अनुसार ही होती है' इस सिद्धान्तसे सुवर्णमय भावसे सुवर्ण जातिका अतिक्रमण नही करनेवाले सुवर्णमय कुण्डलादिक पर्याय ही उत्पन्न होते है, लोहनिर्मित कड़े आदि नही। और लोहरूप भावसे लोहजातिका अतिक्रमण नही करने वाले लोहमय कड़े आदिक पर्याय ही उत्पन्न होते हैं, सुवर्ण निर्मित कुण्डलादिक नही। ऐसे ही जीवपदार्थ यद्यपि स्वय परिणामस्वभाव वाला है तो भी 'कार्योकी उत्पत्ति कारणोके अनुसार ही होती है' इस सिद्धान्तसे अज्ञानी जीवके स्वय अज्ञानमय भावसे अज्ञानजातिका अतिक्रमण नही करने वाले नानाप्रकारके अज्ञानमय भाव ही होते हैं, ज्ञानमय नही। और ज्ञानी जीवके स्वय ज्ञानमय भावसे ज्ञानजातिका अतिक्रमण नही करने वाले सब ज्ञानमय ही भाव होते हैं, अज्ञानमय नही ॥१३०-१३१॥

यही भाव कलशामे प्रकट करते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम्।
द्रव्यकर्मनिमित्ताना भावानामेति हेतुताम् ॥६८॥

अर्थ—अज्ञानी जीव अज्ञानमय भावोकी भूमिकाको व्यापकर द्रव्यकर्मके निमित्त जो अज्ञानमय भाव है उनके हेतुपनको प्राप्त होता है।

भावार्थ—अज्ञानी जीवके मोह, राग तथा द्वेषरूप अज्ञानमय भावोके निमित्तसे आगामी द्रव्यकर्मोंका बन्ध होता है ॥६८॥

आगे अज्ञानमय भाव द्रव्यकर्मके हेतु किस प्रकार हैं ? यही दिखाते हैं—

अण्णाणस्स स उदओ जं जीवाणं अतच्च-उवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥१३१॥
उदयो असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥१३३॥
तं जाण जोग उदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१३४॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयपग्गणागयं जं तु।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥१३५॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मईयवग्गणागयं जइया।
तइया दु होदि जीवो परिणामभावाणं ॥१३६॥

(पञ्चकम्)

अर्थ—जीवोके जो अतत्त्वोपलब्धि [अन्यथा पदार्थका जानना] है वह अज्ञानका उदय है अर्थात् जीवोके जब अज्ञानका उदय होता है तब उन्हे यथार्थ पदार्थका भान नही होता है, इसीको विपर्ययज्ञान कहते है। जब जीवोके मिथ्यात्वका उदय होता है तब तत्त्वोंका श्रद्धान नही होता है। जब असयमका उदय होता है, उस कालमे अशमात्र भी त्याग नही होता, इसीका नाम अविरमण है। जब जीवोके कषायोका उदय होता है तब उपयोग कलुषित हो जाता है। जो जीवोका शुभ अथवा अशुभ, करने योग्य अथवा न करने योग्य चेष्टाका उत्साह है उसे योगोका उदय जानो। हेतुभूत, इस सब भावोके रहते हुए अर्थात् इन उक्त भावोका निमित्त पाकर कार्मण वर्गणारूपसे आया हुआ जो द्रव्य है वह ज्ञानावरणादि भावोसे आठ प्रकारका परिणमता है। कार्मणवर्गणारूपसे आया हुआ द्रव्य जब जीवके साथ बन्धको प्राप्त होता है तब जीव अपने अज्ञानादि भावोंका कारण होता है।

विशेषार्थ—अतत्त्वोपलब्धिरूपसे जीवमे जो स्वाद आता है वह अज्ञानका उदय है। मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योगके जो उदय है वे ही कर्मबन्धके कारण मिथ्यात्वादि अज्ञानमय चार भाव हैं। तत्त्वका श्रद्धान न होनेसे ज्ञानमे जो अतत्त्वश्रद्धानरूप स्वाद आता है यही, मिथ्यात्वका उदय है, अविरमणभावसे जो ज्ञानमे स्वाद आता है, यही असयम का उदय है, कलुषित उपयोग रूपसे ज्ञानमे जो स्वाद आता है, यही कषायका उदय है और शुभाशुभ प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यापारसे ज्ञानमे जो स्वाद आता है, यही योगका उदय है। ये मिथ्यात्वादिकके उदयरूप चारो भाव पुद्गलके है तथा आगामी कर्मबन्धके कारण है। इनके रहते हुए कार्मणवर्गणाके रूपमे जो पुद्गल-

द्रव्य आता है वह ज्ञानावरणादि आठ प्रकाररूप स्वय परिणम जाता है। वही कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य जब जीवके साथ निवद्ध होता है अर्थात् बन्धरूपताको प्राप्त होता है तब यह जीव स्वय अज्ञानके कारण पर और आत्मामे एकत्वका अध्यासकर अपने मिथ्यात्वादिक अज्ञानमय परिणामोंका हेतु होता है ॥ १३२-१३६ ॥

आगे जीवका परिणाम पुद्गलद्रव्यसे पृथक् ही है, यह दिखाते है—

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी ।
एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा ॥१३७॥
एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं ।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ॥ १३८ ॥

(युग्मम्)

अर्थ—यदि जीवके रागादिक परिणाम कर्मके साथ ही होते है ऐसा माना जावे, तो ऐसा माननेसे जीव और कर्म दोनो ही रागादिक भावोको प्राप्त हो जावेंगे। इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिरूपसे एक जीवका ही परिणाम होता है अर्थात् केवल एक जीव ही रागादिक परिणामोके द्वारा परिणमन करता है और वह परिणाम कर्मोदयरूप हेतुके विना केवल जीवका ही परिणाम है।

विशेषार्थ—रागादिक अज्ञान भावोंके होनेमे विपच्यमान (उदयागत) मोहादिककर्म ही कारण हैं, इसलिए उनके साथ ही जीवका रागादिक परिणाम होता है अर्थात् मोहादिक कर्म और जीवकी मिश्रितावस्था ही रागादिरूप परिणत हो जाती है, यदि ऐसा माना जावे तो जैसे चूना और हल्दीके मिलापसे दोनोका एक लाल रङ्गरूप परिणमन हो जाता है, ऐसे ही मोहादिक कर्म और जीवके मिलापसे दोनोका रागादिरूप परिणाम होता है ऐसा मानना पडेगा, यह एक दुर्निवार आपत्ति होगी। अत उस आपत्तिके वारणके लिए केवल जीवका ही रागादिक परिणाम होता है, ऐसा मानना ही श्रेयस्कर है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवका रागादिरूप परिणाम अपने हेतुभूत पुद्गलकर्मके विपाकसे पृथक् ही है।

पहले निमित्तकी प्रधानतासे कहा था कि जीवके रागादिकभाव पुद्गलकर्मके उदयसे होनेके कारण पुद्गलरूप हैं। यहाँ उपादानकी प्रधानतासे कहा गया है कि रागादिकभाव जीवके ही परिणाम हैं, परन्तु पुद्गलकर्मके उदयसे जायमान होनेके कारण जीवके स्वभाव नही हैं किन्तु विभावरूप हैं ॥ १३७।१३८ ॥

आगे पुद्गलद्रव्यका परिणाम भी जीवसे पृथक् ही है, यह कहते हैं—

जह जीवेण सह च्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो ।
एव पुग्गल जीवा हु दो वि कम्मत्तमावण्णा ॥१३९॥
एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥१४०॥

(युग्मम्)

अर्थ—यदि पुद्गलद्रव्यका कर्मरूप परिणाम जीवके साथ ही होता है, ऐसा माना जावे तो ऐसा माननेसे पुद्गल और जीव दोनो ही कर्मभावको प्राप्त हुए, ऐसा मानना पडेगा, सो यह बात इष्ट नही है, क्योकि पुद्गलद्रव्यका ही कर्मभावरूप परिणाम होता है और वह जो कर्मरूप परिणमन है वह जीवके रागादिकभावोंके बिना केवल पुद्गलका ही परिणाम है अर्थात् जो ज्ञानावरणादिरूप परिणाम है वह केवल पुद्गलका ही है।

विशेषार्थ—पुद्गलद्रव्यका जो कर्मरूप परिणमन हो रहा है वह उस परिणमनमे निमित्तभूत रागादिक अज्ञानभावरूप परिणत जीवके साथ ही होता है, यदि ऐसा माना जावे तो जिस प्रकार लालरङ्गरूप परिणमन परस्पर मिले हुए हलदी और चूना दोनोका ही है उसी प्रकार कर्मरूप परिणमन पुद्गलद्रव्य और जीव दोनोका ही है, ऐसा मानना पडेगा और यह इष्ट नही, क्योकि चूना और हलदी दोनो ही एक पुद्गलद्रव्य है, अत उन दोनोका एकरूप परिणमन हो जाता है, इसमे कोई बाधा नही, परन्तु यहाँ तो जीव और पुद्गल दो विजातीय द्रव्य है, इनका एकरूप परिणमन होना असभव है। अत ज्ञानावरणादिरूप केवल पुद्गलद्रव्यका ही परिणाम है और वह रागादिरूप परिणत जीवसे भिन्न केवल पुद्गलद्रव्यका ही परिणाम है ॥१३९।१४०॥

आगे शिष्यका प्रश्न है कि आत्मासे कर्म बद्धस्पृष्ट है या अबद्धस्पृष्ट हैं? इसका उत्तर नयविभागसे देते हैं—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणय भणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४१॥

अर्थ—कर्म, जीवमे बँधा हुआ भी है और उसे स्पर्शता भी है, ऐसा व्यवहारनयका कथन है। परन्तु शुद्धनयका वचन है कि कर्म जीवमे न बँधा हुआ है और न उसे स्पर्शता ही है।

विशेषार्थ—जीव और पुद्गलकर्म इन दोनोमे एक बन्धपर्यायको दृष्टिसे यदि परामर्श किया जावे, तो अत्यन्त भेदका अभाव है। अर्थात् भेद तो है परन्तु बन्ध होनेसे वर्तमानमे भेदका अभाव है, इससे जीवके साथ कर्मोंका बन्ध भी है और स्पर्श भी है, ऐसा व्यवहारनयका पक्ष है। निश्चयदृष्टिसे देखा जावे तो जीव और पुद्गलकर्म भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, अतएव उनमे परस्पर अत्यन्त भिन्नपन है, इसीसे जीवके साथ पुद्गलकर्मका न तो बन्ध है और न स्पर्श ॥१४१॥

आगे इससे क्या सिद्ध हुआ, यह दिखाते हैं—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

अर्थ—जीवके साथ कर्मोंका बन्ध भी है और अबन्ध भी है, इस प्रकार नयपक्ष जानो और जो इस नयपक्षका अतिक्रमण करने वाला है वह समयसार कहा जाता है॥

विशेषार्थ—जीवके साथ कर्मोंका बन्ध है और जीवके साथ कर्मोका अबन्ध है, यह दो विकल्प है ये दोनो ही नयपक्ष है। जो पुरुष इन दोनो ही नयोका अतिक्रमण करता है वही पुरुष सकल विकल्पोका अतिक्रमण करता हुआ स्वय निर्विकल्प तथा एक विज्ञानघनस्वभाव होकर साक्षात् सम्यक् रीतिसे समयसार होता है। यहाँपर जो प्रथम ही यह विकल्प करता है कि

जीवमे कर्म बँधे है वह, "जीवमे कर्म नही बँधे हैं" इस पक्षका अतिक्रमण करता हुआ भी, विकल्पका अतिक्रमण नही कर सकता है। और जो जीवमे कर्म नही बँधे है, ऐसा विकल्प करता है वह "जीवमे कर्म बँधे है" इस पक्षका अतिक्रमण करता हुआ भी उक्त विकल्पका अतिक्रमण नही कर सकता है। और जो जीवमे कर्मवद्ध भी है और अबद्ध भी है ऐसे दो विकल्प करता है वह, दोनो पक्षोका अतिक्रमण करता हुआ भी उक्त दोनो विकल्पोका अतिक्रकमण नही कर पाता है। इससे जो समस्त नयपक्षोका अतिक्रमण करता है वही पुरुष समस्त विकल्पोका अतिक्रमण करता है और जो समस्त विकल्पोका अतिक्रमण करता है वही वास्तवमे समयसारको प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि साधक अवस्थामे ही नाना प्रकारके विकल्पजाल हैं, मोहका अभाव होनेपर जब यह आत्मा स्वकीय स्वरूपमे लयको प्राप्त हो जाता है तब इन नयोके द्वारा होनेवाले नाना विकल्प अपने आप अभावरूप हो जाते हैं। यदि ऐसा है तो कौन पुरुष इन नयपक्षोके त्यागकी भावना नही करेगा ? अर्थात् सभी करेंगे ॥१३२॥

यही अभिप्राय श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलश-काव्योमे प्रकट करते है—

उपेन्द्रवज्राछन्द

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम् ।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥६९॥

अर्थ—जो महापुरुष नयपक्षको छोडकर स्वरूपमे लीन होते हुए निरन्तर अपने आपमे निवास करते हैं वे ही विकल्पजालसे च्युत होकर शान्त चित्त होते हुए साक्षात् अमृतका पान करते हैं ॥६९॥

उपजातिछन्द

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७०॥

अर्थ—चेतन—आत्माके विषयमे एक नयका कहना है कि वह कर्मोसे बद्ध है और दूसरे नयका कहना है कि वह कर्मोसे बद्ध नही है। इस तरह दो नयोके ये दो पक्ष है। जो इस पद्धति का अनुसरण करते हैं अर्थात् इन दोनो नयोमे अन्यतर नयके पक्षपाती हैं वे तत्त्वज्ञानी नही है, जो तत्त्ववेदी हैं वे उक्त पक्षपातसे शून्य हैं। उनके सिद्धान्तमे तो चेतन—आत्मा चिन्मात्र ही है ॥७०॥

एकस्य मूढो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७१॥

अर्थ—एक नयका तो यह पक्ष है कि आत्मा मोही है और दूसरे नयका कहना है कि आत्मा मोही नही है। इस तरह एक ही आत्मामे मोही और अमोही ये दो नयोके दो पक्षपात है। जिसके पक्षपात नही, वह तत्त्वज्ञानी है तथा उसके सिद्धान्तमे चैतन्यस्वरूप आत्मा नित्य ही निश्चयसे चिन्मात्र ही है ॥७१॥

एकस्य रक्तो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ॥७२॥

अर्थ—एक नयका पक्ष है कि आत्मा रागी है और दूसरे नयका कहना है कि आत्मा रागी नही है। इस तरह एक ही आत्माके विषयमे दो नयोके दो पक्षपात है। परन्तु जो पक्षपातसे रहित है वह तत्त्वज्ञानी है, उसके सिद्धान्तमे चैतन्यस्वरूप आत्मा निश्चयसे नित्य ही चिन्मात्र ही है ॥७२॥

एकस्य द्विष्टो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ॥७३॥

अर्थ—एक पक्षका कहना है कि आत्मा द्वेषी है और इसके विपरीत पक्षका कहना है कि आत्मा द्वेषी नही है। इस तरह एक ही आत्मामें दोके दो पक्षपात है। और जिसका नयपक्षपात मिट गया वह तत्त्ववेदी—तत्त्वज्ञानी है, उसके सिद्धान्तमे आत्मा नित्य ही चिन्मात्र ही है ॥७३॥

एकस्य कर्ता न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्यास्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ॥७४॥

अर्थ—एक पक्षका कहना है कि आत्मा कर्ता है और इससे विरुद्ध पक्षवालेका कहना है कि आत्मा अकर्ता है। इस तरह एक चेतनामे दो नयवालोके दो पक्ष है। और जो पक्षपातके जालसे च्युत तत्त्वज्ञानी है उनका कहना है कि इन औपाधिक भावोको त्यागकर देखा जावे तो आत्मा नित्य ही चिन्मात्र है ॥७०॥

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ॥७५॥

अर्थ—एक नयवालेका कहना है कि आत्मा भोक्ता है और इससे इतर पक्षवालेका यह कहना है कि आत्मा भोक्ता नही है। इस पद्धतिसे एक ही चेतनामे दो नय माननेवालोकें भिन्न-भिन्न तरहके दो पक्षपात हैं। परन्तु जो इन नयविकल्पोके जालसे मुक्त है वह तत्त्वज्ञानी है। उसका यह सिद्धान्त है कि चेतना तो नित्य चेतना ही है ॥७५॥

एकस्य जीवो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७६॥

अर्थ—एक नयका यह मत है कि जीव है और अन्य नयका कहना है कि जीव नही है। इस तरह एक ही आत्मामे दो तरहके विकल्प हैं। परन्तु जिसका पक्षपात चला गया है और तत्त्वज्ञान जिसके हो गया है उसके सिद्धान्तके अनुकूल यह दोनो ही विकल्प निचली अवस्थामे हैं। परमार्थसे आत्मा तो नित्य ही चिन्मात्र है, उसका कोई कालमे विघात नही होता ॥७६॥

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७७॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा सूक्ष्म है तथा अपर नयका कहना है कि सूक्ष्म नही है। इस तरह एक ही आत्मामे उभयनयोके दो पक्ष हैं। परन्तु जो विकल्पजालके पक्षपातसे मुक्त तत्त्वज्ञानी हैं उनके सिद्धान्तमे नित्य ही चेतना, चेतनामात्र ही है ॥७७॥

एकस्य हेतुर्न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७८॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा कारणस्वरूप है और इससे भिन्न पक्षका कहना है कि आत्मा कारणस्वरूप नही है। इस तरह एक ही आत्मामे दोनो नयोके द्वारा दो तरहके धर्मोका कथन किया जाता है, किन्तु जिसका चित्त विकल्पजालके अभावसे शान्त हो गया है और इसीसे जिसे तत्त्वज्ञानकी उपलब्धि हो गई है उसका यह कहना है कि आत्मा निश्चयसे नित्य ही चेतनामात्र है ॥७८॥

एकस्य कार्यं न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७९॥

अर्थ—एक पक्षका कहना है कि आत्मा कार्यभूत है और अन्यका कहना है कि आत्मा कार्यरूप नही है। इस तरह एक ही आत्मामे दोनो नयो द्वारा दो तरहके धर्मोका आरोप किया जाता है। परन्तु जो तत्त्वज्ञानी विकल्पजालके चक्रसे बाह्य है उनका कहना है कि चेतना तो नित्य निश्चयसे चेतना ही है ॥७९॥

एकस्य भावो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८०॥

अर्थ—एक नयवाला कहता है कि आत्मा तो भावस्वरूप है तब ठीक इसके विरुद्ध पक्षवाला भिन्न नयका अवलम्बन कर 'आत्मा भावरूप नही है' ऐसा कथन करता है और जिसने समस्त

विकल्पजालोको दूरकर शान्तताका अनुभव किया है, उसके तत्त्वज्ञानमें न भावरूप है और न अभावरूप है, वह तो नित्य ही निश्चयकर चेतनात्मक ही है ॥८०॥

एकस्य चैको न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८१॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा एकरूप है और एक नयका कहना है कि आत्मा एकरूप नही है। ऐसे एक ही आत्मामे उभयनय एक-अनेकरूपसे निरूपण करते है। परन्तु जिसका पक्षपात चला गया है तथा जो तत्त्वका जाननेवाला है उसके सिद्धान्तमे निश्चयसे चेतना चेतनारूप ही है ॥८१॥

एकस्य शान्तो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८२॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा शान्त है, इससे भिन्न नयका कहना है कि आत्मा अशान्त है, ऐसे उभयनय एक ही आत्माका शान्त[1] और अशान्त[1] रूपसे कथन करते है। परन्तु जो पक्षपातके जालसे दूर है और तत्त्वज्ञानवाला है उसका कहना है कि चित् तो चित्रूप ही है ॥८२॥

एकस्य नित्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८३॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा सर्वदैव नित्य है और इससे विरुद्ध आदेश करनेवाले नयका कथन है कि आत्मा अनित्य है। इस तरह एक ही आत्मामे दोनो नय नित्य और अनित्यरूपसे निरूपण करते है। परन्तु जिसके तत्त्वज्ञान हो गया है और जो नयोके विकल्पजालसे दूर है उसका कहना है कि आत्मा तो आत्मा ही है, ये सब विकल्प नयदृष्टिसे है, परमार्थसे वस्तु सर्वविकल्पातीत है ॥८३॥

एकस्य वाच्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८४॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा वाच्य है क्योकि वाचक द्वारा इसका कथन होता है और अन्य नयका आदेश है कि आत्मा अवाच्य है, क्योकि परमार्थसे आत्माका वास्तविक कथन शब्दके अगोचर है। इस तरह एक ही आत्मा वाच्य और अवाच्य दो रूपसे दोनो नयो द्वारा कहा

---

१ सान्त और असान्त भी पाठ पाया जाता है जिसका अर्थ अन्तसहित और अन्तरहित होता है।

जाता है, परन्तु जो विकल्पजालसे परे है तथा तत्त्वज्ञानका आस्वादी है उसका कहना है चित्-आत्मा तो चिद्रूप ही है, यह विकल्प केवल शिष्य-सम्बोधनके अर्थ है ॥८४॥

एकस्य नाना न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८५॥

अर्थ—एक नयका इस प्रकार कथन है कि आत्मा नाना है क्योकि अनेक प्रकारसे उसमे नाना प्रकारके धर्मोंका कथन होता है। इससे भिन्न नयका कथन है कि आत्मा नाना नही है क्योकि अनेक प्रकारसे कथन होनेपर भी वह एकरूपताको नही छोडता। इस तरह एक ही आत्मा-मे अनेक और एक धर्मोका दो नयो द्वारा निरूपण किया जाता है। परन्तु जो विकल्पजालसे च्युत हैं तथा तत्त्वज्ञानी है उनका कहना है कि आत्मा तो चिद्रूप ही है ॥८५॥

एकस्य चेत्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८६॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा चेत्य है—जाननेके योग्य है और अपरनयका कहना है कि आत्मा इससे भिन्नरूप है, ऐसा उभयनयोका चेत्य और अचेत्य रूपसे कथन होता है। परन्तु जो विकल्पजालके फन्देसे निकल गया है तथा तत्त्वको जानता है वह कहता है कि इन विकल्पोको छोडो। वह चेतनात्मक आत्मा तो चिद्रूप ही है ॥८६॥

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८७॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा दृश्य है क्योकि अन्तर्मुखाकारतया प्रतिभासमान हो रहा है और अन्य नयका कहना है कि आत्मा दृश्य नही है क्योकि बहि पदार्थको विषय करने-वाले ज्ञानका विषय नही है। इस रीतिसे एक ही आत्मामे दृश्य और अदृश्य दो तरहके धर्मोंका प्रतिपादन करनेवाले दो नय है। किन्तु जिसकी तत्त्वज्ञानदृष्टिसे यह विकल्पजाल छिन्न-भिन्न हो गया है उसका कहना है कि आत्मा तो आत्मा ही है ॥८७॥

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८८॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा वेद्य है, क्योंकि स्वसवेदनका विषय है। इससे भिन्न नयका कहना है कि आत्मा वेद्य नही है। ऐसे एक ही आत्माको वेद्य और अवेद्यरूपसे निरू-

पित करनेवाले दो नय है। परन्तु जो विकल्पजालसे पृथक् है और तत्त्वज्ञानके मधुर स्वादका अनुभवी है वह कहता है कि इन विकल्पोको छोडो, आत्मा तो आत्मा ही है ॥८८॥

एकस्य भातो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८९॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा भात है अर्थात् प्रत्यक्षभासमान है और अन्य नयका कहना है कि आत्मा भात नही है अर्थात् प्रत्यक्षभासमान नही है। ऐसे दो नयों द्वारा दो तरहका भात-अभात कथन होता है। परन्तु जो महान् पुरुष इस विकल्पजालके चक्रसे छूट गया है और तात्त्विक ज्ञानवाला है उसका यह कहना है कि चिद् चिद्रूप ही है ॥८९॥

वसन्ततिलकाछन्द

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेव व्यतीत्य महती नयपक्षकक्षाम्।
अन्तर्बहि समरसैकरसस्वभाव
स्व भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥९०॥

अर्थ—तत्त्वज्ञानी पुरुष, जिसमे स्वेच्छासे समन्तात् नाना प्रकारके विकल्पजाल उदित हो रहे है, ऐसी विशाल नयपक्षरूपी अटवीको लाँघकर भीतर और बाहर एक वीतराग परिणत्ति ही जिसका स्वभाव है, ऐसे अनुभूतिमात्र अद्वितीय निजभावको प्राप्त होता है ॥९०॥

रथोद्धताछन्द

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्
पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभि।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षण
कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥९१॥

अर्थ—तत्त्वज्ञानी मनुष्य ऐसा विचार करता है कि मैं चिन्मात्र वह तेज हूँ कि जिसकी चमक उठते हुए बहुत भारी विकल्पोकी परम्परासे सुशोभित इस प्रकारके इस समस्त इन्द्रजालको तत्काल नष्ट कर देती है ॥

भावार्थ—स्वार्थ और परार्थके भेदसे ज्ञानके दो भेद हैं। इनमे मति, अवधि, मन पर्याय और केवल ये चार ज्ञान स्वार्थ ही है। अर्थात् इनका प्रयोजन स्वकीय अज्ञानका अपहरण करना ही है। और श्रुतज्ञान स्वार्थ भी है तथा परार्थ भी। परार्थका अर्थ अन्यके अज्ञान-तिमिरको दूर करना है। नय इसी परार्थ श्रुतज्ञानके विकल्प है। आचार्योंने परकीय अज्ञानको दूर करनेके लिए नाना प्रकारसे वस्तुधर्मोका प्रतिपादन किया है। वस्तुधर्मके प्रतिपादनकी इसी पद्धतिमे आचार्यने बद्ध-अबद्ध, मूढ-अमूढ, रागी-विरागी, द्वेषी-अद्वेषी, कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता, जीव-अजीव, सूक्ष्म-स्थूल, कारण-अकारण, कार्य-अकार्य, भाव-अभाव, एक-अनेक, सान्त-असान्त, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य, नाना-अनाना, चेत्य-अचेत्य, दृश्य-अदृश्य, वेद्य-अवेद्य और भात-अभात ये नयपक्ष दिख-

लाये हैं। नय, वस्तुस्वरूपको समझने और समझानेका एक साधन मात्र है, वस्तु नही है, वस्तु तो नयपक्षोंके विकल्पसे दूर है। इसलिये तत्त्वज्ञानी मनुष्य इन नयपक्षोको, जो कि एक बडी अटवीके समान हैं, उलङ्घकर शुद्ध स्वभावकी ही शरणको प्राप्त होता है। उस शुद्ध स्वभावकी शरणको प्राप्त करनेके लिए ज्ञानी जीव निरन्तर ऐसा चिन्तन करता है कि मैं तो चिन्मात्र तेजका वह पुञ्ज हूँ जिसकी एक ही कौद नयपक्षोंके आश्रयमे उठने वाले नाना विकल्पोंके इन्द्रजालको तत्काल नष्ट कर देती है। इस प्रकारके चिन्तनसे ज्ञानी जीव स्वीय स्वभावको प्राप्त होता ॥९१॥

आगे पक्षातिक्रान्त पुरुषका क्या स्वरूप है ? यही दिखाते हैं—

दोह्णं वि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समयपडिवद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिह्णदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥

अर्थ—शुद्ध आत्मस्वरूपमे लीन रहने वाला जो पुरुष दोनो नयोके कथनको जानता तो है, किन्तु किसी नयपक्षको ग्रहण नही करता है वही नयपक्षसे रहित है अर्थात् पक्षातिक्रान्त है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार केवली भगवान् विश्वके साक्षीभूत अर्थात् समस्त पदार्थोंके ज्ञाता होनेसे श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहारनय और निश्चयनयके पक्षका केवल स्वरूप जानते हैं परन्तु किसी भी नयपक्षको ग्रहण नही करते, क्योकि केवली भगवान् निरन्तर उदयरूप स्वभाविक निर्मल सकल केवलज्ञान स्वभाववाले हैं, इसीलिये नित्य ही अपने आप विज्ञानघनस्वभाव हैं और इसीसे श्रुतज्ञानकी भूमिकासे अतिक्रान्त होनेके कारण समस्त नयपक्षोके ग्रहण करनेसे दूर हैं। इसी प्रकार जो श्रुतज्ञानी हैं वे भी श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहार और निश्चयनयके पक्षको केवल जानते हैं, किसी नयपक्षको ग्रहण नही करते। यद्यपि उनके श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे जायमान श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उठते हैं परन्तु परपदार्थोंके ग्रहण-विषयक उत्सुकताके दूर हो जानेसे वे उन विकल्पोकी ओर लक्ष्य नही देते। श्रुतज्ञानी नयपक्षको ग्रहण नही करते, इसका कारण यह है कि वे अत्यन्त तीक्ष्ण दृष्टिसे गृहीत-निरुपाधि, नित्योदित एव चैतन्यमय शुद्ध आत्मस्वरूपमे प्रतिबद्ध होनेके कारण उस कालमे अपने आप विज्ञानघनस्वरूप हो रहे हैं तथा श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्प और बहिर्जल्परूप समस्त विकल्पोकी भूमिकासे परे होनेके कारण समस्त नयपक्षके परिग्रहसे दूरीभूत हैं। निश्चयसे ऐसा श्रुतज्ञानी समस्त विकल्पोसे अत्यन्त परे है, वही परमात्मा है, वही ज्ञानात्मा है, प्रत्यग्ज्योतिस्वरूप भी वही है, आत्मख्यातिस्वरूप भी वही है और वही अनुभूतिमात्र समयसार है। यहाँ कहनेका यह तात्पर्य है कि जैसे केवली भगवान् सब नयोंके ज्ञाता-द्रष्टा है, परन्तु मोहका अभाव होनेसे किसी भी पक्षको ग्रहण नही करते, केवल उनके दिव्यज्ञानमे सम्पूर्ण पदार्थ अनायास प्रकाशित हो रहे हैं। ऐसी श्रुतज्ञानी भी जब वस्तुस्वरूपको सर्वनयपक्षका त्याग कर शुद्धरूपसे अनुभवता है तब नयपक्षका ज्ञाता ही है। सम्यग्दृष्टि जीव सविकल्पदशामे भी एक नयपक्षको ग्रहण नही करता है। यदि सर्वथा एक पक्षका ग्रहण करे तो मिथ्यादृष्टि हो जावे, क्योकि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, न तो सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य है किन्तु नित्यानित्यात्मक है, जो कि प्रमाणका विषय है। अत श्रुतज्ञानी भी यथार्थ वस्तुका अवगमन करनेसे नयपक्षरहित ही है ॥१४३॥

आगे श्रुतज्ञानी जैसा अनुभव करता है वह कलशाके द्वारा दिखलाते हैं—

स्वागताछन्द

चित्स्वभावभरभावितभावाऽभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्ता चेतये समयसारमपारम् ॥९२॥

अर्थ—श्रुतज्ञानी जीव ऐसा अनुभव करता है कि मै समस्त बन्धपद्धतिको त्यागकर उस अपार समयसारका अनुभव करता हूँ जो चैतन्यस्वभावके समूह ही मे होनेवाले भाव—उत्पाद, अभाव—व्यय और भाव—ध्रौव्यकी परमार्थतासे एक है ।

भावार्थ—यद्यपि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यके कारण समयसारमे त्रिरूपता आती है, परन्तु वह उत्पादादिकका त्रिक एक चैतन्यस्वभावमे होता है, इसलिए समयसारकी एकरूपता खण्डित नही होती ॥९२॥

आगे पक्षातिक्रान्त ही समयसार है, यह स्थित हुआ, यही दिखाते है—

सम्मद्दंसण-णाणं एदं लहदि त्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥१४४॥

अर्थ—जो सम्पूर्ण नयपक्षसे रहित है वही समयसार कहा गया है । विशेषता यह है कि यह समयसार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इस नामको प्राप्त होता है ।

विशेषार्थ—समस्त नयपक्षोके द्वारा अक्षुण्ण होनेके कारण जिसमे समस्त विकल्पोका व्यापार विश्रान्त हो चुका है, ऐसा जो आत्माका परिमाण है वही समयसार है। यह समयसार एक होकर भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इस सज्ञाको प्राप्त होता है, क्योकि प्रथम ही श्रुतज्ञानके बलसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय कर तदन्तर शुद्धात्मतत्त्वकी अनुभूतिके लिए परख्याति—परद्रव्या-भूतिके कारणभूत समस्त इन्द्रिय और मन सम्बन्धी बुद्धिको तिरस्कृत कर जिसने मतिज्ञानतत्त्व-को आत्माके सम्मुख किया है तथा नानाप्रकारके नयपक्षोके आलम्बन द्वारा अनेक विकल्पोसे आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञानरूप बुद्धिको भी गौणकर जो श्रुतज्ञानके तत्त्वको भी आत्मा-भिमुख करता हुआ जो अत्यन्त निर्विकल्प हो गया है, ऐसा आत्मा ही स्वभावसे शीघ्र प्रकट होने-वाले आदि, मध्य और अन्तसे विमुक्त, आकुलतारहित, एक होनेपर भी समस्त विश्वके ऊपर तैरते हुएके समान स्थित, अखण्ड प्रतिभाससे सहित, विज्ञान-ज्ञान तथा परमात्मस्वरूप समयसार-को प्राप्त करता हुआ सम्यक् प्रकारसे देखा जाता है—श्रद्धान किया जाता है तथा जाना जाता है । इसलिये जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है वह समयसार ही है ॥१४४॥

अब इसी भावको कलशकाव्योके द्वारा प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयाना विना
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमान. स्वयम् ।
विज्ञानैकरस स एष भगवान्पुण्य. पुराण पुमान्
ज्ञान दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम् ॥९३॥

अर्थ—नयोके पक्षके बिना अविनाशी, अविकल्पभावको प्राप्त, निश्चल, मनुष्योंके द्वारा

स्वय अनुभवमे आनेवाला तथा विज्ञानस्वरूप एकरससे युक्त जो यह समयसार सुशोभित हो रहा है वही यह भगवान् है, वही सनातन पुण्यपुरुष है, उसे चाहे ज्ञान कहो, चाहे दर्शन कहो, अथवा जो चाहो सो कहो, वह एक ही इन शब्दोसे व्यपदेशको प्राप्त होता है।

भावार्थ—यहाँ आत्माकी शुद्धपरिणतिरूप उस समयसारकी महिमा गाई गई है जिसमे नयोका पक्ष छूट जानेसे स्थायी अविकल्पदशाकी प्राप्ति हो जाती है, विकल्पजालसे रहित, निश्चल, मनुष्योको जिसका अनुभव स्वय होने लगता है, तथा जिसमे रागादिविकारी भावोकी पुट निकल जानेसे एक ज्ञानरूप रस ही शेप रह जाता है। इसी समयसारको भगवान् कहते है, यही पुण्य पुराणपुरुष अर्थात् परमात्मा कहलाता है, गुण और गुणीमे अभेद दृष्टि होनेसे इसे ही ज्ञान कहते है, दर्शन कहते है, अथवा सुख तथा वीर्य आदिकी प्रधानतासे जिस गुणरूप कहना चाहे, कह सकते है। इस तरह नामोकी विभिन्नता होनेपर भी यह प्रतिपाद्यरूपसे एक ही है ॥९३॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

दूर भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघ बलात्।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हर-
न्नात्मन्येव सदा गतानुगततामायात्यय तोयवत् ॥९४॥

अर्थ—यह आत्मा अपने गुणोके समूहसे च्युत हो बहुत भारी विकल्पोके जालरूपी वनमे दूरतक भ्रमण कर रहा था—भटक रहा था, सो विवेकरूपी निचले मार्गमे गमन करनेसे बलपूर्वक बडी दूरसे लाकर पुन अपने गुणोके समूहमे मिला दिया गया है, इसमें एकविज्ञानरस ही शेष रह गया है, यह एक विज्ञानरूपी रसके रसिक मनुष्योकी आत्माको हरण करता है तथा जलके समान सदा आत्मामे ही लीनताको प्राप्त होता है।

भावार्थ—जब यह आत्मा मोहके वशीभूत हो अपने चित्पिण्डसे च्युत होकर बहुत प्रकार विकल्पजालके वनमे भ्रमण करने लगा, तब उस विज्ञानरसके जो रसिक थे उन्होने विवेकरूप निम्नमार्गसे लाकर बलपूर्वक अपने चित्पिण्डमे ही मिला दिया। जैसे समुद्रका जो जल वाष्पादि द्वारा मेघ बनकर इतस्तत बरसता है। पश्चात् वही जल निम्नगामिनी नदियोके द्वारा अन्तमे समुद्रका समुद्रमे मिल जाता है। ऐसे ही आत्माकी परिणति मोहकर्मके विपाकसे रागद्वेष द्वारा निखिल परपदार्थोमे फैल जाती है और जब मोहका अन्त हो जाता है तब भेदज्ञानके बलसे परसे विरक्त हो अपने ही चित्पिण्डमे मिल जाती है ॥९४॥

अनुष्टुप्छन्द

विकल्पक पर कर्ता विकल्प कर्म केवलम्।
न जातु कर्तृकर्मत्व सविकल्पस्य नश्यति ॥९५॥

अर्थ—विकल्प करनेवाला केवल कर्ता है, और विकल्प केवल कर्म है। विकल्पसहित मनुष्यका कर्तृकर्मभाव कभी नष्ट नही होता।

भावार्थ—स्वभावसे आत्मा ज्ञायक है, मोही, या रागी, द्वेषी नही है। परन्तु अनादिकालसे इसके ज्ञानके साथ जो मोहकी पुट लग रही है उसके प्रभावसे यह नानाप्रकारके विकल्प उठाकर

उनका कर्ता बन रहा है तथा वे ही विकल्प इसके कर्म हो रहे है। जब ज्ञानसे मोहकी पुट दूर हो तब इसका कर्तृ-कर्मभाव नष्ट हो। इसीलिये कहा गया है कि मोहके उदयसे जिसकी आत्मामे नाना विकल्प उठ रहे है उसका कर्तृ-कर्मभाव कभी नष्ट नही होता ॥९५॥

रथोद्धताछन्द

य करोति स करोति केवल· यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
य करोति न हि वेत्ति स क्वचिद् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥९६॥

अर्थ—जो करता है वह केवल करता ही है, और जो जानता है वह केवल जानता ही है। जो करता है वह कही जानता नही है और जो जानता है वह कही करता नही है।

भावार्थ—यहाँ आत्माकी शुद्ध दशा तथा मोहमिश्रित अशुद्ध दशाका युगपत् वर्णन किया गया है। आत्माकी शुद्ध दशा वह है जिससे मोहका प्रभाव बहिर्भूत हो गया है। और अशुद्ध दशा वह है जिसमे मोहका प्रभाव सवलित है। आत्मा स्वभावसे ज्ञायक ही है कर्ता नही, उसमे जो कर्तृत्वका भाव आता है वह मोहनिमित्तक ही है। इसीलिये यहाँपर कहा गया है कि जो करता है वह करता ही है, जानता नही है अर्थात् मोहमिश्रित दशा कर्तृत्वका अहकार ही लाती है, पदार्थ-को जानती नही है। जो जानता है वह जानता ही है करता नही है अर्थात् शुद्ध दशामे कर्तृत्वका भाव निकल जाता है, केवल ज्ञायकभाव शेष रह जाता है ॥९६॥

इन्द्रवज्राछन्द

ज्ञप्ति· करोतौ नहि भासतेऽन्तर्ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्त ।
ज्ञप्ति करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति तत· स्थित च ॥९७॥

अर्थ—जाननेरूप जो क्रिया है वह करनेरूप क्रियाके अन्त मे भासमान नही होती है और जो करनेरूप क्रिया है वह जाननेरूप क्रियाके मध्यमे प्रतिभासमान नही होती है, क्योकि करोति और ज्ञप्ति क्रियाएँ भिन्न-भिन्न है। इससे यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि जो ज्ञाता है वह कर्ता नही है।

भावार्थ—यह जीव अनादिकालसे मोहमिश्रितदशाका अनुभव कर रहा है अर्थात् इस जीव-की ज्ञानधारा अनादिकालसे मोहधारासे मिश्रित हो रही है। ज्ञानधाराका कार्य पदार्थको जानना है और मोहधाराका कार्य आत्माको परका कर्ता-धर्ता बनाकर उनमे इष्टानिष्टबुद्धि उत्पन्न करना है। यहाँ इन दोनो धाराओका पृथक्-पृथक् कार्य बताया गया है अर्थात् ज्ञानधाराका कार्य जो जानना है उसमे मोहधाराका कार्य जो कर्तृत्वका भाव है वह नही है और मोहधाराके कार्यमे ज्ञानधाराका कार्य नही है। सम्यग्ज्ञानी जीव इन दोनो धाराओके अन्तरको समझता है, इसलिये वह पदार्थका ज्ञाता तो होता है परन्तु कर्ता नही होता ॥९७॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि
द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थिति ।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसान्मोहस्तथाप्येष किम् ॥९८॥

अर्थ—निश्चयसे कर्ता कर्ममे नही है और कर्म भी कर्तामे नही है। जब कर्ता और कर्म इस द्वैतका ही निषेध किया जाता है तब कर्ता और कर्मकी क्या स्थिति रह जाती है ? ज्ञाता ज्ञातामे रहता है और कर्म कर्ममे रहता है, यह सदासे वस्तुकी मर्यादा स्पष्ट है। फिर भी यह मोह परदाके भीतर वेगसे क्यो अतिशय नृत्य कर रहा है, यह खेदका विषय है।

भावार्थ—'ज्ञाता ज्ञेयको जानता है' यहाँ ज्ञाता कर्ता है और ज्ञेय कर्म है। जब वस्तुस्वरूप की अपेक्षा विचार किया जाता है तब ज्ञाता ज्ञाता ही रहता है, ज्ञेयरूप नही हो जाता और ज्ञेय ज्ञेय ही रहता है, ज्ञातारूप नही हो जाता, मात्र ज्ञाताके ज्ञानगुणकी स्वच्छतासे ज्ञेय उसमे प्रतिभासमान होता है, तद्रूप नही हो जाता। यह ज्ञाता और ज्ञेय अथवा कर्ता और कर्मकी व्यवस्था है। इच्छापूर्वक पदार्थको जाननेका विकल्प तभी तक बनता है जब तक इच्छाके जनक मोहकर्मका विपाक विद्यमान रहता है। मोहकी विपाकदशा समाप्त होनेपर 'कौन ज्ञाता है कौन ज्ञेय है' यह विकल्प अपने आप शान्त हो जाता है। जब यह विकल्प ही मिट गया तब कर्ता और कर्मकी स्थिति भी स्वय मिट गई। इस तरह वस्तुस्वरूपकी यह मर्यादा अत्यन्त स्पष्ट है कि ज्ञाता ज्ञातामे ही रहता है और कर्म कर्ममे ही रहता है अर्थात् ज्ञेय ज्ञेयमे ही रहता है। परन्तु यह अनादिकालोन मोह परदाके भीतर अपना नाट्य दिखलाकर लोगोको मुग्ध कर रहा है, यह खेदकी बात है। अत्यन्त स्पष्ट वस्तुस्वरूपको लोग मोहके वश न समझ सकें, यह खेदका विषय है ही ॥९८॥

अथवा मोह भले हो नृत्य करता रहे तो भी वस्तुका स्वरूप यथावस्थ रहता है, यही कलशा द्वारा कहते है—

मन्दाक्रान्ताछन्द

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञान ज्ञान भवति च यथा पुद्गल. पुद्गलोऽपि।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचल व्यक्तमन्तस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीना निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत् ॥९९॥

अर्थ—जिसके अन्तस्तलमे चैतन्यशक्तियोके समूहके भारसे देदीप्यमान, अविनाशी, उत्कृष्ट तथा अत्यन्त गम्भीर यह ज्ञानज्योति प्रकट हो चुकी है कि जिसके प्रभावसे कर्ता कर्ता नही रहता, कर्म कर्म नही रहता, ज्ञान ज्ञान ही हो जाता है और पुद्गल पुद्गल ही हो जाता है।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि मोह भले ही परदाके अन्दर अपना नाट्य दिखलाता रहे तो भी हमारे हृदयमे वह उत्कृष्ट ज्ञानज्योति प्रकट हो गई है जो अतिशय देदीप्यमान है, अविनाशी है तथा अत्यन्त गम्भीर है। यह ज्ञानज्योति कही बाहरसे नही आई है, किन्तु हमारी ही चैतन्यशक्तियोके भारसे अपने आप प्रकट हुई है। इस ज्ञानज्योतिके प्रकाशमे कर्ता कर्ता नही रह गया है और कर्म कर्म नही रह गया है अर्थात् कर्तृकर्मका भाव समाप्त हो गया है—ज्ञाता-ज्ञेयका विकल्प विलीन हो गया है, अब ज्ञान ज्ञानरूप ही रह गया है और पुद्गल पुद्गलरूप ही ॥९९॥

इस प्रकार जीव और अजीव कर्ता और कर्मका वेष छोडकर बाहर निकल गये।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत समयप्राभृतके
कर्तृकर्माधिकार प्रवचन समाप्त हुआ ॥२॥

३. पुण्यपापाधिकार

अब एक ही कर्म दो पात्र बनकर पुण्य और पापके रूपसे प्रवेश करते है—

द्रुतविलम्बितछन्द

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो
द्वितयता गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं
स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लव. ॥१००॥

अर्थ—तदनन्तर कर्तृ-कर्मका सम्यक् प्रकारसे निर्णय होनेपर जो शुभ-अशुभके भेदसे द्विरूपताको प्राप्त हुए कर्मको एकत्व प्राप्त करा रहा है तथा जिसने बहुत भारी मोहरूपी धूलिको नष्ट कर दिया है, ऐसा सम्यग्ज्ञानरूपी अमृतका प्रवाह अपने आप प्रकट होता है ।

भावार्थ—कर्तृकर्माधिकारमे निरूपित पद्धतिके अनुसार जब इस जीवको सम्यक् प्रकारसे कर्ता और कर्मका निर्णय हो चुकता है तब इसके हृदयमे सम्यग्ज्ञानरूपी अमृतका झरना स्वयमेव फूट पडता है। वह अमृतका झरना शुभाशुभके भेदसे द्विरूपताको प्राप्त हुए कर्मको एकत्व प्राप्त कराता है अर्थात् बतलाता है कि कर्म दो नही है किन्तु एक ही है तथा मोहरूपी जो बहुत भारी धूलि उठ रही थी उसे शान्त कर देता है ॥१००॥

आगे दृष्टान्तके द्वारा पुण्य और पापकी एकरूपता सिद्ध करते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

एको दूरात्त्यजति मदिरा ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्य शूद्र स्वयमहमिति स्नाति नित्य तयैव ।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकाया
शूद्रौ साक्षादथ च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥१०१॥

अर्थ—एक शूद्राके उदरसे एकसाथ दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमेसे एक पुत्रका पोषण ब्राह्मणीने किया और एक पुत्र शूद्राके घर ही पुष्ट हुआ। जिसका पोषण ब्राह्मणीने किया था वह अपने आपको ब्राह्मण मानकर मदिराको दूरसे ही छोडता है अर्थात् उसका स्पर्श भी नही करता। और दूसरा पुत्र 'मै तो शूद्र हूँ' ऐसा मानकर उस मदिरासे ही नित्य स्नान करता है अर्थात् उसके सेवनमे उसे किसी प्रकारका सकोच नही है। परमार्थदृष्टिसे देखा जावे तो दोनो पुत्र शूद्राके उदरसे एक साथ निकले है, इसलिये साक्षात् शूद्र ही है, जातिभेदके भ्रमसे वे उस प्रकारका आचरण करते है।

भावार्थ—विभावपरिणतिसे जो कर्म आता है वह दो प्रकारका दृष्टिगोचर होने लगता है—एक पुण्यरूप और दूसरा पापरूप। पुण्यकर्म प्रशस्त है और पापकर्म अप्रशस्त है। एक सासारिक सुखका कारण है और दूसरा सासारिक दु खका कारण है। परन्तु परमार्थदृष्टिसे विचार

करनेपर दोनो विभावपरिणतिके कार्य होनेसे ससारबन्धनके ही कारण है। इसीलिये विवेकी जीव दोनोंको एक समझता है ॥१०१॥

आगे शुभाशुभकर्मके स्वभावका वर्णन करते हैं—

कम्ममसुहं कुसीलं चावि जाण व सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१४५॥

अर्थ—कितने ही लोग कहते है कि अशुभकर्मको कुत्सित स्वभाववाला और शुभकर्मको उत्तम स्वभाववाला जानो। परन्तु जो प्राणीको ससारमे प्रविष्ट करता है वह सुशील कैसे हो सकता है ?

विशेषार्थ—कितने ही महानुभावोंका कहना है कि यद्यपि कर्म एक है तो भी शुभ और अशुभके भेदसे वह दो प्रकारका है क्योंकि दोनोमे कारणभेद, स्वभावभेद, अनुभवभेद और आश्रय-भेद देखा जाता है। जो इस प्रकार है—शुभकर्मकी उत्पत्तिमे जीवके शुभ परिणाम निमित्त है और अशुभकर्ममे जीवके अशुभ परिणाम निमित्त हैं। इस तरह दोनोमे कारणभेद है। शुभकर्म शुभ-पुद्गलपरिणाममय है और अशुभकर्म अशुभपुद्गलपरिणाममय है। इस तरह दोनोमे स्वभावभेद है। शुभकर्मका पाक शुभरूप होता है—सुखदायक होता है और अशुभकर्मका फल अशुभरूप होता है—दु खदायक होता है। इस तरह दोनोमे अनुभवभेद है। और शुभकर्म मोक्षमार्गके आश्रित है तथा अशुभकर्म बन्धमार्गके आश्रित है। इसलिये दोनोमे आश्रयभेद है।

परन्तु उन महानुभावोका यह पक्ष प्रतिपक्षसे सहित है—विरोधयुक्त है। यही दिखाते हैं—जीवपरिणाम चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ हो, दोनो ही केवल अज्ञानमय होनेसे एक हैं। इस तरह दोनोमे एकपन होनेसे शुभ-अशुभकर्मोके कारणोमे भेद नही रहा, अत कर्म एक है। पुद्गल-परिणाम चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ हो, दोनो ही केवल पुद्गलमय हैं। इस तरह दोनोमे एकपन होनेसे स्वभावमे भेद नही रहा, अत कर्म एक है। कर्मका पाक चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ हो, दोनो ही केवल पुद्गलमय हैं। इस तरह दोनोमे एकपन होनेसे अनुभवमे भेद नही रहा, अत कर्म एक है। मोक्षमार्ग शुभ है और बन्धमार्ग अशुभ है। तथा मोक्षमार्ग केवल जीवमय है और बन्ध-मार्ग केवल पुद्गलमय है, इसलिये दोनो अनेक हैं—पृथक्-पृथक् हैं, इस तरह दोनोमें अनेकपन होनेपर भी शुभकर्म और अशुभकर्म दोनो कर्म केवल पुद्गलमय बन्धमार्गके आश्रित है। इसलिये शुभाशुभ कर्मका एक ही आश्रय होनेसे कर्म एक है।

इसी बातको कलशामे स्पष्ट करते है—

उपजातिछन्द

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणा
सदाप्यभेदान्नहि कर्मभेद ।
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं
स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतु ॥१०२॥

अर्थ—हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय इन चारोकी अभिन्नतासे कर्ममे भिन्नता नही

है। बन्धमार्गके आश्रयसे वह कर्म एक ही प्रकारका माना गया है, क्योंकि चाहे शुभ कर्म हो, चाहे अशुभकर्म हो, सब प्रकारका कर्म निश्चयसे स्वय ही बन्धका कारण है।

भावार्थ—शुभ और अशुभ दोनो प्रकारके कर्मोंके हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रयमे भेद नही है, इसलिये कर्मोंमे शुभाशुभका भेद नही है। किन्तु दोनो ही कर्म बन्धमार्गके आश्रित होनेमे एक ही है ॥१०२॥

अब दोनों प्रकारके कर्म समानरूपसे बन्धके कारण हैं, यह सिद्ध करते है—

सौवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्म ॥ १४६ ॥

अर्थ—जैसे लोहेकी बेडी पुरुषको बाँधती है वैसे ही सुवर्णकी बेडी भी पुरुषको बाँधती है। इसी पद्धतिसे चाहे शुभकर्म किया हो, चाहे अशुभ कर्म किया हो, दोनो ही कर्म पुरुपको बाँधते है।

विशेषार्थ—चाहे शुभकर्म हो, चाहे अशुभकर्म हो, विना किसी भेदके वन्धपनकी अविशेषत्तासे पुरुपको बाँधते है। जैसे सुवर्ण और लोहेकी बेडी ॥१४६॥

अब दोनों प्रकारके कर्मोंका प्रतिषेध करते हैं—

तह्मा दु कुसीलेहि य रायं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साधीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ॥१४७॥

अर्थ—इसलिये उन दोनो कुशीलोसे न राग करो और न ससर्ग करो, क्योकि कुशीलके ससर्ग और रागसे विनाश स्वाधीन है, अर्थात् विनाश होना निश्चित है।

विशेषार्थ—कुशील जो शुभ-अशुभ कर्म है उनके साथ न तो राग करो और न उनका ससर्ग करो, क्योकि कुशीलके साथ राग और ससर्ग करनेसे विनाश निश्चित होता है। जिस प्रकार कुशीलहस्तिनीरूपी कुट्टिनी चाहे मनोरमा हो, चाहे अमनोरमा, दोनो प्रकारकी कुट्टिनियोका राग और ससर्ग हाथीके बन्धका कारण है उसी प्रकार कुशील कर्म चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ हो, दोनों प्रकारके कर्मोंका राग और ससर्ग पुरुषके बन्धका कारण है, इसलिये मोक्षमार्गमे दोनो ही निषिद्ध है ॥१४७॥

आगे दोनों कर्म प्रतिषेध्य हैं, यह दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं—

जह णाम को वि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च ॥१४८॥
एमेव कम्मपयडि-सीलसहावं च कुच्छिदं णाउं ।
वज्जं.ते परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरया ॥१४९॥

अर्थ—जिस तरह कोई पुरुष जब यह जान लेता है कि यह मनुष्य खोटे स्वभाववाला है

तब उसके साथ ससर्ग और राग करना छोड देता है। इसीतरह स्वभावमे रत रहनेवाले ज्ञानी जीव कर्मप्रकृतिके शील—स्वभावको कुत्सित जानकर उसके साथ ससर्ग और रागको छोड देते हैं।

विशेषार्थ—जैसे कोई अत्यन्त चतुर वनका हाथी अपने बांधनेके लिये समीप आनेवाली चञ्चलमुखी हस्तिनीरूपी कुट्टिनीको चाहे वह सुन्दरी हो और चाहे असुन्दरी, कुत्सित स्वभाव-वाली जानकर उसके साथ न तो राग ही करता है और न ससर्ग ही करता है। वैसे ही रागरहित ज्ञानी पुरुष स्वकीय वन्धनके लिये उद्यत कर्मप्रकृतिको, चाहे वह शुभरूप हो और चाहे अशुभरूप हो, कुत्सित स्वभाववाली जानकर उसके साथ राग और ससर्ग दोनो ही त्याग देता है ॥१४८-१४९॥

अब दोनो कर्म बन्धके कारण हैं तथा प्रतिषेध करने योग्य हैं, यह आगमके द्वारा सिद्ध करते हैं—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

अर्थ—रागी जीव कर्मोको बांधता है और विरागको प्राप्त हुआ जीव कर्मोको छोडता है, यह श्री जिनेश्वरका उपदेश है, इससे कर्मोंमे राग नही करो।

विशेषार्थ—निश्चयसे जो रागी है वह अवश्य ही कर्मको बांधता है और जो विरक्त है वही कर्मोसे छूटता है, यह आगमका उपदेश है। यह आगमोपदेश सामान्यरूपसे रागीपनका निमित्त होनेसे शुभ-अशुभ दोनो प्रकारके कर्मको वन्धका हेतु सिद्ध करता है तथा दोनो प्रकारके कर्मोका प्रतिषेध करता है। यहाँ रागको वन्धका कारण बताया गया है। जो राग है वही कषाय है। जब कषायका मन्दोदय होता है तब शुभकर्मका वन्ध होता है और जब कषायका तीव्रोदय होता है तब अशुभकर्मका वन्ध होता है। इस तरह शुभ व अशुभ दोनो कर्म, वन्धके कारण होनेसे निषेध करने योग्य है ॥१५०॥

श्री अमृतचन्द्र स्वामी इसी भावको कलशामे प्रकट करते है—

स्वागताछन्द

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात्।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्ध ज्ञानमेव विहित शिवहेतु ॥१०३॥

अर्थ—सर्वज्ञ भगवान् सभी कर्मोको अविशेषरूपसे वन्धका कारण कहते हैं, इससे सभी कर्मोका निषेध किया गया है और एक ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा गया है ॥१०३॥

शिखरिणीछन्द

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणा।
तदा ज्ञाने ज्ञान प्रतिचरितमेषा हि शरण
स्वय विन्दन्त्येते परमममृत तत्र निरता ॥१०४॥

अर्थ—यहाँपर शंकाकारका कहना है कि जब सभी प्रकारके कर्मका, चाहे वह शुभ हो, या

अशुभ हो, निषेध बताया है तब निष्कर्म अवस्थाकी ही प्रवृत्ति होगी और ऐसा होने पर मुनि अशरण हो जावेंगे, क्योकि उन्हे करने योग्य कोई कार्य अवशिष्ट नही रहा ? इसके उत्तरमे आचार्य कहते है कि नही भाई ! मुनि अशरण नही होते, क्योकि उस समय जो ज्ञानमे ही ज्ञानका आचरण होता है, वही मुनियोके शरण है, उसमे लीन हुए मुनि स्वय ही परम अमृतको प्राप्त होते है— परमाह्लादको प्राप्त होते है अथवा उत्कृष्ट मोक्षको प्राप्त होते है।

भावार्थ—शुभ और अशुभ दोनो प्रकारके कर्मोका निषेध किये जानेपर निष्कर्मा मुनि क्या करेंगे ? वे तो अशरण हो जावेंगे ? ऐसी आशका नही करना चाहिये, क्योकि उस समय कषायकी अत्यन्त मन्दता अथवा उसका सर्वथा अभाव हो जानेपर मुनियोका ज्ञान ज्ञानमे ही लीन हो जाता है अर्थात् ज्ञानमे चचलता उत्पन्न करनेवाले जो क्रोधादिक भाव थे उनका अभाव हो जानेसे ज्ञान अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाता है। ऐसा ज्ञान ही मुनियोके लिये शरणभूत है। इसमे लीन रहनेवाले मुनि जिस अकथनीय आनन्दको प्राप्त होते है वह इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र वा अहमिन्द्रको भी दुर्लभ होता है ॥१०४॥

अनन्तर ज्ञानस्वभावमे स्थित मुनि मोक्षको प्राप्त करते हैं, यह सिद्ध करते है—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तह्मि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥१५१॥

अर्थ—निश्चयसे जो परमार्थ है, समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है और ज्ञानी है अर्थात् इन शब्दोके द्वारा जिसका कथन होता है उस स्वभावमे स्थित मुनि निर्वाणको प्राप्त होते है।

विशेषार्थ—आत्माका स्वभाव ज्ञान है और ज्ञान ही मोक्षका कारण है क्योकि ज्ञान शुभ-अशुभकर्मोके बन्धका कारण नही है। अत वही मोक्षका कारण हो सकता है। जो बन्धका कारण है वह मोक्षका कारण नही हो सकता। वह ज्ञान कर्म, नोकर्म आदि समस्त विजातीय द्रव्योसे पृथक् चैतन्यजातिमात्र होनेसे परमार्थ अर्थात् आत्मा कहलाता है। यहाँ गुण-गुणीमे अभेददृष्टिको अङ्गीकारकर, गुण जो ज्ञान है उसे ही गुणी, परमार्थ या आत्मा कहा गया है। वह आत्मा समय[1] भी कहलाता है क्योकि 'समय' शब्दमे जो 'सम्' उपसर्ग है उसका अर्थ एक ही कालमे प्रवर्तना है और अयधातु है उसका अर्थ ज्ञान और गमन दोनो है, इस तरह जो एक कालमे जानता भी है और परिणमनशील भी है अर्थात् जो युगपत् एकीभाव होकर ज्ञानक्रिया और परिणमनक्रिया कर रहा है वह समय कहलाता है। वह आत्मा सम्पूर्ण नयपक्षोसे असकीर्ण केवल एकज्ञानरूप हो रहा है इसलिये शुद्ध कहलाता है। केवल चैतन्यमात्र वस्तु होनेसे केवली कहा जाता है। केवल मननभावमात्र होनेसे मुनि कहलाता है। स्वयमेव ज्ञानपनकर ज्ञानी कहा जाता है। स्वकीय ज्ञानके भावमात्रसे स्वभाव कहलाता है और सत् अर्थात् चित्के भवनमात्र होनेसे सद्भाव भी कहा जाता है। इस प्रकार शब्दोमे भेद होनेपर भी वस्तुमे भेद नही है। ऐसे ज्ञानस्वभावमे जो मुनि स्थित है अर्थात् रागादि विकारी भावोसे रहित है वे अवश्य ही निर्वाणको प्राप्त करते है तथा जो इसके

---

१. सम्यगयते गच्छति शुद्धगुणपर्यायान् परिणमतीति समय , अथवा सम्यगय संशयादिरहितो बोधो ज्ञान यस्य भवति स समय , अथवा समित्येकत्वेन परमसमरसीभावेन स्वकीयशुद्धस्वरूपे अयनं गमनं परिणमनं समय' ।
(ता० वृ०)

विपरीत शुभ-अशुभ भावोमे उलझते है वे यथायोग्य ससारके ही पात्र होते हैं ॥१५१॥

आगे परमार्थमे स्थित हुए बिना तप और व्रत बालतप और बालव्रत है, यह कहते हैं—

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च घारेई ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ॥१५२॥

अर्थ—जो आत्मा ज्ञानस्वरूप परमार्थमे तो निश्चल नही है किन्तु तप करता है और व्रतको धारण करता है सर्वज्ञ भगवान् उन सर्व प्रकारके तप और व्रतको बालतप और बालव्रत कहते है।

विशेषार्थ—श्रीभगवान्ने ज्ञान ही को मोक्षका कारण कहा है क्योकि परमार्थभूत ज्ञानसे रिक्त मनुष्यके अज्ञान द्वारा किये हुए तप और व्रत बन्धके कारण होनेसे बालतप और बालव्रत कहे जाते है। तथा इसीसे मोक्षमार्गमे उनका निषेध है और ज्ञान ही को मोक्षका हेतु कहा गया है। ॥१५२॥

अब ज्ञान मोक्षका हेतु है और अज्ञान बन्धका कारण है, ऐसा नियम करते हैं—

वद-णियमाणि घरता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ॥१५३॥

अर्थ—जो व्रत और नियमोको धारण करते है तथा शील और तपको करते हैं किन्तु परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मासे बाह्य है अर्थात् उसके दृढ श्रद्धान और ज्ञानसे शून्य है वे निर्वाणको नही पाते है।

विशेषार्थ—ज्ञान ही मोक्षका कारण है क्योकि उसके अभावमे स्वय अज्ञानस्वरूप अज्ञानी जीवोके अन्तरङ्गमे व्रत, नियम, शील, तप आदिक शुभकर्मोका सद्भाव होनेपर भी मोक्षका अभाव रहता है। इसी तरह अज्ञान ही बन्धका कारण है क्योकि उसके अभावमे स्वय ज्ञानभूत ज्ञानी जीवोके बाह्यमे व्रत, नियम, शील, तप आदिक शुभकर्मोका असद्भाव होने पर भी मोक्षका सद्भाव है।

यहाँ यह जो कहा है कि अज्ञानका अभाव होनेपर स्वय ज्ञानभूत ज्ञानी जीवोके बाह्य व्रत, नियम, शील, तप आदिक शुभकर्मोके अभावमे भी मोक्ष होता है, उसका यह अर्थ ग्राह्य नही है कि ये मोक्षमार्गमें अनुपयोगी है। यहाँ आचार्यका तात्पर्य यह है कि ये व्रत-नियमादिक शुभकार्य आत्मज्ञानके रहते हुए ही मोक्षके परम्परासे कारण होते है उसके बिना वे बन्धके कारण हैं। जिसके हृदयसे अज्ञान निकल जाता है, व्रत-नियमादिरूप प्रवृत्ति तो उसकी स्वत हो जाती है। जिस प्रकार[1] चावलके भीतरका तुष निकल जानेपर बाह्य तुष निकल गया, यह बात अनायास सिद्ध है, उसी प्रकार अन्तरङ्गका रागभाव नष्ट हो जानेपर बहिरङ्ग विषयोका व्यापार स्वयमेव नष्ट हो जाता है, यह अनायास सिद्ध है। परन्तु बाह्य तुष निकल जानेपर अन्तरङ्गका तुष निकल

१ न हि चित्तस्थे रागभावे विनष्टे सति बहिरङ्गविषयव्यापारो दृश्यते। तन्दुलस्याभ्यन्तरे तुषे गते सति बहिरगतुष इव। (ता० वृ०)

ही जावे, यह व्याप्ति नही, निकल भी जावे और न भी निकले। उसी प्रकार केवल बाह्य शुभाचरण होनेपर अन्तरङ्गका अज्ञान निवृत्त हो ही जावे, यह व्याप्ति नही, निवृत्त हो भी जावे और न भी होवे ॥१५३॥

अब ज्ञानस्वरूप आत्मा ही मोक्षका कारण है और उससे भिन्न परिणति वन्धका कारण है, यह कलशा द्वारा प्रकट करते है—

शिखरिणीछन्द

यदेतज्ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवन
शिवस्याय हेतु स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ।
अतोऽन्यद् वन्धस्य स्वयमपि यतो वन्ध इति तत्
ततो ज्ञानात्मत्व भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥१०५॥

अर्थ—जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुव है सो जब अपने स्वरूपमे निश्चल हुआ शोभायमान होता है तभी यह मोक्षका हेतु है क्योकि वह ज्ञान स्वय शिवस्वरूप है। तथा इसके सिवाय अन्य जो रागादिक भाव है वे सब वन्धके जनक है क्योकि स्वय बन्धस्वरूप है। इसलिये ज्ञानस्वरूप अपना होना ही अनुभूति है। इस पद्धतिसे बन्ध और मोक्षका विधान कहा गया है ॥१०५॥

अब फिर भी पुण्यकर्मके पक्षपातीको समझानेके लिये कहते हैं—

परमट्ठवाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं अजाणंता ॥१५४॥

अर्थ—जो परमार्थसे बाह्य है अर्थात् ज्ञानात्मक आत्माके अनुभवनसे शून्य है वे अज्ञानसे ससारगमनका कारण होनेपर भी पुण्यकी इच्छा करते है तथा मोक्षके कारणको जानते भी नही है।

विशेषार्थ—इस ससारमे कितने ही जीव है जो समस्त कर्मसमूहके नष्ट होनेपर प्रकट होनेवाले मोक्षकी इच्छा रखते हुए भी मोक्षके हेतुको नही जानते हैं। यद्यपि वे मोक्षके हेतुभूत, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वभाव परमार्थभूत ज्ञानके होने मात्र, तथा एकाग्रतारूप लक्षणसे युक्त, समयसारभूत, सामायिकचारित्रकी प्रतिज्ञा करते हैं तो भी दुरन्तकर्मसमूहके पार करनेकी असमर्थतासे जिसमे परमार्थभूत ज्ञानका अनुभवन ही शेप रह गया है, ऐसे आत्मस्वभावरूप वास्तविक सामयिकचारित्रको प्राप्त नही हो पाते। ऐसे जीव यद्यपि अत्यन्त स्थूल सक्लेशपरिणामरूप कर्मसे निवृत्त हो जाते है तो भी अत्यन्त स्थूल शुभपरिणामरूप कर्मोमे प्रवृत्त रहते है अर्थात् अशुभ कार्योको तो छोड देते है, परन्तु शुभ कार्योमे प्रवृत्ति करते रहते हैं। वे कर्मानुभवकी गुरुता और लघुताकी प्राप्ति मात्रसे सतुष्टचित्त रहते है अर्थात् कर्मके तीव्रोदयके वाद जब मन्द उदय आता है तब उसीमे सतुष्ट होकर रह जाते है, उस मन्दोदयको भी दूर करनेका प्रयास नही करते है। तथा स्थूल लक्ष्य होनेसे समस्त कियाकाण्डको मूलसे नही उखाडते अर्थात् बुद्धिगोचर सक्लेशरूप क्रियाकाण्डको तो छोड देते है, परन्तु अबुद्धिगोचर मन्दकषायके उदयमे जायमान शुभ क्रियाकाण्डको छोडनेमे असमर्थ रहते है। वे स्वयं अज्ञानरूप होनेसे केवल अशुभ कर्मको तो

बन्धका कारण जानते हैं, परन्तु व्रत, नियम, शील, तप आदि शुभकर्मको बन्धका कारण नही जानते, किन्तु उसे मोक्षका कारण मानकर स्वीकार करते हैं।

यहाँ आचार्य महाराजने कहा है कि जो मनुष्य परमार्थ ज्ञानसे रहित हैं वे अज्ञानवश मोक्षका साक्षात् कारण जो वीतराग परिणति है उसे तो जानते नही हैं और पुण्यको मोक्षका कारण समझकर उसकी उपासना करते हैं जब कि वह पुण्य ससारकी प्राप्तिका कारण है। कषायके मन्दोदयमे होनेवाली जीवकी जो शुभोपयोगरूप परिणति है उसे पुण्य कहते हैं, ऐसा पुण्य शुभकर्मके बन्धका कारण है, कर्मक्षयरूप मोक्षका कारण नही है, परन्तु अज्ञानी जीव इस अन्तरको नही समझ पाता है। यहाँ पुण्यरूप आचरणका निषेध नही है, किन्तु पुण्याचरणको मोक्षका मार्ग माननेका निषेध किया है। ज्ञानी जीव अपने पदके अनुरूप पुण्याचरण करता है और उसके फलस्वरूप प्राप्त हुए इन्द्र, चक्रवर्ती आदिके वैभवका उपभोग भी करता है, परन्तु श्रद्धामे यही भाव रखता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्षका साक्षात् कारण नही है तथा उसके फलस्वरूप जो वैभव प्राप्त हुआ है वह मेरा स्वपद नही है। यहाँ इतनी बात ध्यानमे रखनेके योग्य है कि जिस प्रकार पापाचरण बुद्धिपूर्वक छोड़ा जाता है उस प्रकार बुद्धिपूर्वक पुण्याचरण नही छोड़ा जाता—वह तो शुद्धोपयोगकी भूमिकामे प्रविष्ट होनेपर स्वय छूट जाता है ॥१५४॥

अब ऐसे जीवोको मोक्षका परमार्थ—वास्तविक कारण दिखाते हैं—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१५५॥

अर्थ—जीवादिक पदार्थोका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उन्हीका जानना ज्ञान है और रागादिकका त्याग करना चारित्र है, और यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है।

विशेषार्थ—निश्चयसे मोक्षका कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। उनमे जीवादिपदार्थश्रद्धानस्वभावरूप ज्ञानका होना सम्यग्दर्शन है। जीवादिज्ञानस्वभावसे ज्ञानका होना सम्यग्ज्ञान है और रागादिपरिहरणस्वभावसे ज्ञानका होना सम्यक्चारित्र है। इस तरह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र—तीनो ही एक ज्ञानके परिणमन सिद्ध हुए, इसलिये यही सिद्धान्त निर्णीत हुआ कि ज्ञान ही परमार्थसे मोक्षका कारण है।

यही श्रीविद्यानन्दने श्लोकवार्तिकमे कहा है—

मिथ्याभिप्रायनिर्मुक्तिर्ज्ञानस्येष्ट हि दर्शनम्।
ज्ञानत्वं चार्थविज्ञप्तिश्चर्यात्व कर्महन्तृता ॥

अर्थात् ज्ञानका मिथ्याभिप्राय छूट जाना सम्यग्दर्शन है, पदार्थका जानना ज्ञान है और कर्मोको नष्ट करनेकी सामर्थ्य होना चारित्र है।

यहाँ पर ज्ञानगुणकी प्रधानतासे कथन है, इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको ज्ञानकी ही परिणति सिद्ध कर एक ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है। ज्ञानगुणका स्वपरज्ञायकपन ही उसकी प्रधानताका कारण है ॥१५५॥

आगे मोक्षका परमार्थ कारण जो ज्ञान है उससे अन्य कर्मके मोक्षमार्गपनका प्रतिषेध करते हैं—

मोत्तूण णिच्चयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ विहियो ॥१५६॥

अर्थ—मात्र द्रव्यश्रुतके पाठी निश्चयनयके विषयका त्यागकर व्यवहारसे प्रवृत्ति करते है, परन्तु कर्मोका क्षय परमार्थका आश्रय करनेवाले यति महाराजोके कहा गया है[1] ।

विशेषार्थ—मोक्षके परमार्थ कारणसे भिन्न जो व्रत, तप आदि शुभ कर्म है, वही मोक्षका कारण है, ऐसा किन्हीका पक्ष है। परन्तु यह सब निषिद्ध है क्योकि यह सब द्रव्यान्तरका स्वभाव है अर्थात् पुद्गलद्रव्यका परिणमन है, इस स्वभावरूप ज्ञानका परिणमन नही होता। मोक्षका जो परमार्थ कारण है वह एकमात्र जीवद्रव्यका स्वभाव है। उस स्वभावसे ही ज्ञानका परिणमन होता है ॥१५६॥

मात्र द्रव्यश्रुतके ज्ञाता विद्वान् लोग निश्चयनयके पक्षको छोडकर केवल व्यवहारनयसे प्रवृत्ति करते है अर्थात् व्यवहारमे जो शुभाचरण बताया गया है उसका पालन करते है और उसके फलस्वरूप मोक्षकी इच्छा रखते है। परन्तु उससे कर्मोका क्षय नही होता, उससे तो कषायकी मन्दतामें होनेवाला देवायु आदि पुण्यप्रकृतियोका बन्ध ही होता है। कर्मोका क्षय उन्ही मुनियोके होता है जो परमार्थ मोक्षमार्गका आश्रय प्राप्त कर चुके है।

यही अभिप्राय कलशामे प्रकट करते है—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव हि ॥१०६॥

अर्थ—सदा ज्ञानस्वभावसे वर्तना ही ज्ञानका होना है और एक आत्मद्रव्यका स्वभाव होनेसे वह ज्ञान ही मोक्षका हेतु है।

भावार्थ—मोक्ष आत्माका होता है, इसलिये आत्माका स्वभाव ही मोक्षका कारण हो सकता है और ज्ञान आत्माका स्वभाव है इसलिये वही मोक्षका कारण है। इसके विपरीत मन, वचन, कायके व्यापाररूप जो शुभकर्म है वह पुद्गलद्रव्यका स्वभाव होनेसे मोक्षका कारण नही हो सकता ॥१०६॥

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥१०७॥

अर्थ—कर्मस्वभावरूप होना ज्ञानका होना नही है क्योकि वह द्रव्यान्तरका स्वभाव है अत. शुभाशुभकर्म मोक्षका हेतु नही है ॥१०७॥

मोक्षहेतुतिरोधानात् बन्धत्वात्स्वयमेव च ।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥१०८॥

अर्थ—वह कर्म, मोक्षका हेतु जो ज्ञान है, उसका आच्छादन करनेवाला है तथा स्वय बन्ध-

---

१. इस गाथाके पूर्वार्धका अर्थ जयसेन स्वामीने इस प्रकार किया है कि ज्ञानी जीव परमार्थको छोडकर व्यवहारमें प्रवृत्ति नही करते। इन्होने 'ववहारे'का सप्तम्यन्त मानकर 'ण' को अलग किया है।

रूप है और मोक्षके हेतु—ज्ञानका अच्छादन करने वाले पुद्‌गलद्रव्यरूप उसका परिणमन होता है। अत मोक्षमार्गमे उसका निषेध किया गया है।

यहाँपर व्रत-तपञ्चरण आदि शुभकर्म मोक्षके हेतु नही है, यह कहा गया है। इसका यह तात्पर्य नही लेना चाहिये कि मोक्षमार्गमे प्रवृत्ति करने वाला मुनि इन सब कार्योको करता नही है, करता है। किन्तु मात्र इन्हे मोक्षका कारण नही मानता, उसकी श्रद्धामे ज्ञानकी ज्ञानरूप परिणति हो जाना ही मोक्षका कारण है। इस अन्तरङ्ग कारणके रहते हुए ज्ञानी जीवके अपने पदानुसार जो मन, वचन, कायके शुभ व्यापार होते हैं उनके निषेधका तात्पर्य नही है।

अब कर्म मोक्षके हेतुका तिरोधान करने वाला है, यह दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं—

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं ॥१५७॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं ॥१५८॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं ॥१५९॥
(त्रिकलम्)

अर्थ—जिस प्रकार वस्त्रकी श्वेतता (शुक्लता) मलके मेलन होने पर नष्ट हो जाती है उसी प्रकार मिथ्यात्वमलसे व्याप्त होने पर सम्यक्त्व भी नष्ट हो जाता है अर्थात् अच्छादित हो जाता है, ऐसा निश्चयसे जानना चाहिये।

जैसे वस्त्रकी सफेदी मलके सम्बन्धविशेषसे नष्ट हो जाती है वैसे ही अज्ञानरूपी मलके साथ सम्बन्ध होने पर जीवका वास्तविक ज्ञान नष्ट हो जाता है अर्थात् आच्छादित हो जाता है, यह निश्चयसे जानना चाहिये।

और जिस तरह वस्त्रकी शुक्लता मलके सम्बन्धविशेषसे नाशभावको प्राप्त हो जाती है उसी तरह कषायरूपी मलके साथ सम्बन्ध होनेसे चारित्रगुण भी नष्ट हो जाता है अर्थात् प्रकट नही होता है, ऐसा जानना चाहिये।

विशेषार्थ—ज्ञानका जो सम्यक्त्व है वह मोक्षकारणरूप स्वभाव है। वह, जैसे परभावभूत मैलके साथ सम्बद्ध होनेसे वस्त्रका श्वेतभाव अच्छादित हो जाता है, वैसे ही मिथ्यात्वरूप मैलसे आच्छादित होनेके कारण तिरोभूत रहता है। इसी तरह ज्ञानका जो ज्ञान है अर्थात् उसमे अज्ञानभाव नही है वह मोक्षका कारण है। किन्तु मैलके सम्बन्धसे जैसे वस्त्रकी शुक्लता आच्छादित रहती है वैसे ही अज्ञानमलके साथ सम्बन्ध होनेसे उसकी मोक्षकारणता व्यक्त नही होती। इसी प्रकार ज्ञानके रागादिनिवृत्तिरूप जो चारित्र है वह मोक्षका कारण है। परन्तु जैसे मलिनताका सम्बन्ध होनेसे वस्त्रकी शुक्लताका वर्तमानमे अभाव है वैसे ही ज्ञानमे जो चरित्र है वह कषायमलके द्वारा अच्छादित होनेसे तिरोभूत हो रहा है। इसीलिये मोक्षके कारणोका तिरोधान करनेसे कर्मका प्रतिषेध किया गया है।

निश्चयनयसे तो गुण-गुणीमें भेद नही होता, पर व्यवहारनय गुण-गुणीमे भेदकल्पना करता है, अतः व्यवहारनयकी दृष्टिमे आत्मा गुणी है और श्रद्धा, ज्ञान तथा चारित्र ये तीन उसके गुण हैं। श्रद्धागुणका जो स्वभावरूप परिणमन है वह सम्यग्दर्शन है और विभावरूप परिणमन मिथ्या-दर्शन है। ज्ञानगुणका जो स्वभावरूप अर्थात् ज्ञानरूप परिणमन है वह सम्यग्ज्ञान है और विभाव-रूप परिणमन अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान है। इसी तरह चारित्रगुणका जो स्वभावरूप अर्थात् वीत-रागतारूप परिणमन है वह सम्यक्चारित्र है और रागादिरूप विभाव परिणमन अचारित्र अथवा मिथ्याचारित्र है। यहाँ इन गुणोके विभावरूप परिणमन करनेका कारण निमित्तकी प्रधानतासे कर्मको बतलाया है। जिस प्रकार मैलके सम्बन्धसे वस्त्रकी सफेदी आच्छादित रहती है और मैलके दूर हो जाने पर प्रकट हो जाती है उसी प्रकार मिथ्यात्व, अज्ञान और कषायरूपी मैलके सम्बन्धसे श्रद्धागुणका सम्यक्त्वरूप परिणमन, ज्ञानगुणका ज्ञानरूप परिणमन और चारित्रगुणका चारित्ररूप परिणमन आच्छादित रहता है और उन मिथ्यात्व आदि मैलोंका सम्बन्ध दूर हो जाने पर उनका यथार्थ परिणमन प्रकट हो जाता है। जिस तरह वस्त्रकी सफेदी वस्त्रमे ही रहती है उसी तरह आत्माके सम्यक्त्वादि गुणमे आत्मा रहते है। जिस प्रकार मैलका सम्बन्ध दूर हो जाने पर वस्त्रकी सफेदी स्वय प्रकट हो जाती है, कही बाहरसे नही आती, उसी प्रकार आच्छादक अथवा विकार उत्पन्न करनेवाले कर्मोका सम्बन्ध दूर होने पर सम्यक्त्वादि गुण स्वय प्रकट हो जाते हैं, कही बाहरसे नही आते ॥१५७॥१५८॥१५९॥

अब कर्म स्वयं बन्धरूप है, यह सिद्ध करते हैं—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणवच्छण्णो ।
संसारसमावण्णो ण विजाणादि सव्वदो सव्वं ॥१६०॥

अर्थ—वह आत्मा स्वभावसे सबको जाननेवाला और देखनेवाला है तो भी अपने शुभाशुभ-कर्मरूपी रजसे आच्छादित हो रहा है, अतएव ससार अवस्थाको प्राप्त हुआ सबको सब रूपसे नही जानता है।

विशेषार्थ—यद्यपि आत्माका स्वभाव ऐसा है कि वह समस्त पदार्थोको सामान्य और विशेषरूपसे देख-जान सकता है तथापि अनादिकालसे स्वकीय आत्माके अपराध अर्थात् रागादि परिणतिसे प्रवर्तमान कर्मरूपी मलसे आच्छादित होता हुआ बन्धदशाका अनुभव कर रहा है और उस बन्धदशामें सबरूपसे अपने सम्पूर्णरूपको नही जानता हुआ निरन्तर अज्ञानी होकर ही रहता है, इससे निश्चय हुआ कि शुभाशुभकर्म ही स्वय बन्धरूप है, अतः त्यागने योग्य है।

यहाँ कोई यह आशका करे कि जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ कर नही सकता तब कर्म-रूपी रजने सर्वदर्शी आत्माको अज्ञानी कैसे बना दिया ? तो उसका उत्तर यह है कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ कर नही सकता' इसका इतना ही अर्थ है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमन नही कर सकता, निमित्त-नैमित्तिकभावकी दृष्टिमे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके विभावपरिणमनमे निमित्त अवश्य होता है, इसका निषेध नही है।

अब कर्म मोक्षके हेतु—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रका आच्छादन करने वाले हैं, यह दिखाते हैं—

सम्मत्त-पडिणिवद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णायव्वो ॥१६१॥
णाणस्स पडिणिवद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥
चारित्त-पडिणिवद्धं कसाय जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—सम्यक्त्वको रोकनेवाला मिथ्यात्वकर्म है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है, उस मिथ्यात्वके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि होता है, ऐसा जानना चाहिये ।

ज्ञानको रोकनेवाला अज्ञान है, ऐसा श्री जिनवरके द्वारा कहा गया है, उस अज्ञानके उदयसे यह जीव अज्ञानी नाम पाता है, यह जानना चाहिये ।

चारित्रको घातनेवाला कषाय है, ऐसा भगवान्‌का आदेश है, उस कषाय के उदयसे यह जीव अचारित्र होता है, यह जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—आत्माका जो सम्यग्दर्शन है वह मोक्षका कारण है तथा आत्माका स्वभावभूत है उसे रोकनेवाला मिथ्यात्व है वह स्वय कर्म ही है । जब उसका उदयकाल आता है तब ज्ञानके मिथ्यादृष्टिपन रहता है । इसी तरह आत्माका जो ज्ञान है वह मोक्षका कारण है तथा आत्माका स्वभाव है, उसका प्रतिबन्धक अज्ञान है वह स्वयं कर्म है, उसके उदयसे ज्ञानके अज्ञानपन होता है । इसी तरह आत्माका जो चारित्रगुण है, वह मोक्षका कारण है तथा आत्माका स्वभाव है, उसको रोकनेवाला कषाय है, वह कषाय स्वय कर्म है, उसके उदयसे ज्ञानका अचारित्र भाव होता है । इसीलिये मोक्षके कारणोका तिरोधायक-आच्छादक होनेसे कर्मका प्रतिषेध किया गया है ।

आत्मा अनाद्यनन्त चैतन्यगुणविशिष्ट एक द्रव्य है । परन्तु अनादिकालसे कर्मोके साथ एकमेव जैसा हो रहा है । इसमे जिस तरह चेतना असाधारण गुण है उसी तरह सम्यक्त्व, चारित्र, सुख और वीर्य भी असाधारण गुण हैं । किन्तु उन गुणोके विकासको रोकनेवाले ज्ञानावरणादि आठ कर्म अनादिसे ही इसके साथ लग रहे हैं । उन कर्मोमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिया हैं जो कि आत्माके असाधारण अनुजीवी गुणोको घातते है । अघातियाकर्म आत्मगुण घातक नही है, केवल उनके अभावमे प्रतिजीवी गुणोका ही उदय होता है । घातियाकर्मोमे ज्ञानावरण और दर्शनावरण चेतनागुणके विकासमे बाधक हैं अर्थात् जब ज्ञानावरण कर्मका उदय होता है तब आत्माका ज्ञान नही प्रकट होता है और दर्शनावरणके उदयमे दर्शन नही होता, अन्तरायके उदयमे वीर्य (शक्तिका) विकास नही होता है । इनके क्षयोपशममे आशिक ज्ञान, दर्शन तथा वीर्य प्रकट होते हैं, क्षयमे पूर्णरूपसे ज्ञानादिक गुणोका विकास हो जाता है । मोहनीयकर्मकी तरह इनका सर्वथा उदय नही रहता, अन्यथा आत्माके ज्ञानगुणका सर्वथा

अभाव होनेसे उसके अस्तित्वका ही लोप हो जाता, सो हो नही सकता। मोहनीयकर्म आत्माके सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रको घातता है। यहाँ पर घातका यह आशय है कि गुणके विकासको रोकता तो नही है, किन्तु उसका विरुद्ध परिणमन करा देता है। जैसे कामलारोगी देखता तो है, परन्तु श्वेतशङ्खको पीतरूप देखता है। अत परमार्थसे देखा जावे तो यही घात आत्माका अहित करनेवाला है। इन्ही ज्ञानावरणादि कर्मोमें पापकर्म और पुण्यकर्मका विभाग है, घातिया कर्मोकी जितनी प्रकृतियाँ हैं वे सब पापरूप ही है। परन्तु अघातिया कर्मोमें कुछ पापप्रकृतियाँ है और कुछ पुण्यप्रकृतियाँ है। कषायके मन्दोदयमें पुण्यप्रकृतियोका बन्ध होता है और कषायके तीव्रोदयमे पापप्रकृतियोका बन्ध होता है। पुण्यप्रकृतियोके विपाक कालमे सासारिक सुखकी प्राप्ति होती है और पापप्रकृतियोके उदयकालमे सासारिक दु खकी ही प्राप्ति होती है। कषायके मन्दोदयमे होने वाला जो शुभाचरण है वह भी पुण्यकर्मके बन्धमे साधक होनेसे पुण्यकर्म कहलाता है और कषायके तीव्रोदयमे होनेवाला जो अशुभाचरण है वह भी पापकर्मके बन्धमे साधक होनेसे पापकर्म कहलाता है। इनमे पापकर्म तो मोक्षका बाधक है ही, परन्तु पुण्यकर्म भी मोक्षका बाधक है। इसलिये मोक्षार्थी मनुष्यको इन दोनो प्रकारके कर्मोका त्याग करना चाहिये ॥१६१-१६३॥

यही कलशामे कहते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
सन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भव-
न्नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०९॥

अर्थ—'मोक्षके अभिलाषी मनुष्यके द्वारा ये सभी कर्म छोड देनेके योग्य है' इस आदेशसे जब सब कर्म छोड दिये, तब पुण्य और पापकी क्या चर्चा रह गई? पुण्य और पाप तो कर्मकी विशिष्ट अवस्थाएँ हैं। जब सामान्यरूपसे कर्मका त्याग हो गया तब पुण्य पापका त्याग तो उसी त्यागमे अनायास गर्भित हो गया। इस प्रकार पुण्य और पाप दोनो प्रकारके कर्मोके छूट जानेसे जब इस जीवकी निष्कर्मा अवस्था हो जाती है तब इसके सम्यक्त्वादि गुणोका निज स्वभावरूप परिणमन होने लगता है और तभी उससे सम्बन्ध रखनेवाला शक्तिशाली ज्ञान मोक्षका हेतु होता हुआ स्वय दौडकर आता है।

भावार्थ—जब पुण्य और पाप दोनो प्रकारके कर्म छूट जाते है तब एक ज्ञान ही मोक्षका हेतु होता है तथा सम्यक्त्वादि गुणोंका स्वभावरूप परिणमन होने लगता है। उस समयका यह ज्ञान इतना उद्धतरस—शक्तिशाली होता है कि इसकी गतिको कोई रोक नही सकता। शुद्धोपयोगकी भूमिकामे क्षपकश्रेणीपर आरूढ होकर जब यह जीव पुण्य पापकर्मोके जनक समस्त रागादिक विकल्पोको दशमगुणस्थानके अन्तमे क्षय कर देता है तब उसका ज्ञान नियमसे अन्तर्मूहूर्तमे केवल ज्ञानरूप हो जाता है ॥१०९॥

अब यह आशका होती है कि अविरतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानोमे जब तक कर्मका उदय है और ज्ञान रागादिजन्य विकल्पपरिणतिसे रहित नही हुआ है तब तक ज्ञान ही मोक्षका

मार्ग कैसे हो सकता है ? तथा कर्म और ज्ञान साथ-साथ किस तरह रह सकते हैं ?

इसके समाधानके लिये कलशा कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यावत्पाकमुपैति कर्म विरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तन्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११०॥

अर्थ—जबतक कर्म उदयको प्राप्त हो रहा है तथा ज्ञानकी, रागादिकके अभावमें जैसी निर्विकल्प परिणति होती है वैसी परिणति नही हो जाती है, तबतक कर्म और ज्ञान दोनोका समुच्चय भी कहा गया है, इसमे कोई हानि नही है, किन्तु इस समुच्चयकी दशामे भी कर्मोदयकी परतन्त्रतासे जो कर्म होता है अर्थात् जो शुभाशुभ प्रवृत्ति होती है वह बन्धके लिये ही होती है—उसका फल बन्ध ही है, मोक्षके लिये तो स्वत—स्वभावसे परसे शून्य अतएव ज्ञायकमात्र एक उत्कृष्ट ज्ञान ही हेतुरूपसे स्थित है ।

भावार्थ—चतुर्थगुणस्थानसे लेकर दशमगुणस्थान तक कर्म और ज्ञान दोनोका समुच्चय रहता है क्योकि यथासभव चारित्रमोहका उदय विद्यमान रहनेसे रागादिरूप परिणति रहती है और उसके रहते हुए शुभ-अशुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति अवश्यभावी है तथा दर्शनमोहका अनुदय हो जानेसे ज्ञानका सद्भाव है । इस समुच्चयकी दशामे इन गुणस्थानोमे रहनेवाले जीवोको मोक्षमार्गी माना जावे या बन्धमार्गी, यह आशका उठ सकती है ? उसका उत्तर यह है कि इस दशामे कर्मोदयकी बलवत्तासे जीवोकी जो कर्ममे प्रवृत्ति होती है उससे तो बन्ध ही होता है और स्वभावरूप परिणत जो उनका सम्यग्ज्ञान है वह मोक्षका कारण है क्योकि ज्ञान बन्धका कारण नही हो सकता । यही कारण है कि इन गुणस्थानोंमे गुणश्रेणीनिर्जरा भी होती है और देवायु आदि पुण्यप्रकृतियोका बन्ध भी होता है । इस वास्तविक अन्तरको गौण कर कितने ही लोग शुभ प्रवृत्तिको मोक्षका कारण कहने लगते है और रत्नत्रयको तीर्थंकरप्रकृति, आहारकशरीर तथा देवायु आदि पुण्यप्रकृतियोके बन्धका कारण बताते हैं ॥११०॥

आगे कर्मनय और ज्ञाननयके एकान्ती ससार-सागरमे निमग्न रहते हैं, यह कहते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

मग्ना कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञान न जानन्ति ये
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमा. ।
विश्वोस्योपरि ते तरन्ति सतत ज्ञान भवन्त स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वश यान्ति प्रमादस्य च ॥१११॥

अर्थ—जो ज्ञानको नही जानते हैं तथा केवल कर्मनयके अवलम्बनमे तत्पर रहते हैं वे डूबते है । इसी प्रकार जो ज्ञाननयके इच्छुक होकर भी धर्माचरणके विषयमे अत्यन्त स्वच्छन्द और मन्दोद्यम रहते हैं वे भी डूबते हैं । किन्तु जो निरन्तर स्वय ज्ञानरूप होते हुए न तो कर्म करते हैं और न कभी प्रमादके वशीभूत होते है वे ही समस्त ससारके ऊपर तैरते है अर्थात् ससारसे पार होते हैं ।

भावार्थ—यहाँ कर्मनय और ज्ञाननयके एकान्तियोका निरूपण करते हुए अनेकान्तसे दोनो नयोंका पालन करनेवाले पुरुषोका वर्णन किया गया है। जो मनुष्य ससार-सागरके सतरणका मूलभूत उपाय जो ज्ञान है उसे तो समझते नही है केवल बाह्य क्रियाकाण्डके आडम्बरमे निमग्न रहते है वे ससार-सागरमे ही डूबते है और जो ज्ञाननयको तो चाहते है परन्तु बाह्य शुभाचरणमे स्वच्छन्द तथा अत्यन्त मन्दोत्साह है वे भी ससार-सागरमे ही डूबते है। और जो न तो कर्म करते है और न कभी प्रमादके वशीभूत हो शुभाचरणसे च्युत होते है वे स्वयं ज्ञानरूप होते हुए विश्वके ऊपर तैरते है ॥१११॥

आगे सब प्रकारके कर्मोको नष्ट करनेपर ज्ञानज्योति प्रकट होती है, यह कहते है—

मन्दाक्रान्ताछन्द

भेदोन्मादभ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोह
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥११२॥

अर्थ—जो मोहरूपी मदिराको पीकर उन्मत्त हुए मनुष्यको भेदके उन्मादसे उत्पन्न भ्रमरसके भारसे नृत्य करा रहा है ऐसे सभी प्रकारके कर्मको बलपूर्वक जड़सहित उखाड़कर वह ज्ञानज्योति जोरसे प्रकट होती है जो अनायास प्रकट होते हुए केवलज्ञानरूपी परम कलाके साथ क्रीड़ा प्रारभ करती है तथा सब अन्धकार दूर कर देती है।

भावार्थ—यह जीव अनादिकालसे मोहरूपी मदिराको पीकर उसके मदमे मत्त हो रहा है तथा उसके फलस्वरूप परपदार्थोंमे इष्टानिष्टबुद्धि कर रहा है, ऊपरसे कर्म—पुण्य-पापका भेद प्रकट कर तज्जन्य उन्मादसे उत्पन्न भ्रमरूपी रसके भारसे उसे चतुर्गतिरूप ससारमे नचा रहा है, ऐसे समस्त कर्मोको जब यह जीव बलपूर्वक जडसे उखाडकर नष्ट कर देता है तब अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाली वीतराग-विज्ञानतारूपी वह ज्ञानज्योति इसके प्रकट होती है जो अन्तर्मुहूर्तके भीतर अनायास प्रकट होनेवाली केवलज्ञानरूपी परमकलाके साथ क्रीड़ा करती है अर्थात् स्वय केवलज्ञानरूप हो जाती है ॥११२॥

इस प्रकार जो कर्म पुण्य और पापके रूपमें दो पात्र बनकर नृत्य कर रहा था, अब वह एक पात्र होकर रगभूमिसे बाहर निकल गया।

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित समयप्राभृतमें पुण्य-पापका वर्णन करनेवाले
तृतीयाधिकारका प्रवचन समाप्त हुआ। ।३॥

४ आस्रवाधिकार

अब आस्रवका प्रवेश होता है—

वास्तवमे जीव और पुद्गल भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं। अनादिकालसे इनकी विजातीय अवस्था-रूप बन्धावस्था हो रही है। इसीसे यह आत्मा नाना योनियोंमे परिभ्रमण करता हुआ परका कर्ता बनकर अनन्त ससारी हो रहा है। बन्धावस्थाके जनक जिस आस्रवसे ससार होता है वह कैसा है, यह दिखाते हैं—

द्रुतविलम्बितछन्द

अथ महामदनिर्भरमन्थर समररगपरागतमास्रवम्।
अयमुदारगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धर. ॥११३॥

अर्थ—वह आस्रव महामदके अतिशयसे भरा हुआ है। अतएव मन्थर चाल चल रहा है तथा समररूपी रगभूमिमे आ पहुँचा है, ऐसे आस्रवको यह दुर्जय बोधरूपी धनुर्धर सहज ही जीत लेता है, जो उदार, गम्भीर और महान् उदयसे सहित है ॥११३॥

अब उस आस्रवका स्वरूप कहते हैं—

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य [1]सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥१६४॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१६५॥
(जुगलम्)

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग ये जो चार आस्रव हैं वे भावास्रव और द्रव्यास्रवके भेदसे चेतनके भी विकार हैं और अचेतन—पुद्गलके भी। इनमे जो चेतनके विकार हैं, वे जीवमे बहुत अवान्तर भेदोको लिये हुए है तथा जीवके ही अनन्य परिणाम हैं। वे मिथ्यात्वादिक जीवके अनन्य परिणाम, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मोके कारण है और उन मिथ्यात्वादिक जीवके अनन्य परिणामोका कारण रागद्वेषादि भावोको करनेवाला जीव ही है।

विशेषार्थ—इस जीवमे राग-द्वेष-मोह ही आस्रव है तथा उनके होनेमे स्वपरिणाम ही निमित्त हैं, क्योंकि उन रागद्वेषादि परिणामोमे अजडपन है, अतएव वे चिदाभास हैं। मिथ्यात्व, अविरति,

---

१ भावप्रत्ययद्रव्यप्रत्ययरूपेण सज्ञासज्ञाश्चेतनाचेतना.। (ता. वृ.)

कषाय और योग ये पुद्गलके परिणाम है तथा ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मोंके आस्रवमे निमित्त होनेसे आस्रव कहलाते हैं। उन मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप पुद्गलके परिणामोमें जो ज्ञानावरणादिक कर्मोके आस्रवणका निमित्तपन है, उसका भी निमित्तकारण रागद्वेषमोहरूप जीवके अज्ञानमय भाव है, इसलिये आस्रवणमें निमित्तपनेका निमित्त होनेसे राग-द्वेष-मोह ही परमार्थसे आस्रव हैं और ये भाव अज्ञानी जीवके ही होते हैं, यह बात अपने आप सिद्ध होती है।

तात्पर्य यह है कि इस जीवके अनादिकालसे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप द्रव्यप्रत्यय साथमें लगे हुए है। ये द्रव्यप्रत्यय पुद्गलद्रव्यके परिणाम है तथा अचेतन है। जब इनका विपाककाल आता है तब इनके उदयमे ज्ञानावरणादिक पुद्गलकर्मोंका आस्रव होता है। इस तरह ज्ञानावरणादिक कर्मोके आस्रवमे निमित्त पडनेसे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप जो पुद्गलके परिणाम हैं वे आस्रव कहलाते है।[1] अब यहाँ यह विचार आता है कि यदि मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामोका उदय ही ज्ञानावरणादि कर्मोके आस्रवका कारण है, तो सामान्यतया उनका उदय सदा विद्यमान रहता है, इसलिये सदा ही आस्रव होता रहेगा, तब ससारका अभाव किस तरह होगा ? इसपर आचार्य कहते है कि उन पुद्गलपरिणामोके विपाककालमे जो जीवके, राग-द्वेष-मोहरूप अज्ञानमय भाव होते हैं वे ज्ञानावरणादि कर्मोके आस्रवमे निमित्त हैं। इसतरह उदयकी अपेक्षा पुद्गलपरिणाम ज्ञानावरणादि कर्मोके आस्रवमे कारण है और उन पुद्गलपरिणामोके निमित्त जीवके राग-द्वेष-मोहरूप अज्ञानमय भाव हैं। फ़लस्वरूप यह बात सिद्ध हो गई कि परमार्थसे राग-द्वेष-मोह ही आस्रव है तथा वे अज्ञानी जीवके ही होते है। यहाँ अज्ञानीसे तात्पर्य मिथ्यादृष्टिका है। तब क्या सम्यग्दृष्टिके रागादिक नही होते ? होते है, परन्तु सम्यग्दृष्टिका उनमे स्वामित्व नही रहता अर्थात् वह उन्हे आत्माका स्वभाव नही मानता ॥१६४-१६५॥

अब ज्ञानी जीवके उन आस्रवोंका अभाव दिखाते हैं—

णत्थि दु आसव-बंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ॥१६६॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिके आस्रव और बन्ध नही है, किन्तु आस्रवका निरोध है अर्थात् संवर है और जो पहलेके बँधे हुए कर्म सत्तामें विद्यमान हैं, उन्हे वह नवीन बन्ध न करता हुआ जानता है।

विशेषार्थ—अज्ञानमय भावोके द्वारा ही अज्ञानमय भाव होते है, ज्ञानी जीवके अज्ञानभावोकी अनुत्पत्ति है। अतएव उसके अज्ञानमय भावोका निरोध हो जाता है। इसीसे आस्रवभूत रागद्वेषमोहरूप अज्ञानमय भावोका अभाव होनेके कारण ज्ञानी जीवके आस्रवका निरोध स्वत सिद्ध है,

---

१ अयमत्र भावार्थः—द्रव्यप्रत्ययोदये सति शुद्धात्मस्वरूपभावना त्यक्त्वा यदा रागादिभावेन परिणमति तदा बन्धो भवति, नैवोदयमात्रेण। यदि उदयमात्रेण बन्धो भवति, तदा सर्वदा ससार एव। कस्मादिति चेत् ? संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्। तर्हि कर्मोदयो बन्धकारण न भवतीति चेत्, तन्न, निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टाना मोहसहितकर्मोदयो व्यवहारेण निमित्तं भवति। निश्चयेन पुनः अशुद्धोपादानकारणं स्वकीयरागाद्यज्ञानभाव एव भवति। (ता. वृ.)

अतएव ज्ञानी जीव आस्रवके कारणभूत पुद्गलकर्मोंको नही बाँधता है, किन्तु नित्य ही अकर्ता होनेसे नवीन कर्मोको नही बाँधता हुआ पूर्वबद्ध सदवस्थारूप जो कर्म हैं, उन्हे ज्ञानस्वभाव होनेसे केवल जानता ही है।

यहाँ जो सम्यग्दृष्टि जीवके आस्रव और बन्धका अभाव बताया है, वह वीतरागसम्यक्त्व-की अपेक्षा बताया है। सरागसम्यग्दृष्टि जीवके चतुर्थादि गुणस्थानोमे आगमप्रतिपादित पद्धतिके अनुसार बन्ध होता ही है, उसका निषेध नही है। अथवा चतुर्थादि गुणस्थानोमे जो बन्ध होता है, वह मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धीका उदय निकल जानेसे अनन्त ससारका कारण नही होता, अप्रत्याख्यानावरणादिके उदयमे जो बन्ध होता है उसकी यहाँ विवक्षा नही है ॥१६६॥

अब रागद्वेषमोहभाव ही आस्रव हैं, ऐसा नियम करते हैं—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रायादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरिं ॥१६७॥

अर्थ—जीवके द्वारा किया हुआ जो रागादियुक्त भाव है वह बन्धका ही करनेवाला कहा गया है और रागादिसे विमुक्त जो ज्ञायकभाव है, वह अबन्धक कहा गया है अर्थात् जहाँ रागादिक से कलुषित आत्माका परिणाम है, वही बन्ध होता और जहाँ अन्तरंगमे रागादिककी मलिनतासे रहित ज्ञायकभाव है वहाँ बन्ध नही होता है।

विशेषार्थ—इस आत्मामे निश्चयसे रागद्वेषमोहके सपर्कसे जायमान जो भाव है वे अज्ञान-मय ही हैं। जिस प्रकार चुम्बक पाषाणके सपर्कसे उत्पन्न भाव, लोहकी सूचीको हलन-चलन आदि-रूप कार्य करनेके लिये प्रेरित करता है, उसी प्रकार वह अज्ञानमयभाव आत्माको कर्मबन्ध करनेके लिये प्रेरित करता है, अर्थात् वह आत्मामे ऐसी विभावता उत्पन्न कर देता है कि जिसका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादिभावरूप परिणमनको प्राप्त हो जाता है। परन्तु रागादिकके भेद-ज्ञानसे जो भाव होता है, वह ज्ञायकभाव है, जिस प्रकार चुम्बक पाषाणके असपर्कमे होनेवाला भाव लोहेकी सूचीको हलन-चलन आदि क्रियासे रहित रखता है, उसी प्रकार वह ज्ञायकभाव स्वभावसे ही आत्माको कर्मबन्ध करनेमे अनुत्साहरूप रखता है अर्थात् रागादिरूप विभावताके अभावमे आत्मा स्वभावस्थ रहता है, जिससे ज्ञानावरणादि कर्मोका बन्ध नहीं हो पाता है। इससे यह सिद्धान्त प्रतिफलित हुआ कि रागादिसे मिला हुआ अज्ञानमय भाव हीं कर्मके कर्तृत्वमे प्रेरक होनेसे बन्धका करनेवाला है और रागादिसे न मिला हुआ ज्ञायकभाव केवल स्वभावका प्रकट करनेवाला होनेके कारण किञ्चिन्मात्र भी बन्धका करनेवाला नही है ॥१६७॥

अब आत्माके रागादिकसे असंकीर्ण ज्ञायकभावका होना संभव है, यह दिखाते हैं—

पक्के फलम्हि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई ॥१६८॥

अर्थ—जिस प्रकार पका हुआ फल एक बार डण्ठलसे पतित होनेपर फिर डण्ठलके साथ बन्धको प्राप्त नही होता, उसी प्रकार जीवका कर्मभाव अर्थात् कर्मोदयसे जायमान रागादिभाव एक बार नष्ट होनेपर फिर उदयको प्राप्त नही होता।

विशेषार्थ—जिस प्रकार पका हुआ फल डण्ठलसे एक बार जुदा होनेपर डण्ठलके साथ फिर सम्बन्धको प्राप्त नही होता, उसी प्रकार कर्मोदयसे होनेवाला भाव एक बार जीवके भावसे जुदा होनेपर फिर जीवभावको प्राप्त नही होता। इस तरह रागादिकसे असंकीर्ण ज्ञानमय भाव सभव है।

अनादि कालसे जीवकी रागादिरूप परिणत्ति हो रही है। उस परिणतिसे असकीर्ण शुद्ध ज्ञायकभावरूप परिणत्ति कभी हुई ही नही। इसलिये साधारण जीवोको ऐसा प्रतिभास होता है कि रागादिकसे असकीर्ण शुद्ध ज्ञायकभावका होना सभव नही है, परन्तु ऐसी बात नही है। रागादिकरूप जो परिणति है, वह जीवकी स्वभाव परिणत्ति नही है, किन्तु मिथ्यात्वादिक द्रव्य-कर्मके उदयमे होनेवाली विभाव परिणति है। द्रव्यकर्म अपना फल देकर अवश्य निर्जराको प्राप्त होते हैं। साता-असाता आदि द्रव्यकर्म जब अपना फल देते है तब सुख-दु खका अनुभव होता है, अज्ञानी जीव उसमे हर्ष-विषाद करता हुआ नवीन कर्मबन्धको प्राप्त होता है, परन्तु ज्ञानी जीव उस कर्मफलमे हर्ष-विषाद नही करता। इसलिये उसके पूर्वबद्ध कर्म फल देकर निर्जीर्ण हो जाते हैं, नवीन कर्मबन्ध नही होता है इस तरह ज्ञानी जीवके पूर्वबद्ध कर्मकी निर्जरा होते-होते दशम गुणस्थानके अन्तमे रागादिकभावोको उत्पन्न करनेमे निमित्तभूत मोहनीयकर्मका अत्यन्त क्षय हो जाता है, और यह नियम है कि जिस प्रकार एक बार डठलसे टूटा फल फिरसे डठलके साथ सम्बन्धको प्राप्त नही होता, उसी प्रकार एक बार क्षयको प्राप्त हुआ कर्म जीवके साथ फिरसे सम्बन्धको प्राप्त नही होता। इस नियमानुसार जिस जीवके मोहनीय कर्मका अत्यन्त क्षय हो गया है उसके फिर मोहनीय कर्मका बन्ध नही हो सकता और जब मोहनीयकर्म नही रहा तब उसके उदयमे जायमान रागादि विकारीभाव कैसे रह सकेंगे? इस तरह बारहवे गुणस्थानकी प्राप्तिकालके बाद अनन्त काल तक इस भव्यात्माकी एक ज्ञायकभावरूप ही परिणति रहती है। चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक इस जीवका ज्ञायकभाव यद्यपि रागादिकसे सकीर्ण रहता है, तो भी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीके निकल जानेसे जीवको रागादिक परिणति और ज्ञायकभावरूप परिणति इन दोनों परिणतियोका अन्तर अनुभवमें आ जाता है। अपने-अपने पदानुसार चारित्रमोहका उदय होनेसे उसके रागद्वेष उत्पन्न होते हैं और उन रागद्वेषोके सद्भावमे जो कार्य होते हैं, उन्हे भी वह करता है, तो भी ये रागादिकभाव मेरे है, ऐसी उसकी श्रद्धा नही होती, वह उस संकीर्ण दशामे भी शुद्ध ज्ञायकभावका ही अनुभव करता है ॥१६८॥

अब अमृतचन्द्रस्वामी कलशा द्वारा जीवके ज्ञानमयभावका वर्णन करते हैं—

शालिनीतछन्द

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो
　　जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघा-
　　न्नेषोऽभाव. सर्वभावास्रवाणाम् ॥११४॥

अर्थ—रागद्वेषमोहके विना जीवका जो भाव है, वह ज्ञानसे रचा गया है अर्थात् वह ज्ञान-मय ही भाव है। वह भाव सम्पूर्ण द्रव्यकर्मके आस्रवके समुदायको रोकनेवाला है और यही भाव सम्पूर्ण भावास्रवोके अभावरूप है।

भावार्थ—आत्मामे जो राग, द्वेष, मोहरूप भाव हैं, वे भावास्रव कहलाते है और उनके निमित्तसे कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्यका जो ज्ञानावरणादिरूप परिणमन होता है, वह द्रव्यास्रव है, दशम गुणस्थानके ऊपर जीवका जो भाव होता है, वह रागद्वेषमोहसे रहित होता है, उसका वह भाव ज्ञानसे रचा जाता है, इसलिये ज्ञायकभाव कहलाता है। यह ज्ञायकभाव सर्व प्रकारके भावास्रवोके अभावस्वरूप है तथा द्रव्यकर्मके आस्रवोके समूहको रोकनेवाला है। ग्यारहवें गुणस्थानसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तक योगके निमित्तसे एक सातावेदनीयका आस्रव होता है। पर स्थिति और अनुभागबन्धसे रहित होनेके कारण उसकी यहाँ विवक्षा नही की गई है ॥११४॥

आगे ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव है, यह दिखाते हैं—

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिवद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्मसरीरेण दु ते वद्धा सव्वेपि णाणिस्स ॥१६९॥

अर्थ—उस ज्ञानी जीवके पहलेकी अज्ञानावस्थामे बँधे हुए जो प्रत्यय—कर्म हैं, वे पृथिवीके पिण्डके समान है। ज्ञानी जीवके वे सभी प्रत्यय कार्मणशरीरके साथ बँधे हुए है, जीवके साथ नही।

भावार्थ—निश्चयसे जो पहले एक अज्ञानभावके ही द्वारा बँधे हुए मिथ्यात्व, अविरत्ति, कषाय और योग नामक द्रव्यास्रवस्वरूप प्रत्यय हैं, वे ज्ञानी जीवके लिये पृथक् द्रव्यस्वरूप, अचेतन पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेसे पृथिवीके पिण्डके समान है तथा वे सभी प्रत्यय स्वभावसे ही कार्मणशरीरके साथ बँधे हुए हैं, जीवके साथ नही। अत᳚ ज्ञानी जीवके द्रव्यास्रवका अभाव है, यह स्वभावसे ही सिद्ध है ॥१६९॥

इसी अभिप्रायको कलशा द्वारा प्रकट करते है—

उपजातिछन्द

भावास्रवाभावमय प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एक भिन्न।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥११५॥

अर्थ—यह ज्ञानी जीव भावास्रवके अभावको प्राप्त हुआ है। इसलिये द्रव्यास्रवोसे स्वयमेव भिन्न है। क्योकि ज्ञानी सदा एक ज्ञानमय भावसे ही युक्त रहता है। अत᳚ वह निरास्रव है और एक ज्ञायक ही है।

भावार्थ—ज्ञानी जीव, रागादिकका अभाव होनेसे भावास्रवके अभावको प्राप्त हुआ है और पुद्गलद्रव्यके परिणमनरूप होनेके कारण द्रव्यास्रवोसे अपने आप भिन्न है ही, इस तरह ज्ञानी जीव दोनो प्रकारके आस्रवोंसे रहित होता हुआ एक ज्ञायक ही रहता है तथा सदा एक ज्ञानमयभावका ही धारक होता है। ज्ञानी जीवकी यह निरास्रवदशा दशमगुणस्थानके बाद तो पूर्णरूपसे बनती है और चतुर्थादि गुणस्थानोमे अपने-अपने पदानुसार यथा कथचित् सभवती है ॥११५॥

अब ज्ञानी निरास्रव कैसे हैं ? यह दिखाते हैं—

चहुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं।
समये समये जह्मा तेण अबंधो त्ति णाणी दु ॥१७०॥

अर्थ—जिस कारण पूर्वमे निरूपण किये गये जो मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योगरूप चार द्रव्यास्रव है, वे ज्ञानदर्शन गुणोके द्वारा समय समयमे अनेक भेदोको लिये हुए कर्मोको बाँधते हैं। इसलिये ज्ञानी अबन्ध है, ऐसा कहा गया है।

विशेषार्थ—ज्ञानीके पहलेसे ही आस्रव-भावनाका अभिप्राय नही है। इसलिये वह निरास्रव ही है। फिर भी उसके द्रव्यप्रत्यय जो प्रत्येक समय अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मको बाँधते है, उसमे ज्ञानगुणका परिणाम ही कारण है।[1] तात्पर्य यह है कि जब द्रव्यप्रत्यय उदयमे आते है तब वे जीवके ज्ञानदर्शनगुणोको रागादिक अज्ञानभावरूप परिणमा देते है, उस समय रागादिक अज्ञानभावरूप परिणत ज्ञानदर्शनगुण बन्धके कारण होते है, वास्तवमे रागादिक-अज्ञानभावरूप परिणत ज्ञानदर्शनगुण अज्ञान ही कहलाते है। इस तरह पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय ही ज्ञानदर्शनगुणको रागादिक अज्ञानभावरूप परिणत करके नवीन कर्मोको बाँधते है। इसलिये परमार्थसे ज्ञानी अबन्धक ही है ॥१७०॥

आगे ज्ञानगुणका परिणाम बन्धका कारण किस तरह है, यह दिखाते हैं—

जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७१॥

अर्थ—जिस कारण ज्ञानगुण, जघन्यज्ञानगुणसे फिर भी अन्यरूप परिणमता है। इस कारण वह ज्ञानगुण कर्मबन्धका करने वाला कहा गया है।

विशेषार्थ—जब तक ज्ञानगुणका जघन्यभाव है तब तक अन्तर्मुहूर्तमे परिणमनशील होनेसे उसका बार-बार अन्य भावरूप परिणमन होता रहता है और वह अन्यभावरूप परिणमन यथाख्यातचारित्रकी अवस्थाके नीचे अवश्यभावी रागका सद्भाव होनेसे बन्धका हेतु ही होता है।

क्षयोपशमज्ञान एक ज्ञेयपर अन्तर्मुहूर्त ही स्थिर रहता है, पश्चात् ज्ञेयान्तरका अवलम्बन करता है। इसका मूल कारण मोहोदय है, जो एक ज्ञेयसे ज्ञेयान्तरमे भ्रमण कराता है। अतएव यथाख्यातचारित्रके पहले रागादिकका सद्भाव होनेसे उस ज्ञानके परिणमनको जघन्य कहा गया है तथा बन्धका कारण भी कहा है। परमार्थदृष्टिसे क्षयोपशमज्ञान न तो बन्धका कारण है और न अबन्धका कारण है। रागादिभावोका सद्भाव ही बन्धका कारण है। ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानमे क्षयोपशमज्ञान भी मोहका अभाव होनेसे बन्धका कारण नही है ॥१७१॥

यदि ऐसा है तो ज्ञानी निरास्रव किस प्रकार हुआ? इसका उत्तर स्वयं आचार्य देते है—

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥१७२॥

---

१ दर्शनज्ञानगुणौ कथं बन्धकारणभूतौ भवतः? इति चेत्, अयमत्र भाव—द्रव्यप्रत्यया उदयमागता सन्तो जीवस्य ज्ञानदर्शनगुणद्वयं रागाद्यज्ञानभावेन परिणमयन्ति। तदा रागाद्यज्ञानभावपरिणतं ज्ञानदर्शनगुणद्वयं बन्धकारणं भवति। वस्तुतस्तु रागाद्यज्ञानभावेन परिणतं ज्ञानदर्शनगुणद्वयं अज्ञानमेव भण्यते।
(ता वृ)

अर्थ—जिस कारण दर्शनज्ञान और चारित्र जघन्यभावसे परिणमन करते है, उस कारण ज्ञानी अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मोसे बँधता है।

विशेषार्थ—वास्तवमे जो ज्ञानी है, उसके अभिप्रायपूर्वक रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावोका अभाव हो जाता है। इसलिये वह निरास्रव ही है। किन्तु वह ज्ञानी भी जब तक ज्ञानको सर्वोत्कृष्टरूपसे देखने, जानने और अनुचरण करनेमे अशक्त होता हुआ जघन्यभावसे ही ज्ञानको देखता, जानता और अनुचरता है तबतक उसके भी जघन्यभावकी अन्यथा अनुपपत्तिके कारण अनुमान किये गये अबुद्धिपूर्वक रागादिक भावोका सद्भाव होनेसे पुद्गलकर्मका बन्ध होता रहता है। अतएव तबतक ज्ञान देखने, जानने और अनुचरण करनेके योग्य है जबतक कि उसका जितना पूर्णभाव है उतना अच्छी तरह देख लिया जाता है, जान लिया जाता है और अनुचरित कर लिया जाता है। तदनन्तर साक्षात् ज्ञानी हुआ सब प्रकारसे निरास्रव ही होता है। उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि यथाख्यातचारित्रकी दशामे जब दर्शनज्ञानचारित्रका उत्कृष्ट परिणमन होता है तब ज्ञानी सब प्रकारसे निरास्रव ही है और यथाख्यातचारित्रसे नीचेकी अवस्थामे जब दर्शनज्ञानचारित्रगुणका जघन्य परिणाम होता है तब उससे अल्प आस्रव होता है। परन्तु वह आस्रव स्वभावकृत न होकर रागादिविभावकृत होता है। इसलिये उस समय भी स्वभावकी अपेक्षा ज्ञानी निरास्रव ही कहा जाता है ॥१७२॥

आगे इसी अभिप्रायको कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं
वारं वारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्।
उच्छिन्दन् परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-
न्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥११६॥

अर्थ—जब ज्ञानी आत्मा निजबुद्धिपूर्वक आनेवाले समस्त रागको अपने आप निरन्तर दूर करता है और अबुद्धिपूर्वक आनेवाले रागको भी जीतनेके लिये वार-वार अपनी शक्तिका स्पर्श करता है तथा ज्ञानकी समस्त विकल्परूप परिणतिका उच्छेद करता हुआ पूर्ण होता है अर्थात् दर्शनज्ञानचारित्रकी उत्कृष्ट दशाको प्राप्त होता है तब सदाके लिये निरास्रव हो जाता है ॥११६॥

अब आगेकी गाथाओकी भूमिकाके लिये प्रश्नरूप कलशा कहते हैं—

सर्वस्यामेव जीवन्त्यां द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ॥११७॥

अर्थ—अब यहाँ आशका होती है कि ज्ञानी जीवके जब सम्पूर्ण द्रव्यप्रत्ययोकी सन्तति विद्यमान है तब वह नित्य ही निरास्रव कैसे हो सकता है ॥११७॥

आगे इस आशंकाका उत्तर कहते हैं—

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ॥१७३॥

संति दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स ।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥१७४॥

होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा ।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥१७५॥

एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो होदि ।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥१७६॥

(चतुष्कम्)

अर्थ—यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीवके पूर्वमे बाँधे हुए सभी मिथ्यात्व आदि प्रत्यय विद्यमान हैं तथापि विपाकावस्था द्वारा उपभोगमे आनेपर ही वे रागादि भावोसे नवीन कर्मोको बाँधते हैं। जिस प्रकार बाला स्त्री जबतक निरुपभोग्य रहती है तबतक वह पुरुषको स्नेहपाशसे नही बाँधती, परन्तु वही स्त्री तरुणी होकर जब उपभोगके योग्य हो जाती है तब पुरुषको स्नेहपाशसे बाँध लेती है। इसी प्रकार मिथ्यात्वादि प्रत्यय जबतक निरुपभोग्य रहते हैं अर्थात् विपाकावस्थाको प्राप्त नही होते हैं तबतक वे बन्ध नही करते, परन्तु जब निरुपभोग्य रहकर पीछे विपाकावस्थामे आनेसे उपभोग्य हो जाते हैं तब वे रागादिभावोके द्वारा सात या आठ प्रकारके ज्ञानावरणादिकर्मोको बाँधने लगते हैं अर्थात् जब आयु कर्मके बंधका अवसर होता है तब आठ कर्मोको और उसके अनवसारमे सात कर्मोको बाँधने लगते हैं। इसी कारणसे सम्यग्दृष्टि जीव अबन्धक होता है, क्योकि रागादिरूप जो आस्रवभाव हैं उनके अभावमे प्रत्यय बन्धक नही कहे गये हैं।

विशेषार्थ—जैसे तत्कालकी विवाही बालस्त्री पहले तो उपभोग योग्य नही होती परन्तु वही स्त्री जब तरुणावस्थाको प्राप्त हो जाती है तब उपभोग योग्य होनेसे पुरुषको अपने प्रेमपाशमें बाँधकर नाना प्रकारके बन्धनमे डाल देती है। इसी प्रकार पहले बाँधे हुए कर्म जबतक सत्तामें विद्यमान रहते हैं तबतक भोगने योग्य न होनेसे नवीन बन्धके कारण नही होते। परन्तु पीछे चलकर आबाधा काल पूर्ण होनेपर जब उदयावलीमे आनेसे उपभोगके योग्य हो जाते हैं तब वे उपभोगके अनुरूप नवीन पुद्गलकर्मका बन्ध करने लगते हैं। इस तरह सत्तामे विद्यमान जो प्रत्यय हैं वे कर्मोदयके कार्यस्वरूप जीवके रागादि भावोके सद्भावसे ही नवीन बन्ध करते हैं। इससे यह सिद्धान्त प्रतिफलित हुआ कि यदि ज्ञानी जीवके पहलेके बँधे हुए द्रव्यप्रत्यय हैं, तो रहें, फिर भी वह निरास्रव ही है क्योंकि कर्मोदयके कार्यभूत रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावके अभावमे द्रव्यप्रत्यय बन्धके कारण नही हैं ॥१७३।१७४।१७५।१७६॥

यही भाव कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

मालिनीछन्द

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः
समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपाः ।

तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिन कर्मबन्धः ॥११८॥

अर्थ—यद्यपि पहलेके बँधे हुए द्रव्यप्रत्यय समयका अनुसरण करते हुए अर्थात् उदयावलीमे आनेके कालकी प्रतीक्षा करते हुए सत्ताको नही छोडते है तथापि समस्त रागद्वेषमोहका अभाव हो जानेसे अथवा उनके स्वामित्वका अभिप्राय निकल जानेसे ज्ञानी जीवके कभी कर्मबन्ध नही होता ॥११८॥

अनुष्टुप्छन्द

रागद्वेषविमोहाना ज्ञानिनो यदसंभव. ।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥११९॥

अर्थ—क्योकि ज्ञानी जीवके राग, द्वेष और मोहका अभाव रहता है, इसीलिये उसके बन्ध नही होता । वास्तवमे बन्धके कारण राग, द्वेष और मोह ही है ॥११९॥

आगे यही भाव गाथाओंमे प्रकट करते हैं—

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि दम्मदिट्ठिस्स ।
तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥१७७॥
हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं ।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ॥१७८॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके रागद्वेषमोहरूप आस्रव नही है, इसलिये आस्रवभावके अभावमे द्रव्यप्रत्यय बन्धके कारण नही है। वे मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय आठ प्रकारके कर्मोके कारण कहे गये हैं और उन प्रत्ययोके भी कारण रागादिक कहे गये है। सम्यग्दृष्टिके रागादि परिणामोके अभावमे कर्मबन्ध नही होता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके रागद्वेषमोहभाव नही होते हैं। अन्यथा सम्यग्दृष्टिपन ही नही हो सकता। उन रागद्वेषमोहके अभावमे द्रव्यप्रत्यय पुद्गलकर्मकी हेतुताको नही धारण करते हैं क्योकि द्रव्यप्रत्ययोमे जो पुद्गलकर्मकी हेतुता है वह रागादिभावहेतुक है अर्थात् रागादिक भावोके रहते हुए ही द्रव्यप्रत्यय नवीन पुद्गलकर्मोका बन्ध करते हैं। क्योकि हेतुके अभावमे कार्य नही होता, ऐसी प्रतीति आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है। अत ज्ञानी जीवके बन्ध नही है।

यहाँ चर्चा यह चल रही है कि जब सम्यग्दृष्टि जीवके सत्तामे द्रव्यप्रत्यय विद्यमान हैं तब वह बन्धरहित कैसे होता है ? इसके उत्तरमे कहा गया है कि द्रव्यप्रत्यय सत्तामे रहने मात्रसे बन्ध के कारण नही होते, किन्तु उदयावलीमे आनेपर जब रागादिक भाव होते हैं तब उनके द्वारा वे बन्धके कारण होते हैं। इस तरह द्रव्यप्रत्ययोमे पुद्गलकर्मके प्रति जो कारणपन है उसमे रागादिक-भाव कारण पडते है और सम्यग्दृष्टि जीवके इन रागादिक भावोका अभाव है, इसलिये उसके बन्धका अभाव कहा गया है ॥१७७॥१७८॥

अब बन्धसे रहित शुद्ध आत्मतत्त्वका अवलोकन कौन करते हैं ? यह बताते हुए शुद्धनयकी महिमाका गान कलशा द्वारा करते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न-
मैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते ।
रागादिमुक्तमनस सतत भवन्त
पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारम् ॥१२०॥

अर्थ—जो महानुभाव उद्धत ज्ञानरूपी चिह्नसे युक्त शुद्धनयको अगीकारकर निरन्तर एकाग्रताका ही अभ्यास करते हैं वे रागादि निर्मुक्त चित्तवाले होते हुए सदा बन्धसे रहित समयसार—शुद्धात्मस्वरूपका अवलोकन करते है ॥१२०॥

आगे शुद्धनयसे च्युत होनेवाले पुरुषोकी अवस्थाका वर्णन करते हैं—

प्रच्युत्य शुद्धनयत पुनरेव ये तु
रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः ।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥१२१॥

अर्थ—जो पुरुष शुद्धनयसे च्युत होकर अज्ञानी होते हुए फिरसे रागादिके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं वे पूर्वबद्ध द्रव्यास्रवोके द्वारा नानाप्रकारके विकल्पजालको उत्पन्न करनेवाले कर्म-बन्धको धारण करते है ॥१२१॥

आगे दृष्टान्त द्वारा यही दिखाते है—

जह पुरिसेणाहारो गहिओ परिणमइ सो अणेयविहं ।
मंस-वसा-रुहिरादी भावे उयरग्गिसंजुत्तो ॥१७९ ॥
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं ।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा उ ते जीवा ॥१८०॥

(जुगलम्)

अर्थ—जिस प्रकार पुरुषके द्वारा ग्रहण किया गया आहार जठराग्निसे सयुक्त होता हुआ अनेक प्रकार मांस, वसा तथा रुधिर आदि भावोरूप परिणमन करता है उसी प्रकार ज्ञानी जीवके पूर्वबद्ध प्रत्यय अनेक प्रकारके कर्मोको बाँधते हैं, परन्तु उस समय वे जीव शुद्धनयसे च्युत होते है ।

विशेषार्थ—जिस समय ज्ञानी जीव शुद्धनयसे च्युत हो जाता है उस समय उसके रागादिक विकृत परिणामोका सद्भाव होनेसे पूर्वके बँधे हुए द्रव्यप्रत्यय पुद्गलकर्मके बन्धको ज्ञानावरणादिरूप परिणमाने लगते है अर्थात् बन्धके कारण हो जाते हैं, क्योकि कारणके रहते हुए कार्यकी उत्पत्ति अनिवार्यरूपसे होती है और यह बात अप्रसिद्ध भी नही है, क्योंकि पुरुषके द्वारा गृहीत आहारका जठराग्निके द्वारा रस, रुधिर, माँस और वसा (चर्बी) रूप परिणमन देखा जाता है ॥१७९–१८०॥

अब फिर भी शुद्धनयकी महिमा दिखाते है—

अनुष्टुप्छन्द

इदमेवात्र तात्पर्यं हेय शुद्धनयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्त्यागाद्बन्धएव हि ॥१२२॥

अर्थ—यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय छोडने योग्य नही है क्योकि उसके न छोडनेसे बन्ध नही होता और उसके छोडनेसे बन्ध नियमसे होता है ॥१२२॥

अब उसी शुद्धनयका प्रभाव दिखाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निवध्नन् धृति
त्याज्य शुद्धनयो न जातु कृतिभि सर्वंकष कर्मणाम्।
तत्रस्था स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद् बहि.
पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचल पश्यन्ति शान्तं महः ॥१२३॥

अर्थ—धीर और उदार महिमावाले अनादिनिधन ज्ञानमे जो धीरताको धारण करानेवाला है तथा कर्मोंको सर्वतोभावेन निर्मूल करनेवाला है ऐसा शुद्धनय पुण्यपुरुषोके द्वारा कदापि त्यागने योग्य नही है, क्योकि उसमे स्थिर रहनेवाले ज्ञानी जीव बाह्य पदार्थोंमे जानेवाले अपनी किरणोंके समूहको शीघ्र ही समेटकर पूर्णज्ञानघन, अद्वितीय, अचल तथा शान्त तेजका अवलोकन करते हैं ॥१२३॥

आगे परमतत्त्वका अन्तरङ्गमे अवलोकन करनेवाले पुरुषके पूर्ण ज्ञान प्रकट होता है, यह कलशा द्वारा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

रागादीना झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणा
नित्योद्योत किमपि परम वस्तु सपश्यतोऽन्तः।
स्फारस्फारै स्वरसविसरै प्लावयत्सर्वभावा-
नालोकान्तादचलमतुल ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥१२४॥

अर्थ—सब ओरसे रागादिक आस्रवोका शीघ्र ही विलय हो जानेके कारण जो निरन्तर प्रकाशमान किसी अनिर्वचनीय परम तत्त्वका अन्तरङ्गमे अवलोकन करता है ऐसे ज्ञानी जीवके अनन्तानन्त स्वकीयरसके समूहसे लोकपर्यन्त समस्त पदार्थोंको अन्तर्निमग्न करता हुआ अचल और अतुल्य ज्ञान प्रकट होता है ॥१२४॥

इस प्रकार आस्रवतत्त्व रङ्गभूमिसे बाहर निकल गया।

इस तरह श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित समयप्राभृतमें आस्रवका निरूपण
करनेवाले चतुर्थ अधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ ॥४॥

५ संवराधिकार

मोक्षमार्गका प्रथम उपयोगी अग सवरतत्त्व है, निर्जरा तो प्रत्येक प्राणीके प्रत्येक समय होती रहती है क्योकि 'कर्मफलानुभवन हि निर्जरा' अर्थात् कर्मका फल भोगना ही निर्जरा है। परन्तु ऐसी निर्जरा कार्यकारिणी नही, सवरतत्त्वके बिना निर्जराका कोई उत्कर्ष नही। अतः मोक्षमार्गोपयोगी संवरतत्त्वको कहते हैं।

अब सवरतत्त्वका रगभूमिमे प्रवेश होता है—

आगे श्रीअमृतचन्द्रस्वामी सवरतत्त्वकी प्राप्तिमे परम सहायक भेदविज्ञानरूप चैतन्य-ज्योतिका वर्णन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

आससारविरोधिसंवरजयैकान्तावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजय सपादयत्सवरम् ।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमित सम्यक्स्वरूपे स्फुर-
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वल निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥१२५॥

अर्थ—अनादिससारसे अपने विरोधी सवरको विजयकर एकान्तसे मदोन्मत्त आस्रवका तिरस्कारकर जिसने नित्य विजय प्राप्त की है ऐसे सवरको प्राप्त करानेवाला, परद्रव्य तथा परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले भावोसे भिन्न, अपने स्वरूपमे स्थिर, सातिशय उज्ज्वल, स्फुरायमान तथा निजरसके भारसे पूरित चैतन्यमय ज्ञानज्योति उदयको प्राप्त होती हुई विस्तारको प्राप्त होती है।

भावार्थ—सवर अनादिकालीन नही है किन्तु आस्रव अनादिकालीन है, यह आस्रव सवरका विरोधी है उसे उत्पन्न ही नही होने दिया। अतएव उसे जीतकर विजयके उल्लासमे मदावलिप्त हो रहा है। परन्तु जब भेदज्ञानरूपी चिन्मय ज्योतिका प्रकाश होता है तब उत्पन्न हुआ सवर आस्रवका तिरस्कारकर स्थायी विजयको प्राप्त करता है। वह भेदज्ञानरूपी चिन्मय ज्योति, कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलद्रव्यसे तथा उनके निमित्तसे जायमान रागादिक चिदाभासोसे आत्माको पृथक् करती है, अत्यन्त उज्ज्वल है और आत्मिक रससे परिपूर्ण है। जब इस ज्योतिका उदय हो जाता है तभी सवरकी प्राप्ति होती है। इसलिये सर्वप्रथम उसीकी महिमाका गान किया गया है ॥१२५॥

अब प्रथम ही समस्त कर्मोके संवरका परम उपाय जो भेदविज्ञान है उसकी प्रशंसा करते हैं—

उवओए उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो।
कोहे कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१८१॥

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।
उवओगह्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥१८२॥

एयं तु अविवरीदं णाणं जइया उ होदि जीवस्स ।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥१८३॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—उपयोगमे उपयोग है, क्रोधादिकमे कोई भी उपयोग नही है, निश्चयसे क्रोधमे ही क्रोध है, उपयोगमे क्रोध नही है, आठ प्रकारके कर्ममे तथा शरीररूप नोकर्ममे उपयोग नही है और उपयोगमे कर्म तथा नोकर्म नही है। इस प्रकारका सम्यग्ज्ञान जब जीवको हो जाता है तब उपयोगसे शुद्ध आत्मावाला अर्थात् शुद्धोपयोगरूप होता हुआ यह जीव कुछ भी भाव—क्रोधादि विकृतभाव नही करता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका नही होता, क्योकि दोनो द्रव्योके भिन्न-भिन्न प्रदेश होनेसे एक सत्ता नही हो सकती। अत एकद्रव्यका अन्यके साथ आधाराधेय सम्बन्ध नही होता। इस कारण द्रव्यका स्वरूपमे प्रतिष्ठित होना ही उसका आधाराधेय सम्बन्ध है। इसलिये ज्ञान, जाननरूप क्रियामे प्रतिष्ठित है क्योकि जाननरूप क्रिया, ज्ञानसे अभिन्न होनेके कारण ज्ञानमे ही रह सकती है। तथा क्रोधादिक क्रोधनरूप क्रियामे प्रतिष्ठित हैं क्योकि क्रोधनरूप क्रिया क्रोधादिकोसे अभिन्न होनेके कारण क्रोधादिकोमे ही हो सकती है। क्रोधादिक भावोमे, ज्ञानावरणादिक कर्मोमे तथा शरीरादिक कर्मोमे ज्ञान नही है और न ज्ञानमें क्रोधादिकभाव, ज्ञानावरणादिक कर्म तथा शरीरादिक नोकर्म ही है क्योकि इनका स्वरूप परस्परमे अत्यन्त भिन्न है इसीसे इनके परस्परमे परमार्थसे आधाराधेयभाव नही है। जैसे ज्ञानका जाननपन स्वरूप है वैसे क्रुद्धता स्वरूप नही है, इसी तरह क्रोधका जैसे क्रुद्धता स्वरूप है वैसे जाननपन स्वरूप नही है, ऐसी ही व्यवस्था है। इससे विपरीत व्यवस्था करनेको कोई भी समर्थ नही, क्योकि जानपनरूप और क्रोधपनरूप क्रिया, भावभेदसे भिन्न-भिन्न है, तथा इन क्रियाओमे स्वरूपभेद भी है, इससे यह भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। इसीसे ज्ञान और अज्ञानका परस्परमे आधाराधेयभाव नही है। यही बात दृष्टान्त द्वारा दिखाते है—जैसे आकाश नामक एकद्रव्य है, उसके आधाराधेयभावपर विचार कीजिये। आकाशसे भिन्न कोई महान् पदार्थ नही है जिसके आश्रय यह रहे, अत आकाश ही आधार और आकाश ही आधेय है। इसी तरह ज्ञान ही आधार और ज्ञान ही आधेय है। इसी प्रकार क्रोधादिकमे भी यह नियम है। इस तरह साधु रीतिसे भेदज्ञानकी सिद्धि निर्विवाद है। इस पद्धतिसे जब इस भेदज्ञानमे विपरीतज्ञानकी कणिका भी नही रहती तब यह अविचलरूपसे स्थिर हो जाता है। उस कालमे यह ज्ञान शुद्धोपयोगमय आत्मरूप होता हुआ राग-द्वेष-मोहभाव-को नही करता है। अतएव इसी भेदज्ञानके बलसे शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है और शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे राग-द्वेष-मोहके अभावरूप संवर होता है ॥१८१-१८३॥

अब अमृतचन्द्रस्वामी कलशाके द्वारा इसी भेदज्ञानका वर्णन करते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

चैद्रूप्यं जडरूपता च दधतो. कृत्वा विभागं द्वयो-
　　रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिता
　　शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युता' ॥१२६॥

अर्थ—ज्ञान चैतन्यरूपताको धारण करता है और राग पुद्गलके निमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण जडरूपताको धारण करता है। इस प्रकार इन दोनोके बीचमे तीक्ष्ण छैनीके द्वारा विभाग करके निर्मल भेदज्ञान उत्पन्न होता है। सो हे सत्पुरुषो! रागादिसे च्युत होकर इस समय शुद्ध-ज्ञानघनस्वरूप इस एक भेदज्ञानका आश्रय कर आनन्दका अनुभव करो ॥१२६॥

अब भेदविज्ञानसे ही शुद्धात्माकी उपलब्धि किस तरह होती है, यह कहते है—

जह कणयमग्गितवियं पि कणयहावं ण तं परिच्चयइ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी उ णाणित्तं ॥ १८४॥
एवं जाणइ णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ॥१८५॥
(युग्मम्)

अर्थ—जिस प्रकार अग्निसे तपाया हुआ भी सुवर्ण अपने सुवर्णपनको नही छोडता है उसी प्रकार कर्मोदयसे तपाया हुआ भी ज्ञानी अपने ज्ञानीपनको नही छोडता है, ऐसा ज्ञानी जानता है। परन्तु अज्ञानरूपी अन्धकारसे आच्छादित हुआ अज्ञानी आत्मस्वभावको नही जानता हुआ रागको ही आत्मा मानता है।

विशेषार्थ—क्योकि जिस जीवके पूर्वोक्त रीतिसे भेदविज्ञान हो गया है वही जीव भेदविज्ञान-के सद्भावसे ज्ञानी होता हुआ इस प्रकार जानता है कि जिस प्रकार सुवर्ण प्रचण्ड अग्निसे तपाये जानेपर भी अपने सुवर्णस्वभावको नही त्यागता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव तीव्र कर्मविपाकसे युक्त होनेपर भी अपने ज्ञानस्वरूपको नही त्यागता है, क्योकि "हजारो कारणोके द्वारा भी किसीका स्वभाव छुडाया नही जा सकता।" यदि छुडाया जाने लगे तो उस स्वभावमात्र वस्तुका ही उच्छेद हो जावेगा, सो होता नही, क्योकि सत् पदार्थका नाश होना असभव है। इसी प्रकार ऐसा जानता हुआ ज्ञानी मनुष्य कर्मसे आक्रान्त होनेपर भी न राग करता है, न द्वेष करता है और न मोह करता है किन्तु केवल आत्माको ही प्राप्त होता है और जिस जीवके पूर्व कथित भेदविज्ञान नही है वह उसके अभावसे अज्ञानी होता हुआ अज्ञानान्धकारसे आच्छादित होनेके कारण चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मस्वभावको न जानता हुआ रागको ही आत्मा मानकर राग करता है, द्वेष करता है तथा मोह करता है तथा शुद्ध आत्माको नही प्राप्त होता है। इससे सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञानसे ही शुद्धात्माकी उपलब्धि होती है ॥१८४॥१८५॥

अब शुद्धात्माकी उपलब्धिसे ही संवर किस प्रकार होता है, यह कहते हैं—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥१८६॥

अर्थ—शुद्ध आत्माको जाननेवाला जीव शुद्ध ही आत्माको प्राप्त होता है और अशुद्ध आत्माको जाननेवाला जीव अशुद्ध ही आत्माको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे जो जीव नित्य ही अखण्ड धारावाही ज्ञानके द्वारा शुद्ध आत्माकी उपलब्धि करता रहता है वह 'ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय ही भाव होता है' ऐसा नियम होनेसे नवीन कर्मोके आस्रवमे निमित्तभूत रागद्वेषमोहकी सतानका निरोध हो जानेसे शुद्ध ही आत्माको प्राप्त होता है और जो नित्य ही अज्ञानके द्वारा अशुद्ध आत्माकी उपलब्धि करता रहता है वह, 'अज्ञानमय भावसे अज्ञानमय ही भाव होता है' ऐसा नियम होनेसे नवीन कर्मोके आस्रवमे निमित्त-भूत रागद्वेषमोहकी सन्तानका निरोध न होनेके कारण अशुद्ध ही आत्माको प्राप्त होता है। अत शुद्धात्माकी उपलब्धिसे ही सवर होता है ॥१२६॥

यही भाव कलशाके द्वारा प्रकट करते हैं—

मालिनीछन्द

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमान शुद्धमात्मानमास्ते ।
तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥१२७॥

अर्थ—यदि यह आत्मा किसी तरह धारावाहीज्ञानके द्वारा निरन्तर शुद्ध आत्माकी उपलब्धि करता हुआ स्थित रहता है तो यह जो आत्मामे ही सब ओरसे रमण कर रहा है तथा परपरि-णतिके रुक जानेसे जो अत्यन्त शुद्ध है ऐसी आत्माको ही प्राप्त होता है।

भावार्थ—यदि यह जीव बीचमे ज्ञेयान्तरका व्यवधान न देकर निरन्तर शुद्ध आत्माका ही ध्यान करता रहता है तो उसकी रागादिरूप परिणति नियमसे छूट जाती है और उसके छूट जानेपर वह निश्चल शुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता है ॥१२७॥

अब किस प्रकार संवर होता है ? यह कहते हैं—

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुण्णपावजोएसु ।
दंसणणाणह्मि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णह्मि ॥१८७॥

जो सव्वसगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चेयेइ एयत्तं ॥१८८॥

अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥१८९॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—जो आत्मा आत्माके द्वारा अपने ही आत्माको पुण्य और पापरूप दो योगोंसे रोक कर दर्शन-ज्ञानमे स्थिर भावको प्राप्त हो जाता है, अन्य पदार्थोंमें इच्छाका त्याग कर देता है, सब परिग्रहसे मुक्त होकर आत्माके द्वारा स्वीय आत्माका ध्यान करता है, कर्म और नोकर्मको नही चिन्तता है, चेतयिता होकर गुण-गुणीके विभागसे रहित एक-अखण्ड आत्माका ही चिन्तन करता है और आत्माका ध्यान करता हुआ जो दर्शन-ज्ञानसे तन्मय तथा रागादिक अन्यभावोसे अतन्मय हो जाता है वह शीघ्र ही कर्मोंसे विमुक्त आत्माको प्राप्त होता है ॥

विशेषार्थ—निश्चयसे जो आत्मा राग-द्वेष-मोहमूलक शुभ-अशुभ योगोमें प्रवृत्ति करनेवाले अपने आत्माको आत्माके ही द्वारा दृढतर भेदविज्ञानके बलसे अत्यन्त रोककर शुद्ध दर्शन-ज्ञानस्वरूप आत्मद्रव्यमें प्रतिष्ठित करता है, समस्त परद्रव्योकी इच्छाका परित्याग कर समस्त परिग्रहसे विमुक्त होता हुआ नित्य ही अत्यन्त निष्कम्प रहता है, कर्म-नोकर्मका किञ्चिन्मात्र भी स्पर्श न करता हुआ आत्माके द्वारा स्वकीय आत्माका ही ध्यान करता है और स्वय सहज चेतक-ज्ञायक स्वभाव होनेसे एकत्वका ही चिन्तन करता है वह एकत्वके चिन्तनसे अत्यन्त विविक्त चैतन्यचमत्कारमात्र आत्माका ध्यान करता हुआ शुद्ध दर्शन-ज्ञानमय आत्मद्रव्यको प्राप्त होता है तथा शुद्धात्माकी प्राप्ति होनेपर समस्त परद्रव्योंके साथ तन्मयपनका उल्लङ्घन करता हुआ शीघ्र ही सम्पूर्ण कर्मोंसे विमुक्त आत्माको प्राप्त होता है, यही सवरका प्रकार है ॥१८७।१८८।१८९॥

यही भाव कलशामे दिखाते है—

मालिनीछन्द

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषा शुद्धतत्त्वोपलम्भः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥१२८॥

अर्थ—जो भेदविज्ञानकी शक्तिसे अपने आत्मस्वरूपकी महिमामे रत है ऐसे ही पुरुषोको शुद्ध आत्माका लाभ होता है तथा शुद्धात्माके लाभके अनन्तर जो अन्यद्रव्यसे सर्वदा निस्पृह रहते हैं उन्हीके कर्मका अक्षय मोक्ष होता है ॥१२८॥

आगे किस क्रमसे संवर होता है ? यह कहते हैं—

तेसिं हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥१९०॥
हेउअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो ॥१९१॥
कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो ।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होइ ॥१९२॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—सर्वज्ञ भगवान्‌ने उन पूर्व कथित राग-द्वेष-मोहभावोंके कारण मिथ्यात्व, अज्ञान,

अविरति और योग ये चार अध्यवसान कहे हैं। ज्ञानी जीवके इन हेतुओंके अभावमे नियमसे आस्रवका निरोध हो जाता है, आस्रवभावके बिना कर्मका भी निरोध हो जाता है, कर्मके निरोधसे नोकर्मोका भी निरोध हो जाता है और नोकर्मोके निरोधसे ससारका निरोध अनायास हो जाता है॥

विशेषार्थ—जीवके जब तक आत्मा और कर्ममे एकत्वका अभिप्राय है तब तक उसके मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग इन चार अध्यवसान भावोंकी सत्ता है। ये अध्यवसानभाव ही रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावके कारण है, आस्रवभाव कर्मका कारण है, कर्म नोकर्मका मूल है और नोकर्म ससारका आदि कारण है। इस प्रकार यह आत्मा निरन्तर आत्मा और कर्ममें अभिन्नताके निश्चयसे मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगसे तन्मय आत्माका अध्यवसाय करता है, उस अध्यवसायसे रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावकी भावना करता है, और रागद्वेषमोहभावोंको अपने माननेसे इनके द्वारा कर्मका आस्रव होता है, कर्मसे नोकर्म होता है, और नोकर्मसे ससार होता है। परन्तु जब आत्माके आत्मा और कर्मका भेदविज्ञान हो जाता है तब उसके बलसे शुद्ध चैतन्यचमत्कारमय आत्माकी प्राप्ति होती है, आत्माकी प्राप्तिसे मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगरूप, आस्रवके हेतुभूत अध्यवसानोका अभाव होता है, इनके अभावसे रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावका अभाव हो जाता है, इन आस्रवभावोके अभावसे कर्मका अभाव हो जाता है, कर्मका अभाव होनेपर नोकर्मका अभाव होता है और नोकर्मके अभावसे ससारका अभाव हो जाता है। इस प्रकार यह सवरका क्रम है॥१९०॥१९१॥१९२॥

आगे कलशा द्वारा भेदविज्ञानकी महिमा प्रकट करते हैं—

उपजातिछन्द

संपद्यते संवर एष साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद् भेदविज्ञानमतीव भाव्यम्॥१२९॥

अर्थ—निश्चयकर शुद्धात्मतत्त्वके उपलम्भसे साक्षात् सवर होता है और शुद्धात्माका उपलम्भ भेदविज्ञानसे होता है। इसलिये वह भेदविज्ञान निरन्तर भावना करने योग्य है॥१२९॥

अब भेदविज्ञान कब तक भावने योग्य है? यह कहते हैं—

भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञान ज्ञाने प्रतिष्ठते॥१३०॥

अर्थ—यह भेदविज्ञान अविच्छिन्न रूपसे तब तक भावना करने योग्य है जब तक ज्ञान परसे च्युत होकर ज्ञानमे स्थिर नही हो जाता॥१३०॥

अब भेदविज्ञान ही सिद्धपदकी प्राप्तिका कारण है, यह कहते है—

भेदविज्ञानत सिद्धा सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥१३१॥

अर्थ—जो कोई सिद्धपदको प्राप्त हुए हैं वे सब भेदविज्ञानसे ही हुए हैं और जो कोई इस ससारमे बँधे हैं वे सब इसी भेदविज्ञानके अभावसे ही बँधे है॥१३१॥

आगे सवरसे कैसा ज्ञान प्राप्त होता है ? यह कहते है—

मन्दाक्रान्ताछन्द

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भाद्
रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणा सवरेण ।
बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं
ज्ञान ज्ञाने नियतमुदित शाश्वतोद्योतमेतत् ॥१३२॥

अर्थ—भेदज्ञानकी प्राप्तिसे शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि हुई, शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिसे रागसमूहका प्रलय हुआ और रागसमूहके प्रलयसे कर्मोका सवर हुआ तथा कर्मोके सवरसे यह ऐसा ज्ञान प्रकट हुआ जो कि परम सतोषको धारण कर रहा है, निर्मल प्रकाशसे सहित है, कभी म्लान नही होता है, एक है, ज्ञानमे स्थिर रहता है, और नित्य ही उद्योतरूप रहता है ।

भावार्थ—अनादिकालसे यह जीव अज्ञानवश नानाप्रकारके दुःखोसे आकीर्ण ससारमें भ्रमता हुआ आकुलताका पात्र रहता है । परन्तु जब इस जीवका ससार अल्प रह जाता है तब पहले इसे अज्ञानका अभाव होनेसे स्वपरका भेदज्ञान होता है, तदनन्तर उसीका निरन्तर अभ्यास करता है, पश्चात् उस दृढ़ अभ्यासकी सामर्थ्यसे शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होती है, अनन्तर उस शुद्ध आत्माके बलसे रागादिकरूप विभावभावोके समुदायका नाश हो जाता है और रागादिकोके नाशसे कर्मोका बन्ध न होकर सवर होता है । तदनन्तर परम सतोषको धारण करनेवाले ऐसे ज्ञानका उदय होता है जिसका प्रकाश अत्यन्त निर्मल है, जो अम्लान है, एक है, ज्ञानमे ही स्थिर है, और नित्य उद्योतसे सहित है । अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञानमे यह सब विशेषताएँ नही थी, जो अब केवलज्ञानमे प्रकट हुई है ॥१३२॥

इस तरह सवर रगभूमिसे बाहर निकल गया ।

इस तरह श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित समयप्राभृतमें संवरतत्त्वका वर्णन
करनेवाले पञ्चम अधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ ॥५॥

६ निर्जराधिकार

अनन्तर निर्जराका प्रवेश होता है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति ॥१३३॥

अर्थ—उधर रागादिक आस्रवोके रुकनेसे निजधुराको धारणकर उत्कृष्ट संवर, आगामी सभी कर्मोको अपने अतिशयसे दूरसे ही रोकता हुआ स्थित था, इधर अब पहलेके बँधे हुए कर्मोंको जलानेके लिये निर्जरारूप अग्नि विस्तारको प्राप्त हो रही है। इस तरह संवर और निर्जराके द्वारा ज्ञानज्योति इस प्रकार प्रकट होती है कि जिससे वह रागादिकके द्वारा फिरसे मूर्च्छित नही होती।

भावार्थ—राग-द्वेष आदिक आस्रवको रोककर जब संवर अपनी पूर्ण शक्तिके साथ प्रकट होता है तब वह अपनी सामर्थ्यसे आगामी कर्मोको दूरसे रोक देता है अर्थात् संवरके होनेपर आगामी कर्मोंका आगमन रुक जाता है। और पहलेके बँधे हुए जो कर्म सत्तामे रहते हैं उन्हे नष्ट करनेके लिये निर्जरा आगे आती है। इस तरह संवरपूर्वक निर्जराके होनेपर इस जीवके वह ज्ञानज्योति—वह वीतराग विज्ञानता प्रकट होती है कि जो फिरसे रागादिकसे मूर्च्छित नही होती ॥१३३॥

आगे सम्यग्दृष्टिकी सभी प्रवृत्तियाँ निर्जराका निमित्त हैं, यह कहते हैं—

उपभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥१९३॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि चेतन और अचेतन पदार्थोंका इन्द्रियोके द्वारा जो उपभोग करता है वह सब निर्जराका ही कारण होता है।

विशेषार्थ—रागरहित मनुष्यका उपभोग निर्जराके लिये ही होता है, और रागादिकभावोंके सद्भावसे मिथ्यादृष्टिजीवके जो चेतन-अचेतन द्रव्योका उपभोग है वह बन्धका ही निमित्त है। वही उपभोग रागादिकभावोका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टि जीवके निर्जराका ही निमित्त होता है। इस कथनसे यहाँ द्रव्यनिर्जराका स्वरूप कहा गया है।

सम्यग्दर्शनकी महिमा वचनके अगम्य है, सम्यग्दर्शन होते ही गुणश्रेणी निर्जराका प्रारम्भ हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियोके द्वारा जो चेतन-अचेतन द्रव्योका उपभोग करता है उसमे उसकी अन्तरगसे विरक्ति रहती है। चारित्रमोहके उदयकी बलवत्तासे वह विषयोके उपभोगमे प्रवृत्त होता है। पर अन्तरग उसका उस ओरसे विरक्त ही होता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि-जीवके कर्म, विपाकावस्था आनेपर अपना फल देकर खिर तो जाते है, पर नवीन बन्धके कारण नही बनते ॥१९३॥

अब भावनिर्जराका स्वरूप कहते हैं—

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं वा दुक्खं वा ।
तं सुह-दुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥१९४॥

अर्थ—परद्रव्यके उपभुक्त होनेपर नियमसे सुख और दु ख उत्पन्न होता है, उदयमे आये हुए उस सुख और दु खको यह जीव अनुभवता है, फिर आस्वाद देकर वह कर्मद्रव्यनिर्जराको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—जिस कालमे परद्रव्यका उपभोग होता है उस कालमे उसके निमित्तसे साता अथवा असाताका अतिक्रमण न कर जीवके या तो सुखरूप वेदन होता है अथवा दु खरूप वेदन होता है, यह नियम है। जिस समय उसका वेदन होता है उस समय मिथ्यादृष्टि जीवके रागादि-भावोका सद्भाव होनेसे बन्धका निमित्त होकर निर्जीर्यमाण होकर भी अनिर्जीर्यमाण होता हुआ बन्ध ही होता है और वही वेदन सम्यग्दृष्टि जीवके रागादिक भावोका अभाव होनेसे बन्धका निमित्त न होकर निर्जीर्यमाण होता हुआ निर्जराको प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि परद्रव्यके उपभोगके समय सुख अथवा दु खका होना अवश्यभावी है। मिथ्यादृष्टि जीव रागादिक विकारीभावोके कारण उस सुख अथवा दु खरूप परिणमनको आत्माका स्वभाव जानकर आगामी नवीन बन्ध करता है। इसलिये उसका कर्म निर्जीर्यमाण होनेपर भी अनिर्जीर्यमाण जैसा रहता है। परन्तु सम्यग्दृष्टिजीव अनन्त संसारके कारणभूत रागादिक विकारीभावोका अभाव होनेसे उस सुख अथवा दु खरूप परिणमनको आत्माका स्वभाव नही समझता है, इसलिये उसका कर्म निर्जीर्यमाण होकर निर्जराको ही प्राप्त होता है, आगामी बन्धका कारण नही होता है। ज्ञानकी इस महिमाका वर्णन कलशा द्वारा करते हैं—

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल ।
यत्कोऽपि कर्मभि: कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते ॥१३४॥

अर्थ—यह ज्ञानकी ही सामर्थ्य है अथवा निश्चयकर वीतरागभावकी महिमा है कि कोई जीव (सम्यग्दृष्टिजीव) कर्मका उपभोग करता हुआ भी कर्मोके द्वारा नही बँधता है ॥१३४॥

इसके अनन्तर ज्ञानकी सामर्थ्य दिखाते है—

जह विसमुवभुंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि ।
पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव वज्झए णाणी ॥१९५॥

अर्थ—जिस प्रकार वैद्य विषका उपभोग करता हुआ भी मरणको प्राप्त नही होता उसी प्रकार ज्ञानी आत्मा पुद्गलकर्मके उदयको भोगता है तो भी कर्मसे नही बँधता है।

विशेषार्थ—जैसे कोई विष-वैद्य, परके मरणका कारण जो विष है उसे खाता हुआ भी अमोघ विद्याके बलसे विषकी मारकत्व शक्तिके रोक देनेसे मरणको प्राप्त नही होता उसी प्रकार अज्ञानी जीवोके रागादिक भावोका सद्भाव होनेसे जो पुद्गलकर्मका उदय बन्धका कारण है उसीका उपभोग करता हुआ ज्ञानी जीव, अमोघ ज्ञानकी सामर्थ्यसे रागादिक भावोका अभाव हो जानेपर बन्धकी सामर्थ्य रुक जानेसे बन्धको प्राप्त नही होता। केवल क्रिया बन्धका कारण नही, जबतक रागादिक परिणाम न हो, तबतक वह स्थिति और अनुभाग बन्धमे निमित्त नही। जैसे बिच्छूका डक निकल जानेके बाद उसका काटना विषका कारण नही होता ॥१९५॥

अब वैराग्यकी सामर्थ्य दिखाते हैं—

जह मज्जं पिबमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव ॥१९६॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष बिना रागभावके मदिराको पीता हुआ भी मतवाला नही होता। ऐसे ही ज्ञानी जीव अरतिभावसे द्रव्योका उपभोग करता हुआ भी कर्मोसे नही बँधता है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष मदिराके प्रति अत्यन्त अरत है अर्थात् मदिरापानमे रुचि नही रखता है, कदाचित् किसी कारणवश वह मदिराका पान भी करले, तो भी उसके मदिरापानकी तीव्र अरुचि होनेसे वह मदिरा उसे मतवाला बनानेमे असमर्थ रहती है, इसी प्रकार ज्ञानी जीव परपदार्थको किञ्चिन्मात्र भी नही भोगना चाहता, किन्तु सयमभावका अभाव होनेसे सातादि पुण्यप्रकृतियोके उदयसे प्राप्त उपभोग-सामग्रीका भोग भी करता है, तो भी रागादिक भावोका अभाव होनेसे बँधता नही है—कर्मबन्धको प्राप्त नही होता है ॥१९६॥

आगे कलशा द्वारा ज्ञानी विषयोका सेवक होने पर भी असेवक है, यह दिखाते है—

रथोद्धताछन्द

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्व फल विषयसेवनस्य न।
ज्ञानवैभवविरागताबलात् सेवकोऽपि तदसावसेवक ॥१३५॥

अर्थ—जिस कारण ज्ञानी पुरुष विषयोका सेवन होने पर भी विषयसेवनके अपने फलको नही प्राप्त होता है उस कारण ज्ञानके वैभव और वैराग्यके बलसे वह विषयोका सेवन करनेवाला होकर भी सेवन करनेवाला नही कहा जाता।

भावार्थ—ज्ञानी मनुष्य विषयोका सेवन करने पर भी उसके फलको प्राप्त नही होता है। सो यह उसके ज्ञानवैभव और विरागताकी ही अद्भुत सामर्थ्य है। इसी सामर्थ्यसे वह विषयोका सेवक होकर भी असेवक ही कहा जाता है।

अब यही दिखाते हैं—

सेवंतो वि ण सेवइ असेवमाणो वि सेवगो कोई।
पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होई ॥१९७॥

अर्थ—कोई विषयोका सेवन करता हुआ भी नही सेवन करता है और कोई नही सेवन करता हुआ भी सेवन करता है। जैसे किसी मनुष्यके प्रकरणकी चेष्टा तो है अर्थात् कार्यका व्यापार तो है परन्तु वह प्राकरणिक नही है—उस कार्यका करानेवाला स्वामी नही है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष किसी विवाह आदि कार्योमे काम आदि तो करता है, परन्तु उसका स्वामी न होनेसे उसके फलका भोक्ता नही होता है और जो उस कार्यका स्वामी है वह उस कार्यके करनेमे अव्यापृत है, तो भी उसका स्वामी होनेसे फलभोक्ता है। उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी जीव पूर्वकर्मोदयसे सम्पन्न भोगोको भोगता हुआ भी रागादिक भावोके अभावसे विषयसेवनके फलका स्वामित्व न होनेके कारण नही भोगनेवाला है और मिथ्यादृष्टि विषयोका सेवन न करता हुआ भी रागादिक भावोके सद्भावसे विषयसेवनके फलका स्वामित्व होनेसे सेवन करनेवाला है ॥१९७॥

यही भाव कलशामे दरशाते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियत ज्ञानवैराग्यशक्ति
स्वं वस्तुत्व कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माज् ज्ञात्वा व्यतिकरमिद तत्त्वत. स्वं पर च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥१३६॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके नियमसे ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति होती है। अतएव यह स्वकीय वस्तुस्वरूपका अभ्यास करनेके लिए स्वीय रूपकी प्राप्ति और पररूपके त्याग द्वारा वास्तवमे यह मेरा स्व है और यह पर है, इस वृत्तको अच्छी तरह जानकर अपने स्वरूपमे ठहरता है और परद्रव्यस्वरूप सब प्रकारके रागयोगसे विरत होता है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञान और वैराग्यका होना अवश्यभावी है, इसलिए ज्ञानके द्वारा वह सर्वप्रथम स्व और परके भेदज्ञानको प्राप्त होता है अर्थात् उसे इस बातका अच्छी तरह निर्णय हो जाता है कि यह तो मेरा आत्मद्रव्य है और यह मुझमे परद्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न हुआ विकारी परिणमन है। कर्म और नोकर्म तो स्पष्ट ही परद्रव्य हैं। परन्तु कर्मकी विपाकदशामे जायमान जो रागादिक विकारी भाव हैं वे भी परद्रव्य ही है। मेरा स्वभाव तो शुद्ध चैतन्य है वही मेरा स्वद्रव्य है। भेदविज्ञानके द्वारा जब उसे इस प्रकारका निर्णय हो जाता है तब वैराग्यशक्तिकी महिमासे वह शुभ-अशुभ सभी प्रकारके रागयोगसे निवृत्त होकर अपना उपयोग अपने आपमे ही स्थिर कर लेता है ॥१३६॥

सम्यग्दृष्टि जीव सामान्यसे स्व और परको इस प्रकार जानता है—

उदयविवागो विवहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥१९८॥

अर्थ—कर्मोंका उदयविपाक (उदयरस) जिनेश्वरदेवने नानाप्रकारका कहा है। परन्तु वे कर्मविपाक मेरे स्वभाव नही हैं। मै तो एक ज्ञायकस्वभावरूप हूँ।

विशेषार्थ—कर्मोदयके रससे जायमान जो ये नानाप्रकारके भाव है वे मेरे स्वभाव नही है। मैं तो एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाववाला हूँ।

सम्यग्दृष्टि जीवको ऐसी श्रद्धा होती है कि यह जो ज्ञायकभाव है वह तो मेरा स्व है और उसके साथ मिल रहे रागादिकभाव पर हैं ॥१९८॥

सम्यग्दृष्टि जीव विशेषरूपसे स्व और परको इस प्रकार जानता है—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को ॥१९९॥

अर्थ—राग नामका पुद्गलकर्म है। उसके विपाकोदयमे यह रागपरिणाम आत्माका होता है, सो यह मेरा स्वभाव नही है। मैं तो केवल ज्ञायकभावरूप हूँ।

विशेषार्थ—निश्चयसे रागनामक पुद्गलकर्मकी प्रकृति है। उसका जब उदयकाल आता है तब आत्मामे रागभावकी उत्पत्ति होती है। किन्तु वह मेरा स्वभाव नही है क्योकि मैं तो एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाववाला हूँ। इसी प्रकार रागपदका परिवर्तनकर द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रवण, नेत्र, नासिका, जिह्वा, और स्पर्शन इन सोलह सूत्रोकी व्याख्या करनी चाहिये। इसी पद्धतिसे और भी ऊहापोह करना चाहिये। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि अपनेको जानता हुआ और परको त्यागता हुआ नियमसे ज्ञान और वैराग्यसे सम्पन्न होता है ॥१९९॥

आगे यही भाव गाथामे प्रकट करते हैं—

एवं सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणयसहावं ।
उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो ॥२००॥

अर्थ—इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव आत्माको ज्ञायकस्वभाव जानता है और तत्त्वको जानता हुआ उदयको कर्मविपाक जानकर छोड़ता है।

विशेषार्थ—इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव सामान्य और विशेषरूपके द्वारा परस्वभावरूप समस्त-भावोसे पृथक् टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावको ही आत्माका तत्त्व जानता है और उस तरह तत्त्वको जानता हुआ स्वभावके उपादान और परभावके अपोहन (त्याग)से उत्पन्न हुए अपने वस्तुत्वका प्रसार करता हुआ कर्मोदयके विपाकसे जायमान सभी भावोको छोड़ता है। इसलिए यह नियमसे ज्ञान और वैराग्यसे सम्पन्न होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञायकस्वभावको तो आत्माका परिणमन जान ग्रहण करता है अर्थात् उसे उपादेय मानता है और कर्मोके उदयसे जो रागादिकभाव होते है उन्हें पर जानकर उनका परित्याग

करता है। पर वस्तुका परित्याग तब तक नही होता जब तक उसमें परत्वका निश्चय न हो जावे। सम्यग्दृष्टि जीव भेदविज्ञानके द्वारा स्वको स्व और परको पर जानने लगता है। इसलिए वह स्वको ग्रहण करता है और परका परित्याग करता है ॥२००॥

अब जिन्हे आत्मा और अनात्माका ज्ञान नही है वे सम्यग्दर्शनसे शून्य है, यह कलशा द्वारा कहते है—

मन्दाक्रान्ताछन्द

सम्यग्दृष्टि. स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्ता समितिपरता ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ता. ॥१३७॥

अर्थ—कोई जीव ऐसा विचार करे कि मै तो सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी भी बन्ध नही होता। इसतरह रागी होनेपर भी अहकारसे प्रफुल्लित मुखको ऊपर उठाते हुए आचरण करें तथा समितियोके पालनमे तत्परताका आश्रय लेवे तो आज भी वे पापी है, क्योकि आत्मा और अनात्माका ज्ञान न होनेसे वे सम्यक्त्वसे शून्य हैं।

भावार्थ—कोई मनुष्य इस कथनीको सुनकर ऐसा विचार करे कि हम तो सम्यग्दृष्टि है, हमको बन्ध तो होना ही नही। अत जो नाना प्रकारके स्वेच्छाचारमे प्रवृत्तिकर आनन्दसे जीवन बितावें, उसे आचार्य भगवान् कहते है कि तुम्हारी तो कथा ही दूर रही, जो महाव्रत तथा समितियोंमे सावधानीसे प्रवृत्ति करते है, किन्तु निज-परके ज्ञानसे शून्य हैं, तो वे भी अभी पापजीव ही हैं।

शास्त्रोमे सम्यग्दर्शनका मूल कारण स्व-परका भेदविज्ञान बतलाया है। जब तक यह नही हो जाता है, तब तक यह जीव सम्यक्त्वसे शून्य ही रहता है और सम्यक्त्वकी शून्यतामे महाव्रतोका आचरण और समितियोका पालन करता हुआ भी यह जीव पापजीव कहलाता है क्योंकि मिथ्यात्व ही सबसे महान् पाप है। जो जीव कर्मोदयसे जायमान रागको आत्मद्रव्य मानता है उसे स्व-परका भेदज्ञान नही है और उसके न होनेसे वह सम्यक्त्वसे शून्य ही कहलाता है ॥१३७॥

अब रागी सम्यग्दृष्टि क्यो नहीं होता है, यह दिखाते हैं—

परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥२०१॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥२०२॥

(युग्मम्)

अर्थ—निश्चयसे जिस जीवके रागादिक भावोका लेशमात्र भी अभिप्राय है अर्थात् अणुमात्र भी रागादिकमे जिसके उपादेय बुद्धि है वह सम्पूर्ण आगमका ज्ञानी होकर भी आत्माको नही जानता है और जो आत्माको भी नही जानता है, वह अनात्माको भी नही जानता है, इस तरह जो जीव और अजीवको नही जानता है वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

विशेषार्थ—जिसके रागादिक अज्ञानभावोका लेशमात्र भी सद्भाव विद्यमान है वह श्रुतकेवलीके सदृश होकर भी ज्ञानमय भावोके अभावसे आत्माको नही जानता है और जो आत्माको नही जानता है वह अनात्माको भी नही जानता है क्योकि जीवादिक किसी भी द्रव्यका निश्चय स्वरूपकी सत्ता और पररूपकी असत्तासे होता है। अत. आत्माकी स्वरूपसत्ताका अज्ञानी अनात्माका भी अज्ञानी है। इससे जो आत्मा और अनात्माको नही जानता है वह जीव-अजीवको भी नही जानता है और जो जीव-अजीवके भेदज्ञानसे शून्य है वह सम्यग्दृष्टि नही हो सकता है। इस तरह रागी जीव भेदज्ञानके अभावसे सम्यग्दृष्टि नही है।

यहाँ जो फलितरूपसे सम्यग्दृष्टि जीवके परमाणुमात्र भी रागका अभाव बताया है सो उसका अभिप्राय ऐसा समझना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि लेशमात्र रागको भी आत्माका स्वभाव नही समझता और न उसे उपादेय मानता है। अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्रमोहकी प्रकृतियोंके उदयसे होनेवाला राग अविरतसम्यग्दृष्टिसे लेकर सूक्ष्मसापराय गुणस्थान तकके जीवोके यथासभव विद्यमान रहता है, तो भी उन गुणस्थानोमे रहनेवाले जीवोके सम्यक्त्वमे बाधा नही है क्योकि रागके रहते हुए भी वे रागको आत्माका स्वभाव नही मानते हैं। रागी होते हुए रागको आत्माका मानना जुदी बात है और रागी होते हुए भी रागको आत्माका न मानना जुदी बात है। मिथ्यादृष्टि जीव रागी होता हुआ उस रागको आत्माका ही परिणमन मानता है और सम्यग्दृष्टि जीव चारित्रमोहके उदयकी बलवत्तासे रागी होता हुआ भी उस रागको आत्माका परिणमन नही मानता ॥२०१।२०२॥

अब कलशा द्वारा यह प्रकट करते है कि राग इस जीवका पद नही है किन्तु चैतन्य ही इसका पद है—

मन्दाक्रान्ताछन्द

आससारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ता
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धा ।
एतैतेतः पदमिदमिद यत्र चैतन्यधातु.
शुद्ध शुद्ध स्वरसभरत स्थायिभावत्वमेति ॥१३८॥

अर्थ—अनादि ससारसे पद-पदपर नित्य मत्त हुए ये रागी प्राणी जिस पदमे सो रहे है अर्थात् रमण कर रहे हैं वह आत्माका पद नही है, पद नही है (दो बार कहनेसे आचार्यमहाराजकी अतिकरुणा सूचित होती है)। अरे अन्धे प्राणियो! जागो, यहाँ आओ, यहाँ आओ, यह तुम्हारा पद है, यह तुम्हारा पद है, जहाँपर चैतन्यधातु शुद्ध है, शुद्ध है तथा स्वरसके भारसे स्थायिभावके प्राप्त हो रही है।

भावार्थ—यह प्राणी अनादिकालसे रागादिकोको अपना निजभाव मान रहा है। इसीसे उनकी सिद्धिके अर्थ परपदार्थोके सयोग—सग्रह और वियोगमे अपना सर्वस्व लगा देता है और निरन्तर उन्हीकी रक्षाके लिये प्रयत्न करता है। उसे श्रीगुरु समझाते है—रे अन्ध! जिन वस्तुओमे तुम अपने स्वरूपको भूलकर मोहित हो रहे हो, यह तुम्हारा अज्ञानभाव है, अब अपने निज-स्वरूपको जानो, जहाँपर चेतनाका पिण्ड, सर्व विकल्पजालोमे रहित सुख और शान्तिसे स्थायी-पनको प्राप्त करता है वही तुम्हारा पद है ॥१३८॥

आगे वह पद कौन है, यह कहते हैं—

आदम्हि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं ।
थिरमेगमिमं भावं उपलब्भंतं सहावेण ॥२०३॥

अर्थ—आत्मामे परनिमित्तसे जायमान अपदरूप जो द्रव्यकर्म और भावकर्म है, उन्हे त्यागकर स्वभावसे उपलभ्यमान, स्थिर तथा एकरूप इस चैतन्यभावको, जिसतरह यह नियत है, उसी तरह ग्रहण करो।

विशेषार्थ—निश्चयसे इस भगवान् आत्मामे उपलब्ध बहुतसे द्रव्यरूप तथा भावरूप भावो-के मध्यमे जो अतत्स्वभावसे उपलभ्यमान, अनियत अवस्थावाले, अनेक, क्षणिक तथा व्यभिचारी भाव है वे सभी स्वय अस्थायी होनेके कारण स्थाता, जो आत्मा है, उसके स्थान होनेके लिये असमर्थ होनेसे अपदभूत है, और जो तत्स्वभावसे उपलभ्यमान, नियत अवस्थावाला, एक नित्य तथा अव्यभिचारी भाव है वह एक ही स्वय स्थायी होनेके कारण स्थाता, जो आत्मा है, उसका स्थान होनेके लिये समर्थ होनेसे पदभूत है। इसलिये सम्पूर्ण अस्थायी भावोको छोड़कर स्थायी भावभूत तथा परमार्थरसरूपसे आस्वादमे आता हुआ यह एक ज्ञान ही आस्वाद करनेके योग्य है ॥२०३॥

यही भाव कलशोमे कहते है—

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम् ।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥१३९॥

अर्थ—जो विपत्तियोका अपद है—अस्थान है, और जिसके आगे अन्य सब भाव अपद ही भासमान होते हैं वही एक पद आस्वाद करनेके योग्य है।

भावार्थ—निश्चयसे वह एक ज्ञानरूप पद आस्वाद करनेके योग्य है क्योकि वह सम्पूर्ण आपदाओका अपद है तथा उसका आस्वाद आनेपर अन्य निखिल भाव अपद भासने लगते हैं। ऐसा नियम है कि नकली रूप रात्रिमे ही चमत्कारजनक होता है किन्तु जहाँ सूर्यका उदय हुआ वहाँ ऊपरी चमककी सब आभा जाती रहती है ॥१३९॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एकं ज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन् ।

आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदय
सामान्यं कलयत्किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ॥१४०॥

अर्थ—जो एक ज्ञायकभावसे पूरित महास्वादको प्राप्त हो रहा है, जो रागादिकसे मिश्रित द्वन्द्वमय स्वादका आस्वादन करनेमे असमर्थ है, जो अपनी वस्तुपरिणतिको जानता है, तथा जो आत्मानुभवकी महिमासे विवश हो रहा है, ऐसा यह आत्मा विशेषके उदयसे रहित सामान्यभावको प्राप्त समस्त ज्ञानकी एकरूपताको प्राप्त कराता है।

भावार्थ—जब यह आत्मा, आत्मद्रव्यकी परिणतिको जानने लगता है अर्थात् उसे जब ऐसा दृढ निश्चय हो जाता है कि आत्माकी परिणति सदा आत्मरूप ही रहती है, अन्यरूप नही होती, तब वह रागादिसे मिश्रित द्वन्द्वमय स्वादको छोड देता है अर्थात् रागादिकको आत्मासे पृथक् समझता है, 'मै एक ज्ञायक ही हूँ अर्थात् पदार्थोका जानना ही मेरा स्वभाव है, उनमे इष्टानिष्टका विकल्प करना मेरा स्वभाव नही है' इस प्रकार एक ज्ञायकभावका ही जब आस्वाद लेता है तथा आत्मानुभवकी महिमासे विवश होकर अन्य पदार्थोके अनुभवकी ओर जब इसका लक्ष्य नही जाता तब विशेषोदयसे रहित सामान्यरूपताको प्राप्त जो ज्ञान है उसे एकरूप ही कर देता है अर्थात् ज्ञानके नानाविकल्पोको गौण कर देता है ॥१४०॥

आगे ज्ञानकी एकरूपताका ही समर्थन करते है—

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥२०४॥

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये सब ज्ञानके भेद एक ही पदरूप होते है अर्थात् सामान्यरूपसे एक ज्ञान ही है। यह सामान्य ज्ञान ही परमार्थ है, जिसे प्राप्तकर जीव निर्वाणको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे आत्मा परमार्थ है और वह ज्ञानस्वरूप ही है। आत्मा एक ही पदार्थ है, इसलिये ज्ञान भी एक ही पद है और जो ज्ञाननामा एक पद है वही परमार्थ है और वही मोक्षका साक्षात् कारण है। इसके जो मतिज्ञानादिक पाँच भेद हैं वे इस लोकमे ज्ञानरूपी एकपदका भेद न करनेमे समर्थ नही है किन्तु उसी एक पदका समर्थन करते हैं। जिस प्रकार इस ससारमे मेघपटलसे आच्छादित सूर्य, उस मेघपटलका क्रम-क्रमसे विघटन होनेपर जब प्रकटरूपताको प्राप्त होता है और उस समय उसके जो हीनाधिक प्रकाशके भेद प्रकट होते हैं वे सूर्यके प्रकाशस्वभावका भेदन नही करते। तात्पर्य यह है कि जब मेघपटलसे सूर्य आच्छादित हो जाता है तब उसका प्रकाश मेघपटलोसे व्यक्त नही होता और जैसे-जैसे मेघपटल दूर हो जाते हैं वैसे-वैसे उसका प्रकाश व्यक्त होता जाता है। उन प्रकाशोके द्वारा सूर्यके प्रकाशस्वभावकी वृद्धि ही होती है। इसी प्रकार आत्मा ज्ञान-दर्शनस्वभाववाला है। परन्तु अनादिकालसे ही कर्मपटलसे आच्छिन्न होनेके कारण उसका वह स्वभाव व्यक्त नही होता। जैसे-जैसे कर्मपटलका अभाव होता जाता है वैसे-वैसे आत्माके ज्ञान-दर्शनगुणोका विकास होता जाता है, वे विकासरूप ज्ञान-दर्शन, आत्माके ज्ञानस्वभावका भेदन नही करते, किन्तु उसीका अभिनन्दन करते हैं। इसलिये समस्त अवान्तर

भेदोंसे रहित आत्माका स्वभावभूत जो एक ज्ञान है उसीका आलम्बन लेना चाहिये। उसीके आलम्बनसे पदकी प्राप्ति होती है, भ्रान्ति नष्ट होती है, आत्मलाभ होता है, और अनात्माका परिहार होता है, उसके होनेपर कर्म वृद्धिको प्राप्त नही होते, राग-द्वेप-मोह उपद्रव नही करते, फिर कर्मका आस्रव नही होता, आस्रवके अभावमे कर्मबन्ध नही होता, पूर्वका बँधा हुआ कर्म अपना रस देकर निर्जीर्ण हो जाता है और इस रीतिसे सम्पूर्ण कर्मोंका अभाव होनेसे साक्षात् मोक्ष हो जाता है ॥२०४॥

आगे इसी भावको कलशामें प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
यस्याभिन्नरस स एप भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥१४१॥

अर्थ—जिसकी ये अतिशय निर्मल, सवेदन-व्यक्तियाँ—ज्ञानकी अवान्तर विशेषताएँ अपने आप उछल रही हैं और इस तरह उछल रही हैं मानो अतिशयरूपसे पिये हुए समस्त पदार्थोंके समूहरूप रसके बहुत भारी बोझसे मतवाली ही हो रही हों, जो एक अभिन्न रसका धारक है, तथा अनेक आश्चर्योंकी निधि है, ऐसा यह भगवान् चैतन्यरूपी रत्नाकर—आत्मारूपी समुद्र, एक होकर भी अनेक रूप होता हुआ ज्ञानके विकल्परूप तरंगोसे चञ्चल हो रहा है।

भावार्थ—यहाँ आत्माको रत्नाकर अर्थात् समुद्रकी उपमा दी है। सो जिस प्रकार समुद्रमें अत्यन्त निर्मल लहरें स्वयमेव उछलती है उसी प्रकार इस आत्मामे भी ज्ञानके विकल्परूप अनेक लहरें स्वयमेव उठ रही हैं। ज्ञानके ये विकल्प अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार अनेक पदार्थोंके समूहको जानते है। जिसप्रकार समुद्र अभिन्नरस अर्थात् जलसे तन्मय होता है उसीप्रकार यह आत्मा अभिन्नरस अर्थात् ज्ञानसे तन्मय है। जिसप्रकार समुद्र अनेक आश्चर्योंका भाण्डार है उसी प्रकार यह आत्मा भी अनेक आश्चर्योंका भाण्डार है और जिसप्रकार समुद्र सामान्यरूपसे एक होकर भी तरगोंके कारण अनेकरूप दिखाई देता है उसीप्रकार यह ज्ञानरूप आत्मा भी सामान्य-रूपसे एक होकर भी अनेकरूप जान पड़ता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानरूप आत्मा परमार्थसे एक है। परन्तु मतिज्ञानादिके विकल्पसे अनेकरूप भासमान होता है ॥१४१॥

आगे कलशा द्वारा कहते हैं कि ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानगुणके विना दुर्लभ है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

क्लिश्यन्ता स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभि -
क्लिश्यन्ता च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम् ।
साक्षान्मोक्ष इद निरामयपद संवेद्यमान स्वय
ज्ञान ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१४२॥

अर्थ—मोक्षके उद्देश्यसे किये हुए अत्यन्त कठिन कार्योंके द्वारा कोई स्वयं ही क्लेश उठावे,

तो भले ही उठावे, अथवा महाव्रत और तपके भारसे पीडित हुए अन्य लोग चिरकाल तक क्लेश सहन करें, तो भले ही करें। परन्तु साक्षात् मोक्षरूप निरामयपद—निरुपद्रव स्थान तो यह ज्ञान ही है, इसका स्वय स्वसवेदन हो रहा है, यह स्वय अनुभवमे आ रहा है। ऐसे इस ज्ञानरूप पदको ज्ञानगुणके बिना प्राप्त करनेके लिये कोई किसी भी तरह समर्थ नही है।

यहाँपर ज्ञानगुणको प्रधानता देकर ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा गया है। इसका यह तात्पर्य ग्राह्य नही है कि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र मोक्षके लिये आवश्यक नही हैं। भेद-विवक्षामे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो ही मोक्ष-प्राप्तिके अग है। परन्तु यहाँपर सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रको ज्ञानमे गतार्थ कर दिया है। ज्ञानकी जो दृढता है वही सम्यग्दर्शन है और ज्ञानमे कषायोदयके कारण जो चचलता आती थी उसका अभाव हो जाना सम्यक्चारित्र है ॥१४२॥

आगे यही भाव गाथामें दिखाते हैं—

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं बहू वि ण लहंति।
तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥२०५॥

अर्थ—हे भव्य! यदि तुम सब ओरसे कर्मोंसे छुटकारा चाहते हो, तो उस निश्चित ज्ञानको ग्रहण करो, क्योकि ज्ञानगुणसे रहित अनेको प्राणी इस पदको प्राप्त नही कर पाते हैं।

विशेषार्थ—यत कर्ममे ज्ञानका प्रकाश नही है, अत निखिल कर्मके द्वारा ज्ञानकी उपलब्धि असभव है। ज्ञानमे ज्ञानका प्रकाश है, अत. केवल ज्ञानके द्वारा ही ज्ञानका लाभ होता है। इसी कारणसे अनेक पुरुष ज्ञानशून्य होकर अनेक प्रकारके कर्मों द्वारा इस ज्ञानरूप निरामय पदको नही पा सकते हैं और इसके अभावमे वे मनुष्य कर्मोंसे नही छूट सकते हैं। इसलिये जो मनुष्य कर्मोंसे छूटनेकी इच्छा करते है उन्हे मात्र ज्ञानके आलम्बनसे इस निश्चित पदको प्राप्त करना चाहिये ॥२०५॥

आगे यही भाव कलशा द्वारा प्रकट करते है—

द्रुतविलम्बितछन्द

पदमिद ननु कर्मदुरासद
सहजबोधकलासुलभ किल।
तत इद निजबोधकलाबलात्
कलयितु यतता सतत जगत् ॥१४३॥

अर्थ—यह पद निश्चय ही कर्मके द्वारा दुष्प्राप्य है और सहजबोधकला—स्वाभाविक-ज्ञानकलासे सुलभ है। इसलिये जगत् इस ज्ञानपदको सहजज्ञानकलाके बल प्राप्त करनेका निरन्तर यत्न करे।

भावार्थ—यह ज्ञानरूप आत्मपद केवल क्रियाकाण्डसे सुलभ नही है किन्तु स्वाभाविक ज्ञानकी कलासे सुलभ है। यहाँ ज्ञानके साथ 'सहज' विशेषण दिया है। उससे यह सिद्ध होता है कि मात्र द्रव्यश्रुतके ज्ञानसे भी उसकी प्राप्ति सुलभ नही है, क्योंकि ग्यारह अग और नौ पूर्वका पाठी

होकर भी यह जीव अनन्त संसारका पात्र बना रहता है। यहाँ आवश्यकता मोहजन्य विकारसे रहित आत्मज्ञानकी है। प्रारम्भमें वह आत्मज्ञान क्षायोपशमिक अवस्थामें कलारूप ही होता है। परन्तु वह कलारूप आत्मज्ञान भी इस जीवको अन्तर्मुहूर्तके अनन्तर केवलज्ञान प्राप्त करानेकी सामर्थ्य रखता है। जिसे केवलज्ञान प्राप्त हो गया वह नियमसे अन्तर्मुहूर्तमें या अधिक-से-अधिक देशोन कोटिवर्ष पूर्वमें समस्त कर्मोंसे मोक्षको प्राप्त करता है ॥१४३॥

यही बात फिर भी कहते हैं—

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥२०६॥

अर्थ—इस ज्ञानमे ही नित्य रत होओ, इसी ज्ञानमे नित्य सतुष्ट होओ, इसी ज्ञानसे तृप्त होओ, ऐसा करनेसे ही तुझे उत्तम सुख होगा।

विशेषार्थ—जितना ज्ञान है उतना ही तो आत्मा है अर्थात् ज्ञानादिगुणोका अविष्वग्भावरूप जो विलक्षण सम्बन्ध है वही आत्मा है, इस प्रकार निश्चयकर शुद्ध ज्ञानमे ही रतिको प्राप्त होओ, क्योकि इतना ही कल्याण है, इससे भिन्न और कल्याण कोई वस्तु नही। ज्ञाता-द्रष्टा ही आत्मा है, जहाँ ज्ञान केवल परपदार्थको जानता है, रागादिक औपाधिकभावरूप नही परिणमता, यही तो सम्यक्चारित्र है। अत आचार्योंका कहना है कि ज्ञानका ज्ञानरूप रहना ही तो कल्याण है, अतिरिक्त कल्याणकी कल्पना करना मोहजभाव है, ऐमा निश्चयकर शुद्धज्ञानके द्वारा ही नित्य सतोपको प्राप्त होओ। और जितना ज्ञान है उतना ही सत्य अनुभव है अर्थात् ज्ञेयभिन्न शुद्धज्ञानमे जो ज्ञानका अनुभवन है वही तो ज्ञानका निजरूप है—ऐसा निश्चयकर ज्ञानमात्रसे ही नित्य तृप्तिको प्राप्त करो। इस प्रकार जो आत्मा अपने आपमें रत होगा, अपनेमें ही तृप्त होगा और आत्मामें ही संतुष्ट होगा, उसके जो सुख होगा वह वचनके अगोचर होगा। वह सुख जिस क्षणमें होगा उसको यह आत्मा स्वयमेव देखेगा, अन्यसे पूछनेकी आवश्यकता नही ॥२०६॥

यही बात श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशामे कहते है—

उपजातिछन्द

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ? ॥१४४॥

अर्थ—वह आत्मदेव स्वयमेव अचिन्त्य शक्तिवाला है, चिन्मात्र चिन्तामणि है, उसके सर्व अर्थकी सिद्धि स्वयं होती है अत. ऐसे ज्ञानी पुरुषको अन्य परिग्रहके ग्रहण करनेकी क्या आवश्यकता है ॥१४४॥

अब यहांपर कोई आशंका करता है कि ज्ञानी परको ग्रहण क्यो नहीं करता ? इसीका उत्तर नीचे गाथामे देते हैं—

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो ॥२०७॥

अर्थ—जो नियमसे आत्माको ही आत्माका परिग्रह जान रहा है ऐसा कौन ज्ञानी पण्डित कह सकता है कि यह परद्रव्य मेरा द्रव्य है ?

विशेषार्थ—क्योकि ज्ञानी पुरुष नियमसे ऐसा जानता है कि जिसका जो आत्मीय असाधारण स्वरूप है वही उसका स्व है और वह उसका स्वामी है। इस प्रकार तीक्ष्णतरदृष्टिके अवलम्बनसे आत्मा ही आत्माका परिग्रह है। इसलिये यह जो परकीय वस्तु है वह मेरा स्व नही है और न मैं उसका स्वामी हूँ। यही कारण है कि ज्ञानी आत्मा परद्रव्यको ग्रहण नही करता है। ससारमे यह नियम है कि जो चतुर, विज्ञ तथा भद्र मनुष्य हैं वे परपदार्थको न तो अपना जानते ही है और न उसे स्वीकार ही करते हैं। इसी पद्धतिका अनुसरण करके सम्यग्ज्ञानी जीव अपने निज स्वभावको ही स्वकीय धन जानते हैं और उसीको ग्रहण करते हैं। परपदार्थको अपना धन नही मानते हैं और न उसको ग्रहण करनेका प्रयास करते हैं। यही मुख्य हेतु है कि षट्खण्डाधिपति होकर भी वे अणुमात्र भी उसमे अपना नही मानते, इसीसे निरन्तर कमलपत्रकी तरह अलिप्त रहते हैं ॥२०७॥

आगे इसी अर्थको युक्तिसे दृढ़ करते हैं—

मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ ॥२०८॥

अर्थ—यदि परद्रव्य मेरा परिग्रह हो जावे, तो मैं अजीवनपनको प्राप्त हो जाऊँ, क्योकि मैं तो ज्ञानी हूँ, इसलिये परिग्रह मेरा नही है।

विशेषार्थ—यदि मै परद्रव्यरूप अजीवको ग्रहण करूँ तो निश्चय ही यह अजीव मेरा स्वीय धन हो जावे और मै इस अजीवका निश्चयसे स्वामी हो जाऊँ। परन्तु ऐसा होता नही, यदि ऐसा होने लगे, तो वस्तुकी मर्यादाका ही लोप हो जावेगा, और यह इष्ट नही। अत जो अजीवका स्वामी है वह निश्चयसे अजीव ही है, यदि मै अजीवका स्वामी हो जाऊँ तो निश्चयसे मेरे अजीवपन आ जावेगा, परन्तु मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही है, वही मेरा स्वीय धन है और इसी एक ज्ञायकभावका मैं स्वामी हूँ। इसलिये मेरे अजीवपन न हो, मै तो ज्ञाता ही रहूँगा, अत परद्रव्यको नही ग्रहण करता हूँ, यह मेरा दृढ़ निश्चय है ॥२०८॥

आगे इसी अर्थको और भी दृढ़ करते हैं—

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं ।
जम्हा तम्हा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ ॥२०९॥

अर्थ—ज्ञानी जीवके ऐसा दृढ निश्चय है कि परिग्रह छिद जावे, भिद जावे, अथवा कोई उसे ले जावे, अथवा वह नष्ट हो जावे अथवा जिस किसी तरहसे चला जावे, तो भी परिग्रह मेरा नही है।

विशेषार्थ—जब सम्यग्ज्ञानी यह निश्चय कर चुका कि परवस्तु हमारी नही है तब

उसकी कुछ भी अवस्था हो, उससे हमें क्या प्रयोजन है ? वह छिद जावे, अथवा भिद जावे, अथवा चली जावे, अथवा नष्ट हो जावे, अथवा जिस किसी अवस्थाको प्राप्त होवे, उसमे मेरा अणुमात्र भी नही है, अतएव मै परिग्रहको नही ग्रहण करता हूँ, क्योकि परद्रव्य मेरा स्वीय धन नही है, इसीसे मै उसका स्वामी नही हूँ, परद्रव्य ही परद्रव्यका आत्मीय धन है और परद्रव्य ही परद्रव्यका स्वामी है, मेरा जो स्व है वह मै ही हूँ और अपना स्वामी मे स्वय आप हूँ। इस प्रकार यह ज्ञानी आत्मा जानता है ॥२०९॥

अब यही भाव कलशामे प्रकट करते है—

वसन्ततिलकाछन्द

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव
सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम् ।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद्
भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥१४५॥

अर्थ—इस प्रकार सामान्यरूपसे समस्त परिग्रहका त्यागकर अपने और परके अविवेकका कारण जो अज्ञान है उसे त्याग करनेका जिसका अभिप्राय है, ऐसा यह ज्ञानी विशेषरूपसे परिग्रहके त्याग करनेमे प्रवृत्त होता है ।

भावार्थ—ज्ञानी जीव सामान्यरूपसे सभी परिग्रहका त्यागकर धर्म, अधर्म भाव तथा भोजन-पान आदि विशिष्ट परिग्रहके त्याग करनेके लिये प्रवृत्त होता है, क्योकि अज्ञानदशामे वह निज और परको एक समझता रहा है। परन्तु ज्यों ही ज्ञानी दशा प्रकट होती है त्यो ही इसे अनुभव होने लगता है कि एक ज्ञायकभाव ही मेरा है। उसके सिवाय अन्य समस्त द्रव्य मेरे नही है। अतः उसमे स्वीय बुद्धिका त्याग करना ही कल्याण करनेवाला है ॥१४५॥

अब कहते हैं कि ज्ञानीके धर्मका परिग्रह नही है—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं ।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होई ॥२१०॥

अर्थ—ज्ञानी जीव परिग्रहसे रहित है। अतएव उसके परिग्रहकी इच्छा भी नही है, इसीसे वह धर्मको नही चाहता है। जिस कारण उसके धर्मका परिग्रह नही है तिस कारण वह धर्मका मात्र ज्ञाता है।

विशेषार्थ—इच्छाका अर्थ परिग्रह है अर्थात् इच्छा ही परिग्रह है। जिस जीवके इच्छा नही है उसके परिग्रह नही है। इच्छा अज्ञानमयभाव है और ज्ञानी जीवके अज्ञानमय भावका अभाव है। ज्ञानी जीवके तो ज्ञानमय ही भाव होता है। ज्ञानी जीव अज्ञानमय भावरूप इच्छाके असद्-भावसे धर्मकी इच्छा नही करता है, इसी हेतुसे ज्ञानीके धर्मका परिग्रह नही है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभावके सद्भावसे यह धर्मका केवल ज्ञायक ही है।

इच्छा और परिग्रहका अविनाभाव सम्बन्ध है अर्थात् जहाँ इच्छा है वही परिग्रहका सद्भाव है। इच्छा मोहकर्मके उदयसे जायमान होनेके कारण अज्ञानमयभाव है, इसलिये स्वसंवेदन-ज्ञानी जीव शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्मको छोडकर शुभोपयोगरूप धर्म—अर्थात् पुण्यकी इच्छा नही करता। यद्यपि अपने पदके अनुकूल ज्ञानी जीवके पुण्यरूप परिणाम होते है तो भी 'यह पुण्य मेरा स्वरूप नही है' ऐसा निश्चय होनेसे वह पुण्यसे तन्मय नही होता। जिस प्रकार कोई दर्पणमें पड़े हुए प्रतिबिम्बका ज्ञायक होता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव अपने आत्मामे आये हुए पुण्य-परिणामका ज्ञायक ही होता है, पुण्यपरिणामरूप अपने आपको नही मानता है ॥२१०॥

आगे ज्ञानीके इसी प्रकार धर्मका भी परिग्रह नहीं है, यह कहते हैं—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२११॥

अर्थ—ज्ञानी जीव इच्छा रहित है, अत परपदार्थके परिग्रहसे रहित है, ऐसा कहा गया है, इसीसे ज्ञानी जीव अधर्मकी इच्छा नही करता। यही कारण है कि ज्ञानी जीवके अधर्मका परिग्रह नही है। वह तो केवल उसका ज्ञाता है।

विशेषार्थ—इच्छा है वह परिग्रह है, जिसके इच्छा नही है उसके परिग्रह नही है। इच्छा अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नही है, ज्ञानीके तो ज्ञानमय ही भाव होता है। इसीसे ज्ञानी जीव अज्ञानमय भावात्मक इच्छाके अभावसे अधर्मको नही चाहता है। इसीलिये ज्ञानीके अधर्मका परिग्रह नही है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभावके सद्भावसे यह केवल अधर्मका ज्ञायक है। इसी पद्धतिसे अधर्मपदको परिवर्तित कर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रवण, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन ये सोलह पद रखकर सोलह सूत्रोंकी व्याख्या करनी चाहिये।

यहाँ विषय-कषायरूप पाप-परिणामको अधर्म कहा गया है। ज्ञानी जीव जब धर्मको अपना स्वीय परिणाम नही मानता, तब अधर्मको स्वीय परिणाम कैसे मान सकता है? यद्यपि ज्ञानी जीवके भी चतुर्थ-पञ्चम गुणस्थानमे विषय-कषायरूप परिणाम होते हैं परन्तु वह उन्हे 'ये परिणाम मेरे हैं' ऐसा नही मानता। उसकी श्रद्धा है कि चारित्रमोहके उदयसे जो ये विकारीभाव उत्पन्न हो रहे हैं वे मेरे स्वभाव नही है। जैसे दर्पण, प्रतिबिम्बसे तन्मय दिखता हुआ भी वास्तवमे उससे तन्मय नही होता। उसी प्रकार आत्मा इन विकारीभावोसे तन्मय दिखता हुआ भी वास्तवमे उनसे तन्मय नही है। अतएव जिस प्रकार कोई दर्पणके प्रतिबिम्बका ज्ञाता होता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव इस अधर्म परिणामका ज्ञाता होता है ॥२११॥

आगे ज्ञानीके आहारका भी परिग्रह नहीं है, यह कहते हैं—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो य णिच्छदे असणं।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१२॥

अर्थ—जो इच्छावान् नही है वही परिग्रहसे रहित कहा गया है। ज्ञानी भोजनको नही चाहता है, इसलिये उसके भोजनका परिग्रह नही है, यही कारण है कि ज्ञानी महात्मा भोजनका ज्ञायक है।

विशेषार्थ—इच्छाका अर्थ परिग्रह है। जिसके इच्छा नही है उसके परिग्रह नही है। इच्छा अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानीके होता नही है, ज्ञानीके तो एक ज्ञानमय ही भाव होता है, इसीसे ज्ञानी आत्मा अज्ञानमय भावरूप इच्छाका अभाव होनेके कारण आहारकी इच्छा नही करता, इसलिये ज्ञानीके अशन (आहारका) परिग्रह नही है। ज्ञानात्मक ज्ञायकभावका सद्भाव होनेसे यह ज्ञानी केवल ज्ञायक ही होता है।

यद्यपि ज्ञानी जीवकी छठवें गुणस्थान तक शरीरकी स्थिरताके लिये आहारमे प्रवृत्ति होती है, तो भी वह आहारको आत्माका स्वभाव नही मानता, इसलिये आहार करता हुआ भी आहारके परिग्रहसे रहित है, वह केवल आहारका ज्ञायक ही होता है ॥२१२॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानीके पानका भी परिग्रह नहीं है—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे पाणं।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१३॥

अर्थ—इच्छारहित ही परिग्रहरहित कहा गया है, ज्ञानी जीव पानकी इच्छा नही करता है, इसलिये उसके पानका परिग्रह नही है, वह तो पानका ज्ञाता ही है।

विशेषार्थ—इच्छा ही परिग्रह है। जिस पवित्र आत्माके इच्छा नही है उसके परिग्रहका अभाव है। इच्छा अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी आत्माके होता नही है, ज्ञानीके एक ज्ञानमय भावका ही सद्भाव है, इसलिये ज्ञानी जीव अज्ञानमय भावरूप इच्छाके अभावसे पानकी इच्छा नही करता है, इसीसे उस जीवके पानका परिग्रह नही है। उसके तो एक ज्ञानमय ज्ञायक भाव ही है। अत वह केवल पानका ज्ञायक है।

यद्यपि आहारकी तरह पानमे भी प्रवृत्ति छठवें गुणस्थान तक होती है तो भी ज्ञानी जीव उसे आत्माका स्वभाव नही मानता। असाता वेदनीयकी उदीरणासे प्रेरित होकर शरीरकी स्थिरताके लिये ज्ञानी जीव यद्यपि आहार और पानको ग्रहण करता है तो भी तद्विषयक इच्छाका अभाव होनेसे वह पानके परिग्रहसे रहित है वह केवल पानका ज्ञायक ही होता है।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीव इसी तरह अन्य भावोंकी भी इच्छा नहीं करता है—

एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ ॥२१४॥

अर्थ—इनको आदि लेकर और भी जो विविध प्रकारके सर्व भाव हैं ज्ञानी जीव उनकी इच्छा नहीं करता है। अतएव निश्चयसे उनके ज्ञायकभाव ही है, अन्य सब विषयोंमे तो वह उनके निरालम्ब है।

विशेषार्थ—इस प्रकार इन भावोके अतिरिक्त अन्य भी जो अनेक प्रकारके परद्रव्य सम्बन्धी भाव है ज्ञानी जीव उन सबकी इच्छा नही करता, इसलिये ज्ञानी जीवके परद्रव्य सम्बन्धी सभी भावोका परिग्रह नही है। इस प्रकार ज्ञानी जीवके अत्यन्त निष्परिग्रहपन सिद्ध होता है। इस तरह आत्मातिरिक्त निखिल पदार्थोके परिग्रहका अभाव होनेसे जिसने समस्त अज्ञानभावको उगल दिया है, ऐसा ज्ञानी जीव सभी पदार्थोंमे अत्यन्त निरालम्ब होकर प्रतिनियत एक टकोत्कीर्ण ज्ञायकभावका धारक होता हुआ साक्षात् विज्ञानघन आत्माका ही अनुभव करता है ॥२१४॥

अब यही भाव कलशामे प्रकट करते हैं—

स्वागताछन्द

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकाज्ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोग ।
तद्भवत्वथ च रागवियोगान्नूनमेति न परिग्रहभावम् ॥१४६॥

अर्थ—पूर्वबद्ध निजकर्मके विपाकसे यद्यपि ज्ञानी जीवके परपदार्थोका उपभोग होता है तथापि रागके वियोगसे वह उपभोग परिग्रहपनको नही प्राप्त होता है।

भावार्थ—अज्ञानावस्थामे बाँधे हुए कर्मोका उदय तीव्र, मन्द या मध्यमरूपसे ज्ञानी जीवके भी होता है और उस उदयानुसार ज्ञानी जीवके नाना भाव भी होते है। परन्तु वह उन भावोको आत्माका स्वभाव नही मानता, इसलिये वे परिग्रहभावको प्राप्त नही होते ॥१४६॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानीके त्रिकाल सम्बन्धी उपभोगका परिग्रह नहीं है—

उप्पण्णोदयभोगो विओगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं ।
कंखामणागयस्स य उदयस्स ण कुव्वए णाणी ॥२१५॥

अर्थ—ज्ञानी जीवके वर्तमानमे कर्मविपाकसे जो भोग प्राप्त हुआ है वह निरन्तर वियोग-बुद्धिसे ही प्रवर्तता है अर्थात् उसका उपभोग करते हुए भी ज्ञानी जीवका सदा ऐसा अभिप्राय रहता है कि यह आपत्ति कब पृथक् हो और अनागत (भविष्य) कालमे होनेवाले उदयकी आकाक्षा ज्ञानी नही करता है। इसतरह वर्तमान और भविष्यत्काल सम्बन्धी उपभोगका परिग्रह ज्ञानीके नही है तथा अतीतकाल सम्बन्धी उपभोगका परिग्रह अतीत हो जानेके कारण अभावरूप है ही। इस प्रकार ज्ञानी जीव त्रिकाल सम्बन्धी उपभोगके परिग्रहसे रहित है।

विशेषार्थ—कर्मके उदयसे जो उपभोग प्राप्त होता है वह अतीत, वर्तमान और अनागतके भेदसे तीन प्रकारका है। उनमे जो अतीत है वह तो अतीत हो जानेके कारण ही परिग्रह भावको नही धारण करता है और अनागत भोग आकाक्षा करनेसे ही परिग्रहभावको प्राप्त हो सकता है अन्यथा नही, सो ज्ञानी जीवके अनागत—आगामी भोगकी इच्छा नही है। इसलिये वह भी परिग्रहभावको नही प्राप्त होता है। तथा वर्तमानमे जो उपभोग प्राप्त है उसे अन्तरगसे भोगना नही चाहता है अर्थात् उससे निरन्तर विरक्तबुद्धि रहता है, क्योकि ज्ञानी

जीवके अज्ञानमय भावका अभाव है। अत. वर्तमान उपभोग उसके परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता है। अनागत भोगकी ज्ञानीके इच्छा ही नही है, क्योकि ज्ञानी जीवके अज्ञानभयभावरूप इच्छाका अभाव है इसलिये अनागतकर्मके उदयका उपभोग भी ज्ञानीके परिग्रहभावको प्राप्त नही होता है ॥२१५॥

आगे ज्ञानी भविष्यत् कालमें होने वाले भोगको क्यो नहीं चाहता है ? इसका उत्तर कहते है—

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं ।
तं जाणगो दु णाणी उभयं पि ण कंखइ कया वि ॥२१६॥

अर्थ—जो भाव अनुभव करता है उसे वेदकभाव कहते है और जो अनुभव करने योग्य है उसे वेद्यभाव कहते हैं। यह दोनो भाव क्रमसे होते है, एक समयमे नही होते अर्थात् जिस कालमे वेदकभाव है उस कालमे वेद्यभाव नही है और जिस कालमे वेद्यभाव है उस कालमे वेदकभाव नही है अर्थात् दोनो ही समय-समयमे नष्ट हो जाते हैं। उन्हे जाननेवाला ज्ञानी जीव कदापि दोनोको भी नही चाहता है।

विशेषार्थ—ज्ञानी जीव स्वभावभावके ध्रुवपनसे नित्य ही टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव है और वेद्यवेदकभाव उत्पन्न तथा विनाशस्वभावपनसे अनित्य है। इन दोनोमे जो भाव आकाक्षा करता है कि मै इच्छामे आये हुए भावका वेदन करूँगा। सो जबतक वेदन करनेवाला वेदकभाव होता है उसको पहले जिस भावका वेदन करना चाहता था, वह वेद्यभाव विलयको प्राप्त हो जाता है, उसके विलीन होनेसे वेदकभाव किसको वेदे ? कदाचित् कहो कि वेदकभावके पश्चात् होनेवाला जो वेद्यभाव है उसे वेदे, सो जबतक आकाक्षाका विषय वेद्यभाव उत्पन्न होता है तब-तक यह वेदकभाव नष्ट हो जाता है कौन वेदे ? कदाचित् वेद्यभावके पश्चात् होनेवाला वेदक-भाव उसे वेदन करेगा सो जबतक वेदन करनेवाला वेदकभाव होगा तबतक वेद्यभाव नष्ट हो जावेगा। इसप्रकार अनवस्थिति होनेसे अभीष्टकी सिद्धि होना असभव है, ऐसा जानकर ज्ञानी जीव उभयभावकी अभिलाषासे शून्य है ॥२१६॥

यही भाव कलशामे दिखाते हैं—

स्वागताच्छन्द

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्वेद्यते न खलु काक्षितमेव ।
तेन काक्षति न किञ्चन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ॥१४७॥

अर्थ—वेद्य और वेदकभाव दोनो ही क्षणिक हैं। इसीसे जो कांक्षित भाव है वह कदापि वेदनेमे नही आता, इसीलिये ज्ञानी जीव कुछ भी आकांक्षा नही करता, प्रत्युत सर्वभावोसे विरक्तिभावको प्राप्त होता है।

भावार्थ—परमार्थसे यह जीव बाह्य भोग-उपभोग का अनुभव नही करता है, किन्तु भोग-उपभोगकी आकांक्षा करनेवाले आत्मपरिणामका ही अनुभव करता है। इस स्थितिमें आत्मा ही वेद्य है और आत्मा ही वेदक है। आत्मा जिस भावका वेदन करता है वह वेद्य कहलाता है और

२५

जो भाव अनुभव करता है वह वेदक कहलाता है। आत्माका यह वेद्यवेदकभाव क्रमवर्ती है अर्थात् जिस समय वेद्यभाव होता है उस समय वेदकभाव नही होता और जिस समय वेदकभाव होता है उस समय वेद्यभाव नही होता। यह वेद्यवेदकभाव कर्मोदयसे जायमान होनेके कारण आत्माका विभाव कहलाता है, स्वभाव नही। विभाव होनेसे वह क्षणभङ्गुर है। अत आत्माका वेदकभाव जिस वेद्यभावकी इच्छा करता है वह क्षणभङ्गुर होनेसे वेदन करनेमे नही आता। जब वेदन करनेमे नही आता तब ज्ञानी जीव उसकी इच्छा ही क्यो करेगा ? वह तो सब ओरसे विरक्तिको ही प्राप्त होता है ॥१४७॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीवके भोग-उपभोगमे राग नहीं होता है—

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो ॥२१७॥

अर्थ—बन्ध और उपभोगके निमित्त जो अध्यवसानके उदय हैं वे सब ससारविषयक तथा देहविषयक है उनमे ज्ञानी जीवके राग नही होता है।

विशेषार्थ—इस लोकमे निश्चयसे जो अध्यवसानके उदय हैं उनमे कितने तो ऐसे हैं जिनका विषय ससार है और कितने ही ऐसे हैं जिनका विषय शरीर है। जितने ससारविषयक है वे बन्धके निमित्त हैं और जितने शरीरविषयक हैं वे उपभोगके निमित्त हैं। जो बन्धके निमित्त हैं वे राग-द्वेष-मोह आदिक है और जो उपभोगके निमित्त हैं वे सुख-दु ख आदिक हैं। इन सभी भावोमे ज्ञानी जीवके राग नही होता है क्योकि ये सभी भाव नानापरद्रव्योके सम्बन्धसे जन्य हैं और ज्ञानी जीव टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाववाला है। अतएव ज्ञानी जीवके साथ उनका सम्बन्ध नही बन सकता है।

मोहनीयकर्मके उदयसे जो मोह-राग-द्वेष तथा हर्षविषादादिक भाव होते है उन्हे अध्यवसानभाव कहते हैं। इन अध्यवसानभावोमे जो मोह-राग-द्वेष भाव हैं वे ससारविषयक हैं अर्थात् इन्ही भावोका निमित्त पाकर आत्माकी ससृति-परम्परा होती है और यही भाव आगामीकर्मबन्धमे निमित्त पडते हैं। तथा जो हर्ष-विषादादिक भाव है वे शरीर विषयक हैं और उपभोगके निमित्त हैं अर्थात् शरीरमे सुखादिक द्वारा उपक्षीण हो जाते है। इनसे ससार-संततिका प्रवाह नही चलता, क्योकि जब तक इनके साथ रागादिक परिणाम न हो तब तक वे स्वय बन्धके जनक नही होते। अतएव जो सम्यग्ज्ञानी जीव है उनके इन अखिल अध्यवसानादिक भावोमे रागभाव नही है ॥२१७॥

यही भाव कलशामे दिखाते हैं—

स्वागताछन्द

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं
कर्म रागरसरिक्ततयैति।
रगयुक्तिरकषायितवस्त्रे
स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥१४८॥

अर्थ—रागरूपी रससे रहित होनेके कारण ज्ञानी जीवकी क्रिया परिग्रहभावको प्राप्त नही होती, क्योकि हर्रा, फिटकरी आदिसे उत्पन्न कषायलापनसे रहित वस्त्रमे जो रङ्ग दिया जाता है वह स्वीकृत होने पर भी बाहर ही बाहर रहता है, अन्तरङ्गमे प्रवेश नही करता ॥१४८॥

स्वागताछन्द

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यत स्यात्
सर्वरागरसवर्जनशील ।
लिप्यते सकलकर्मभिरेष
कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥१४९॥

अर्थ—ज्ञानी जीवका ऐसा सहज स्वभाव है कि उसकी आत्मामे स्वयमेव रागकी उत्पत्ति नही होती। इसीसे ज्ञानी जीव कर्ममध्यमें पतित होकर भी कर्मोसे लिप्त नही होता है ॥१४९॥

आगे दृष्टान्त द्वारा इसी बातका समर्थन करते हैं—

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दम-मज्झे जहा कणयं ॥२१८॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दम-मज्झे जहा लोहं ॥२१९॥
(युग्मम्)

अर्थ—ज्ञानी जीव सब द्रव्योमे रागका त्याग करनेवाला है, इसलिये वह मन, वचन, कायके व्यापाररूप कर्मके मध्यमें पडा हुआ भी कर्मरूपी रजसे उस तरह लिप्त नही होता जिस तरह कि कर्दमके मध्यमे पडा हुआ सुवर्ण जङ्गसे लिप्त नही होता। किन्तु अज्ञानी जीव सब द्रव्योमे राग करता है, इसलिये वह मन, वचन, कायके व्यापाररूप कर्मके मध्यमे पडा हुआ कर्मरूपी रजसे उस तरह लिप्त होता है जिस तरह कि कर्दमके मध्यमे पड़ा हुआ लोहा जङ्गसे लिप्त हो जाता है।

विशेषार्थ—जिसप्रकार निश्चयसे सुवर्ण कर्दमके मध्यमे पड़ा हुआ होनेपर भी कर्दमसे लिप्त नही होता, क्योकि कर्दमसे लिप्त होना उसका स्वभाव नही है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव कर्मोके मध्यमे अर्थात् मन, वचन, कायके व्यापारके बीचमे पड़ा हुआ होनेपर भी कर्मसे लिप्त नही होता, क्योकि समस्त परद्रव्य सम्बन्धी रागका त्यागी होनेसे कर्मसे लिप्त होना उसका स्वभाव नही है। जिसप्रकार लोहा कर्दमके मध्यमे पडकर कर्दमसे लिप्त हो जाता है क्योकि कर्दमसे लिप्त होना उसका स्वभाव है। उसी प्रकार अज्ञानी जीव कर्मोके मध्यमे पड़कर कर्मसे लिप्त होता है क्योकि समस्त परद्रव्य सम्बन्धी रागसे युक्त होनेके कारण कर्मोसे लिप्त होना उसका स्वभाव है।

सुवर्णका ऐसा विलक्षण स्वभाव है कि वह कितने ही कालपर्यन्त कर्दममे पडा रहे, परन्तु उसके वर्णमे विकार नही होता। इसी तरह ज्ञानी जीवका ऐसा विलक्षण स्वभाव है कि वह

समस्त कार्य करता हुआ भी कर्मबन्धसे रहित रहता है। कर्मबन्धका कारण रागपरिणति है और ज्ञानी जीवके वह रागपरिणति छूट जाती है। इसलिये केवल क्रियासे उसके बन्ध नही होता। परन्तु अज्ञानी जीवकी परिणति इससे विलक्षण है। जिस प्रकार लोहा कर्दममे डाल दिया जावे तो वह उसके सम्बन्ध से जगाल से लिप्त हो जाता है उसी प्रकार अज्ञानी जीव कर्मके मध्यमे पड जावे अर्थात् मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिरूप व्यापार करे तो वह कर्मोसे लिप्त हो जाता है क्योकि कर्मबन्धका प्रमुख कारण रागभाव है और वह उसके विद्यमान है ही ॥२१८-२१९॥

आगे जिसका जो स्वभाव है वह वैसा ही रहता है, यह कलशा द्वारा कहते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि य
कर्तुं नैष कथचनापि हि परैरन्यादृश शक्यते।
अज्ञान न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञान भवत्सतत
ज्ञानिन् भुङ्क्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बन्धस्तव ॥१५०॥

अर्थ—जिस वस्तुका जो जैसा स्वभाव होता है वह वैसा ही रहता है, वह किसी भी तरह दूसरोके द्वारा अन्यथा नही किया जा सकता। इसी पद्धतिसे ज्ञान भी कभी अज्ञान नही हो सकता। अतएव आचार्यका उपदेश है कि हे ज्ञानी जीव! कर्मोदयसे जो कुछ उपभोग प्राप्त हुआ है उसे उदयजनित सामग्री जान अहकार बुद्धिसे रहित होकर भोग, यदि इस नीतिसे उदासीनभावसे भोगेगा तो परापराधजनित बन्ध तुझे नही होगा।

भावार्थ—इस जीवके ज्ञानके साथ अनादिकालसे मोहजन्य विकारीभावोका संमिश्रण चला आ रहा है। अज्ञानी जीव उस समिश्रणको ज्ञानका स्वभाव जान उससे कभी विरक्त नही होता। इसलिये उसके बन्ध सदाकाल जारी रहता है। परन्तु ज्ञानी जीव इस अन्तरको समझ जाता है, वह ज्ञानको ज्ञान और मोहजन्य रागादिक विकारोको विकार समझ लेता है, इसलिये उससे विरक्त हो जाता है। इस विरक्तिके कारण ज्ञानी जीव यद्यपि प्राप्त सामग्रीका उपभोग करता है तो भी उसके बन्ध नही होता। उसका कर्मोदय अपना फल देकर निर्जीर्ण होता जाता है, नवीन बन्धका कारण नही होता। कर्मोदय, ज्ञानी जीवके ज्ञानको अन्यथा करनेके लिये समर्थ नही है क्योकि वस्तुका ऐसा स्वभाव है कि वह सदा वस्तुके ही स्वाधीन रहता है, किसी भी तरह उसका अन्यथा परिणमन नही कराया जा सकता ॥१५०॥

आगे यही अर्थ दृष्टान्तके द्वारा दृढ करते हैं—

भुंजंतस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दव्वे।
संखस्स सेदभावो ण वि सक्कदि किण्णगो काउं ॥२२०॥
तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
भुंजंतस्स वि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं ॥२२१॥

जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२२२॥
तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिऊण ।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥२२३॥

अर्थ—जिस तरह शङ्ख यद्यपि नाना प्रकारके सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्योका उपभोग करता है तो भी उसका श्वेतभाव कृष्ण नही किया जा सकता है। उसी तरह ज्ञानी जीव यद्यपि सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्योका उपभोग करता है तो भी उसका ज्ञान अज्ञानभावको प्राप्त नही कराया जा सकता और जिस तरह जिस कालमे वही शङ्ख उस श्वेतभावको छोड़कर कृष्णभावको प्राप्त हो जाता है उस कालमे श्वेतभावको स्वय छोड देता है उसी तरह ज्ञानी जीव भी जिस कालमे उस ज्ञानभावको छोड़ देता है उस कालमे अज्ञानभावसे परिणत हुआ अज्ञानभावको प्राप्त हो जाता है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार निश्चयसे शङ्ख यद्यपि परद्रव्यका उपभोग करता है तो भी जो उसका स्वीय श्वेतभाव है वह परके द्वारा कृष्ण नही किया जा सकता, क्योकि परमे परभावके प्रति निमित्तपनेकी अनुपत्ति है अर्थात् परपदार्थ अपर पदार्थके अन्यथापन करनेकी सामर्थ्यसे शून्य है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव यद्यपि परद्रव्यका उपभोग कर रहा हो तो भी उसका जो स्वीय ज्ञानभाव है वह परके द्वारा अज्ञान नही किया जा सकता, क्योकि परमे परभावके प्रति निमित्तपनकी अनुपपत्ति है अर्थात् परदार्थ अपरपदार्थके अन्यथापन करनेकी सामर्थ्यसे शून्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानीके परकृत अपराधके निमित्तसे बन्ध नही होता है। और जिस प्रकार जिस समय वही शङ्ख परद्रव्यका उपभोग कर रहा हो अथवा न कर रहा हो, श्वेतभावको छोडकर स्वय ही कृष्णभावसे परिणमता है उस समय उसका श्वेतभाव स्वय ही कृष्णभावको प्राप्त होता है। उसी प्रकार जिस समय वही ज्ञानी परद्रव्यका उपभोग कर रहा हो अथवा न कर रहा हो, ज्ञानको छोडकर स्वयमेव अज्ञानभावसे परिणमता है उस समय उसका ज्ञान स्वय ही अज्ञानभावको प्राप्त होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानी जीवके जो बन्ध होता है वह स्वीय अपराधके निमित्तसे ही होता है ॥२२०-२२३॥

आगे यही भाव कलशाके द्वारा दरशाते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचित किंचित्तथाप्युच्यते
बुभुङ्क्षे हन्त न-जातु मे यदि पर दुर्भुक्त एवासि भो ।
बन्ध स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद् ध्रुवम् ॥१५१॥

अर्थ—हे ज्ञानी जीव ! यद्यपि तुझे कभी कर्म करना उचित नही है अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्मका बन्ध करना तेरे योग्य नही है तो भी कुछ कहा जाता है। 'परद्रव्य मेरा कभी नही है' ऐसा कहता हुआ यदि तूँ उसका उपभोग करता है तो खेद है कि तूँ दुर्भुक्त ही अर्थात् खोटा

उपभोग करनेवाला ही है। जो वस्तु तेरी नही उसका उपभोग करना असद् उपभोग ही है। कदाचित तूँ यह कहे कि ज्ञानी जीवके उपभोगसे बन्ध नही होता तो इसके उत्तरमे आचार्य कहते हैं कि तो क्या तेरा कामचार है अर्थात् तेरी इच्छासे बन्ध रुकनेवाला है ? अरे भाई ! ज्ञानरूप होकर निवास कर—ज्ञानके साथ मिले हुए रागादिकको दूरकर मात्र ज्ञाता-द्रष्टा रहकर कार्य कर, तभी बन्धसे बच सकता है अन्यथा निश्चित ही अपने अपराधसे बन्धको प्राप्त होगा।

भावार्थ—निश्चयसे जीव परद्रव्यका न कर्ता है और न भोक्ता है परन्तु अज्ञानी होकर यह परद्रव्यका कर्ता और भोक्ता बन रहा है। ऐसे जीवको आचार्य समझाते है कि हे भाई ! तूँ अपने इस अज्ञानको छोड, तू तो ज्ञानी है अत ज्ञानस्वभावको ही प्राप्त हो, परद्रव्य जब तेरा नही है तब तूँ उसका उपभोग करनेवाला कैसे बनता है ? लोकमे परका उपभोग करना असद् उपभोग कहलाता है। इसके उत्तरमे वह कहता है कि मैं तो ज्ञानी हूँ, परद्रव्यके उपभोगसे मुझे बन्ध नही होगा अत' उपभोग करते हुए भी मेरी हानि नही है। तब आचार्य कहते है कि बन्ध होना और न होना तेरी इच्छा पर निर्भर नही है। इस विषयमे तेरा स्वेच्छाचार नही चल सकता। यदि तूँ ज्ञानी होकर रहेगा अर्थात् अपने ज्ञानमे-से रागादिक विकारीभावोको पृथक् कर देगा तब तो बन्धसे बच सकेगा, अन्यथा अपने इस अपराधसे—रागादिविकारीभावरूप परिणमनसे निश्चित ही बन्धको प्राप्त होगा ॥१५१॥

आगे रागी मनुष्य ही कर्मबन्धको प्राप्त होता है, यह कहते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कर्तारं स्वफलेन यत्किक बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाण फललिप्सुरेव हि फल प्राप्नोति यत्कर्मण ।
ज्ञान सस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशील मुनि ॥१५२॥

अर्थ—क्योकि कर्म अपने करनेवाले कर्ताको जबर्दस्ती अपने फलसे युक्त नही करता, किन्तु फलकी इच्छा रख कर कर्म करनेवाला प्राणी ही कर्मके फलको प्राप्त होता है। इसीलिये ज्ञानरूप होते हुए जिसने रागकी रचनाको दूर कर दिया है तथा कर्मके फलका त्याग करना जिसका स्वभाव है, ऐसा मुनि (ज्ञानी जीव) कर्म करता हुआ भी कर्मसे बद्ध नही होता है।

भावार्थ—वास्तवमे बन्धका कारण अन्तरङ्ग वासना है। जिनसे दर्शनमोहका उपशमादि हो गया है उनके मिथ्यात्वके जानेसे स्वपरभेदज्ञान हो जाता है। वे भेदज्ञानके बलसे परको पर जानते हैं, केवल चारित्रमोह उदयसे नही चाहते हुए भी औदयिक रागादिककी वेदनाके अपहारार्थ रोगनिवृत्तिके लिये औषध सेवनके समान बाह्य भोगोमे यद्यपि प्रवृत्ति करते हैं तो भी स्निग्धताके अभावमे बन्धको प्राप्त नही होते ॥१५२॥

आगे इसी अर्थको दृष्टान्तसे दृढ करते हैं—

पुरिसो जह को वि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवए रायं।
तो सो वि देदि राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२४॥

एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं ।
तो सो वि देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२५॥
जह पुण सो चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं ।
तो सो ण देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२६॥
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवए ण कम्मरयं ।
तो सो ण कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२७॥
(चतुष्कम्)

अर्थ—इस लोकमे जिस प्रकार कोई पुरुष आजीविकाके निमित्त राजाकी सेवा करता है तो वह राजा भी उसके लिये सुख उपजानेवाले नानाप्रकारके भोग देता है। इसी प्रकार यह जीवनामा पुरुष सुखके निमित्त कर्मरूपी रजकी सेवा करता है सो वह कर्म भी उसके लिये सुख उपजानेवाले नानाप्रकारके भोग देता है। यदि वह पुरुष आजीविकाके निमित्त राजाकी सेवा नही करता है तो वह राजा उसके लिये सुख उपजानेवाले नानाप्रकारके भोग नही देता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव विषयोके लिये कर्मरूपी रजकी सेवा नही करता है तो वह कार्य भी उसके लिये सुख उपजानेवाले नानाप्रकारके भोग अर्थात् विपय नही देता है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष फलके अर्थ राजाकी सेवा करता है तो वह राजा उसके लिये फल देता है। उसी प्रकार जीव फलके अर्थ कर्मकी सेवा करता है तो कर्म उसके लिये फल देता है और जिस प्रकार वही पुरुष फलके अर्थ राजाकी सेवा नही करता है तो राजा उसके लिये फल नही देता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव फलके अर्थ कर्मकी सेवा नही करता है तो कर्म उसके लिये फल नही देता है।

ऊपर कलशामे जो कहा गया था कि कर्म किसीको जबर्दस्ती अपने फलसे युक्त नही करता, किन्तु जो फलकी इच्छा रखता हुआ कर्म करता है वही कर्मसे युक्त होता है, वही अर्थ यहाँ दृष्टान्त द्वारा अन्वय-व्यतिरेकसे दृढ किया गया है। जिस प्रकार फलकी इच्छा रखकर सेवा करनेवाले पुरुषको राजा फल प्रदान करता है और फलकी इच्छा न रखकर सेवा करनेवाले-को राजा फल प्रदान नही करता है। इसी प्रकार फलकी इच्छा रखकर कर्म करनेवाले मनुष्यको कर्म फल देता है और फलकी इच्छा न रखकर कर्म करनेवाले मनुष्यको कर्म कुछ भी फल नही देता। तात्पर्य यह है कि इच्छापूर्वक कर्म करनेवाले पुरुषके ही कर्म वन्ध होता है और इच्छाके विना कर्म करनेवाले पुरुषको कर्म वन्ध नही होता। सम्यग्दृष्टि मनुष्य अन्तरङ्गसे रागादिको चाहता नही है किन्तु चारित्रमोहके उदयकी वलवत्तासे आये हुए रागादिसे प्रेरित होकर भोगोप-भोगमे प्रवृत्ति करता है, इसलिये वह बन्धसे रहित कहा गया है ॥२२४-२२७॥

इसी भावको कलशामे प्रकट करते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् ।

तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति क ॥१५३॥

अर्थ—जिसने कर्मका फल त्याग दिया है वह कर्म करता है, इसकी हम प्रतीति नही करते हैं किन्तु इस ज्ञानीके भी किसी कारणसे कुल कर्म इसके वश बिना आ पडते है और उनके आ पडनेपर भी यह ज्ञानी निश्चय परमस्वभावमे स्थित रहता है। इस स्थितिमे ज्ञानी क्या करता है? और क्या नही करता है यह कौन जानता है?

भावार्थ—कर्मका बन्ध, कर्मफलके इच्छुक प्राणीके होता है। जिसने कर्मफलकी इच्छा छोड दी उसे कर्मका बन्ध नही होता। यहाँ सम्यग्दृष्टिजीवको ज्ञानी कहा गया है। यद्यपि ज्ञानीके ज्ञानचेतना है, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना नही है, फिर भी कालान्तरमे जो कर्म अर्जित किये हैं वे उदयमे आकर अपना रस देते हैं, उन्हे यह नही चाहता किन्तु चारित्रमोहके सद्भावमे पराधीनतासे भोगने पडते हैं। भोगनेपर भी अपने परमज्ञानस्वभावमे अकम्प स्थिर रहनेसे वे कर्म, ज्ञानीका कुछ बिगाड़ करनेमे समर्थ नही होते। अतः निष्कर्ष निकला कि ज्ञानी क्या करता है? और क्या नही करता है? इसको कौन जाने? वही जाने ॥१५३॥

आगे ज्ञानी जीव ही निर्भय होते हैं यह कहते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिद कर्तुं क्षमन्ते पर
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्का विहाय स्वय
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुष बोधच्च्यवन्ते न हि ॥१५४॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव ही इस उत्कृष्ट साहसके करनेमे समर्थ होते हैं कि जिसके भयसे विचलित हुए तीन लोकके जीव अपना-अपना मार्ग छोड देते हैं, ऐसे वज्रके पडने पर भी वे स्वभावसे निर्भय होनेके कारण सभी प्रकारकी शङ्काको छोडकर स्वय अपने आपको दूसरेके द्वारा बाधा न जा सके, ऐसे ज्ञानशरीरसे युक्त जानते हुए ज्ञानसे च्युत नही होते।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव नि·शङ्कित गुणका धारक होता है, अत. वह सदा सब प्रकारके भयोसे निर्मुक्त रहता है। जिस वज्रके पडनेपर तीन लोकके जीव भयसे विचलित हो अपना-अपना मार्ग छोड देते हैं, उस वज्रके पडने पर भी सम्यग्दृष्टि सदा यही विचार करता है कि मै तो ज्ञानशरीर हूँ अर्थात् ज्ञान ही मेरा रूप है और ऐसा ज्ञान, जो कि कभी किसीके द्वारा नष्ट नही किया जा सकता, ऐसा विचारकर वह सदा अपने ज्ञानस्वरूपसे च्युत नही होता ॥१५४॥

आगे यही भाव गाथामे दिखाते हैं—

सम्मद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्त-भय-विप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका ॥२२८॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव नि शङ्क होते हैं, इसलिये निर्भय हैं और क्योकि सप्तभयसे निर्मुक्त हैं, इसलिये नि शङ्क हैं।

विशेषार्थ—जिस कारण सम्यग्दृष्टि नित्य ही समस्त कर्मोंके फलकी अभिलाषासे रहित होते हुए कर्मोसे अत्यन्त निरपेक्ष वर्तते है। इसलिये ही जान पड़ता है कि ये अत्यन्त निःशङ्क तीव्र निश्चयरूप होते हुए अत्यन्त निर्भय रहते है ॥२२८॥

आगे सप्तभयके कलशरूप काव्य कहते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

लोक. शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यं लोकयत्येकक. ।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भी. कुतो
निश्शङ्क सततं स्वय स सहज ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५५॥

अर्थ—परसे भिन्न आत्माका जो यह चैतन्यलोक है वह शाश्वत है, एक है, सब जीवोंके प्रकट है। यह एक सम्यग्ज्ञानी जीव ही स्वय इस चैतन्यलोकका अवलोकन करता है। वह विचारता है कि हे आत्मन् ! यह एक चैतन्यलोक ही तेरा लोक है, इससे भिन्न दूसरा कोई लोक तेरा नही है, तब तुझे उसका भय कैसे हो सकता है। ऐसा विचारकर ज्ञानी जीव निरन्तर नि:शङ्करूपसे स्वाभाविक ज्ञानको स्वयं ही प्राप्त होता है।

भावार्थ—इस काव्यमे ज्ञानीके इस लोक तथा परलोक दोनोका भय नही होता है, यह कहा गया है। इस लोक अर्थात् वर्तमान पर्यायमे मुझे कष्ट न उठाना पडे, ऐसा भय होना इस लोकका भय है और परलोक अर्थात् आगामी पर्यायमे मुझे कष्ट न भोगना पडे, ऐसा भय होना परलोकका भय है। सो ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि मै समस्त कर्म, नोकर्म आदिसे भिन्न पृथग्द्रव्य हूँ, चैतन्य ही मेरा स्वरूप है, यह चैतन्य ही मेरा लोक है, मेरा यह चैतन्यलोक शाश्वत है—कभी नष्ट होने वाला नही है, इसलिये मुझे न इस लोकका भय है और न परलोकका भय है। शरीर अवश्य नाशको प्राप्त होता है, पर वह मेरा कब है ? मै चैतन्यका पुञ्ज हूँ और यह शरीर जड अर्थात् ज्ञानदर्शनसे शून्य पुद्गलद्रव्य है, इसके नाशसे मेरा कुछ नष्ट होने वाला नही है। इसलिये ज्ञानी जीव सदा नि शङ्क होकर स्वाभाविक ज्ञान स्वरूपको ही प्राप्त होता है—उसी प्रकार अनुभव करता है।

ससारमें ये प्राणी निरन्तर भयभीत रहते है। न जाने ये लोक मेरी कैसी दुर्दशा करेंगे, अत· निरन्तर इनके अनुकूल रहनेकी प्रवृत्ति करता है। न जाने, यह राजलोक मेरे ऊपर कौन-सी आपत्ति ला पटकेंगे, अत· निरन्तर उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टामे मग्न रहता है। न जाने, परलोकमे कहाँ जाऊँगा, भद्रजन्म हो तो अच्छा, इसके अर्थ निरन्तर नानाप्रकारके दानादि कर परलोकमे निःशङ्क होनेकी चेष्टा करता है। परन्तु सम्यग्ज्ञानी विचार करता है कि मेरा तो चेतना ही लोक है, उसीका आत्माके साथ नित्य तादात्म्य है जो किसी काल और किसी शक्तिके द्वारा पृथक् नही किया जा सकता है। अत· चाहे मै यहाँ रहूँ, चाहे परलोकमे जाऊँ, मेरा गुण मुझसे भिन्न नही हो सकता। अतः सम्यग्ज्ञानी जीवके इस लोक और परलोकका भय नहीं है। तत्त्वदृष्टिसे विचारो तो ज्ञानगुणकी जो जानन क्रिया है वह कभी भी उसे छोड़कर भिन्न नही हो सकती और परपदार्थका उसमे प्रवेश नही हो सकता। मात्र ज्ञानकी स्वच्छता ही एक ऐसी

अनुपम है कि उसमे ज्ञेय प्रतिभासमान होते है। अथवा ज्ञेय क्या प्रतिभासमान होते हैं ? वह तो ज्ञानका ही परिणाम है परन्तु हम व्यवहारसे ऐसा मानते हैं कि हमने परपदार्थको जाना। जब ऐसी ज्ञानकी सामर्थ्य है कि उसमे परपदार्थका प्रवेश नही तब न कोई पदार्थ सुखका कर्ता है और न कोई पदार्थ दु खका कर्ता है ॥१५५॥

शार्दूलविक्रीडितछंद

एषैकेव हि वेदना यदचल ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेक सदानाकुलै. ।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भी. कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्क सतत स्वयं स सहज ज्ञान सदा विन्दति ॥१५६॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानी जीवोके यही एक वेदना है कि वे सदा निराकुल रहकर अभेदरूपसे उदित वेद्यवेदकभावके बलसे अविचल—कभी नष्ट नही होने वाले ज्ञान का स्वयं वेदन करते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं। ज्ञानीके अन्य पदार्थकी वेदना नही है तब उसे वेदनाका भय कैसे हो सकता है ? वह तो सदा नि शङ्क होता हुआ स्वाभाविक ज्ञानको ही प्राप्त होता है, उसका अनुभव करता है।

भावार्थ—इस काव्यमे वेदनाभयका वर्णन है। सुख-दु खका अनुभव करना सो वेदना है। परन्तु सम्यग्ज्ञानी जीवको ऐसा सुख-दु खका अनुभव नही होता। यह सुख-दु खका विकल्प स्वाभाविक न होकर मोहकर्मके उदयसे जायमान अशुद्ध अनुभूति है। ज्ञानी जीव विचार करता कि मोहकर्मके विपाकसे जायमान सुख-दु ख मेरे स्वभाव नही है, इसलिये मुझे तद्विषयक आकुलता से क्या प्रयोजन ? अत वह सदा निराकुल रहकर एक ज्ञानस्वभावका ही वेदन करता है और वह भी अभेद वेद्यवेदकभावकी सामर्थ्यसे अर्थात् वेदन करने वाला भी आत्मा है और जिसका वेदन करता है वह वेद्य भी आत्मा ही है। ज्ञानानुभूतिके सिवाय कर्मोदयसे आगत अन्य अनुभूति मेरा स्वाभव नही है, तब मुझे उस विषयका भय भी कैसे हो सकता है ? कर्मके उदयसे जो सुख-दु खकी अनुभूति होती है उसे मै अपना स्वभाव नही मानता, तब मुझे उन कल्पित अनुभूतियोसे होने वाले सुख-दु खकी चिन्ता ही क्या है। एक ज्ञान ही मेरा स्वभाव है, इसलिये उसीका वेदन मैं करता हूं, ऐसा विचारकर सम्यग्ज्ञानी जीव सदा वेदनाभयसे रहित होता है ॥१५६॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरै ।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्क सतत स्वय स सहजं ज्ञान सदा विन्दति ॥१५७॥

अर्थ—जो सत् स्वरूप है वह नाशको प्राप्त नही होता, इस नियमसे वस्तुकी मर्यादा प्रकट है। ज्ञान सत्स्वरूप है इसलिए वह स्वय ही रक्षित है। इसके लिए दूसरे पदार्थोसे क्या प्रयोजन है ? इसकी रक्षा किसीसे नही हो सकती। इसलिये ज्ञानी पुरुषोको भय कैसे हो सकता

है ? वह तो निरन्तर नि·शङ्क रहता हुआ स्वय सहज–स्वाभाविक ज्ञानको ही सदा प्राप्त होता है—उसीका अनुभव करता है।

भावार्थ—जो सत् है उसका कभी नाश नही होता, ऐसी निश्चयसे वस्तु-मर्यादा है और ज्ञान जो है सो स्वयं ही सत्स्वरूप है। इसलिये इसकी रक्षाके अर्थ अन्यकी आवश्यकता नही है। इस ज्ञानकी अरक्षा करनेमे कोई भी वस्तु समर्थ नही है। अतएव ज्ञानी जीवको इसकी रक्षाके अर्थ किसीसे भी भय नही होता है। स्वय जो अपना सहज ज्ञान है उसीका अनुभव करता है। ज्ञानीके ऐसा निश्चय है कि सत्पदार्थ स्वय स्वरूपसे ही रक्षित है। कोई भी शक्ति इसका अभाव करनेमे समर्थ नही है। अत. इसी भावको लेकर ज्ञानीके किसीका भय नही रहता है। निरन्तर जो अपना स्वाभाविक ज्ञान है उसीका अनुभव करता है।

इस काव्यमे अरक्षाभयका वर्णन है। ज्ञानी जीव समझता है कि ज्ञान ही मेरा स्वरूप है उसको करनेकी सामर्थ्य किसीमे नही है। शरीरादिक परपदार्थ हैं—पुद्गलद्रव्यकी परिणतियाँ हैं। उनके नाशसे मेरे ज्ञानस्वभावका नाश नही होता, इसलिये मुझे अरक्षाका भय नही है ॥१५७॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

स्व रूप किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्ति. स्वरूपे न य-
च्छक्त· कोऽपि पर. प्रवेष्टुमकृत ज्ञान स्वरूप च नु. ।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भी. कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्क· सतत स्वय स सहज ज्ञान सदा विन्दति ॥१५८॥

अर्थ—निश्चयसे वस्तुका जो स्वीयरूप है वही उसकी परमगुप्ति है क्योंकि स्वीयरूपमें कोई भी परपदार्थ प्रवेश करनेके लिये समर्थ नही है। आत्माका स्वरूप अकृत्रिम ज्ञान है इसलिये इसकी कोई भी अगुप्ति नही है। फिर ज्ञानी जीवको अगुप्तिका भय कैसे हो सकता है ? वह तो निरन्तर नि शङ्क रहता हुआ स्वय सहज ज्ञानको ही सदा प्राप्त होता है—उसीका अनुभव करता है।

भावार्थ—वस्तुका जो स्वीय स्वरूप है वही परमगुप्ति है, उसमे अन्यका प्रवेश नही हो सकता। पुरुषका स्वीयस्वरूप ज्ञान है। इसकी अगुप्ति किसीके द्वारा नही हो सकती, इसीसे ज्ञानी जीवके किसीसे भी कुछ भी भीति नही रहती है। वह तो निशङ्क होता हुआ निरन्तर अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभवन करता है। लोकमे मनुष्य अपनी रक्षाके अर्थ गढ, कोट, परिखा आदि बनाते हैं जिसमे शत्रुओका प्रवेश न हो और अपने धनादिककी गुप्ति रहे, परन्तु आत्माका जो धन है वह ज्ञान है, उसमे अन्य पदार्थोका प्रवेश नही है वह स्वय गुप्ति स्वरूप ही है। इसीसे ज्ञानी जीव निरन्तर निर्भीक होते हुए स्वात्मस्वरूपमे मग्न रहते हैं। ऐसा नियम है कि—

जो जह्मि गुणे दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे ।
तं अण्णमसंकमतो कहं तु परिणामए दव्व ॥

अर्थात् जो वस्तु जिस गुण अथवा द्रव्यमे वर्तती है वह अन्य द्रव्यमें सक्रमण नही करती—अन्य द्रव्यरूप पलटकर नही वर्तती। जब यह अन्य द्रव्यरूप सक्रमण नही करती तब उसे अन्यरूप कैसे परिणमा सकती है।

जब यह नियम है तब ज्ञानी जीव परपदार्थसे अपना उपयोग हटाकर स्वकीय ज्ञान-स्वरूपकी ओर ही लगाता है। ज्ञानीका ज्ञानस्वरूप कभी नष्ट नही होता। इसलिये वह सदा अगुप्तिभयसे दूर रहता है। लोकमे धनादिका नाश होता है। पर ज्ञानी उन्हे अपना नही मानता ॥१५८॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरण प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञान तत्स्वममेव शाश्वततया नो छिद्यते जातुचित् ।
तस्यातो मरण न किञ्चन भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्क. सततं स्वय स सहजं ज्ञान सदा विन्दति ॥१५९॥

अर्थ—प्राणोके उच्छेदको मरण कहते हैं, निश्चयसे इस आत्माके प्राण ज्ञान हैं, ज्ञान स्वयमेव शाश्वत है। इसलिये कभी नष्ट नही होता, इसलिये ज्ञानीका कुछ भी मरण नही होता, फिर उसे मरणका भय कैसे हो सकता है? वह तो निरन्तर नि शङ्क रहता हुआ स्वय सहज ज्ञानको ही सदा प्राप्त होता है—उसीका अनुभव करता है।

भावार्थ—प्राणोके उच्छेदको मरण कहते हैं। इस आत्माका प्राण ज्ञान है, यह ज्ञान नित्य है, इसका कभी भी नाश नही होता, इससे जब इसका मरण ही नही तब सम्यग्ज्ञानीको किसका भय? वह तो निरन्तर स्वीय ज्ञानका ही अनुभव करता है। लोकमे इन्द्रियादिक प्राणोके वियोगको मरण कहते हैं, इन्हीको द्रव्यप्राण कहते है। यह जो द्रव्यप्राण हैं वे पुद्गलके निमित्तसे जायमान होनेके कारण पौद्गलिक हैं। वास्तवमे आत्माके प्राण ज्ञानादिक है, उन ज्ञानादिक प्राणोका कभी भी नाश नही होता। अतएव जो ज्ञानी जीव है, उन्हे मरणका भय नही होता। वे तो निरन्तर अपने ज्ञानका ही अनुभव करते है ॥१५९॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एक ज्ञानमनाद्यनन्तमचल सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिद सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदय ।
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्क सतत स्वय स सहज ज्ञान सदा विन्दति ॥१६०॥

अर्थ—आत्माका जो ज्ञान है वह एक है, अनादि, अनन्त और अचल है तथा स्वयं सिद्ध है, वह सर्वदा ही रहता है, उसमे अन्य उदय नही है। इसलिये इस ज्ञानमे कुछ भी आकस्मिक नही है, तब ज्ञानी जीवको उसका भय कैसे हो सकता है? वह तो निरन्तर नि शङ्क रहता हुआ स्वयं सहज ज्ञानको ही सदा प्राप्त होता है—उसीका सदा अनुभव करता है।

भावार्थ—जो अनुभवमे नही आया, ऐसा कोई भयका कारण उपस्थित हो जावे, उसे आकस्मिक भय कहते हैं। सम्यग्ज्ञानी जीवका ऐसा निर्मल विचार है कि हमारा जो ज्ञानस्वभाव है वह एक अनादि, अनन्त, अचल तथा स्वय सिद्ध है। उसमे अन्यका उदय नही हो सकता।

अतः भयके कारणोका अभाव होनेसे वह निरन्तर निर्भीक रहता हुआ अपने आत्मस्वरूपमे लीन रहता है ॥१६०॥

मन्दाक्रान्ताछन्द

टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाज
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म ।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति वन्ध.
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चित निर्जरैव ॥१६१॥

अर्थ—टाँकीसे उकेरे हुए के समान शाश्वत स्वभावसे युक्त ज्ञानरूपी सर्वस्वको प्राप्त जो सम्यग्दृष्टि जीव है उसके नि शङ्कितत्वादि लक्षण, इस जगत्मे समस्त कर्मोंको नष्ट करते हैं, इसलिये इस ज्ञानरूप सर्वस्वके प्रकट होनेपर सम्यग्दृष्टि जीवके कर्मका थोडा भी वन्ध नही होता है। किन्तु पूर्वोपार्जित कर्मका अनुभव करते हुए उसके निश्चितरूपसे निर्जरा ही होती है।

भावार्थ—टङ्कोत्कीर्ण और स्वरससे भरे हुए ज्ञानरूप सर्वस्वका भोग करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीवके जो नि.शङ्कता आदि गुण हैं वे सब कर्मोका हनन करते हैं। इसके होनेपर उसके फिर नवीन कर्मोका वन्ध नही होता है। पूर्वोपार्जित कर्मके विपाकका अनुभव करनेवाला जो सम्यग्ज्ञानी जीव है, उसके रागका अभाव होनेसे निर्जरा ही होती है, नवीन बन्ध नही होता। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वोपार्जित भय आदि प्रकृतियोका उदय आनेपर भी सम्यग्दर्शनकी सामर्थ्यसे ज्ञानी जीवके स्वरूपसे विचलित नही होता। अत वह निरन्तर नि शङ्क रहता है। उसकी पूर्वबद्ध प्रकृतियाँ उदय देकर निर्जराभावको प्राप्त हो जाती है ॥१६१॥

आगे सम्यग्दृष्टि जीवके नि.शङ्क आदि गुणोका वर्णन करते हैं। उनमें सर्वप्रथम नि:शङ्कगुणका निरूपण करते हुए गाथा कहते हैं—

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे ।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२२९॥

अर्थ—जो आत्मा कर्मवन्धके कारण मोहके उत्पादक मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप चारो पायोको छेदता है वह नि:शङ्कगुणका धारक सम्यग्दृष्टि जानननेके योग्य है।

विशेषार्थ—जिस कारण सम्यग्दृष्टि जीव, टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावसे तन्मय होनेके कारण कर्मवन्धकी शङ्का करनेवाले मिथ्यात्व आदि भावोका अभाव हो जानेसे निःशङ्क है, इसीसे इसके शङ्का द्वारा बन्ध नही होता है, प्रत्युत निर्जरा ही होती है। सम्यग्दृष्टि जीवके कर्मका उदय आता है, परन्तु उसके आनेपर यह उसका स्वामी नही वनता। अत वह कर्म अपना रस देकर झड़ जाता है, आसक्तिके अभावसे वन्धका प्रयोजक नही होता है ॥२२९॥

आगे नि:कांक्षितगुणका निरूपण करते हुए गाथा कहते है—

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु ।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३०॥

अर्थ—जो आत्मा कर्मोंके फलोंमे तथा समस्त धर्मोमे कांक्षा नही करता है, वह नि काड्क्ष गुणका धारक सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है।

विशेषार्थ—जो पञ्चेन्द्रियोके विषयसुख स्वरूप कर्मफलो तथा समस्त वस्तुधर्मके अभिलाषाको नही करता है, ऐसा वह सम्यग्दृष्टि जीव ही नि.कांक्षित अङ्गका धारी होता है।

जिस कारण सम्यग्दृष्टि जीव टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभाववाला है, इसी स्वभाव के बलसे उस सम्यग्दृष्टि जीवके सम्पूर्ण कर्मफलोमे और सम्पूर्ण वस्तुधर्मोमे आकाक्षाका अभाव है। अतएव आकाक्षाकृत बन्ध उसके नही है, प्रत्युत निर्जरा ही होती है।

साताकर्मके उदयमे रतिके सम्बन्धसे हर्ष होता है, इसीसे यह प्राणी साताके उदयमे सुपुत्र, कलत्रादि अनुकूल सामाग्री के उदयमे रतिकर्मके सम्बन्धसे अपनेको सुखी मानता है और निरन्तर इस भावनाको भाता है कि सम्बन्ध इसी रूपसे सदैव बना रहे, विघट न जावे। और जब असाताका उदय आता है तब उसके साथ ही अरतिका उदय रहनेसे विषाद मानता है अर्थात् असाताके उदयमे अनिष्ट पुत्र, कलत्रादिक प्रतिकूल सामग्रीके सद्भावमे अरतिकर्मके उदयसे अपनेको दुखी मानता है और निरन्तर यही भावना रखता है कि कब इन अनिष्ट पदार्थोका सम्बन्ध मिट जावे ? परन्तु जिस जीवके सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है वह इनके उदयमे हर्ष-विषाद नही करता, इन्हे कर्मकृत जान इनकी अभिलाषा नही करता, इसीसे उसके वाञ्छाकृत बन्ध भी नही होता ॥२३०॥

आगे निर्विचिकित्सागुणका वर्णन करते हुए गाथा कहते हैं—

जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३१॥

अर्थ—जो आत्मा सम्पूर्ण वस्तुधर्मोमे ग्लानिको नही करता है, वह निश्चयकर विचि-कित्सा—ग्लानिदोषसे रहित सम्यग्दृष्टि जाननेके योग्य है।

विशेषार्थ—जिस कारण सम्यग्दृष्टि जीवके टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावसे तन्मयपना है उसीसे उसके सम्पूर्ण वस्तुधर्मोमे जुगुप्सा (ग्लानि) का अभाव होनेसे निर्जुगुप्सा अङ्ग है। इसीलिये इस जीवके ग्लानिसे किया हुआ बन्ध नही होता, किन्तु निर्जरा ही होती है।

जब जुगुप्साका उदय आता है तब मिथ्यादृष्टि जीव अपवित्र पदार्थोंको देखकर ग्लानि करता है और सम्यग्ज्ञानी जीव वस्तुस्वरूपका वेत्ता होनेके कारण समदर्शी होता हुआ ग्लानिसे रहित रहता है ॥२३१॥

आगे अमूढदृष्टिगुणका वर्णन करते हुए गाथा कहते हैं—

जो हवइ असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३२॥

अर्थ—जो जीव सम्पूर्ण पदार्थोमे असमूढ रहता है अर्थात् मूढता नही करता है। किन्तु सदृष्टि रहता है अर्थात् समीचीन दृष्टिसे उन पदार्थोंको जानता है। वह निश्चयसे अमूढदृष्टि-अङ्गका धारक सम्यग्दृष्टि होता है।

विशेषार्थ—जिस कारण सम्यग्दृष्टि जीव टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकभावसे तन्मय होनेके कारण निखिल पदार्थोमे मोहाभाव होनेसे अमूढदृष्टि रहता है अर्थात् यथार्थ दृष्टिका धारक होता है। इस कारण इस अमूढदृष्टिके द्वारा किया हुआ बन्ध नही है किन्तु निर्जरा ही है।

सम्यग्ज्ञानी जीव सम्पूर्ण पदार्थोंको यथार्थ जानता है। अत उसके विपरीत अभिप्राय नष्ट हो जाता। विपरीत अभिप्रायके नष्ट हो जानेसे मिथ्यात्वके साथ होने वाला रागद्वेष नही होता है। इसीलिये उसके अनन्त ससारका बन्ध नही होता है। चारित्रमोहके उदयसे विना अभिप्रायके जो रागद्वेष होता है वह ससारकी अल्पस्थितिके लिये होता है तथा उत्तम गतिका ही कारण होता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीवके तिर्यञ्च और नरक आयुका बन्ध नही होता है ॥२३२॥

आगे उपगूहनगुणका वर्णन करते हुए गाथा कहते हैं—

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३३॥

अर्थ—जो सिद्ध भक्तिसे युक्त है और सम्पूर्ण धर्मोका गोपन करनेवाला है। वह जीव उपगूहनअङ्गका धारी सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावका सद्भाव है। इसीसे उसके सम्पूर्ण आत्म शक्तियोका विकास हो गया है। यही कारण है कि इस सम्यग्दृष्टि जीवके शक्ति की दुर्बलता प्रयुक्त बन्ध नही होता है, किन्तु निर्जरा ही होती है।

यहाँ पर सिद्ध भगवान्मे जब सम्यग्दृष्टि अपने उपयोगको लगाता है तब अन्य पदार्थोंमे उपयोगके न जानेसे स्वयमेव उसका उपयोग निर्मल हो जाता है, इससे उसके विकास वृद्धि होती है और इसीसे इस गुणको उपवृहण कहते हैं तथा उपगूहन नाम छिपानेका है सो जब अपना उपयोग सिद्ध भगवान्के गुणोमे अनुरागी होता है तब अन्यत्रसे उसका उपगूहन स्वयमेव हो जाता है, इसीसे उसमे निर्मलता आती है। और उस निर्मलताके कारण ही शक्तिकी दुर्बलतासे होने वाला बन्ध नही होता है ॥२३३॥

आगे स्थितीकरणगुणका वर्णन करते हुए गाथा कहते हैं—

उम्मग्गं गच्छंतं सगं पि मग्गे ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३४॥

अर्थ—जो जीव उन्मार्गमे चलते हुए आत्माको भी मार्गमे स्थापित करता है वह ज्ञानी स्थितीकरण अङ्गसे सहित सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है।

विशेषार्थ—क्योकि सम्यग्दृष्टि जीव, टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावसे तन्मय होनेके कारण मार्गसे च्युत हुए अपने आपको मार्गमे ही स्थित करता है। इसलिये वह स्थितीकरण अङ्गका धारक होता है और इसीसे इसके मार्गच्यवनकृत बन्ध नही होता है अर्थात् न च्युत होता है और अतएव न बन्ध होता है, किन्तु निर्जरा ही होती है।

यदि अपना आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्रात्मक मोक्षमार्गसे च्युत हो जावे तो उसे फिर उसीमे स्थित करना, इसीका नाम स्थितीकरण अङ्ग है। सम्यग्दृष्टि जीव अङ्गका धारक होता है, इसीसे इसके मार्गसे छूटने रूप बन्ध नही होता, किन्तु उदयागत कर्मके स्वयमेव झड जानेसे निर्जरा ही होती है ॥२३४॥

आगे वात्सल्यगुणका वर्णन करते हुए गाथा कहते हैं—

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्हि।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३५॥

अर्थ—जो निश्चयसे मोक्षमार्गके साधक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमे वात्सल्यभाव करता है अथवा व्यवहारसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके आधारभूत आचार्य, उपाध्याय और साधु महात्मामे वात्सल्यभावको करता है, वह वात्सल्य अङ्गका धारी सम्यग्दृष्टि जाननेके योग्य है।

विशेषार्थ—क्योकि सम्यग्दृष्टि जीव टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावसे तन्मय रहता है। इसलिये वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको अपने आपसे अभिन्न देखता है। इसीसे मार्गवत्सल कहलाता है और इसीसे इसके मार्गके अनुपलम्भ प्रयुक्त बन्ध नही होता है, किन्तु निर्जरा ही होती है।

वात्सल्य नाम प्रेमभावका है। सो जिनके मोक्षमार्गका मुख्य साधनीभूत सम्यग्दर्शन हो गया उसके मार्गमे स्वभावसे ही प्रेम है। अत. मार्गके अभावमे जो बन्ध होता है वह इसके नही होता ॥२३५॥

आगे प्रभावनागुणका वर्णन करते हुए गाथा कहते हैं—

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३६॥

अर्थ—जो आत्मा विद्यारूपी रथपर चढकर मानरूपी रथके मार्गमे भ्रमण करता है, वह जिन भगवान्के ज्ञानकी प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है।

विशेषार्थ—क्योकि सम्यग्दृष्टिजीव, टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावसे तन्मय है, इसीसे ज्ञानकी सम्पूर्ण शक्तिके विकासद्वारा ज्ञानकी प्रभावनाका जनक है अतएव उसे प्रभावना अङ्गका धारी कहा है और इसीसे ज्ञानके अपकर्षसे हुआ बन्ध नही होता, किन्तु निर्जरा ही होती है।

बाह्यमे प्रभावना जिनबिम्बपञ्चकल्याणक आदि सत्कार्योंसे होती है और निश्चय-प्रभावना सम्यग्ज्ञानके पूर्ण विकाससे आत्माकी जो वास्तविक दशाकी प्राप्ति है वही है ॥२३६॥

आगे इन आठ गुणोके उपसहारस्वरूप कलश कहते है—

मन्दाक्रान्ताछन्द

रुन्धन् बन्ध नवमिति निजै संगतोऽष्टाभिरङ्गै-
प्राग्बद्ध तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन।
सम्यग्दृष्टि स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्त
ज्ञान भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्ग विगाह्य ॥१६२॥

अर्थ—इस प्रकार जो अपने आठ अङ्गोंसे सहित होता हुआ नवीन बन्धको रोक रहा है, और निर्जराकी वृद्धिसे जो पूर्वबद्ध कर्मोके क्षयको प्राप्त करा रहा है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव स्वय स्वाभाविकरूपसे आदि, मध्य और अन्तसे रहित ज्ञानरूप होकर आकाशके विस्ताररूप रङ्गस्थलमे प्रवेशकर नृत्य कर रहा है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव नि शङ्कितत्व आदि आठ अङ्गोके द्वारा आत्मामे विशेष निर्मलता-को प्राप्त होता है। उस निर्मलताके कारण उसके नवीन बन्ध रुक जाता है और गुणश्रेणी निर्जराकी प्राप्तिसे पूर्वबद्ध कर्मोका क्षय करता जाता है। इस तरह सवर और निर्जराके प्रभावसे ज्ञानावरणादि कर्मोका क्षयकर वह स्वय ही उस स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप हो जाता है जो आदि, मध्य और अन्तसे रहित है। आदि, मध्य और अन्तसे रहित ज्ञान केवलज्ञान है। यही ज्ञान आत्माका स्वाभाविक ज्ञान है। ज्ञानी जीव इसी केवलज्ञानस्वरूप होकर लोकाकाश और अलोका-काशके भेदसे द्विविधरूपताको प्राप्त अनन्त आकाशरूपी रङ्गभूमिमे प्रवेशकर अर्थात् लोकालोक-गत ज्ञेयोको अपना विषय बनाकर परमानन्दमे निमग्न रहता है।

यहाँ सम्यग्दृष्टि जीवके जो नवीन कर्मोके बन्धका अभाव वतलाया है, वह उपशान्तमोह, क्षीणमोह आदि गुणस्थानवर्ती जीवोकी अपेक्षा है। चतुर्थादि गुणस्थानमे जो बन्ध होता है, वह मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धीका अभाव हो जानेसे अनन्त ससारका कारण नही, इसलिये उसकी विवक्षा नही की गई है। इस ससारमें भ्रमणका मूल कारण मोहनीय कर्म है, उसके दो भेद है—एक दर्शनमोह और दूसरा चारित्रमोह। इसी मोहके सद्भावको पाकर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय, ये भी आत्माके ज्ञान, दर्शन और वीर्यको घातते है। यद्यपि ज्ञानावरणकर्मके उदयमे आत्माके ज्ञानका उदय नही होता, अज्ञानभाव रहता है तथापि उससे आत्माकी कुछ भी मर्मभेदकरी हानि नही होती। किन्तु ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे आत्माके ज्ञानगुणका जो विकास हुआ है वह यदि दर्शनमोहके उदयसे जन्य मिथ्यात्वका सहकार पा जावे तब एकादशाङ्गका पाठी होकर भी मोक्षमार्गसे च्युत रहता है। यद्यपि वह तत्त्वार्थका यथार्थ निरूपण करता है मन्द कषायके उदयसे प्रबलसे प्रबल उपसर्ग करनेवालोसे द्वेष नही करता है, ज्ञानावरणादिकर्मोके क्षयोपशमसे जो ज्ञान-दर्शन प्राप्त हुआ है उसका कुछ भी मद नही करता है, अन्तरायके क्षयोपशम-से जो शक्तिका उदय हुआ है उसका भी कोई अभिमान नही करता, साता आदि पुण्यप्रकृतियोके उदयसे जो सुभगादि रूप आदि सामग्रीका लाभ हुआ है उसमे कोई अहकार नही करता तथा बडे-बड़े राजा आदि गुणोके द्वारा आपपर मुग्ध है उसका भी कोई मद नही करता तथापि दर्शन-मोहका उदय उसके अभिप्रायको ऐसा मलीमस करता रहता है कि मोक्षमार्गमे उसका प्रवेश नही हो पाता। अतएव मोक्षमार्गकी प्राप्तिके लिये दर्शनमोहके उदयसे जन्य अभिप्रायकी मलिनताका त्याग करना सर्वप्रथम कर्त्तव्य है ॥१६२॥

इस तरह निर्जरा रङ्गभूमिसे बाहर निकल गई।

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित समयप्राभृतमे निर्जराका वर्णन करनेवाले छठवें अधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ।।६॥

७. बन्धाधिकारः

अब बन्ध प्रवेश करता है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

[1]रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडन्तं रसभारनिर्भरमहानाट्येन बन्धं धुनत् ।
आनन्दामृतनित्यभोजिसहजावस्थां स्फुटं नाटयद्
धीरोदारमनाकुलं निरुपधिज्ञानं समुन्मज्जति ॥१६३॥

अर्थ—रागद्वेषादिके उद्गार (तीव्रोदय) रूप महारसके द्वारा समस्त जगत्को प्रमत्तकर रसके समूहसे परिपूर्ण महानाट्यके द्वारा क्रीडा करते हुए बन्धतत्त्वको जो दूर कर रहा है, आनन्दरूपी अमृतका जो निरन्तर उपभोग करता है, आत्माकी सहज—स्वाभाविक अवस्थाको जो स्पष्टरूपसे प्रकट कर रहा है, धीर है, उदार है, आकुलता रहित है, तथा उपाधि रहित है ऐसा ज्ञान प्रकट होता है।

भावार्थ—ससारका कारण बन्ध है और बन्धका कारण रागादिककी तीव्रता है, इस रागादिककी तीव्रतारूपी मदिराके नशासे समस्त ससार मतवाला हो रहा है, संसारमे बन्ध ही सब अपना रसपूर्ण महानाट्य दिखला रहा है। इस बन्धसे मुक्ति दिलानेवाला आत्माका सहज ज्ञान है, उस सहज ज्ञानके प्रकट होने पर आत्माकी सहज—स्वाभाविक दशा अनुभवमे आने लगती है तथा दु:खोको उत्पन्न करनेवाले जो विकारी भाव हैं उनसे निवृत्ति होने लगती है। अत वह ज्ञान निरन्तर आनन्दरूपी अमृतका उपभोग करानेमे तत्पर होता है। दर्शनमोहजन्य विकारभावके निकल जानेसे वह ज्ञान धीर, उदार तथा अनाकुल होता है, तथा सब प्रकारकी उपाधियोसे रहित होता है। जिस प्रकार वायुका प्रबल वेग धूलिके समूहको दूर उडा देता है उसी प्रकार यह सहजज्ञान बन्धको दूर उड़ा देता है। जहाँ बन्ध दूर हुआ वहाँ मोक्ष अनायास ही प्राप्त हो जाता है। अत सहजज्ञानको प्राप्त करनेका पुरुषार्थ करना चाहिये ॥१६३॥

आगे राग बन्धका कारण है, यह दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हुए गाथा कहते हैं—

जह णाम को वि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि ।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहिं वायामं ॥२३७॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥२३८॥

---

१ रागशब्द उपलक्षणं तेन द्वेषमोहादीनामपि ग्रहणं, तस्य उद्गार आधिक्यं स एव महारस उन्मादकरस तेन रागोद्गारमहारसेन ।

उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किं पच्चयगो दु रयबंधो ॥२३९॥

जो सो दु णेहभावो तह्मि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥२४०॥

एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु ।
रायाई उवओगे कुव्वंतो लिप्पइ रयेण ॥२४१॥

अर्थ—'नाम' शब्द सत्यार्थमे अव्यय है। जिस प्रकार कोई पुरुष अपने शरीरमे तेलका मर्दन कर रेणुबहुल भूमिमे स्थित होकर शस्त्रोके द्वारा व्यायाम करता है तथा ताड़वृक्ष, कदलीवृक्ष और बाँसके घनीभूत पिण्डको छेदता है, भेदता है और सचित्त, अचित्त द्रव्योका उपघात करता है। नानाप्रकारके शस्त्रोके द्वारा उपघात करनेवाले उस पुरुषके जो धूलिका बन्ध हो रहा है वह किस कारणसे हो रहा है, यह निश्चयसे विचार करने योग्य है। इसका उत्तर आचार्य देते हैं कि उस पुरुषमे जो तेलका सम्बन्ध है उसीसे उसके धूलिका बन्ध हो रहा है, यह निश्चयसे जाननेके योग्य है। उस पुरुषकी काय आदिकी चेष्टाओ व शस्त्रोकी क्रिया आदिसे धूलिका बन्ध नही हो रहा है। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि बहुत प्रकारकी चेष्टाओमे प्रवृत्त होता हुआ भी बन्धको प्राप्त नही होता, किन्तु उपयोगमे रागादिको करता हुआ कर्मरूपी रजसे लिप्त होता है—बन्धको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—इस लोकमे जैसे कोई पुरुष स्नेहका मर्दनकर स्वभावसे ही जिस प्रदेशमे धूलिकी प्रचुरता है वहाँ पर शस्त्रोके द्वारा व्यायाम करता है और अनेक प्रकारके करणो (शस्त्रादि) द्वारा सचित्त तथा अचित्त वस्तुओका घात करता हुआ धूलिसे बन्धभावको प्राप्त होता है। अब यहाँ पर बन्धका क्या कारण है, यह विचारणीय है। स्वभावसे धूलिकी प्रचुरता जिसमे है, ऐसी भूमि बन्धका कारण नही है क्योकि ऐसा माननेसे जिनके शरीरमे स्नेहका अभ्यङ्ग नही है उनके भी धूलिबन्धका प्रसङ्ग हो जावेगा। शस्त्रादिके द्वारा जो व्यायामकर्म है वह भी बन्धका कारण नही है क्योकि जिनके शरीरमे स्नेहका अभ्यङ्ग नही है, उन पुरुषोके भी शस्त्रव्यायायकर्मसे बन्धकी प्रसक्ति आवेगी। अनेक प्रकारके जो कारण है वे भी बन्धके कारण नही हैं क्योकि जिनके शरीरमे स्नेहका अभ्यङ्ग नही है उन पुरुषोके भी उन कारणोंके द्वारा बन्ध होने लगेगा। और सचित्त-अचित्त वस्तुओका जो उपघात है वह भी बन्धका कारण नही है क्योकि जिनके शरीरमे स्नेहका अभ्यङ्ग नही है उनके सचित्ताचित्त पदार्थोके घात होनेपर बन्ध होने लगेगा। इसलिये न्यायके बलसे यह आया कि उस पुरुषके शरीरमे जो स्नेहका अभ्यङ्ग है वही बन्धका कारण है। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि, अपने आत्मामे रागादिकको करता हुआ स्वभावसे ही कर्मयोग्य पुद्गलोंके द्वारा भरे हुए लोकमे काय, वचन और मनकी क्रियाको करता है और अनेक प्रकारके कारणोके द्वारा वस्तुओका घात करता हुआ कर्मरूपी धूलिसे बन्धभावको प्राप्त होता है। अब यहाँ प्रश्न होता है कि उस मिथ्यादृष्टिके बन्धका क्या कारण है ? स्वभावसे ही कर्मयोग्य पुद्गलोसे भरा हुआ जो यह लोक है, वह तो बन्धका कारण नही हो सकता, क्योकि उस लोकमे स्थित जो सिद्ध

भगवान् है उनके भी बन्धका प्रसङ्ग आवेगा। काय, वचन और मनका व्यापार भी बन्धका कारण नही हो सकता, क्योकि यदि ऐसा माना जावे तो यथाख्यातसंयमीके भी काय, वचन और मनके व्यापारसे बन्ध होने लगेगा। अनेक प्रकारके जो कारण हैं वे भी बन्धके कारण नही है क्योकि इनके सद्भावमे केवली भगवान्के भी बन्धकी प्रसक्ति हो जावेगी। और सचित्त तथा अचित्त वस्तुओका घात भी बन्धका हेतु नही है क्योकि जो मुनि ईर्यासमिति आदिमे सावधान हैं उनके भी सचित्ताचित्त वस्तुका घात होनेपर बन्ध होने लगेगा। इसलिये न्यायके बलसे यह आया कि उपयोगमे जो रागादिकोकी एकता है वही बन्धका कारण है ॥२३७-२४१॥

यही भाव कलशामे कहते हैं—

पृथ्वीछन्द

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत्।
यदैक्यमुपयोगभू: समुपयाति रागादिभि:
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥१६४॥

अर्थ—न तो कर्मकी प्रचुरतासे व्याप्त जगत् ही बन्धका कारण है, न परिस्पन्दात्मक कर्म अर्थात् योग बन्धका कारण है, न अनेक प्रकारके करण बन्धके कारण है और न चित् अचित् वस्तुका घात भी बन्धका निमित्त है, किन्तु रागादिकोंके साथ उपयोगकी जो एकभूमिता है वही निश्चयसे जीवोके बन्धका कारण है।

भावार्थ—यहाँपर बन्धका वास्तविक कारण आत्माके अशुद्धभाव—रागादिकभावोको ही कहा है और जो निमित्तकारण हैं उन्हे गौण कर दिया है। यदि तत्त्वसे देखा जावे तो यही आता है। अन्तरङ्गमे यदि मलिनता नही तो बाह्यमे नानाप्रकारके परिणमन होते हुए भी आत्मा नही बँधती। जैसे अध्यापक शिष्यको अध्ययन कराते समय नानाप्रकारके अवाच्य शब्दोका प्रयोग करता है तथा नानाप्रकारके शारीरिक दण्ड आदिका भी प्रयोग करता है फिर भी उसे कोई अपराधी नही मानता, क्योकि उसका अभिप्राय विरुद्ध नही है। इसी तरह मन-वचन-कायके व्यापारोमे कषायके विना बन्धकी कारणता नही है ॥१६३॥

आगे यही बात व्यतिरेकदृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वम्हि अवणिये संते।
रेणुबहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायामं ॥२४२॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥२४३॥
उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्जहु किं पच्चयगो ण रयबंधो ॥२४४॥

जो सो अणेहभावो तम्हि णरे तेण तस्सऽरयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्टाहिं सेसाहिं ॥२४५॥
एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु ।
अकरंतो उवओगे रागाइ ण लिप्पइ रयेण ॥२४६॥
(पंचकम्)

अर्थ—जिस प्रकार फिर वही मनुष्य जब तेलादिक सम्पूर्ण वस्तुओका अपनयन कर देता है और निःस्नेह होकर उसी रेणुबहुल प्रदेशमे शस्त्रोके द्वारा व्यायामक्रिया करता है, तालवृक्ष, तथा बाँसोके भिडेको छेदता है, भेदता है, तथा सचित्त-अचित्त पदार्थोका उपघात करता है। नानाप्रकारके करणो द्वारा उपघात करनेवाले उस पुरुषके निश्चयसे विचार करो, ऐसा कौन-सा कारण है कि जिससे उसके धूलिका बन्ध नही होता ? तब यही निर्धार होता है कि बन्धका कारण स्नेहका सम्बन्ध है। जिसके स्नेह हैं उसके बन्ध है और जिसके स्निग्धताकी सत्ता नही है वह धूलिसे नही बँधता। इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव मन-वचन-कायरूप नानाप्रकारके योगोमे स्थिर रह कर भी उपयोगमे रागादिक नही करता है, इसीसे वह कर्मरूपी रजसे लिप्त नही होता अर्थात् उसके बन्ध नही होता।

विशेषार्थ—जैसे वही पुरुष जब सर्व स्नेहको शरीरसे पृथक् कर देता है और तदनन्तर जो स्वभावसे ही रजकी बहुलतासे विशिष्ट है उसी भूमिमे शस्त्रो द्वारा वही व्यायाम करता है और उन्ही अनेक प्रकारके करणो द्वारा सचित्ताचित्त वस्तुओ का घात करता है फिर भी धूलिके साथ बन्धको प्राप्त नही होता है क्यो कि बन्धका, कारण जो स्नेहाभ्यङ्ग (तैलका मर्दन) था उसका उसके अभाव है। ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव आत्मामे रागादिक नही करता हुआ स्वभावसे ही कर्मयोग्य पुद्गलो की बहुलतासे भरे हुए लोकमे मन-वचन-कायके द्वारा वही कर्म करता है और उन्ही नाना प्रकारके करणो के द्वारा सचित्त-अचित्त वस्तुओ का घात करता है फिर भी ऐसा करता हुआ भी बन्धके कारणभूत रागादिक परिणामो के अभावसे कर्मरूपी धूलिसे नही बँधता है ॥२४२-२४६॥

यही बात श्रीअमृतचन्द्रस्वामी कलशाद्वारा प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

लोक. कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन् करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत् ।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन् केवलं
बन्ध नैव कुतोऽप्युपेत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम् ॥१६५॥

अर्थ—कर्मोसे व्याप्त लोक रहे, मन-वचन-कायके चलनरूप योग रहे, पूर्वोक्त करण भी रहे और वह सचित्ताचित्त वस्तुओं का व्याघात भी रहे, तो भी जो रागादिकको उपयोगकी भूमिमे नही ला रहा है, तथा मात्र ज्ञानरूप हो रहा है, ऐसा यह सम्यग्दृष्टि जीव निश्चयसे किसी भी कारणसे बन्धको प्राप्त नही होता। अहो ! सम्यग्दृष्टिकी अद्भुत महिमा देखो।

भावार्थ—बन्धका मूल कारण कषाय है, कार्मणवर्गणासे भरा हुआ लोक बन्धका कारण नही है, मन-वचन-कायके व्यापार बन्धके जनक नही हैं, करण भी बन्धके कारण नही हैं और चित्-अचित् पदार्थोंका घात भी बन्धका कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव एक ज्ञानरूप ही परिणमन करता है, उसे रागादिकसे मलिन नही होने देता। इसलिये उसके बन्ध नही होता। सम्यग्दर्शनकी ऐसी ही अद्‌भुत महिमा है ॥१६५॥

पृथ्वीच्छन्द

तथापि न निरर्गल चरितुमिष्यते ज्ञानिना
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृति.।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिना
द्वय न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥१६६॥

अर्थ—यद्यपि कार्मणवर्गणासे भरा हुआ लोक आदिक बन्धका कारण नही है, यह कहा गया है तो भी ज्ञानीजनो को स्वच्छन्द प्रवृत्ति करना इष्ट नही है क्यो कि वह स्वच्छन्द प्रवृत्ति तो बन्धका स्थान ही है। ज्ञानीजनो का अनिच्छापूर्वक किया हुआ जो कर्म है वह बन्धका अकारण माना गया है अर्थात् उससे बन्ध नही होता। जीव करता है और जानता है ये दोनो निश्चयसे क्या विरुद्ध नही हैं ? अर्थात् अवश्य ही विरुद्ध हैं।

भावार्थ—कोई यह समझे कि ज्ञानीजनो को बन्ध नही होता, इसलिये स्वच्छन्द प्रवृत्ति करनेमे हानि नही है ? इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते है कि रे भाई ! स्वच्छन्द प्रवृत्ति तो बन्धका ही स्थान है। ज्ञानीजनो के अनिच्छापूर्वक जो कार्य होता है वह बन्धका कारण नही है। परन्तु स्वच्छन्द प्रवृत्ति तो अनिच्छापूर्वक नही है, वह तो स्पष्ट ही इच्छापूर्वक है। और जहाँ इच्छा है वहाँ रागादिकका सद्भाव अवश्यभावी है। इसलिये स्वच्छन्द प्रवृत्तिको कभी अङ्गीकृत नही करना चाहिये। जहाँ मात्र जानना ही रहता है, कर्तृत्व समाप्त हो जाता है वहाँ बन्ध नही होता। परन्तु जहाँ इच्छापूर्वक कर्तृत्व विद्यमान है वहाँ मात्र जानना नही रहता और इसलिये वहाँ बन्धका अभाव नही होता ॥१६६॥

आगे कर्तृत्व और ज्ञातृत्वका परस्पर विरोध दिखाते है—

वसन्ततिलकाछन्द

जानाति य स न करोति करोति यस्तु
जानात्यय न खलु तत्किल कर्म, राग ।
राग त्वबोधमयमध्यवसायमाहु—
मिथ्यादृश. स नियतं स हि बन्धहेतु. ॥१६७॥

अर्थ—जो जानता है वह करता नही है और जो करता है वह जानता नही है। करनेवालेका जो कर्म है वह निश्चयसे राग है और रागको अज्ञानमय अध्यवसाय कहते हैं, मिथ्यादृष्टि जीवके यह अध्यवसाय नियमसे रहता है और वही उसके बन्धका कारण है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव पदार्थको मात्र जानता है। उसके साथ राग-द्वेष नही करता और मिथ्यादृष्टि जीव पदार्थको जानता हुआ साथमे राग-द्वेष भी करता है। मिथ्यादृष्टि जीवका

यह राग-द्वेष परमार्थसे अज्ञानमय रहता है। इसे ही आचार्योंने अध्यवसाय कहा है। यह अध्यवसाय ही मिथ्यादृष्टिके बन्धका कारण माना गया है। सम्यग्दृष्टि जीवके ऐसा अध्यवसाय नही रहता, इसलिये उसके बन्ध नही होता। सम्यग्दृष्टि जीव पदार्थको मात्र जानता है, अपने आपको उसका कर्ता नही मानता और मिथ्यादृष्टि जीव पदार्थको जानता हुआ उसका अपने आपको कर्ता मानता है, इसलिये वह मात्र ज्ञाता नही होता। जहाँ मात्र ज्ञातृत्व है वहाँ बन्ध नही होता और जहाँ कर्तृत्व भी साथमें लगा रहता है वहाँ बन्ध अवश्य होता है ॥१६७॥

अब मिथ्यादृष्टिका अभिप्राय गाथामें कहते हैं—

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥

अर्थ—जो जीव ऐसा मानता है कि मैं परजीवोंको मारता हूँ और परजीवोंके द्वारा मै मारा जाता हूँ, ऐसा मानने वाला जीव मूढ है तथा अज्ञानी है। परन्तु ज्ञानी जीव इससे विरुद्ध है अर्थात् न तो मै ही किसीका घात करने वाला हूँ और न परके द्वारा मेरा ही घात होता है, ऐसा वह मानता है।

विशेषार्थ—मै परजीवोको मारता हूँ और परजीवोके द्वारा मै मारा जाता हूँ ऐसा जो अध्यवसाय भाव है वह निश्चयसे अज्ञान है। ऐसा अज्ञानभाव जिसके है वह अज्ञानी होनेसे मिथ्यादृष्टि है।

जिनके आशयमे ऐसा निश्चय हो गया है कि मै परजीवोंका घात करने वाला हूँ और परजीव मेरा घात करने वाले है, यही उनका अज्ञानभाव है क्योंकि इसके अभ्यन्तरमे कर्तृत्व-भावका सद्भाव होनेसे ज्ञानभावकी विकृतावस्था रहती है। इसीसे आचार्योंने इसे बन्धका पात्र बताया है ॥२४७॥

अब यह अध्यवसाय अज्ञान क्यों है, इसका उत्तर कहते हैं—

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं ॥२४८॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं ॥२४९॥
(युग्मम्)

अर्थ—जीवोका मरण आयुःकर्मके क्षयसे होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहा गया है। जब तुम परकी आयुका हरण करनेमें समर्थ नही हो, तब तुमने उन जीवोका मरण कैसे किया? आयुःकर्मका क्षय होनेसे जीवोका मरण होता है, ऐसा जिनवरदेवोके द्वारा कहा गया है। तुम्हारी आयुको जब अन्य हरण करनेमे समर्थ नही तब अन्यके द्वारा तुम्हारा मरण किस प्रकार किया गया?

विशेषार्थ—जीवोंका जो मरण है वह स्वकीय आयुःकर्मके क्षयसे होता है क्योकि उसके

अभावमे मरणका होना असम्भव है। और अन्यका अपना आयुकर्म अन्यके द्वारा हरण नही किया जा सकता, क्योकि स्वकीय उपभोगसे ही उसका क्षय होता है। इससे यह निश्चय हुआ कि पुरुष अन्य पुरुषका मरण किसी भी तरह नही कर सकता। जब यह बात है तब मैं परकी हिंसा करता हूँ और परके द्वारा मेरी हिंसा की जाती है, ऐसा अध्यवसाय निश्चय अज्ञान है ॥२४८-२४९॥

फिर पूछते हैं कि मरणके अध्यवसायको अज्ञान कहा, यह तो जान लिया, अब मरणका प्रतिपक्षी जो जीवनका अध्यवसाय हैं उसकी क्या कथा है, इसका उत्तर देते हैं—

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५०॥

अर्थ—जो आत्मा ऐसा मानता है कि परजीवोको मैं जीवित करता हूँ तथा परजीवोके द्वारा मैं जीवित किया जाता हूँ वह मूढ है, अज्ञानी है और ज्ञानी इससे विपरीत है।

विशेषार्थ—परजीवोको जिवाता हूँ और परजीवोके द्वारा मै जिवाया जाता हूँ ऐसा जो अध्यवसाय है वह निश्चयसे अज्ञानभाव है। ऐसा अज्ञानभाव जिस जीवके है वह अज्ञानी होनेसे मिथ्यादृष्टि है और जिसके यह अज्ञानभाव नहीं है वह ज्ञानी होनेसे सम्यग्दृष्टि है।

बहुतसे जीव मोहबुद्धिके वशीभूत होकर ऐसा मानते हैं कि हम परप्राणियोकी जीवनक्रियाके कर्ता हैं। यदि हम उन्हे आश्रय न देते तो उनका जीवन रहना कठिन था। ऐसे ही मोहके आवेगमे आकर यह मानने लगते हैं कि परकी सहायतासे हम जीवन-रक्षा कर रहे हैं। यदि अमुक व्यक्ति हमारी रक्षा न करते तो हमारा जीना ही कठिन था। यह सब मानना मिथ्याध्यवसाय है। परन्तु ज्ञानी जीवका विचार इससे विपरीत रहता है। वह ऐसा विचार करता है कि प्राणियोका जीवन उनके आयु कर्मके आधीन है। परके जीवनमे हम, और हमारे जीवनमे पर, केवल निमित्तकारण हैं, सो भी बाह्य उपकारकी अपेक्षासे है। जैसे 'अन्न वै प्राणा', 'घृत वै आयु', 'अय मे कुलदीपक' 'सिंहो माणवक' आदि उपचारसे व्यवहार होता है वैसे ही यहाँ जानना चाहिये। यहाँ निमित्तकारणको गौणकर जीवन-मरणका मूल कारण जो आयुःकर्मका सद्भाव और असद्भाव है उसकी प्रधानतासे कथन किया गया है। अज्ञानी जीव मूलकारणकी ओर लक्ष्य न देकर केवल निमित्तकारणकी ओर दृष्टि देते हुए जो कर्तृत्वका अध्यवसाय करते हैं उसका निषेध करना लक्ष्य है ॥२५०॥

अब यह अध्यवसायभाव अज्ञान क्यों है ? इसीका समाधान करते हैं—

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीवियं कय तेसिं ॥२५१॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एव भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं ॥२५२॥

(युग्मम्)

अर्थ—आयु:कर्मके उदयसे जीव जीता है, ऐसा सर्वज्ञदेव कहते है और तुम परकी आयुको देते नही, फिर कैसे तुम्हारे द्वारा उन जीवो—पुरुषोका जीवन किया गया ?

आयु:कर्मके उदयसे जीवका जीवन है, ऐसा सर्वज्ञदेव कहते है और परजीव तुम्हारी आयु देते नही, तब उनके द्वारा तुम्हारा जीवन कैसे किया गया ?

विशेषार्थ—जीवोंका जीवन अपने आयु:कर्मके उदयसे ही होता है क्योकि उसके अभावमें जीवनका होना असम्भव है और अन्यका आयु कर्म अन्यके द्वारा नही दिया जा सकता, क्योकि उसका बन्ध अपने ही परिणामोसे किया जाता है। इसीसे किसी भी प्रकारसे अन्य पुरुषके द्वारा अन्य पुरुषका जीवन नही हो सकता। अतएव जो यह अध्यवसाय है कि मै किसीको जिवाता हूँ और किसीके द्वारा मै जिवाया जाता हूँ, यह निश्चित ही अज्ञान है ॥२५१-२५२॥

आगे दुःख और सुख करनेके अध्यवसायको भी यही गति है, यह कहते है—

जो अप्पणा दु मण्णदि दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५३॥

अर्थ—जो आत्मा ऐसा मानता है कि मै अपने आपके द्वारा इन जीवोंको दुखी और सुखी करता हूँ वह मूढ है, अज्ञानी है, और ज्ञानी इससे विपरीत है।

विशेषार्थ—परजीवोको मै दुःखी करता हूँ तथा सुखी करता हूँ और परजीवोके द्वारा मै दुखी तथा सुखी किया जाता हूँ, ऐसा जो अध्यवसायभाव है वह निश्चयसे अज्ञान है। यह अज्ञान-भाव जिसके है वह अज्ञानी होनेसे मिथ्यादृष्टि है और जिसके यह अज्ञानभाव नही है वह ज्ञानी होनेसे सम्यग्दृष्टि है ॥२५३॥

आगे यह अध्यवसायभाव अज्ञान क्यो है ? इसका समाधान करते हैं—

कम्मोदयेण जीवा दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिद-सुहिदा कहं कया ते ॥२५४॥
कम्मोदयेण जीवा दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं ॥२५५॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं ॥२५६॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—सभी जीव अपने-अपने कर्मके उदयसे दुःखी और सुखी होते है। तुम उनके कर्मोको देते नही, तब तुम्हारे द्वारा वे दुखी और सुखी कैसे किये गये ? सम्पूर्ण जीव स्वकीय-स्वकीय कर्मोके द्वारा दुःखी और सुखी होते हैं, अन्य जीव तुम्हे कर्म देते नही, तब उनके द्वारा तुम दुःखी कैसे किये गये ?

सकल जीव निज-निज कर्मोके उदयसे दुःखी और सुखी होते हैं। अन्य जीव तुम्हे कर्म देते नही, फिर उनके द्वारा तुम सुखी कैसे किये गये ?

विशेषार्थ—सुख और दु:ख जोवोको अपने कर्मोके विपाकसे ही होते हैं। यदि साता-असाताका उदय और सहकारी कारण रति और अरतिरूप मोहकर्मका उदय न हो, तो सुख और दु:खकी उत्पत्ति नही बन सकती और जिस जीवका सुख-दु:ख देनेवाला जो साता और असाता कर्म है उसे अन्य जीव देनेके लिये असमर्थ हैं क्योकि वह कर्म अपने ही परिणामोसे उपार्जित होता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि किसी प्रकारसे भी अन्य जीवको अन्य जीव सुख-दु:ख नही दे सकता। अतएव जो ऐसा मानते हैं कि मै अन्य जीवोको सुखी और दु:खी करता हूँ तथा अन्य जीव मुझे सुखी और दु:खी करते हैं उनका यह अध्यवसायभाव है जो निश्चयसे अज्ञान है ॥२५४-२५६॥

आगे यही भाव कलशामे दिखाते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदु:खसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु पर: परस्य
कुर्यात् पुमान् मरणजीवितदु:खसौख्यम् ॥१६८॥

अर्थ—सभी कालमे प्राणियोके मरण-जीवन-दु:ख-सुख आदि जो कुछ विभावपरिणमन है वह सम्पूर्ण स्वोपार्जित कर्मके उदयसे होता है और जो ऐसा मानता है कि परपुरुष परके मरण, जीवन, दु:ख और सुखको करता है, इस लोकमे यह उसका अज्ञान है।

भावार्थ—ससारमे प्रत्येक प्राणीको जो जीवन, मरण, सुख अथवा दु:ख प्राप्त होता है वह उसके कर्मोदयके अनुसार ही प्राप्त होता है। इसमे अन्तरङ्ग कारण सबका अपना-अपना कर्मोदय है। अन्य पुरुष निमित्तकारण हैं। उसे यहाँ गौणकर कथन किया गया है ॥१६८॥

वसन्ततिलकाछन्द

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यन्ति ये मरणजीवितदु:खसौख्यम्।
कर्माण्यहङ्कृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥१६९॥

अर्थ—इस अज्ञानभावको प्राप्त होकर जो प्राणी परसे परका मरण, जीवन, दु:ख और सुखका अवलोकन करते हैं वे अहकाररससे मदोन्मत्त होकर कर्म करनेके इच्छुक होते हुए निश्चयसे मिथ्यादृष्टि आत्मघाती हैं।

भावार्थ—परजीव परको सुख-दु:ख करता है, यह अज्ञान है। इस अज्ञानके वशीभूत होकर जो परद्रव्यका कर्तृत्व अपने ऊपर लेते हैं वे मिथ्यादृष्टि आत्माके शुद्ध स्वभावके घातक होनेसे आत्मघाती है ॥१६९॥

अब यही भाव गाथा द्वारा प्रकट करते हैं—

जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५७॥

जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु ।
तम्हा ण मारिदो ण दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८॥
(जुगलम्)

अर्थ—जो मरता है और जो दुःखी होता है वह सब अपने कर्मके उदयसे होता है, इसलिये मैने इसे मारा अथवा दुःखी किया, ऐसा अभिप्राय क्या मिथ्या नही है? जो नही मरता है तथा दुःखी नही होता है वह भी निश्चयकर अपने कर्मोदयसे ही। इससे तुम्हारा जो अभिप्राय है कि हमने नही मारा तथा हमने दुःखी नही किया वह क्या मिथ्या नही है?

विशेषार्थ—निश्चयसे जो मरता है, दुःखी होता है अथवा सुखी होता है वह अपने कर्मोदयसे ही इन सब अवस्थाओंको प्राप्त होता है। यदि वैसा कर्मका उदय न हो तो ये सब अवस्थाएँ नही हो सकती है। इससे 'यह मेरे द्वारा मारा गया अथवा यह हमारे द्वारा जीवित्त किया अथवा दुःखी किया गया या सुखी किया गया' ऐसा जिसका श्रद्धान है वह मिथ्यादृष्टि है ॥२५७-२५८॥

अब यही भाव कलशामें प्रकट करते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात् ।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्मास्य दृश्यते ॥१७०॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीवके जो यह अज्ञानात्मक अध्यवसायभाव देखा जाता है वही स्वरूपसे विपरीत होनेके कारण बन्धका हेतु है।

भावार्थ—परजीव, परको जिवाता है, मारता है, सुखी करता है तथा दुःखी करता है, ऐसा भाव अज्ञानमयभाव है। ऐसा मिथ्यादृष्टि जीवके होता है तथा बन्धका कारण है ॥१७०॥

आगे यही अध्यवसाय बन्धका कारण है, यह कहते हैं—

एसा दु जा मई दे दुःखिद-सुहिदे करेमि सत्तेति ।
एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कम्मं ॥२५९॥

अर्थ—हे आत्मन्! तुम्हारी जो यह मति है कि मै प्राणियोंको दुःखी अथवा सुखी करता हूँ सो तुम्हारी यही मूढमति शुभ-अशुभ कर्मको बाँधती है।

विशेषार्थ—मैं परजीवोको मारता हूँ अथवा नही मारता हूँ, दुःखी करता हूँ अथवा सुखी करता हूँ, इस प्रकारका मिथ्यादृष्टि जीवके जो अज्ञानमय अध्यवसायभाव है वह स्वयं रागादिरूप होनेसे उसके शुभ-अशुभ बन्धका कारण होता है ॥२५९॥

अब अध्यवसाय ही बन्धका हेतु है, ऐसा नियम करते हैं—

दुक्खिद-सुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६०॥

मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
त पाववंधगं वा पुण्णस्स व वंधगं होदि ॥२६१॥
(युग्मम्)

अर्थ—तेरा जो यह अध्यवसाय है कि मैं प्राणियोको दु खी अथवा सुखी करता हूँ, सो यह अध्यवसाय ही पाप और पुण्यका वन्ध करनेवाला होता है। इसी प्रकार जो तेरा यह अध्यवसाय है कि मैं प्राणिको मारता हूँ, अथवा जिवाता हूँ, सो तेरा यह अध्यवसाय ही पाप और पुण्यका वन्ध करनेवाला है।

विशेषार्थ—मिथ्यादृष्टि जीवके अज्ञानसे जायमान जो यह रागमय अध्यवसायभाव है, वही बन्धका हेतु है, ऐसा निश्चय करना चाहिये। पुण्य और पापके भेदसे वन्ध दो प्रकारका है, इसलिये वन्धका अन्य कारण खोजने योग्य नही है, क्योकि इस एक ही अध्यवसाय भावसे मै दु खी करता हूँ, मारता हूँ, सुखी करता हूँ, अथवा जीवित करता हूँ। इस तरह दो प्रकारके शुभ और अशुभ अहकाररससे भरे हुए होनेके कारण पुण्य और पाप दोनोके बन्धहेतुपनमे विरोध नही है।

यह जो अज्ञानमय अध्यवसायभाव है यही बन्धका कारण है। उसमे जहाँ जीवनदान देने या सुखी करनेका अभिप्राय है वहाँ तो शुभ अध्यवसाय और जहाँ मारनेका या दु खी करनेका अभिप्राय है, वहाँ अशुभ अध्यवसाय है। ऐसी वस्तुस्थिति होनेसे अहकाररूप अज्ञानभावकी समानता दोनोमे है। अत यह न जानना कि शुभ बन्धका कारण अन्य है और अशुभ बन्धका कारण अन्य है। पर अज्ञानकी अपेक्षा दोनों एक ही हैं ॥२६०-२६१॥

इसी प्रकार हिंसाका अध्यवसाय ही हिंसा है, यह सिद्ध हुआ, यह कहते हैं—

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो वधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥२६२॥

अर्थ—प्राणियोको मारो, चाहे मत मारो, अध्यवसायभावसे ही बन्ध होता है, निश्चयनयका सक्षेपसे जीवोके बन्धके विषयमे यह निश्चित सिद्धान्त है। तात्पर्य यह है कि प्राणीका घात होवे अथवा मत होवे, यदि मारनेका अभिप्राय है तो नियमसे बन्ध है। यदि कोई जीव किसी जीवको मारना चाहता है और वह जीव स्वकीय आयुकर्मके निमित्तसे नही मरता तो भी मारनेके अभिप्रायवाला पापभागी होता ही है।

विशेषार्थ—परजीवोका स्वकीय कर्मोदयकी विचित्रतासे कदाचित् प्राणका वियोग होवे अथवा न होवे, किन्तु 'मै इसे मारता हूँ' ऐसा जो अहकारसे भरा हुआ हिंसाके विषयमे अध्यवसायभाव है वह भाव ही निश्चयसे उस जीवके बन्धका जनक है। परमार्थसे परके प्राणव्यपरोपणमे परकी सामर्थ्य नही है ॥२६२॥

आगे अध्यवसायभाव ही पुण्य और पापके बन्धका कारण है, यह दिखाते हैं—

एवमलिये अदत्ते अवंमचेरे परिग्गहे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु वज्झए पाव ॥२६३॥

तहवि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गगहत्तणे चेव ।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पुण्णं ॥२६४॥

(युग्मम्)

अर्थ—जिस प्रकार हिंसाका अध्यवसाय कहा, उसी प्रकार मिथ्याभाषण, अदत्तग्रहण, अब्रह्मचर्य और परिग्रहके विषयमें जो अध्यवसान किया जाता है उससे पापबन्ध होता है तथा सत्यभाषण, दत्तग्रहण, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहके विषयमे जो अध्यवसान किया जाता है उससे पुण्यबन्ध होता है ।

विशेषार्थ—इसप्रकार अज्ञानसे जैसा हिंसाके विषयमें यह अध्यवसायभाव किया जाता है वैसा ही असत्य, अदत्त, अब्रह्म और परिग्रहके विषयमे जो अध्यवसाय किया जाता है वह सब केवल पापबन्धका हेतु है और अहिंसाके विषयमे जैसा अध्यवसाय किया जाता है वैसा ही सत्य-दत्त-ब्रह्म और अपरिग्रहके विषयमे जो अध्यवसाय किया जाता है वह सब केवल पुण्यबन्धका हेतु है ।

भाव यह है कि जैसे हिंसामें अहकाररससे भरे हुए मलिनभावसे पापका बन्ध होता है । वैसे ही झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रहमे भी अहकाररससे पूरित जो कर्तृत्वभाव है वह भी पापका जनक है । इसीतरह अहिंसामे होने वाला कर्तृत्वभाव जिसप्रकार पुण्यका जनक है उसीतरह सत्यभाषण, दत्तग्रहण, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहमे भी होनेवाला कर्तृत्वभाव पुण्यका जनक है ।

आगे अध्यवसानभाव ही बन्धका कारण है, बाह्य वस्तु बन्धका कारण नहीं है, यह कहते हैं—

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं ।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधो त्थि ॥२६५॥

अर्थ—जीवोके जो अध्यवसान होता है वह यद्यपि बाह्य वस्तुकी अपेक्षा होता है फिर भी बाह्य वस्तुसे बन्ध नही होता, अध्यवसानभावके ही द्वारा बन्ध होता है ।

विशेषार्थ—अध्यवसानभाव ही बन्धका कारण है, बाह्य वस्तु बन्धका कारण नही होती । बाह्य वस्तु, बन्धका कारण जो अध्यवसानभाव है उसके हेतुपनसे ही चरितार्थ होती है । जिस-प्रकार इन्द्रियाँ ज्ञानकी उत्पत्तिमे कारण है परन्तु अज्ञानकी निवृत्तिमें ज्ञान ही कारण है । इसी-प्रकार बाह्य वस्तु अध्यवसानकी उत्पत्तिमे कारण है परन्तु बन्धमे अध्यवसानभाव ही कारण है । यहाँ प्रश्न होता है कि जब बाह्य पदार्थ बन्धमे कारण नही तब उनका प्रतिषेध करनेसे क्या लाभ है ? इसका उत्तर यह है कि अध्यवसानके निषेधके अर्थ बाह्य पदार्थोका निषेध है क्योकि अध्यव-सानभावका आश्रयभूत बाह्य पदार्थ है । बाह्य पदार्थके आश्रयके विना अध्यावसान अपने आत्म-लाभको नही कर सकता है । यदि बाह्य वस्तुके आश्रयके विना भी अध्यवसानभावकी उत्पत्ति हो जावे तो जैसे यह अध्यवसानभाव होता है कि मै वीरजननीके पुत्रको मारूँ वैसे ही बन्ध्या पुत्रको मै मारूँ, ऐसा भी अध्यवसानभाव होने लगेगा । परन्तु ऐसा अध्यवसानभाव होता नही, क्यो वीरजननीके पुत्रकी तरह बन्ध्यापुत्रका सद्भाव नही । अतः वीरप्रसविनी माताके पुत्रको

जैसे मैं मारूँ, ऐसा अध्यवसानभाव होता है वैसा वन्ध्यापुत्रको मारनेका अध्यवसानभाव नहीं होता, क्योंकि वन्ध्यापुत्र अलीक है और अलीकका अध्यवसान नहीं होता। इससे यह नियम है कि निराश्रय अध्यवसानभाव नहीं होता। अतः अध्यवसानका आश्रयभूत बाह्य वस्तुका अत्यन्त प्रतिषेध आचार्योंने बताया है, क्योंकि हेतुके निषेधसे हेतुमान्का भी निषेध हो जाता है। यद्यपि बाह्य वस्तु बन्धके कारणका कारण है तो भी बाह्य वस्तु बन्धका जनक नहीं है। जैसे ईर्यासमितिमें सावधान यतीन्द्रके पदसे कोई कालका प्रेरा सूक्ष्म जीव यदि मरणको भी प्राप्त हो जावे तो भी ईर्यासमितिमे सावधान यतीन्द्रके तन्मरण सम्बन्धी बन्ध नहीं होता। अतः बाह्य वस्तु बन्धके हेतुमे नियमरूपसे हेतु भी नहीं है क्योंकि यहाँपर बाह्य क्रिया तो हो गयी परन्तु अध्यवसान नहीं हुआ। अतएव बाह्य पदार्थ जीवका तद्भाव न होनेसे बन्धका कारण नहीं है, अध्यवसान ही जीवका तद्भाव है। अतः वही बन्धका कारण है ॥२६५॥

इसप्रकार बन्धके कारणपनसे निर्धारित जो अध्यवसानभाव है, उसके स्वार्थक्रियाकारित्व का अभाव होनेसे मिथ्यापनको दिखाते हैं—

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढमई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥२६६॥

अर्थ—हे जीव! तेरी जो यह मूढ बुद्धि है कि मैं जीवोको दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ, बाँधता हूँ तथा छोड़ता हूँ, यह सब निरर्थक है, अतएव निश्चयसे मिथ्या है।

विशेषार्थ—परजीवोको मैं दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ, बन्धनमे डालता हूँ तथा छोड़ देता हूँ, यह जो अध्यवसानभाव हैं सो वे सभी अध्यवसानभाव परपदार्थमे अपना व्यापार करनेको असमर्थ है। इसीसे इसके स्वार्थक्रियाकारित्वका अभाव है। अतएव इस अध्यवसानभावके 'आकाशके फूलको चयन करता हूँ' इस अध्यवसानकी तरह मिथ्यारूपता ही है और वह केवल आत्माके अनर्थके लिये ही है ॥२६६॥

अब अध्यवसान स्वार्थक्रियाकारी क्यों नहीं है, यह दिखाते हैं—

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करोसि तुमं ॥२६७॥

अर्थ—यदि जीव अध्यवसानके निमित्तसे कर्मोंके द्वारा बन्धको प्राप्त होते हैं और यदि मोक्षमार्गमे स्थित होकर कर्मोसे छूट जाते हैं, तो तूँ क्या करता है?

विशेषार्थ—निश्चयकर मैं बँधता हूँ अथवा छुड़ाता हूँ, ऐसा जो अध्यवसानभाव है, इसकी स्वार्थक्रिया जीवोको बँधाना और छुडाना है, परन्तु जीव तो इस अध्यवसानभावका सद्भाव होनेपर भी स्वकीय; सराग, वीतराग परिणामोंके अभावसे न बँधता और न छूटता है अर्थात् किसी जीवने यह अध्यवसानभाव किया कि यह बन्धको प्राप्त हो जावे अथवा ऐसा भाव किया कि अमुक जीव कर्मबन्धनसे छूट जावे, परन्तु उस जीवके उसप्रकारका भाव होनेसे न तो वह जीव बँधता है और न छूटता है और यदि उन जीवोंके सराग तथा वीतराग परिणाम हो जावे, तो इस अध्यव-

सानभावका अभाव होनेपर भी वे जीव बँध जाते हैं और छूट जाते हैं, अतएव यह अध्यवसानभाव परमे अकिञ्चित्कर होनेसे स्वार्थक्रियाकारी नही है, इसीसे मिथ्या है ॥२६७॥

अब इस निष्फल अध्यवसानका कार्य बतानेके लिये कलशा कहते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

अनेनाध्यवसानेन निष्फलेन विमोहित. ।
तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥१७१॥

अर्थ—इस निष्फल अध्यवसानभावके द्वारा मोहित हुआ आत्मा, ऐसा कुछ नही है जिस रूप अपनेको न करता हो ।

भावार्थ—इस अध्यवसानभावके कारण यह जीव अपने आपमे सबका कर्तृत्व प्रकट करता है ॥१७१॥

आगे इसी अर्थको गाथामें कहते हैं—

सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए।
देवमणुये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं ॥२६८॥
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोयलोयं च।
सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥२६९॥
(जुगलं)

अर्थ—जीव अध्यवसानभावके द्वारा सम्पूर्ण तिर्यञ्च, नारकी, देव और मनुष्य सभीको अपने रूप करता है और अनेक प्रकारके पुण्य-पापको तथा धर्म-अधर्म, जीव-अजीव और लोक-अलोक इन सभीको जीव अध्यवसानके द्वारा आत्मस्वरूप करता है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार यह जीव जब हिंसाका अध्यवसान करता है अर्थात् 'मैं इसे मारूँ' ऐसा अभिप्राय करता है तब अपनेको हिंसक बनाता है उसी प्रकार असत्यभाषण, आदिके अध्यवसानसे अपनेको असत्यभाषी आदि करता है। तथा उदयमें आये हुए नारकभावके अध्यवसायसे अपने आपको नारक, उदयमे आये हुए तिर्यञ्चके अध्यवसायसे अपने आपको तिर्यञ्च, उदयागत मनुष्यके अध्यवसायसे अपने आपको मनुष्य, उदयागत देवके अध्यवसायसे अपने आपको देव, उदयागत सुखादि पुण्यके अध्यवसानसे अपने आपको पुण्य और उदयागत दु खादि पापके अध्यवसानसे अपने आपको पाप करता है। इसी प्रकार ज्ञायमान अर्थात् जाननेमे आये हुए धर्मके अध्यवसानसे अपने आपको धर्म, ज्ञायमान अधर्मके अध्यवसानसे अपने आपको अधर्म, ज्ञायमान अन्य जीवके अध्यवसानसे अपने आपको अन्य जीव, ज्ञायमान पुद्गलके अध्यवसायसे अपने आपको पुद्गल, ज्ञायमान लोकाकाशके अध्यवसानसे अपने आपको लोकाकाश और ज्ञायमान अलोकाकाशके अध्यवसायसे अपने आपको अलोकाकाशरूप करता है ॥२६८-२६९॥

अब इस अध्यवसानभावकी निन्दा करते हुए कलशकाव्य कहते हैं—

इन्द्रवज्राछन्द

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा-
दात्मानमात्मा विदधाति विश्वम् ।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष
नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥१७२॥

अर्थ—विश्वसे भिन्न होने पर भी जिसके प्रभावसे आत्मा अपने आपको विश्वरूप करता है तथा मोह ही जिसकी एक जड़ है ऐसा अध्यवसानभाव जिनके नही है वे ही यति हैं।

भावार्थ—यह अध्यवसानभाव समस्त अनर्थोका स्थान है। मोह अर्थात् मिथ्यात्वसे इसकी उत्पत्ति होती है। इसके प्रभावसे यह जीव अपने आपको नानारूप मानता है। जबकि वस्तुस्वरूप-की अपेक्षा परसे भिन्न और स्वीय-स्वरूपसे अभिन्न है। इस अध्यवसानको जिन्होने नष्ट कर दिया है वे ही यति हैं। उन्हीका ससारपरिभ्रमणसे उपरम हुआ है ॥१७२॥

आगे कहते हैं कि जो मुनि इस अध्यवसायसे रहित हैं वे ही कर्मोंसे लिप्त नहीं होते हैं—

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२७०॥

अर्थ—ये जो पूर्वमे अध्यवसानभाव कह आये हैं उन्हे आदि लेकर और भी जो अध्यव-सानभाव हैं वे सब जिनके नही हैं वे मुनिमहोदय शुभ-अशुभ कर्मसे लिप्त नही होते हैं।

विशेषार्थ—निश्चयसे अज्ञान, अदर्शन और अचारित्रके भेदसे अध्यवसानभाव तीन प्रकारके हैं। इनके अन्दर सकल अध्यवसानभावोका समावेश हो जाता है। यही तीनो भाव स्वय अज्ञानरूप होनेसे शुभ-अशुभ कर्मबन्धके निमित्त हैं। यही दिखाते हैं—'मै इसको मारता हूँ' ऐसा जो यह अध्यवसानभाव है वह अज्ञानादिरूप है क्योकि सद् अहेतुक और एक ज्ञप्तिक्रियासे युक्त आत्मा-का तथा रागद्वेषके विपाकसे तन्मय हननादि क्रियाओका विशेष ज्ञान न होनेसे रागादि विभाव-परिणामोसे भिन्न आत्माका बोध न होनेके कारण अज्ञानरूप है, उसी तरह रागादि विभावपरि-णामोसे भिन्न आत्माका दर्शन न होनेसे मिथ्यादर्शनरूप है, और रागादि विभावपरिणामोंसे भिन्न आत्माका आचरण न होनेसे अचारित्र है। और 'यह धर्मद्रव्य जाना जाता है' इत्यादिरूप जो अध्यवसान है वह भी अज्ञानादिरूप है क्योकि सद् अहेतुक और एक ज्ञानरूप आत्मा तथा ज्ञेयरूप धर्मादिद्रव्योका विशेष ज्ञान न होनेसे परपदार्थसे भिन्न आत्माका ज्ञान न होनेके कारण जैसे अज्ञान-रूप है उसीतरह परपदार्थसे भिन्न आत्माका दर्शन न होनेसे मिथ्यादर्शनरूप है, और परपदार्थसे भिन्न आत्माका आचरण न होनेसे अचारित्ररूप है। इसीसे ये सब अध्यवसानभाव बन्धके ही निमित्त हैं। जिन महापवित्र आत्माओंके ये अध्यवसान नही हैं वे ही मुनिकुञ्जर हैं—श्रेष्ठ मुनिराज हैं। यही महानुभाव सद् अहेतुक एक ज्ञप्तिक्रियारूप, सद् अहेतुक एक ज्ञायकभावरूप, और सद् अहे-तुक एक ज्ञानरूप शुद्ध आत्माको जानते हुए, उसीका अच्छी तरह अवलोकन करते हुए तथा उसी-का आचरण करते हुए जिनके स्वच्छ-स्वच्छन्द और बहुत भारी अन्तर-ज्योति प्रकट हुई है ऐसे होते हुए अज्ञानादिरूपत्वका अभाव होनेसे शुभ-अशुभकर्मसे लिप्त नही होते अर्थात् बन्धको प्राप्त नही होते हैं ॥२७०॥

अब अध्यवसानभाव क्या है, यह दिखाते हैं—

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं ।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥२७१॥

अर्थ—बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब एकार्थवाचक ही हैं ॥

विशेषार्थ—जहाँपर स्व और परका विवेक नही होता है वहीपर जीवके अध्यवसान भावका उदय होता है, उसीको बोधनमात्रपनसे बुद्धि कहते है, व्यवसायमात्रपनसे व्यवसाय कहते है, मननमात्रपनसे मति कहते है, विज्ञप्तिमात्रपनसे विज्ञान कहते है, चेतनमात्रपनसे चित्त कहते है, चित्के भवनमात्रपनसे भाव कहते हैं, और चित्के परिणमनमात्रपनसे परिणाम कहते है। ये जो बुद्धिको आदि लेकर आठ नाम कहे गये हैं वे सभी चेतनके परिणाम हैं। जब तक आत्मा और परपदार्थोका भेदज्ञान नही होता है तब ही तक ये होते है, भेदज्ञानके उत्पन्न होनेसे स्वयमेव वे चले जाते हैं ॥२७१॥

अब सब प्रकारका अध्यवसानभाव त्यागने योग्य है, यह कलशामे प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछंद

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिल त्याज्य यदुक्त जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजित ।
सम्यड्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥१७३॥

अर्थ—सर्व पदार्थोमे जो अध्यवसानभाव है वह त्यागने योग्य है, ऐसा जिनेन्द्रभगवान्ने कहा है। इससे हम ऐसा मानते हैं कि अन्य पदार्थोके आश्रयसे जितना भी व्यवहार है वह सभी छुडाया है। अत ये सन्त पुरुप निष्कम्परूपसे एक निश्चयका ही अच्छी तरह आलम्बन लेकर शुद्धज्ञानघन निजमहिमामे ही स्थिरताको क्यो नही धारण करते ?

भावार्थ—जिस प्रकार अध्यवसान भाव परके आश्रयसे होता है उसी प्रकार व्यवहारनय भी परके आश्रयसे होता है। जिनेन्द्र भगवान्ने सभी प्रकारका अध्यवसान भाव छोडने योग्य बतलाया है। उसका फलितार्थ यह निकलता है कि परके आश्रयसे होनेवाला व्यवहारनय भी छोडने योग्य है। इस तरह जब व्यवहारनय छोडने योग्य पदार्थोकी कोटिमे आता है तब सन्त-पुरुष निश्चलभावसे एक निश्चयका ही अच्छी तरह आश्रय कर निश्चयनयके द्वारा प्रतिपादित शुद्धज्ञानघन जो निजकी महिमा है उसीमे स्थिरताको क्यो नही प्राप्त होते ? इस वातपर आश्चर्य प्रकट किया गया है ॥१७३॥

अब निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है, यह गाथामे दिखाते हैं—

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण ।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२७२॥

अर्थ—इस रीतिसे व्यवहारनय निश्चयनयके द्वारा प्रतिषेध करने योग्य है, यह जानो। जो मुनि निश्चयनयका आश्रय करनेवाले है वे निर्वाणको प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ—जो आत्मामात्रका आलम्बनकर प्रवृत्ति करता है वह निश्चयनय है और जो पराश्रित है अर्थात् परके आश्रयसे प्रवृत्ति करता है वह व्यवहारनय है। इन दोनो नयोमे पूर्वोक्त प्रकारसे परके आश्रयसे होनेवाला समस्त अध्यवसान बन्धका हेतु है, अत मोक्षाभिलाषी जनको वह छोडने योग्य है, ऐसा उपदेश देनेवाले आचार्यने निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनयका ही प्रतिषेध किया है क्योकि अध्यवसानकी तरह व्यवहार भी परके ही आश्रयसे होता है। यह व्यवहार प्रतिषेधके योग्य है भी, क्योंकि आत्माके आश्रयसे होनेवाले निश्चयनयका आश्रय करनेवाले मुनि ही कर्मबन्धसे मुक्त होते हैं। परके आश्रयसे होनेवाले व्यवहारनयका आश्रय तो नियमसे मुक्त न होनेवाले अभव्य जीवके द्वारा भी किया जाता है।

जिनागममे निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो नय प्ररूपित किये गये हैं। इनमे जो पर-पदार्थके आश्रयसे रहित आत्माका ही वर्णन करता है वह निश्चनय है और जो परपदार्थके आश्रयसे होने वाली अवस्थाओको आत्माकी अवस्थाएँ बतलाता है वह व्यवहारनय है। अपने-अपने स्थानपर दोनो नय उपयोगिताको प्राप्त हैं। परन्तु यहाँपर बन्धाधिकारके प्रकरणमे अध्यव-सानभावकी समानता रखनेके कारण निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनयको प्रतिषेधके योग्य बतलाया है क्योकि बन्धकी निवृत्ति निश्चयेनयका आश्रय करनेवाले मुनियोके ही होती है, मात्र व्यवहार-नयका आश्रय तो ऐसे अभव्य जीव भी कर लेते हैं जिन्हे एकान्तसे—नियमसे कभी मुक्ति होती ही नही है। यहाँ निर्वाणकी प्राप्ति निश्चयनयका आश्रय करनेवाले मुनियोंके कही गई है, सो उसका यह तात्पर्य ग्राह्य नही है कि वे मुनि व्यवहारनयके द्वारा प्रतिपादित व्रत, समिति, गुप्ति आदिका परित्यागकर मात्र निश्चयनयका आश्रय लेते हैं, क्योकि अपने पदानुसार इन सब क्रियाओको वे करते हैं। निश्चय और व्यवहार इन दोनो नयोकी उपयोगिता उनकी सापेक्ष अवस्थामे ही होती है, निरपेक्ष अवस्थामे नही। ज्यो-ज्यो यह प्राणी उच्चतम भूमिकामे पहुँचता जाता है त्यो-त्यो इसका पराश्रितपन स्वय छूटता जाता है और स्वाश्रितपन आता जाता है। इस दृष्टिसे यह कथन किया जाता है कि निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है ॥२७२॥

आगे अभव्य द्वारा व्यवहारनयका आश्रय किस प्रकार किया जाता है, यह कहते हैं—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं ।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२७३॥

अर्थ—व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तप श्रीजिनवरदेवने कहे हैं। इनको करता हुआ भी अभव्यजीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है।

विशेषार्थ—शील और तपसे परिपूर्ण तथा तीन गुप्ति और पांच समितियोसे युक्त अहिंसादि पांच महाव्रतरूप जो व्यवहारचारित्र है उसे अभव्य भी कर सकता है फिर वह निश्चारित्र, अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही रहता है क्योकि निश्चयचारित्रके हेतुभूत ज्ञान और श्रद्धानसे वह शून्य होता है।

अभव्यजीवके दर्शनमोहनीयकर्मका उपशमादि न होनेसे न तो सम्यग्दर्शन होता है और

चारित्रमोहनीयकर्मका उपशमादि न होनेसे न सम्यक्चारित्र होता है। केवल कपायोका मन्द उदय होनेसे व्यवहारचारित्र होता है, जो मोक्षमार्गका साधक नही, मात्र पुण्यका जनक होनेसे स्वर्गादिकके ही लाभमे निमित्त रहता है ॥२७३॥

आगे उस अभव्यके तो ग्यारह अङ्गतकका ज्ञान होता है फिर उसे अज्ञानी क्यों कहते, इसका उत्तर देते हैं—

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज ।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ॥२७४॥

अर्थ—मोक्षकी श्रद्धा नही करता हुआ जो अभव्य जीव अध्ययन करता है वह अध्ययन सम्यग्ज्ञानकी श्रद्धा न करने वाले उस अभव्य जीवके गुण नही करता है अर्थात् द्रव्यश्रुत हो जानेपर भी सम्मग्दर्शनके विना अभव्यजीवका पढना तथा ज्ञान मोक्षमार्गमे उपकारी नही होता।

विशेषार्थ—अभव्य जीव मोक्षतत्त्वकी श्रद्धा नही करता है क्योकि वह शुद्धज्ञानात्मक आत्मज्ञानसे शून्य है। इसीसे उसके ज्ञानकी श्रद्धा नही है क्योकि वह शुद्धज्ञानमय आत्मज्ञानसे पराङ्मुख है। एकादशाङ्गश्रुतका अध्ययन करके भी श्रुताध्ययनके फलस्वरूप आत्मज्ञानगुणका अभाव होनेसे अभव्यजीव ज्ञानी नही होता। श्रुताध्ययनका गुण तो वह है कि परवस्तुसे भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमय आत्माका जो ज्ञान होता है उस वस्तुभूत ज्ञानमय आत्मज्ञानकी अभव्यके श्रद्धा नही है। इसीसे इस अभव्यके श्रुताध्ययनके द्वारा वह नही हो सकता अर्थात् केवल श्रुतके अध्ययनसे उस आत्मज्ञानकी प्राप्ति होना अतिदुर्लभ है। इसीलिये अभव्यके उस गुणका अभाव है। अतएव ज्ञान और श्रद्धानके अभावसे वह अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि है, ऐसा नियम किया गया है ॥२७४॥

आगे उस अभव्यके धर्मका श्रद्धान तो है, इसका निषेध करते है—

सद्दहदि य पत्तियदि य रोचेदि य तह पुणो हि फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥२७५॥

अर्थ—वह अभव्य जीव धर्मकी श्रद्धा भी करता है, प्रतीति भी करता है, रुचि भी करता है और पुन पुन स्पर्श भी करता है परन्तु जो धर्म भोगका निमित है उसी धर्मकी श्रद्धा आदि करता है, कर्मक्षयका निमित्तभूत जो धर्म है उसकी श्रद्धा आदि नही करता।

विशेषार्थ—अभव्य जीव नित्य ही कर्म और कर्मफल चेतनारूप वस्तुकी श्रद्धा करता है, नित्यज्ञान चेतनास्वरूप जो आत्मतत्त्व है उसकी श्रद्धा नही करता, क्योकि वह नित्य ही भेद-विज्ञानके अयोग्य है। इसीसे वह अभव्यजीव कर्मक्षयमे निमित्तभूत ज्ञानमात्र जो भूतार्थ धर्म है उसकी श्रद्धा नही करता किन्तु भोगो के निमित्तभूत शुभकर्ममात्र जो अभूतार्थ धर्म है उसीकी श्रद्धा करता है, इसीलिये यह अभव्यजीव अभूतार्थधर्मके श्रद्धान, प्रत्ययन, रोचन और स्पर्शनके द्वारा उपरितन ग्रैवेयक तकके भोगमात्रको प्राप्त हो सकता है। परन्तु कर्मबन्धनसे मुक्त कभी नही होता। इसलिये भूतार्थधर्मकी श्रद्धाका अभाव होनेसे अभव्यके श्रद्धान भी नही है। ऐसा होनेपर निश्चयनयके लिये व्यवहारनयका प्रतिषेध करना युक्त ही है ॥२७५॥

आगे व्यवहारनयको प्रतिषेध्य कहा है और निश्चयनयको प्रतिषेधक, सो ये दोनों नय कैसे है, इसका उत्तर कहते हैं—

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो ॥२७६॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥२७७॥

(युगलम्)

अर्थ—आचाराङ्ग आदि ज्ञान है, जीवादि पदार्थ दर्शन है और षट्कायके जीवो की रक्षा चारित्र है, व्यवहारनय कहता है। और मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन तथा चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है, मेरा आत्मा ही संवर है और मेरा आत्मा ही योग—ध्यान है, यह निश्चयनय कहता है।

विशेषार्थ—ज्ञानका आश्रय होनेसे आचाराङ्ग आदि द्रव्यश्रुतज्ञान है, दर्शनका आश्रय होनेसे जीवादि नौ पदार्थ दर्शन है और चारित्रका आश्रय होनेसे छहकायके जीवो की रक्षा करना चारित्र है, यह सब व्यवहारनयका कथन है। और ज्ञानका आधार होनेसे शुद्ध आत्मा ज्ञान है, दर्शनका आधार होनेसे शुद्ध आत्मा दर्शन है तथा चारित्रका आधार होनेसे शुद्ध आत्मा चारित्र है, इसप्रकार निश्चयनयका कहना है।

यहाँपर आचाराङ्गादिको ज्ञानका आश्रय माननेसे अभव्यजीवमे अनैकान्तिकपन आता है, अत व्यवहारनय प्रतिषेध करने योग्य है। और निश्चयनय ज्ञानादिकका आश्रय शुद्ध आत्माको मानता है, अत उसमे ऐकान्तिकपन है अर्थात् अनैकान्तिक दोषका अभाव है, इसलिये वह प्रतिषेधक है। यही दिखाते है—आचाराङ्गादि जो शब्दश्रुत है वह एकान्तरूपसे ज्ञानका आश्रय नही है क्योकि आचाराङ्गादि शब्दश्रुतके सद्भावमे भी अभव्यजीवोके शुद्धात्माका अभाव होनेसे सम्यग्ज्ञानका अभाव है। इसीतरह जीवादि पदार्थ दर्शनके आश्रय नही है क्योकि उनका सद्भाव होनेपर भी अभव्यजीवोके शुद्धात्माकी उपलब्धिका अभाव होनेसे सम्यग्दर्शनका अभाव है। और इसीतरह षट्कायके जीवोकी रक्षा भी चारित्रका आश्रय नहीं है क्योकि इनका सद्भाव होनेपर भी अभव्यजीवोके शुद्धात्माका अभाव होनेसे चारित्रका अभाव है। इसके विपरीत निश्चयनयमे शुद्धात्माका ज्ञान आदिके साथ ऐकान्तिकपन है। जैसे शुद्ध आत्मा ही ज्ञानका आश्रय है क्योकि आचाराङ्गादि शब्दश्रुतका चाहे सद्भाव हो, चाहे असद्भाव हो, शुद्ध आत्माका सद्भाव होनेसे सम्यग्ज्ञानका सद्भाव एकान्तरूपसे—नियमरूपसे रहता ही है। इसीप्रकार शुद्ध आत्मा ही दर्शनका आश्रय है क्योकि जीवादि पदार्थोका चाहे सद्भाव हो, चाहे असद्भाव हो, शुद्ध आत्माका सद्भाव होनेसे सम्यग्दर्शनका सद्भाव एकान्तरूपसे—नियमरूपसे रहता ही है। इसीतरह शुद्ध आत्मा ही चारित्रका आश्रय है क्योकि छहकायके जीवोकी रक्षाका चाहे सद्भाव हो, चाहे असद्भाव हो, शुद्धात्माका सद्भाव होनेसे सम्यक् चारित्रका सद्भाव एकान्तरूपसे—नियमरूपसे रहता ही है ॥२७६–२७७॥

आगे रागादिकका निमित्त क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये जो गाथाएँ कही जाने-वाली है उनकी अवतरणिकाके लिये कलशकाव्य कहते है—

उपजातिछन्द

रागादयो बन्धनिदानमुक्ता-
स्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ता. ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्त-
मिति प्रणुन्ना पुनरेवमाहुः ॥२७४॥

अर्थ—जो रागादिक बन्धके कारण कहे गये है वे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मतेजसे भिन्न हैं। अब यहाँ प्रश्न होता है कि उन रागादिकका निमित्त क्या है, आत्मा है या परद्रव्य ? इस प्रकार प्रेरित हुए आचार्य पुन' इस प्रकार कहते है ॥१७४॥

अब दृष्टान्त द्वारा रागादिकका निमित्तकारण आचार्य बताते है—

जह फलहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥२७८॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥
(युगलम्)

अर्थ—जैसे स्फटिकमणि आप शुद्ध है-वह लाल आदि रङ्गरूप स्वयं नही परिणमता, किन्तु लाल आदि अन्य द्रव्योके द्वारा तद्-तद् रङ्गरूप हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव आप शुद्ध है वह स्वय रागादिरूप परिणमन नही करता, किन्तु रागादिक अन्य दोषोके कारण तद्-तद् दोष-रूप परिणम जाता है।

विशेषार्थ—जैसे निश्चयकर स्फटिकमणि परिणामस्वभाववाला है और इस परिणमन-स्वभावका सद्भाव होनेपर भी अपना जो शुद्ध स्वभाव है वह लाल, पीला, हरा आदिरूप परि-णमन करनेमे निमित्त नही है। इसीसे वह स्वयं लाल आदि रङ्गरूप परिणमन नही करता किन्तु परद्रव्य जो जपापुष्पादि है वे स्वय लाल, पीले, हरे आदिरूप है, अत. उनकी डाँकका निमित्त पाकर स्फटिकमणि लाल, पीला, हरा आदिरूप परिणम जाता है। वैसे ही केवल जो शुद्ध आत्मा है वह परिणामस्वभाववाला है और इस स्वभावका सद्भाव होनेपर भी अपना जो शुद्ध स्वभाव है उससे अपने आप रागादिकरूप परिणमन नही करता। किन्तु मोहादिक पुद्गलकर्मके विपाकका निमित्त पाकर मोह तथा राग-द्वेषरूप परिणम जाता है। उस समय वह स्वय रागादि-भावको प्राप्त होकर शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ रागादिरूप परिणमन करता है, यही वस्तुस्वभाव है।

आत्मा केवल तो शुद्ध ही है किन्तु परिणमनशील है। सो शुद्ध स्फटिकमणिकी तरह मोहादिक प्रकृतियोंके निमित्तको पाकर मोह-राग-द्वेषरूप परिणम जाता है। इस ससारमे आत्मा और पुद्गल ये दो ही द्रव्य वैभाविकशक्तिवाले है। इन्ही दोनोका तिल-तेलके सदृश अनादिकालसे

सम्बन्ध बन रहा है। इसी सम्बन्धसे दोनोंमे विकार-परिणमन हो रहा है। जीवमे जो विकार-रूप रागादिक परिणाम होते हैं उनमे पुद्गलकर्मका उदय कारण है और पुद्गलमे जो ज्ञाना-वरणादिरूप परिणमन होता है उसमे रागादिक विभावयुक्त जीव कारण है ॥२७८–२७९॥

अब यही भाव श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशामे प्रकट करते हैं—

उपजातिछन्द

न जातु रागादिनिमित्तभाव-
मात्मात्मना याति यथार्ककान्त.[1]।
तस्मिन्निमित्त परसङ्ग एव
वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१७५॥

अर्थ—आत्मा स्वय ही कभी रागादिरूप परिणमनमें निमित्तभावको प्राप्त नही होता, जिस प्रकार कि स्फटिकमणि स्वय लाल, पीले आदि विविध रङ्गरूप परिणमनमें निमित्तको प्राप्त नही होता। रागादिकरूप परिणमनमे तो परद्रव्यका सङ्ग ही निमित्तकारण है अर्थात् मोहादिक पुद्गलकर्मके विपाकको निमित्त पाकर आत्मा रागादिरूप परिणम जाता है। जिस प्रकार कि स्फटिकमणि लाल, पीले, आदि पदार्थोंके ससर्गसे तत् तत्रूप परिणम जाता है। यह वस्तुका स्वभाव है।

भावार्थ—आत्मा स्वभावसे शुद्ध है। उसमे जो रागादिरूप अशुद्धता आती है उसमे निमित्तकारण मोहकर्मका विपाक है। यद्यपि आत्मामे वैभाविक शक्तिके कारण उसमे रागादिरूप परिणमन करनेकी योग्यता है तथापि इस योग्यताके रागादिरूपसे विकसित होनेमे मोहकर्मका विपाक निमित्तकारण है। यदि रागादिक परिणतिमे केवल आत्माको ही कारण माना जावे तो रागादिक विकार नित्य हो जावेंगे, परन्तु वे नित्य नही हैं, इससे उन्हे निमित्तसापेक्ष माना जाता है। कार्यकी सिद्धिमे उपादान और निमित्त दोनो कारण होते है, वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है, अत. वह तर्कका विषय नही है ॥१७५॥

अनुष्टुप्छन्द

इति वस्तुस्वभाव स्व ज्ञानी जानति तेन सः।
रागादीन्नात्मन. कुर्यान्नातो भवति कारक ॥१७६॥

अर्थ—इस प्रकार ज्ञानी जीव स्वकीय वस्तुस्वरूपको जानता। इसी कारण वह रागा-दिकको आत्माके नही करता है, इसलिये उनका कर्ता नही है।

भावार्थ—ज्ञानी जीवकी श्रद्धा है कि रागादिक आत्माके स्वभाव नही है किन्तु मोहकर्मके विपाकसे आत्मामे उत्पन्न होते है, अत वे उसके विकारीभाव है ॥१७६॥

---

१. 'अर्क स्फटिकसूर्ययो' इत्यमर। मूलमें तथा आत्मख्यातिटीकामें स्फटिकोपलका ही दृष्टान्त दिया है। इसलिये यहाँ कलशामें भी 'अर्ककान्त' शब्दसे स्फटिकोपल ही लेना चाहिये, सूर्यकान्तमणि नही, क्योंकि उक्त कोषके अनुसार अर्कका अर्थ स्फटिक भी होता है।

अब यही भाव गाथामें कहते हैं—

ण य रायदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं ॥२८०॥

अर्थ—ज्ञानी जीव स्वय ही अपने राग-द्वेष-मोह अथवा कषायभावको नही करता है, इसीलिये वह उन रागादिक भावोंका कर्ता नही है ।

विशेषार्थ—यथोक्त वस्तुभावको जानता हुआ ज्ञानी शुद्धस्वभावसे च्युत नही होता है । इसीसे वह राग-द्वेष-मोह आदि भावोके रूप न स्वयं परिणमन करता है और न दूसरेके द्वारा भी तद्रूप परिणमाया जाता है । अतएव टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावका धारक ज्ञानी जीव राग-द्वेष-मोह आदि भावो का अकर्ता ही है, यह नियम है ॥२८०॥

आगे अज्ञानी जीव इस वस्तुस्वभावको नही जानता है, यह कहते हैं—

अनुष्टुप्

इति वस्तुस्वभावं स्व नाज्ञानी वेत्ति तेन स ।
रागादीनात्मन. कुर्यादतो भवति कारकः ॥१७७॥

अर्थ—अज्ञानी जीव इस प्रकारके अपने वस्तुस्वभावको नही जानता है, इसलिये वह रागादिकको आत्माके करता है अर्थात् रागादिरूप परिणमता है और इसलिये उनका कर्ता होता है ॥१७७॥

अब रागादिकरूप परिणमन करता हुआ जीव पुनः रागादिकको बाँधता है, यह कहते हैं—

रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहि दु परिणमंतो रायाई बंधदि पुणो वि ॥२८१॥

अर्थ—राग, द्वेष और कषायकर्मके होनेपर आत्माके जो भाव होते है उनरूप परिणमन करता हुआ आत्मा फिर भी उन रागादिकोको बाँधता है ।

विशेषार्थ—जैसा वस्तुका स्वभाव कहा गया है उसको नही जानता हुआ अज्ञानी अनादि ससारसे शुद्धस्वभावसे च्युत है । इसीसे कर्मविपाकसे होनेवाले राग, द्वेष, मोह आदि भावोके द्वारा परिणमता हुआ राग, द्वेष, मोह आदि भावोंका कर्ता होकर बन्ध अवस्थाको प्राप्त है, ऐसा निश्चय है ।

अज्ञानी जीव परमार्थभूत वस्तुस्वभावको तो जानता नही, किन्तु कर्मोंके उदयसे जायमान रागादिकोको अपना स्वरूप मानता है और आगामी उन्हींके अनुकूल सामग्री-द्रव्यकर्मोंको बाँधता है ॥२८१॥

इससे यह स्थित हुआ—

रायम्हि य दोसम्हि कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदे चेदा ॥२८२॥

अर्थ—राग, द्वेष और कषायकर्मोके होनेपर जो भाव आत्माके होते हैं उन भावोंके द्वारा परिणमन करता हुआ आत्मा फिर उन्ही रागादिकोके कारणभूत द्रव्यकर्मको बांधता है।

विशेषार्थ—निश्चय कर अज्ञानी जीवके पुद्गलकर्मके निमित्तसे जो राग, द्वेष, मोह, आदि परिणाम होते हैं वे ही परिणाम फिर भी राग-द्वेष-मोह आदि परिणामोके निमित्तभूत पुद्गलकर्मके बन्धके हेतु हैं।

अज्ञानी जीव परमार्थसे अपने वास्तविक गुणविकासको तो जानता नही है किन्तु कर्मके विकाससे जायमान रागादिकोको अपना स्वरूप मानता हुआ तद्रूप परिणमन करता है। उसका फल यह होता है कि वह रागादिककी उत्पत्तिमे निमित्तभूत पुद्गलकर्मका बन्ध करता रहता है। इस तरह द्रव्यकर्मके उदयके निमित्तसे रागादिक भावकर्म और रागादिक भावकर्मके निमित्तसे पुन द्रव्यकर्मका बन्ध यह जीव अनादिकालसे करता चला आ रहा है ॥२८२॥

अब आत्मा रागादिक परिणामोका अकर्ता किस प्रकार है, यह कहते हैं—

अपडिक्कमणं दुविहं अपचक्खाणं तहेव विण्णेयं।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥२८३॥
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपचक्खाणं।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥२८४॥
जावं अपडिक्कमणं अपचक्खाणं च दव्वभावाणं।
कुव्वइ आदा तावं कत्ता सो होइ णायव्वो ॥२८५॥
(त्रिकलम्)

अर्थ—अप्रतिक्रमण दो प्रकारका जाना चाहिये और इसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकारका जानना चाहिये। इसी उपदेशसे आत्मा अकारक कहा गया है। अप्रतिक्रमण दो प्रकार है—एक द्रव्यमे और दूसरा भावमे। इसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार है—एक द्रव्यमे और दूसरा भावमे। इस उपदेशसे आत्मा अकारक कहा गया है। जबतक आत्मा द्रव्य और भावमे अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान करता है अबतक वह कर्ता होता है, ऐसा जानना चाहिये।

विशेषार्थ—आत्मा स्वय अनात्मीय रागादिकभावोका अकारक ही है क्योकि यदि स्वय रागादिकभावोका कारक होता तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान जो दो प्रकारका उपदेश आगममें दिया है उसकी उपपत्ति नही बनती। निश्चयसे द्रव्य और भावके भेदसे अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान जो दो प्रकारका उपदेश है वह उपदेश द्रव्य और भावमे निमित्त-नैमित्तिकभावको विस्तारता हुआ आत्माके अकर्तृपनको जानता है। इससे यह स्थिर हुआ कि परद्रव्य तो निमित्त है और आत्माके जो रागादिकभाव हैं वे नैमित्तिक हैं। यदि ऐसा नही माना जावे तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान दोनोमे जो कर्तृत्वके निमित्तपनका उपदेश है वह अनर्थक हो जावेगा और उसके अनर्थक होनेपर एक आत्माके ही रागादिभावोके निमित्तपनकी आपत्ति आ जावेगी तथा उसके आनेपर आत्मामे नित्य कर्तृपनका अनुषङ्ग होनेसे मोक्षका अभाव हो जावेगा। इससे आत्माके रागादिकभावोंके होनेमें परद्रव्यको निमित्त मानना ठीक होगा। ऐसा माननेसे आत्मा

रागादिकभावोका अकारक ही है। किन्तु जब तक रागादिकभावोके निमित्तभूत द्रव्यका न प्रतिक्रमण करता है और न प्रत्याख्यान करता है तब तक नैमित्तिकभूत भावका न प्रतिक्रमण करता है और न प्रत्याख्यान करता है और जब तक नैमित्तिकभूत भावका न प्रतिक्रमण करता है और न प्रत्याख्यान करता है तब तक वह उसका कर्ता ही होता है। और जिस कालमें निमित्तभूत द्रव्यका प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कर देता है उसी कालमे नैमित्तिकभूत भावका प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कर देता है। और जब नैमित्तिकभूत भावका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान कर देता है तब आत्मा साक्षात् अकर्त्ता ही हो जाता है।

भावार्थ—प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान ये दोनों दो-दो प्रकारके है—एक द्रव्य और दूसरा भाव। इसीसे अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान भी द्रव्य और भावके भेदसे दो-दो प्रकारका है। तात्पर्य यह है कि जो परपदार्थ अतीतकालमे आत्माने ममत्वभावसे ग्रहण किया था उसको जब तक अच्छा समझे तब तक उसका त्याग नही हो सकता। अतएव एक प्रकारका संस्कार उसके द्वारा आत्मामें होता है जिससे उसे त्याग नही सकता, इसीका नाम द्रव्य-अप्रतिक्रमण है और उस परद्रव्यके द्वारा जो रागादिक भाव आत्मामे हुए थे उनको अच्छा समझना भाव-अप्रतिक्रमण है तथा भविष्यकालमे परद्रव्यके ग्रहणका ममत्व राखे वह द्रव्य-अप्रत्याख्यान है और उससे भविष्य-कालमे होनेवाले रागादिकोका वाञ्छा रखना यह भाव-अप्रत्याख्यान है। इस पद्धतिसे द्रव्य-अप्रतिक्रमण और भाव-अप्रतिक्रमण तथा द्रव्य-अप्रत्याख्यान और भाव-अप्रत्याख्यानसे दो प्रकारका उपदेश है। यही उपदेश रागादिकभावोकी उत्पत्तिमे परद्रव्यके निमित्तपनकी व्यवस्था करता है। यदि परद्रव्यको रागादिक परिणामोके उत्पन्न होनेमे निमित्त न माना जावे तो आत्मा ही इनका निमित्त होगा। इस स्थितिमे नित्यकर्तृपनकी आपत्ति आनेसे आत्माकी संसार-अवस्थाका सर्वदेव सद्भाव रहेगा और ससारका नित्य सद्भाव रहनेसे मोक्षका अभाव हो जायेगा ॥२८३-२८५॥

आगे द्रव्य और भावमें निमित्त-नैमित्तिकभावका उदाहरण कहते हैं—

आधाकम्माईया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वइ णाणी परदव्वगुणा उ जे णिच्चं ॥२८६॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम होइ कयं जं णिच्चमचेयणं उत्तं ॥२८७॥

(युग्मम्)

अर्थ—अध कर्मको आदि लेकर जो ये पुद्गलद्रव्यके दोष है उन्हे ज्ञानी जीव किस प्रकार कर सकता है क्योंकि ये सब परद्रव्यके गुण है। अध कर्म और उद्देशिक ये जो दोष है वे सब पुद्गलद्रव्यमय है। ज्ञानी जीव विचारता है कि ये हमारे किस प्रकार हो सकते हैं क्योकि ये नित्य ही अचेतन कहे गये है।[1]

---

१ अध.कर्म और उद्देश्यसे जो आहार निष्पन्न होता है वह परिणामोकी मलिनताका निमित्त होता है क्योंकि ऐसा नियम है कि जैसा अन्य खाया जावे वैसा ही उसका परिपाक होता है और उसका प्रभाव मनपर पडता है। यही कारण है कि जो अन्यायसे धनोपार्जन करते है वे कभी भी निर्मलताके पात्र नही होते—अतएव न्यायपूर्वक आजीविका ही गृहस्थावस्थामें हितकारिणी है।

विशेषार्थ—जो पुद्गलद्रव्य अध:कर्मसे निष्पन्न हुआ है अथवा जो पुद्गलद्रव्य उद्देश्यसे निष्पन्न हुआ है अर्थात् जो आहार पापकर्मसे उपार्जित द्रव्य द्वारा बनाया गया है अथवा जो आहार व्यक्तिविशेषके निमित्तसे बनाया गया है, मलिनभावकी उत्पत्तिमे निमित्तभूत उस आहारका जो मुनि प्रत्याख्यान नही करता है—त्याग नही करता है वह उसके निमित्तसे होनेवाले बन्धके साधक भावका प्रत्याख्यान नही कर सकता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण परद्रव्यको नही त्यागने वाला मुनि उसके निमित्तसे जायमान भावको नही त्याग सकता है। और जैसे आत्मा अध कर्मादिक पुद्गलद्रव्यके दोपोको नही करता है क्योंकि ये अध.कर्मादिक पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेसे आत्माके कार्य नही है। इसीसे अध कर्म और उद्देश्यसे निष्पन्न जो यह पुद्गलद्रव्य है वह मेरा कार्य नही है क्योकि यह नित्य अचेतन है, अतः इसमे मेरे कार्यपनेका अभाव है अर्थात् मैं इसका कर्ता नही हूँ। इसप्रकार तत्त्वज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्यको त्यागता हुआ आत्मा बन्धके साधक जो नैमित्तिकभाव है उन्हे त्यागता है। इसी प्रकार समस्त परद्रव्योको त्यागता हुआ आत्मा उनके निमित्तसे उत्पन्न भावको भी त्यागता है। इसतरह द्रव्य और भावमे निमित्त-नैमित्तिकभाव है ॥२८७-२८७॥

आगे इसी भावको कलशामे कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बला-
तन्मूलं बहुभावसन्ततिमिमामुद्धर्तुकाम: समम्।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥१७८॥

अर्थ—इसप्रकार परद्रव्य और अपने भावोमे निमित्त-नैमित्तिकभावका विचारकर नानाभावोकी इस परिपाटीको बलपूर्वक एक साथ उखाड देनेकी इच्छा करने वाला आत्मा नानाभावो के मूलभूत उस समस्त परद्रव्यका परित्याग करता है और उसके फलस्वरूप अतिशयरूपसे बहने वाले पूर्ण एक सवेदनसे युक्त उस आत्माको प्राप्त होता है जिसके द्वारा समस्त कर्मबन्धको उखाड़ देने वाला यह भगवान् आत्मा अपने आपमे ही प्रकट होता है।

भावार्थ—समस्त परद्रव्यो और रागादिकभावोमे परस्पर निमित्त-नैमित्तिकपन है अर्थात् परद्रव्य निमित्त है और रागादिकभाव,नैमित्तिक हैं। जो आत्मा रागादिकभावोकी इस परम्पराको उखाडकर दूर करनेकी इच्छा रखता है, वह उन रागादिकभावोका मूल कारण जो समस्त परद्रव्य है उसको पृथक् कर निरन्तर उपयोगरूप रहनेवाले पूर्णज्ञान—केवलज्ञानसे युक आत्माको प्राप्त होता है अर्थात् अरहन्त अवस्थाको प्राप्त होता है और उसके फलस्वरूप समस्त कर्मबन्धनको नष्ट कर भगवान् आत्मा, आत्मामे ही प्रकट होता है अर्थात् सिद्ध अवस्थाको प्राप्त होता है ॥१७८॥

मदाक्रान्ताछद

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणाना
कार्यं बन्ध विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य।

ज्ञानज्योति क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्
तद्वद्यद्वत् प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ।।१७९।।

अर्थ—बन्धके कारण जो रागादिकभाव हैं उनके उदयको निर्दयतापूर्वक विदारण करनेवाली तथा अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाली जो यह ज्ञानरूपी ज्योति है, वह रागादिकका कार्य जो नानाप्रकारका बन्ध है उसे उसी समय शीघ्र ही नष्ट कर अच्छी तरह उस प्रकार सज्जित होती है—पूर्ण सामर्थ्यके साथ प्रकट होती है कि कोई दूसरा इसके प्रसारको रोक नही सकता।

भावार्थ—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदसे बन्धके चार भेद है। इन बन्धोका कारण रागादिक विकारीभावोंका उदय है। सो आत्मकल्याणका इच्छुक पुरुष (क्षपकश्रेणीमे आरूढ होकर) दशमगुणस्थानके अन्तमें उन रागादिकभावोका इतनी निर्दयतापूर्वक विदारण करता है कि फिर वे उत्पन्न होनेका नाम ही नही लेते। रागादिकभावोका अभाव हो जाने पर कर्मोका नानाप्रकारका बन्ध तत्काल ही नष्ट हो जाता है। यद्यपि केवल सातावेदनीयका प्रकृति और प्रदेशबन्ध होता है परन्तु स्थिति और अनुभागबन्धसे रहित होनेके कारण उसकी विवक्षा नही की गई है। इसतरह निर्बन्ध अवस्था होने पर बारहवें गुणस्थानके अन्तमे ज्ञानावरण-दर्शनावरणरूपी अन्धकारको नष्ट कर सर्वोत्कृष्ट तथा सदा सन्नद्ध रहनेवाली अर्थात् उपयोगरूप परिणत केवलज्ञानरूप वह ज्योति इसतरह प्रकट होती है कि कोई दूसरा पदार्थ उसके प्रसारको रोकनेमें समर्थ नहीं होता ।।१७९।।

इस प्रकार बन्ध रङ्गभूमिसे बाहर निकल गया।

इस तरह श्रीकुन्दकुन्दाचार्यद्वारा विरचित समयप्राभृतमें बन्धपदार्थका प्ररूपण करनेवाले सातवें बन्धाधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ ॥ ७ ॥

८. मोक्षाधिकार

अब मोक्ष प्रवेश करता है—

अब मोक्षाधिकारके प्रारम्भमें मोक्षके पूर्व प्राप्त होनेवाले पूर्णज्ञान—केवलज्ञानकी महिमा प्रकट करते हैं—

शिखरिणीछन्द

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्वन्धपुरुषौ
नयन्मोक्ष साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतम् ।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरस
परं पूर्णं ज्ञान कृतसकलकृत्य विजयते ॥१८०॥

अर्थ—जो प्रज्ञारूपी करोतके द्वारा विदारण करनेसे बन्ध और पुरुष अर्थात् आत्माको पृथक्-पृथक् कर स्वोपलब्धि—स्वानुभवसे निश्चित पुरुषको साक्षात् मोक्ष प्राप्त करा रहा है, जो प्रकट होते हुए स्वाभाविक उत्कृष्ट आनन्दसे सरस है, उत्कृष्ट है, तथा जो समस्त करने योग्य कार्य कर चुका है, ऐसा पूर्णज्ञान—केवलज्ञान जयवन्त प्रवर्तता है ।

भावार्थ—अनादिकालसे जीवकी बन्धदशा चली आ रही है, जिससे यह जीव कर्म और नोकर्मके साथ एकीभावको प्राप्त हो रहा है । भेदज्ञानके अभावमे मिथ्यादृष्टि जीव इस सयुक्त दशाको ही जीव मानता है । जब उसे परसे भिन्न शुद्ध जीवका अस्तित्व ही अनुभवमे नही आ रहा है तब मोक्षका लक्ष्य कैसे बन सकता है ? श्रेयोमार्गमे अग्रसर होनेवाले जीवको सर्वप्रथम प्रज्ञा अर्थात् भेदज्ञानकी प्राप्ति होती है । जिस प्रकार लोकमे करोतके द्वारा काष्ठके दो भाग कर दिये जाते हैं उसी प्रकार यह जीव प्रज्ञाके द्वारा बन्ध और आत्माके दो भाग कर देता है अर्थात् भेदज्ञानकी महिमासे इसे अनुभव होने लगता है कि यह कर्म और नोकर्मरूप पुद्गलका बन्ध पृथक् है और पुरुष अर्थात् आत्मा पृथक् है । उस पुरुषका स्वानुभव प्रत्येक ज्ञानी पुरुषको होता है । 'मैं ज्ञानवान हूँ, मैं सुखी हूँ' इत्यादि प्रकारके स्वानुभवसे पुरुषका अस्तित्व पृथक् अनुभवमे आता है । इस भेदज्ञानके द्वारा जीव मोक्षका लक्ष्य बनाता है और उसके लिये पुरुषार्थ करता है । उस पुरुषार्थके फलस्वरूप वह दशमगुणस्थानके अन्तमे मोहकर्मको नष्टकर वीतराग दशा प्राप्त करता है और अन्तर्मुहूर्तके भीतर शेष तीन घातियाकर्मोंको नष्टकर पूर्णज्ञान—केवलज्ञानको प्राप्त कर लेता है । यह पूर्णज्ञान सहज आत्मीय आनन्दसे युक्त होता है, सर्वोत्कृष्ट होता है और कृतकृत्य होता है । मोक्षाधिकारके प्रारम्भमे इसी पूर्णज्ञानका जयघोष आचार्यने किया है और वह इसलिये कि इसके होने पर मोक्षकी प्राप्ति निश्चितरूपसे होती है ॥१८०॥

अब मोक्षकी प्राप्ति किस प्रकार होती है, यह कहते हैं—

जह णाम को वि पुरिसो बंधणयम्हि चिरकालपडिबद्धो ।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणए तस्स ॥२८८॥

जइ ण वि कुणइ च्छेदं ण मुच्चए तेण बंधणवसो सं ।
कालेण उ बहुएण वि ण सो णरो पावइ विमोक्खं ॥२८९॥
इय कम्मबंधणाणं पएसठिइपयडिमेवमणुभागं ।
जाणंतो वि ण मुच्चइ मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो ॥२९०॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष चिरकालसे बन्धमे पड़ा हुआ है और वह उसके तीव्र-मन्द-स्वभावको तथा बन्धनके कालको जानता है तो भी यदि वह बन्धनका छेद नही करता है तो बन्धनसे मुक्त नही हो सकता, वह बन्धनके वशीभूत होता हुआ बहुत समयमे भी बन्धनसे छुटकाराको नही प्राप्त करता है, उसी प्रकार जो पुरुष कर्मबन्धनोके प्रदेश, स्थिति, प्रकृति तथा अनुभाग भेदोको जानता है तो भी उनसे मुक्त नही होता, किन्तु जब यदि रागादिकको छोड़कर शुद्ध होता है तभी मुक्त होता है ।

विशेषार्थ—आत्मा और बन्धका जो द्वेधाकरण अर्थात् पृथक्-पृथक् करना है वही मोक्ष है । बन्धके स्वरूपका ज्ञानमात्र हो जाना मोक्षका हेतु है, ऐसा कोई कहते है, पर यह कहना ठीक नही है क्योकि जिस प्रकार बेड़ी आदिसे बद्ध पुरुषको बन्धके स्वरूपका ज्ञानमात्र हो जाना बन्धनसे छूटनेका कारण नही है उसी प्रकार कर्मबन्धसे बद्ध पुरुषको बन्धके स्वरूपका ज्ञानमात्र हो जाना बन्धसे छूटनेका कारण नही है, किन्तु वह उसका अकारण है अर्थात् चारित्रके विना अकेला ज्ञान मोक्षका कारण नही है । इस कथनसे कर्मबन्धके विस्तार सहित भेद-प्रभेदोको जानने मात्रसे संतुष्ट रहनेवाले पुरुषोका निरास हो जाता है ॥२८८-२९०॥

आगे कहते हैं कि बन्धकी चिन्ता करनेसे भी बन्ध नहीं कटता है—

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावइ विमोक्खं ।
तह बंधे चिंतंतो जीवो वि ण पावइ विमोक्खं ॥२९१॥

अर्थ—जिस प्रकार बन्धनबद्ध पुरुष उन बन्धनोकी चिन्ता करता हुआ उन बन्धनोसे छुटकारा नही पाता, उसी प्रकार कर्मबन्धोका विचार करने वाला पुरुष भी उन कर्मबन्धोसे मुक्तिको नही पाता है ।

विशेषार्थ—कोई ऐसा मानते है कि बन्धकी चिन्ताका जो प्रबन्ध है वह मोक्षका हेतु है, परन्तु उनका ऐसा मानना असत्य है क्योकि जिस प्रकार बेड़ी आदिसे बद्ध पुरुषके बन्धकी चिन्ताका प्रबन्ध उस बन्धनसे छूटनेका कारण नही है, उसी प्रकार कर्मबन्धसे युक्त पुरुषके बन्धकी चिन्ताका प्रबन्ध उस बन्धसे छूटनेका कारण नही है, किन्तु वह उसके प्रति अकारण है । इस कथनसे कर्मबन्धविषयक चिन्ताके प्रबन्धरूप धर्मध्यानसे अर्थात् मात्र विपाकविचय धर्म्यध्यानसे अन्धबुद्धिवाले मनुष्य प्रतिबोधित हो जाते है ।

भावार्थ—बहुतसे मनुष्य, केवल बन्धके भेद-प्रभेदोके ज्ञानसे अपने आपको ससार-बन्धनसे मोक्ष मानते हैं सो वे भी मोक्षके अधिकारी नही हैं ॥२९१॥

तब मोक्षका क्या कारण है, सो कहते हैं—

जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्धो उ पावइ विमोक्खं।
तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्खं ॥२९२॥

अर्थ—जिस प्रकार बन्धनसे बँधा हुआ पुरुष बन्धनोको छेदकर ही उनसे मोक्षको पाता है उसीप्रकार कर्मबन्धनसे बँधा हुआ जीव भी कर्मबन्धोको छेदकर ही उनसे मोक्ष प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—जिसप्रकार बेडी आदिसे बद्ध पुरुषके उस बन्धनका छेदा जाना छूटनेका कारण है, उसीप्रकार कर्मोसे बद्ध पुरुषके कर्मबन्धका छेदा जाना उससे छूटनेका कारण है क्योकि वही एक उसका हेतु है। इस कथनसे पहले कहे गये बन्धका स्वरूप जानने वाले तथा बन्धकी चिन्ता करने वाले इन दोनोको आत्मा और बन्धके पृथक्-पृथक् करनेमे व्यापृत किया गया गया है अर्थात् उन्हे समझाया गया है कि बन्धका स्वरूप जानने मात्र अथवा बन्धकी चिन्ता करने मात्रसे मोक्ष होने वाला नही है किन्तु उसके लिये तो पुरुषार्थपूर्वक आत्मा और बन्धको पृथक्-पृथक् करना ही आवश्यक है ॥२९२॥

आगे क्या यही मोक्षका हेतु है ? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि सो विमोक्खणं कुणई ॥२९३॥

अर्थ—बन्धोके स्वभावको और आत्माके स्वभावको जानकर जो बन्धोमे विरक्त होता है वही मोक्षको करता है।

विशेषार्थ—जो पुरुष निर्विकार चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मस्वभावको और उसमे विकारको करने वाले बन्धोके स्वभावको जानकर बन्धोसे विरक्त हो जाता है वही पुरुष सम्पूर्ण कर्मोसे मोक्षको कर सकता है। इससे यह नियम किया गया कि आत्मा और बन्धका पृथक्-पृथक् करना ही मोक्षका हेतु है ॥२९३॥

आगे आत्मा और बन्ध पृथक्-पृथक् किसके द्वारा किये जाते हैं, इस आशङ्काका उत्तर कहते हैं—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥२९४॥

अर्थ—जीव और बन्ध ये दोनो निश्चित स्वकीय-स्वकीय लक्षणोसे प्रज्ञारूपी छैनीके द्वारा छेदे जाकर नानापनको प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ—आत्मा और बन्धको पृथक्-पृथक् करना कार्य है तथा इस कार्यका कर्ता आत्मा है। जब इसके करणका विचार किया जाता है तब निश्चयनयसे अपनेसे भिन्न करणका होना असभव है। अत. भगवती प्रज्ञा ही छेदन करने वाली करण हो सकती है, उसके द्वारा दछेको प्राप्त हुए आत्मा और बन्ध अवश्य ही नानापनको प्राप्त हो जाते है। अतएव प्रज्ञाके द्वारा ही आत्मा और बन्धको पृथक्-पृथक् किया जाता है। भावार्थ—करण दो प्रकारका होता है—

एक आभ्यन्तर और दूसरा वाह्य। जहाँपर भिन्न कर्ता और भिन्न करण होते हैं वहाँपर वाह्य करण होता है। जैसे देवदत्त परशुके द्वारा काष्ठको छेदता है। यहाँ कर्तासे भिन्न करण है। और जहाँ कर्तासे भिन्न करण नही होता वहाँ आभ्यन्तर करण होता है। जैसे देवदत्त मनसे सुमेरुको जाता है। इस उदाहरणमे मन देवदत्तसे पृथक् नहीं है। यहाँपर प्रज्ञा अर्थात् भेद-विज्ञानरूप बुद्धि आभ्यन्तर करण है। इस प्रज्ञाको छैनीकी उपमा दो जाती है क्योकि जिसप्रकार छैनीके द्वारा काष्ठादिकके दो भाग पृथक्-पृथक् हो जाते हैं उसीप्रकार प्रज्ञाके द्वारा आत्मा और वन्ध पृथक्-पृथक् हो जाते है। उस प्रज्ञारूपी छेनीके द्वारा भिन्न-भिन्न किये गये आत्मा और वन्ध नियमसे नानापनको प्राप्त होते है। अतः प्रज्ञा ही आत्मा और वन्धके द्विधा करनेमे करण है।

अब यहाँपर यह आशङ्का होती है कि जो अत्मा और बन्ध चेत्यचेतकभावके कारण अत्यन्त प्रत्यासत्तिसे एकरूप हो रहे हैं तथा भेदविज्ञानके अभावसे एक चेतककी तरह ही व्यवहारमे आ रहे है वे दोनो प्रज्ञारूपी छैनीके द्वारा कैसे भिन्न-भिन्न किये जा सकते है ?

इस आशङ्काका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि हम तो ऐसा समझते हैं कि आत्मा और वन्धके जो अपने-अपने लक्षण नियत हैं उनकी सूक्ष्म अन्तः सन्धिके ऊपर इस प्रज्ञारूपी छैनी-को वड़ी सावधानीके साथ डालनेसे दोनो ही भिन्न-भिन्न किये जा सकते है।

भावार्थ—आत्मा और वन्धके वीच जब तक प्रज्ञारूपी छैनीको नही पटका जाता है तव तक दोनों एक दिखते हैं। परन्तु जव अपने-अपने नियत लक्षणोकी सूक्ष्म सन्धिपर प्रज्ञारूपी छैनी-को डाला जाता है तव आत्मा और वन्ध दोनो हो पृथक्-पृथक् अनुभवमे आने लगते है।

अव यहाँ आत्मा और बन्धके स्वकीय-स्वकीय नियत लक्षणोंपर विचार करते हैं—

आत्माका स्वलक्षण चैतन्य है क्योंकि वह आत्माको छोडकर शेप समस्तद्रव्योंमे नही पाया जाता है। आत्माका यह चैतन्यलक्षण प्रवर्तता हुआ जिस-जिस पर्यायको व्याप्तकर प्रवृत्त होता है तथा निवृत्त होता हुआ जिस-जिस पर्यायको ग्रहणकर निवृत्त होता है वह सभी सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त गुण-पर्यायोका समूह आत्मा है। इसतरह यहाँ आत्मा लक्ष्य है और एक चैतन्यलक्षणके द्वारा वह जाना जाता है। चैतन्यलक्षण समस्त सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनन्तगुण-पर्यायोमे अविनाभावरूपसे विद्यमान रहता है। अतः आत्मा चैतन्यमात्र ही है, यह निश्चय करना चाहिये।

भावार्थ—लक्षण वह है जो समस्त लक्ष्यमें रहे और अलक्ष्यमे न रहे। आत्माका चैतन्य-लक्षण उसकी क्रमवर्ती समस्त पर्यायोमें तथा सहभावी समस्त गुणोमे अविनाभावसे रहता है अर्थात् आत्माकी कोई भी ऐसी पर्याय नही जो चेतनासे रिक्त हो, अत. चिन्मात्र ही आत्मा जानना चाहिये, यह निर्विवाद है।

और वन्धका स्वलक्षण रागादिक है। ये रागादिक यद्यपि आत्माको छोड़कर शेप द्रव्योंमें नही पाये जाते हैं, इसलिये आत्माके असाधारण हैं अर्थात् आत्मद्रव्यके साथ साधारणताको धारण करते हुए प्रतिभासित नही होते। तथापि निरन्तर चैतन्यचमत्कारसे अतिरिक्त ही इनका प्रतिभास होता है। जिस प्रकार चैतन्यभाव आत्माकी समस्त पर्यायोमे अनुस्यूतरूपसे प्रतीत होता है उस प्रकार रागादिकभाव आत्माकी सब पर्यायोमे नही पाये जाते, क्योकि रागादिकभावोंके विना भी

चैतन्यका आत्मलाभ होता है। रागादिकोका चैतन्यके साथ जो उत्प्लवन (उछलना) देखा जाता है वह चेत्य-चेतकभावकी प्रत्यासत्तिसे ही देखा जाता है, एक द्रव्य होनेसे नही। रागादिकभाव चेत्यमान हैं और आत्मा चेतक है। जिस प्रकार प्रदीप्यमान घटादिक प्रदीपकी प्रदीपकताको प्रसिद्ध करते है उसी प्रकार चेत्यमान रागादिक आत्माकी चेतकताको ही प्रसिद्ध करते हैं, रागादिकरूपताको नही अर्थात् जैसे प्रदीप घटपटादिको प्रकाशित करता है परन्तु घटपटादिरूप नही हो जाता, इसी प्रकार प्रकार आत्मा चेतक पदार्थ है और रागादिक चेत्य पदार्थ हैं। आत्मा रागादिकको चेत्य तो करता है अर्थात् उन्हे अपने ज्ञानका विषय तो बनाता है, परन्तु रागादिकरूप नही हो जाता। ऐसा होनेपर भी आत्मा और बन्धमे अत्यन्त प्रत्यासत्ति होनेसे भेदकी सभावनाका अभाव है। इसलिये दोनोमे अनादिकालसे एकत्वका भ्रम होता है किन्तु वह भ्रम प्रज्ञाके द्वारा नियमसे छेदा जाता है।

भावार्थ—अनादिकालसे इस जीवके कर्मोका बन्ध है और उस कर्मबन्धके उदयमे आत्माके रागादिकभावोका उदय होता है। उससे यह जीव परपदार्थोमे राग और द्वेषभावरूप प्रवृत्ति करता है। जो इसके अनुकूल हैं उनके सद्भाव और जो प्रतिकूल है उनके अभावकी चेष्टा करता है। वास्तवमे जो रागादिकभाव हैं वे इसके निजभाव नही हैं, मिथ्यादर्शनके उदयमे यह उन्हे निजभाव मानता है। परन्तु जिस कालमे मिथ्यादर्शनरूप तिमिरका अभाव हो जाता है उस कालमे इसकी परपदार्थमे निजत्वबुद्धि मिट जाती है। तब जो परपदार्थके निमित्तसे रागादिक होते हैं उन्हे औपाधिकभाव जानकर उनके पृथक् करनेकी चेष्टा करता है और मोहके क्षय होनेपर फिर उनका अस्तित्व ही नही रहता। उस समय आत्मा अपने स्वरूपमे ही परिणमन करता है। यही कल्याणका पथ है ॥२९४॥

स्रग्धराछन्द

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तः सन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य।
आत्मानं मग्नमन्तः स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥१८१॥

अर्थ—चतुर और सावधान पुरुषोंके द्वारा किसी तरह पटकी हुई यह प्रज्ञारूपी पैनी छैनी आत्मा और कर्म दोनोके बीच सूक्ष्म सन्धि-बन्ध पर वेगसे पडती है और अन्तरङ्गमे स्थिर निर्मल शोभायमान तेजसे युक्त चैतन्यके पूरमे निमग्न आत्माको तथा अज्ञानभावमे नियत बन्धको दोनो ओर पृथक्-पृथक् कर देती है।

विशेषार्थ—आत्मा और बन्धके भिन्न-भिन्न करनेमे यही प्रज्ञारूपी छैनी समर्थ है। चतुरविज्ञानी जीव सावधान होकर आत्मा और बन्धकी जो सूक्ष्म सन्धि है उसपर इसे इसतरह पटकते हैं कि जिस तरह आत्माका अंश परमे जाता नही और परका अंश आत्मामे रहता नही। प्रज्ञारूपी छैनीके पडते ही आत्मा और बन्ध पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, पृथक् होता हुआ आत्मा तो अन्तरङ्गमे स्थिर, विशद तथा देदीप्यमान तेजसे युक्त चैतन्य-प्रवाहमे मग्न हो जाता है और बन्ध अज्ञानमे विलीन हो जाता है ॥१८१॥

आगे आत्मा और बन्धको द्विधा करके क्या करना चाहिये, ऐसी आशङ्काका उत्तर देनेके लिये गाथा कहते हैं—

> जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
> बंधो छेएदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो ॥२९५॥

अर्थ—जीघ और बन्ध अपने अपने नियत लक्षणोंके द्वारा उस तरह भिन्न-भिन्न किये जाते है जिस तरह कि बन्ध छेदनेके योग्य और शुद्ध आत्मा ग्रहण करनेके योग्य हो जाता है।

विशेषार्थ—आत्मा और बन्ध अपने अपने नियत लक्षणोके भेदज्ञानके द्वारा सर्वथा भिन्न-भिन्न करनेके योग्य हैं। तदन्तर रागादिलक्षणसे युक्त सभी बन्व सम्पूर्णरूपसे छोडनेके योग्य है और उपयोगलक्षणवाली शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करनेके योग्य है।

आत्मा और बन्धके पृथक्-पृथक् करनेका प्रयोजन यही है कि बन्धको छोड़ा जाय और शुद्ध आत्माको ग्रहण किया जाय ॥२९५॥

आगे वह आत्मा किससे ग्रहण किया जावे, इस आशङ्काका उत्तर कहते हैं—

> कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा ।
> जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो ॥२९६॥

अर्थ—शिष्य पूछता है कि वह आत्मा किस तरह ग्रहण किया जाता है ? आचार्य उत्तर देते है कि वह आत्मा प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण किया जाता है। जिसप्रकार प्रज्ञाके द्वारा उसे बन्धसे विभक्त किया गया था—पृथक् किया था उसीप्रकार प्रज्ञाके द्वारा उसे ग्रहण करना चाहिये।

विशेषार्थ—यहाँ शिष्यका प्रश्न है कि किसके द्वारा यह शुद्ध आत्मा ग्रहण किया जावे ? उसका आचार्य उत्तर देते है कि प्रज्ञाके द्वारा ही शुद्ध आत्मा ग्रहण करनेके योग्य है। शुद्ध आत्माके विभाग और ग्रहण करनेमें प्रज्ञा ही एक कारण है। अतएव जैसे प्रज्ञाके द्वारा आत्मा भिन्न किया गया था वैसे ही प्रज्ञाके द्वारा उसे ग्रहण करना उचित्त है ॥२९६॥

आगे यह आत्मा प्रजाके द्वारा किस प्रकार ग्रहण किया जाये, इस आशङ्काका उत्तर कहते हैं—

> पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
> अवसेसा जे भावा ते मज्झा परे त्ति णायव्वा ॥२९७॥

अर्थ— जो चेतनागुणविशिष्ट है वही तो निश्चयसे मै हूँ, यही प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करने योग्य है और इससे अतिरिक्त जितने भी भाव है वे मुझसे भिन्न हैं, ऐसा जानना चाहिये।

विशेषार्थ—निश्चयसे चेतना-स्वलक्षणका अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया गया जो चेतयिता है, वह मै ही हूँ और अन्यलक्षणका अवलम्बन करनेवाले जो ये अवशिष्ट भाव व्यवहारमें आ रहे है वे सम्पूर्ण भाव मुझसे अत्यन्त भिन्न है क्योकि वे सभी भाव चेतनागुणविशिष्ट व्यापक आत्माके व्याप्यपनको प्राप्त नही हो रहे है अर्थात् आत्माके चेतनागुणके साथ उनकी कोई

व्याप्ति नही हैं। अतएव मैं ही, मेरे ही द्वारा, मेरे ही लिये, मुझसे ही, मुझमें ही, मुझको ही ग्रहण करता हूँ। जो मै निश्चयसे ग्रहण करता हूँ वह आत्माकी ही एक चेतनक्रिया है। अतएव उस क्रियासे मै चेतता ही हूँ, चेतता हुआ ही चेतता हूँ। चेतते हुएके द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुएके लिये ही चेतता हूँ, चेतते हुएसे ही चेतता हूँ, चेतते हुएमे ही चेतता हूँ और चेतते हुएको ही चेतता हूँ अथवा गुण-गुणीकी भिन्न विवक्षा न की जावे तो न चेतता हूँ, न चेतता हुआ चेतता हूँ, न चेतते हुएके द्वारा चेतता हूँ, न चेतते हुएके लिये चेतता हूँ, न चेतते हुएसे चेतता हूँ, न चेतते हुएमे चेतता हूँ और न चेतते हुएको चेतता हूँ किन्तु सर्व कर्ता-कर्म आदिकी प्रक्रियासे भिन्न शुद्ध चिन्मात्रभाव हूँ ॥२९७॥

अब यही भाव कलश द्वारा कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम्।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥१८२॥

अर्थ—ज्ञानी कहता है कि जिसका भेद किया जा सकता है उस सबको स्वलक्षणके बलसे भिन्नकर चिन्मुद्रासे चिह्नित विभागरहित महिमावाला मैं शुद्धचेतन ही हूँ। यदि कर्ता-कर्म आदि कारक, अथवा नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्म अथवा ज्ञान-दर्शन आदि गुण भेदको प्राप्त होते हैं तो हो, परन्तु व्यापक तथा विशुद्ध चेतनभावमे तो कुछ भेद नही है।

भावार्थ—ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि मैं शुद्ध चेतनद्रव्य हूँ और चैतन्य मेरा लक्षण है। मेरा यह चैतन्यलक्षण मुझसे कभी पृथक् नही हो सकता। मुझमे यद्यपि रागादिक विकारीभाव उत्पन्न हो रहे हैं पर वे मेरे स्वभाव नही हैं, परके निमित्तसे जायमान होनेके कारण स्पष्ट ही मुझसे पृथक् हैं। प्रज्ञा अर्थात् भेदविज्ञानकी बुद्धिसे वे स्पष्ट ही मुझसे पृथक् अनुभवमे आते हैं। अत. मैं उन्हे अपने चैतन्यस्वभावरूपसे भिन्न मानता हूँ। इसप्रकार रागादिक विभावभावोसे अपनी भिन्नताका चिन्तनकर ज्ञानी जीव एक चेतनद्रव्यमे कारक, धर्म-धर्मी तथा गुण-गुणीके भेदका चिन्तन करता है। प्रथम तो वह चेतनद्रव्यको सब प्रकारकी भेदकल्पनासे रहित एक अखण्डद्रव्य अनुभव करता है, फिर उससे उतरती हुई अवस्थाका चिन्तन करता हुआ विचार करता है कि यदि प्रारम्भिक दशामे कारक, धर्म-धर्मी और गुण-गुणीका भेद रहता है तो रहे, वे सब चैतन्यगुणके ही परिणाम हैं। उस गुणकी अपेक्षा इनमे भेद नही है क्योकि विशुद्ध चैतन्यभाव इन सबमे व्यापक होकर रहता है ॥१८२॥

आगे आत्मा द्रष्टा-ज्ञाता है, ऐसा निश्चय जानना चाहिये, यह कहते हैं—

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयओ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ॥२९८॥

पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ॥२९९॥
(युग्मम्)

अर्थ—प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करनेके योग्य जो द्रष्टा है वह निश्चयसे मै हूँ और इससे अतिरिक्त जो भाव है वे मुझसे भिन्न जानने योग्य हैं। इसीप्रकार प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करनेके योग्य जो ज्ञाता है वह निश्चयसे मै हूँ और इससे भिन्न जितने भी भाव है वे मुझसे भिन्न जानना चाहिये।

विशेषार्थ—चेतना दर्शन और ज्ञानके विकल्पोका अतिक्रमण नही करती अर्थात् दर्शन और ज्ञानरूप जो विकल्प हैं वे चेतनाके साथ तादात्म्यसे रहते है, अतः चेतनपनकी तरह द्रष्टापन और ज्ञातापन आत्माके स्वलक्षण ही हैं। इसीसे मैं दृष्टा जो आत्मा है उसको ग्रहण करता हूँ। निश्चयसे जिसे ग्रहण करता हूँ उसका अवलोकन करता ही हूँ, अवलोकव करनेवाला होकर ही अवलोकन करता हूँ, अवलोकन करनेवालेके द्वारा ही अवलोकन करता हूँ, अवलोकन करनेवालेके लिये ही अवलोकन करता हूँ, अवलोकन करनेवालेसे ही अवलोकन करता हूँ, अवलोकन करनेवालेमे ही अवलोकन करता हूँ।

अथवा न अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करता हुआ अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करनेवालेके द्वारा अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करनेवालेके लिये अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करनेवालेसे अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करनेवालेमे अवलोकन करता हूँ किन्तु सर्व कर्ता-कारकादिसे भिन्न शुद्ध दर्शनमात्र भाव मै हूँ।

इसी प्रकार, ज्ञाता जो आत्मा है उसे ग्रहण करता हूँ, निश्चयसे जिसे ग्रहण करता हूँ उसे जानता ही हूँ, जाननेवाला होकर ही जानता हूँ, जाननेवालेके द्वारा ही जानता हूँ, जाननेवालेके लिये ही जानता हूँ, जाननेवालेसे ही जानता हूँ, जाननेवालेमे ही जानता हूँ, जाननेवालेको ही जानता हूँ। अथवा नही जानता हूँ, न जानता हुआ जानता हूँ, न जाननेवालेके द्वारा जानता हूँ, न जाननेवालेके लिये जानता हूँ, न जाननेवालेसे जानता हूँ, न जाननेवालेमे जानता हूँ, न जाननेवालेको जानता हूँ, किन्तु सबसे विशुद्ध ज्ञप्तिमात्र भाव मै हूँ।

अब यहाँ यह आशङ्का होती है कि चेतना ज्ञान-दर्शनरूप विकल्पोका अतिक्रमण क्यो नही करती है, जिससे चेतयिता ज्ञाता और द्रष्टा होता है ? इसका उत्तर कहते हैं—

आत्माका जो चेतनागुण है वह प्रतिभासरूप है, वह प्रतिभासरूप चेतना, सामान्यविशेषात्मक वस्तुको विषय करती है। अतः द्वैरूप्यका अतिक्रमण नही कर सकती है। उस चेतनाके सामान्यविशेषात्मक जो दो रूप है उन्हीका नाम दर्शन और ज्ञान है, इसीसे चेतना, दर्शन और ज्ञानका अतिक्रमण नही करती है। यदि चेतना दर्शन और ज्ञानका अतिक्रमण करने लगे तो सामान्यविशेषात्मक स्वरूपका अतिक्रमण करनेसे वह चेतना ही नही रह सकती। तथा उसके अभावमे दोषोकी आपत्ति आवेगी, एक तो स्वकीय गुणका नाश होनेसे चेतनके अचेतनपनकी आपत्ति आवेगी और दूसरा व्यापकके अभावसे व्याप्य जो चेतन है उसका अभाव हो जावेगा। इसलिये उन दोषोके भयसे दर्शन-ज्ञानात्मक ही चेतनाको स्वीकार करना चाहिये ॥२९८-२९९॥

अब इसी भावको कलशाके द्वारा प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत् ।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्ति चित् ॥१८३॥

अर्थ—निश्चयसे ससारमें चेतना अद्वैतरूप होकर भी यदि दर्शन और ज्ञानरूपको छोड देवे, तो सामान्य और विशेषका अभाव होनेसे वह अपने अस्तित्वको ही छोड देगी और चेतनाका अस्तित्व छूट जाने पर चेतन जो आत्मा है उसमे भी जडपन हो जावेगा तथा व्यापक चेतनाके विना व्याप्य जो आत्मा है वह भी अन्तको प्राप्त हो जावेगा। इसलिये चेतना निश्चित ही दर्शन और ज्ञानरूप है।

भावार्थ—सामान्यकी अपेक्षा यद्यपि चेतनाका एक ही भेद है तथापि सामान्य-विशेषात्मक वस्तुको विषय करनेसे उसका दर्शनचेतना और ज्ञानचेतना इस प्रकार द्विविध परिणमन होता है। जो वस्तुके सामान्य अशको विषय करती है वह दर्शनचेतना है और जो वस्तुके विशेष अशको ग्रहण करती है वह ज्ञानचेतना है। जब वस्तु दो प्रकारकी है तब उसे विषय करनेवाली चेतना भी दो प्रकारकी माननी आवश्यक है। सामान्य और विशेष परस्परमे सापेक्ष हैं अर्थात् सामान्यके विना विशेष नही रह सकता और विशेषके विना सामान्य नही रह सकता। इसमेसे एकका भी अभाव होगा तो दूसरेका भी अभाव अवश्य हो जायगा। इसतरह जब सामान्य और विशेषका अभाव होनेसे चेतना अपना अस्तित्व खो बैठेगी तब उसके अभावमे चेतन जो आत्मा है उसमे अचेतनपन अर्थात् जड़पन आ जावेगा, जो कि किसी तरह सभव नही है। दूसरा दोष यह आवेगा कि व्यापक जो चेतना है उसका अभाव होनेपर व्याप्य जो आत्मा है उसका भी अभाव हो जावेगा। इसलिये इन दोषोसे बचनेके लिये चेतनाको ज्ञानचेतना और दर्शनचेतनाके भेदसे दो प्रकारकी मानना ही उचित है ॥१८३॥

इन्द्रवज्राछन्द

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो
भावा परे ये किल ते परेषाम् ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो
भावा. परे सर्वत एव हेया ॥१८४॥

अर्थ—चित् अर्थात् आत्माका तो एक चिन्मयभाव ही है। इसके अतिरिक्त जो अन्य भाव है वे निश्चयसे परके हैं। अतएव चिन्मयभाव ही ग्रहण करनेके योग्य है और इसके सिवाय अन्य-भाव सब प्रकारसे त्यागने योग्य हैं।

भावार्थ—ज्ञानचेतना और दर्शनचेतनारूप जो आत्माका परिणमन है वह चिन्मयभाव है। यही एक भाव आत्माका निजमे निजके निमित्तसे होनेवाला भाव है। अतएव ग्राह्य है और

इसके अतिरिक्त आत्मामे जो राग-द्वेष-मोहभाव उत्पन्न होते है वे आत्मामे परके निमित्तसे जायजान होनेके कारण पर है। अतः सव प्रकारसे हेय हैं—छोडने योग्य है ॥१८४॥

आगे इसी भावको गाथामें कहते हैं—

को णाम भणिज्ज बुहो णाउं सव्वे पराइए भावे।
मज्झमिणंति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥३००॥

अर्थ—सर्व परकीय भावोंको जानकर ऐसा कौन ज्ञानी होगा जो यह कहते है कि वे मेरे हैं क्योकि ज्ञानी जीव शुद्ध आत्माको जाननेवाला है।

विशेषार्थ—जो पुरुष निश्चयसे पर और आत्माके निश्चित स्वलक्षणके विभागमें पडनेवाली प्रज्ञासे ज्ञानी होता है वह निश्चयसे एक चिन्मात्रभावको ही अपना जानता है और शेष सभी भावोंको परके जानता है। इसतरह जानता हुआ ज्ञानी जीव परभावोको ये 'मेरे हैं' ऐसा कैसे कह सकता है ? क्योंकि पर और आत्मामें निश्चयसे स्वस्वामी-सम्बन्धका अभाव है। अतएव सर्वप्रकारसे एक चिद्‌भाव ही ग्रहण करने योग्य हैं और शेष सभी भाव त्यागनेके योग्य है, यह सिद्धान्त है ॥३००॥

यही भाव कलशामे दर्शाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यता
शुद्ध चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावा पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥१८५॥

अर्थ— जिनके चित्तकी प्रवृत्ति अत्यन्त उत्कृष्ट है तथा जो मोक्षके अभिलाषी है उन महानुभावोंके द्वारा यही सिद्धान्त सेवन करने योग्य है कि मै निरन्तर शुद्ध चेतनागुणविशिष्ट एक परमज्योतिस्वरूप हूँ तथा परमज्योति—चेतनाके अतिरिक्त पृथक् लक्षणवाले जो ये नानाप्रकारके भाव उल्लसित हो रहे है—प्रकट हो रहे हैं वे मै नही हूँ क्योकि ये सभी इस संसारमे मेरे लिये परद्रव्य हैं।

भावार्थ—परपदार्थसे भिन्न आत्माकी शुद्ध स्वाधीन परिणतिका हो जाना मोक्ष है। इस मोक्षके जो अभिलापी है उन्हे सदा इस सिद्धान्तका मनन करना चाहिये कि मै तो सदा एक चैतन्य—ज्योतिस्वरूप हूँ, वही मेरी शुद्ध स्वाधीन परिणति है और उसके सिवाय मुझमे जो राग, द्वेप, मोह आदि विकारीभाव उठ रहे है वे मेरे नही है, मोहकर्मके उदयमे उत्पन्न होनेवाले विकारीभाव हैं, उनका नष्ट हो जाना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है। जो महानुभाव इसप्रकार विचार करते हैं वे अवश्य ही एक दिन उन विकारीभावोकी सत्ताको आत्मासे वहिष्कार कर देते हैं ॥१८५॥

अनुष्टुप्छन्द

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान्।
बध्येतानपराधोन स्वद्रव्ये संवृत्तो मुनि ॥१८६॥

अर्थ—जो परद्रव्यको ग्रहण करता है वह अपराधी है और जो अपराधी है वह बन्धको प्राप्त होता ही है। जो स्वद्रव्यमे सवृत है वही मुनि है, वही निरपराध है। अतएव वह बन्धको प्राप्त नही होता।

भावार्थ—लोकमे जो परद्रव्यको ग्रहण करता है वह चोरीका अपराधी कहलाता है। तथा इस अपराधके कारण बन्धनको प्राप्त होता है, परन्तु जो मनुष्य अपने द्रव्यमे ही सन्तुष्ट रहकर कभी किसीके द्रव्यका ग्रहण नही करता है, वह अपराधी नही कहलाता और इसीलिये बन्धनको प्राप्त नही होता। इसी प्रकार मिथ्यात्वके उदयमे जो परद्रव्यको अपना मानता है—उसकी सभालमे निमग्न रहता है वह आत्माकी आराधनासे रहित होनेके कारण अपराधी कहलता है और इसीलिये नियमसे बन्धको प्राप्त होता है, मिथ्यात्वको धारण करनेवाला चाहे गृहस्थ हो चाहे मुनि हो, नियमसे उस गुणस्थानमे बँधनेवाली प्रकृतियोका बन्ध करता ही है, परन्तु जो स्वद्रव्यमे ही सवृत रहता है अर्थात् आत्माको ही स्वकीय द्रव्य मानता है और उसीकी शुद्ध परिणतिमे निमग्न रहता है, वह अपराधसे रहित है तथा परमार्थसे मुनि है—ज्ञानी है, वह बन्धको प्राप्त नही होता है ॥१८६॥

आगे इसी भावको गाथाओमें प्रकट करते हैं—

थेयाई अवराहे कुव्वदि जो सो उ संकिदो भमई।
मा वज्झेज्जं केण वि चोरो त्ति जणम्मि वियरंतो ॥३०१॥
जो ण कुणइ अवराहे सो णिस्संको दु जणवए भमदि।
ण वि तिस्स वज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयाइ ॥३०२॥
एवं हि सावराहो वज्झामि अहं तु संकिदो चेया।
जइ पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण वज्झामि ॥३०३॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—जो चोरी आदि अपराधोको करता है वह लोकमे विचरता हुआ 'मैं चोर हूँ, किसीके द्वारा पकड़ा न जाऊँ' ऐसी शङ्का सहित भ्रमता है और जो चोरी आदि अपराधोको नही करता है, वह नि शङ्क होकर लोकमे भ्रमता है, उसको 'हमको कोई बाँध लेगा' ऐसी शङ्का कभी भी उत्पन्न नही होती। इसी प्रकार जो आत्मा सापराध है वह 'मै बँधूँगा' इस तरह शङ्कित रहता है और यदि निरपराध है तो 'मैं नही बँधूँगा' इस तरह नि शङ्क रहता है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार लोकमे जो जीव परद्रव्यग्रहणरूप अपराधको करता है उसीके बन्धकी शङ्का होती है और जो शुद्ध होता हुआ परद्रव्यग्रहणरूप अपराधको नही करता है उसके बन्धकी शङ्काकी उत्पत्ति नही होती है। उसी प्रकार जो आत्मा अशुद्ध होता हुआ परद्रव्यग्रहणरूप अपराधको करता है उसीको बन्धकी शङ्का होती है और जो शुद्ध होता हुआ परद्रव्यग्रहणरूप उस अपराधको नही करता है उसके बन्धकी शङ्का नही होती, यह नियम है। अतएव सर्वथा सम्पूर्ण परकीय भावोका त्यागकर शुद्ध आत्मा ग्रहण करनेके योग्य है क्योकि ऐसा होने पर ही आत्मा निरपराध होता है ॥३०१-३०३॥

आगे यह अपराध क्या है, इस आशंकाका उत्तर देते हैं—

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं ।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥३०४॥
जो पुण णिरवराधो चेया णिस्संकिओ उ सो होइ ।
आराहणाए णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो ॥३०५॥

अर्थ—ससिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित ये सब एकार्थवाचक शब्द है। जो चेतायिता निश्चयसे राधसे रहित है वह अपराधी होता है। और जो चेतयिता निरपराध होता है वह निःशङ्क होता है तथा 'मै हूँ' ऐसा जानता हुआ आराधना द्वारा नित्य वर्तता है।

विशेषार्थ—परद्रव्यका त्यागकर शुद्ध आत्माकी जो सिद्धि अथवा साधना है उसीका नाम राध है और जिस जीवका यह राध अपगत हो गया अर्थात् नष्ट हो गया वह अपराध है अथवा जिस भावका राध चला गया है वह भाव अपराध है, है, उस भावसे सहित जो जीव है वह सापराध है। वह जो अपराधी आत्मा है उसके परद्रव्यके ग्रहणका सद्भाव होनेसे शुद्धात्माकी सिद्धिका अभाव है तथा इसी कारण उसके बन्धकी शङ्का होनेसे स्वय अशुद्ध होनेके कारण वह अनाराधक ही है। अर्थात् उसके आराधकपन नही है। किन्तु जो आत्मा निरपराध है उसके सम्पूर्ण परद्रव्यका परित्याग होनेसे शुद्धात्माकी सिद्धिका सद्भाव है और इसीसे उसके बन्धशङ्काकी समावना नही है। उस बन्धशङ्काका अभाव होनेपर उपयोगरूप एक लक्षणसे युक्त शुद्ध आत्मा 'मै ही हूँ', ऐसा निश्चय करता हुआ वह शुद्धात्मसिद्धिरूप लक्षणसे युक्त आराधनासे सहित होनेके कारण आराधक ही होता है ॥३०४-३०५॥

आगे अपराधी जीव ही बन्धको प्राप्त होता है, यह कलश द्वारा कहते है—

मालिनीछन्द

अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराध.
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु ।
नियतमयमशुद्ध स्व भजन् सापराधो
भवति निरपराध. साधु शुद्धात्मसेवी ॥१८७॥

अर्थ—जो अपराधी है वह निरन्तर अनन्तकर्मपुद्गलपरमाणुओके द्वारा बँधता है और जो निरपराध है वह कभी बन्धका स्पर्श नही करता। जो जीव अशुद्ध आत्माकी सेवा करता है वह सापराध होता है और जो शुद्ध आत्माकी सेवा करता है वह निरपराध होता है।

भावार्थ—जो रागादिविकारोंसे अशुद्ध आत्माकी उपासना करता है अर्थात् रागादिविकारोको आत्माकी निजपरिणति समझता है, वह सापराध है और जो इसके विपरीत रागादिविकारोंसे रहित शुद्ध आत्माकी उपासना करता है अर्थात् रागादिविकारोंको आत्माकी निजपरिणति नही मानता है, वह निरपराध है। सापराध जीव मिथ्यादृष्टि है, इसीसे वह सिद्धोके अनन्तवें भाग और अभव्यराशिसे अनन्तगुणे कर्मपरमाणुओंसे प्रत्येक समय बन्धको प्राप्त होता है और जो उक्त अपराधसे रहित है वह बन्धसे रहित होता है ॥१८७॥

अब यहाँपर कोई आशङ्का करता है कि इस शुद्ध आत्माकी उपासनाके प्रयाससे क्या लाभ है, क्योंकि प्रतिक्रमणादिकके द्वारा ही आत्मा निरपराध हो जाता है। सापराध जीव यदि प्रतिक्रमण नहीं करता है तो उसकी वह क्रिया अपराधोंको दूर करनेवाली न होनेसे विषकुम्भ कही गई है और यदि प्रतिक्रमणादि करता है तो उसकी वह क्रिया अपराधोंको दूर करनेवाली होनेसे अमृतकुम्भ कही गई है। जैसा कि व्यवहाराचारसूत्रमें कहा गया है—

अपडिकमणं अपरिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरहाऽसोहीय विसकुंभो ॥१॥
पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ॥२॥

अर्थ—अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि इस तरह आठ प्रकारके लगे हुए दोषोंका प्रायश्चित्त न करना विषकुम्भ है और इनके विपरीत लगे हुए दोषोका प्रतिक्रमण[1], प्रतिसरण[2], परिहार[3], धारणा[4], निवृत्ति[5], निन्दा[6], गर्हा[7], और शुद्धि[8] इन आठ प्रकारोंसे प्रायश्चित्त करना अमृतकुम्भ है। अर्थात् इन्हींके द्वारा आत्मा निरपराध हो जावेगा। अतः शुद्धात्माकी उपासना करना निष्प्रयोजन है, ऐसा व्यवहारनयवालेका तर्क है? उसका उत्तर आचार्य निश्चयनयकी मुख्यतासे देते हैं—

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुंभो ॥३०६॥
अपडिकमणं अप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरहाऽसोही अमयकुंभो ॥३०७॥

(युग्मम्)

अर्थ—प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि ये आठ प्रकार विषकुम्भ हैं क्योंकि इनमें आत्माके कर्तापनका अभिप्राय है और जहाँ कर्तापनका अभिप्राय है वहाँ बन्धरूप दोषका सद्भाव ही है। तथा अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि ये आठ प्रकार अमृतकुम्भ हैं क्योंकि यहाँ कर्तापनका निषेध है। अतएव निरपराध है तथा इसीसे अबन्ध है।

विशेषार्थ—जो अज्ञानीजनसाधारण अप्रतिक्रमणादिक हैं वे शुद्ध आत्माकी सिद्धिके अभावस्वरूप होनेसे स्वयमेव अपराध हैं, इसलिये विषकुम्भ ही हैं। उनके विचारसे क्या लाभ है? वे

---

१. किये हुए दोषोंका निराकरण करना प्रतिक्रमण है।
२ सम्यक्चारित्रादिकमें आत्माको प्रेरित करना प्रतिसरण है।
३ मिथ्यात्व तथा रागादिक दोषोंसे आत्माका निवारण करना परिहरण है।
४ पञ्चनमस्कारादि बाह्य द्रव्यका आलम्बनकर चित्तको स्थिर करना धारणा है।
५ बहिरङ्ग विषयकषायादिकमें जो चेष्टा है उससे चित्तकी प्रवृत्तिको रोकना निवृत्ति है।
६ आत्माको साक्षीकर दोषोंको प्रकट करना निन्दा है।
७. गुरुकी साक्षीपूर्वक दोषोंका प्रकट करना गर्हा है।
८. गुरुप्रदत्त प्रायश्चित्तको धारण करना शुद्धि है।

तो स्वयं त्यागने योग्य ही हैं। परन्तु जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादिक हैं वह सम्पूर्ण अपराधरूप विषके दोषोंके कम करनेमें समर्थ होनेसे यद्यपि अमृतकुम्भ भी है तो भी प्रतिक्रमणादि और अप्रतिक्रमणादिसे विलक्षण तृतीय भूमिको न देखनेवाले पुरुषके स्वकीय कार्यके करनेमें असमर्थ होने तथा विपक्षकार्यके करनेके कारण वे विषकुम्भ ही हैं। वह अप्रतिक्रमणादिरूपा तृतीय भूमि स्वयं शुद्धात्माकी सिद्धिस्वरूप होनेके कारण सम्पूर्ण अपराधरूपी विषके दोषोंको समूल नष्ट करनेमें समर्थ है। इसलिये स्वयं साक्षात् अमृतकुम्भ है। इस तरहसे वह व्यवहारसे द्रव्यप्रतिक्रमणादिके भी अमृतकुम्भपनको सिद्ध करती है। इसी तृतीय भूमिके द्वारा आत्मा निरपराध होता है। इस तृतीय भूमिके अभावमें द्रव्यप्रतिक्रमणादिक भी अपराध ही हैं। अतएव तृतीय भूमिके द्वारा ही निरपराधपन होता है, यह सिद्ध होता है और उसकी प्राप्तिके लिए ही यह द्रव्यप्रतिक्रमणादिक हैं। इससे यह नही मानना कि श्रुति प्रतिक्रमणादिकका त्याग करा रही है किन्तु वह द्रव्यप्रतिक्रमणादिकको छोड नही रही है। इसके अतिरिक्त प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमणादिकके अगोचर अप्रतिक्रमणादिरूप शुद्धात्माकी सिद्धि ही जिसका लक्षण है, ऐसे अनिर्वचनीय अत्यन्त दुष्कर कार्यको भी कराती है।

भावार्थ—अप्रतिक्रमण तो विषकुम्भ है किन्तु द्रव्यप्रतिक्रमण भी निश्चयनयकी अपेक्षासे विषकुम्भ है क्योंकि उससे शुद्ध आत्मस्वरूपकी सिद्धि नही होती। आत्मस्वरूपकी सिद्धि प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमणके विकल्पसे रहित तृतीय भूमिकाके आधीन है। इसका अभिप्राय यह नही समझना चाहिये कि शास्त्रमें प्रतिक्रमणका निषेध किया गया है। शास्त्रमें यह बताया जा रहा है कि जब तक यह जीव अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमणके कर्तृत्वसे नही छूटता तब तक शुद्धात्माकी सिद्धिको प्राप्त नही होता।

प्रतिक्रमणका स्वरूप इसी ग्रन्थसे आगे सर्वविशुद्धिअधिकारमें इस प्रकार कहा गया है—

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं॥ इत्यादि

अर्थात् पूर्वकालमें किये हुए जो शुभ-अशुभ अनेक विस्तारविशेषरूप कर्म हैं उनसे जो चेतयिता अपने आत्माको छुड़ाता है वह प्रतिक्रमणस्वरूप है।

'[1]इस कथनसे प्रतिक्रमणके विकल्पको छोड़कर प्रमादी बन सुखसे बैठे हुए लोगोंका निराकरण किया गया है, उनकी चपलता नष्ट की गई है, उनका परद्रव्यसम्बन्धी बाह्य आलम्बन उखाड़ कर दूर किया गया है और जब तक सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वरूप आत्माकी उपलब्धि नही हो जाती तब तक चित्तको आत्मामें ही निबद्ध किया गया है॥३०६-३०७॥

यहाँ निश्चयनयसे प्रतिक्रमणादिकको विषकुम्भ कहा है और अप्रतिक्रमणको अमृतकुम्भ

---

१. आत्मख्यातिकी इस गद्यको प्रचलित प्रकाशनोंमें कलशमें शामिलकर १८८वां नम्बर दे दिया गया है। पर यह कलश नही है। आत्मख्यातिका गद्यांश ही है—

'अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनताम्, प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालम्बनम्, आत्मन्येवालानितं चित्तमासम्पूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ।'

कहा है। इसलिये कोई विपरीतवुद्धि प्रतिक्रमणादिको छोड़ प्रमादी हो जावे तो उसे समझानेके लिये कलशा कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥१८८॥

अर्थ—जहाँ प्रतिक्रमणको ही विष कहा है वहाँ अप्रतिक्रमण ही अमृत कैसे हो सकता है? इसलिये यह मनुष्य नीचे-नीचे पड़ता हुआ प्रमाद क्यों करता है? प्रमादरहित होकर ऊपर-ऊपर क्यों नहीं चढता है?

भावार्थ—शुद्धात्माके अभावमें कृत दोषोंका निवारण करनेके लिये व्यवहारचारित्रमें प्रतिक्रमणादिकका करना आवश्यक बताया है। परन्तु निश्चयचारित्रमें उस विकल्पको हेय ठहराया गया है। इसका अर्थ कोई विपरीतवुद्धि यह समझे कि प्रतिक्रमण तो हेय है, विषके कलशके समान है। अतः प्रतिक्रमण नहीं करना ही श्रेयस्कर है तो उसे आचार्य महानुभावने समझाया है कि हे भाई! प्रतिक्रमणको छोड़ अप्रतिक्रमणमें आना तो ऊपरसे नीचे उतरना है, निष्प्रमाददशासे च्युत होकर प्रमाददशामें आना है। जहाँ प्रतिक्रमणको विषका कलश कहा है वहाँ अप्रतिक्रमण अमृतका कलश कैसे हो सकता है? अप्रतिक्रमण तो हेय है ही। उसकी चर्चा ही क्या करना है। परन्तु शुद्धात्माकी सिद्धिके अभावमें केवल द्रव्यप्रतिक्रमणसे भी लाभ होनेवाला नहीं है। इसलिये उसका भी विकल्प छोड और ऊपर-ऊपरकी ओर चढकर निष्प्रमाददशाको प्राप्त होता हुआ उस उच्चभूमिको प्राप्त कर, जहाँ द्रव्यप्रतिक्रमणका भी विकल्प छूट जाता है ॥१८९॥

आगे प्रमादी मनुष्य शुद्धभावका धारक नहीं हो सकता, यह कहते है—

पृथ्वीछन्द

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमतः स्वभावे भवन्
मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते चाचिरात् ॥१८९॥

अर्थ—प्रमादसे युक्त जो आलसी मनुष्य है वह शुद्धभावका धारक कैसे हो सकता है? क्योंकि कषायके भारकी गुरुतासे जो आलस्य होता है वही तो प्रमाद कहलाता है। अतएव स्वरससे भरे हुए स्वभावमें स्थिर रहनेवाला मुनि परम शुद्धताको प्राप्त होता है और शीघ्र ही मुक्त होता है।

भावार्थ—जो मनुष्य 'प्रतिक्रमण विषकुम्भ है', निश्चयनयके इस कथनको सुनकर प्रतिक्रमणको छोड देता है और प्रमादी बनकर सदा आलस्यमें निमग्न रहता है वह शुद्धभावसे युक्त नहीं हो सकता। अर्थात् उसका भाव शुद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि कषायकी अधिकतासे जो आलस्य होता है वह प्रमाद कहलाता है और प्रमादके रहते हुए भावकी शुद्धता होना दुष्कर

कार्य है। अत 'प्रतिक्रमण विषकुम्भ है' निश्चयनयके इस कथनसे यह अभिप्राय लेना चाहिये कि द्रव्यप्रतिक्रमणका विकल्प छोड़ आत्मीयरससे भरे हुए स्वभावमे लीन होना कल्याणकारी है। जो मुनि इस तरह नियमपूर्वक स्वभावमें स्थिर रहता है अर्थात् अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण दोनोंका विकल्प छोड़ उच्चतम भूमिकामें स्थिर होता है वह अशुद्धताका कारण जो मोहकर्म है उसका क्षयकर परम शुद्धताको प्राप्त होता है और कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक देशोन-कोटिवर्ष पूर्वमे अवश्य ही मुक्त हो जाता है—

अब मुक्त कौन होता है, यह कहते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्य समग्र स्वय
स्वे द्रव्ये रतिमेति य. स नियत सर्वापराधच्युत.।
बन्धध्वसमुपेत्य नित्यमुदितस्वज्योतिरच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥१९०॥

अर्थ—जो मनुष्य निश्चयसे अशुद्धिको करनेवाले सम्पूर्ण परद्रव्यका स्वय त्यागकर स्व-द्रव्यमे रतिको प्राप्त होता है वह नियमसे सम्पूर्ण अपराधोसे छूट जाता है और बन्धके ध्वसको प्राप्त होकर नित्य उदयको प्राप्त स्वकीय ज्ञानज्योतिमे निर्मल उछलते हुए चैतन्यरूप अमृतके प्रवाहसे पूर्ण है महिमा जिसकी, ऐसा शुद्ध होता हुआ मुक्त होता है—बन्धनसे छूट जाता है।

भावार्थ—आत्मा स्वभावसे शुद्ध है। परन्तु अनादि कालसे उसके साथ कर्म-नोकर्मरूप परद्रव्यका जो सम्बन्ध लगा हुआ है उसके कारण यह अशुद्ध हो रहा है। उस अशुद्ध दशामे इसकी स्वरूपकी ओर दृष्टि नही जाकर सदा परद्रव्योमे ही लीन रहती है तथा सब प्रकारके अप-राधोसे यह युक्त रहता है। उस सापराध अवस्थामे नये-नये कर्मोका बन्ध करता है तथा स्वकीय ज्ञान-स्वभावसे च्युत हो ससार-भ्रमणका पात्र होता है। परन्तु जब इसे भान होता है कि यह समस्त परद्रव्य ही मेरी अशुद्धताके कारण है तब उनका ससर्ग छोड़कर स्वकीय आत्मद्रव्यमे प्रीति करता है, आत्मद्रव्यमे प्रीति होनेसे सब प्रकारके अपराधोसे च्युत हो जाता है। रागादिक-भाव ही वास्तविक अपराध है, उनसे छूट जानेपर नये-नये कर्मोका बन्ध स्वय रुक जाता है तथा ज्ञानावरणादि कर्मोका क्षय होनेपर निरन्तर उदित रहनेवाली केवलज्ञानरूप ज्योति प्रकट हो जाती है। पहले रागादिका संमिश्रण रहनेसे ज्ञान-ज्योतिमे निर्मलताका अभाव था, पर अब रागादिकके सर्वथा दूर हो जानेसे केवलज्ञानरूप ज्योतिमे अत्यन्त निर्मलता रहती है। इस समय निरन्तर छलकते हुए अर्थात् प्रतिसमय उल्लसित होते हुए चैतन्यरूपी अमृतसे इसकी महिमा पूर्णताको प्राप्त हो जाती है और यह कर्मकलङ्कसे सर्वथा रहित होनेके कारण शुद्ध होता हुआ मुक्त हो जाता है—संसारके बन्धनसे छूट जाता है ॥१९०॥

आगे पूर्णज्ञानकी महिमाका गान करते हुए कलशा कहते है—

मन्दाक्रान्ताछन्द

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम्।

एकाकारस्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥१९१॥

अर्थ—कर्मबन्धके छेदसे जो अतुल तथा अविनाशी मोक्षको प्राप्त हुआ है जिसकी सहज—स्वाभाविक अवस्था नित्य प्रकाशसे प्रकट हुई है, जो अत्यन्त शुद्ध हैं, एकाकार स्वरसके भारसे अत्यन्त गम्भीर है, धीर है अपनी अचल महिमामे लीन है, ऐसा पूर्ण ज्ञान सदा देदीप्यमान रहता है।॥१९१॥

इस प्रकार मोक्ष रङ्गभूमिसे बाहर निकल गया ।

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्यविरचित समयप्राभृतमें मोक्षका वर्णन
करनेवाले आठवें अधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ ॥८॥



९. सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

अब सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है

प्रथम ही ज्ञानपुञ्ज आत्माकी महिमा कहते है—

मन्दाक्रान्ताछन्द

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूत प्रतिपदमय बन्धमोक्षप्रक्लृप्ते ।
शुद्धः शुद्ध. स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः ॥१९२॥

अर्थ—जो कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि समस्त भावोको अच्छी तरह विनाशको प्राप्त करा कर प्रत्येक पदमे—प्रत्येक पर्यायमे बन्ध और मोक्षकी रचनासे दूरीभूत है, द्रव्यकर्म तथा भावकर्मके नष्ट हो जानेसे जो अत्यन्त शुद्ध है, जो आत्मिकरसके समूहमे पूर्ण, पवित्र तथा स्थिर प्रकाशसे सहित है और जिसकी महिमा टङ्कोत्कीर्णरूपसे—स्थायिरूपसे प्रकट हुई है, ऐसा यह ज्ञानका पुञ्ज आत्मा देदीप्यमान है।

भावार्थ—सम्पूर्ण कर्तृ-कर्म आदि भावोसे उत्तीर्ण सर्वविशुद्ध भावात्मक आत्माका इस सर्वविशुद्ध अधिकारमे वर्णन है। इसलिये सर्वप्रथम उस ज्ञानपुञ्ज आत्माका इसमे स्तवन किया गया है, जिसने कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि भावोका नाश कर दिया है। पहले अज्ञान अवस्थामे यह आत्मा कर्मोका कर्ता और भोक्ता बनता था, परन्तु सम्यग्ज्ञानके प्रकट होने पर अब यह अपने आपको कर्मोका कर्ता और भोक्ता नही मानता। पहले अज्ञानदशामे कर्मोके बन्ध और मोक्षके विकल्पमे पड़ा हुआ था, पर अब निश्चयदृष्टि प्रकट होने पर बन्ध और मोक्षके विकल्पसे दूर हो गया है। पहले द्रव्यकर्म और भावकर्मके साथ सम्बन्ध होनेसे अशुद्ध हो रहा था, परन्तु अब उभयविध कर्मोका सम्बन्ध छूट जानेसे अत्यन्त शुद्धताको प्राप्त हो गया है। पहले इसका क्षायोपशमिक ज्ञानरूपी प्रकाश रागद्वेषसे सपृक्त होनेके कारण अपवित्र तथा अस्थिर था, परन्तु अब इसका क्षायिकज्ञानरूपी प्रकाश रागद्वेषसे सर्वथा रहित होनेके कारण पवित्र और स्थिर है। पहले इसका ज्ञानादिरूप वैभव मेघमण्डलमे छिपी विद्युल्लताके समान प्रकट होता और फिर तिरोहित होता रहता था, पर अब इसका ज्ञानादिरूप वैभव टाकीसे उकेरे हुएके समान सदाके लिये प्रकट हो चुका है। ऐसा यह ज्ञानपुञ्ज—अनन्तज्ञानकी राशिस्वरूप आत्मा प्रकट हो रहा है ॥१९२॥

अब आत्मामें कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अभाव सिद्ध करते है—

अनुष्टुप्छन्द

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।
अज्ञानादेव कर्ताऽयं तदभावादकारकः ॥१९३॥

अर्थ—भोक्तापनके सदृश कर्तापन भी आत्माका स्वभाव नही है। अज्ञानसे ही आत्मा कर्ता भासमान होता है और अज्ञानके अभावसे अकारक ही है—कर्ता नही है।

भावार्थ—जीवत्व गुणके समान कर्तृत्व आत्माका स्वभाव नहीं है क्योंकि कर्तृत्व यदि आत्माका स्वाभाविक गुण होता तो मुक्तावस्थामे भी इसका अस्तित्व पाया जाता। अतः यह प्रतीत होता है कि मोहादि विभावभावोंका निमित्त पाकर अज्ञानी आत्मा कर्ता बनता है, परमार्थ-से कर्ता नहीं है। जैसे मद्यपायी मद्यके नशामे उन्मत्त बनता है, स्वभावसे उन्मत्त नहीं होता। यहाँ पर इसे स्पष्ट करनेके लिये एक उदाहरण है—

एक बार एक राजा हाथी पर बैठा हुआ मन्त्रीके साथ वनक्रीडाके लिए जा रहा था। मार्गमें एक तन्तुवाय भी मद्यपान कर जा रहा था। राजाको देखकर वह कहता है कि क्यो रे हाथी बेचेगा? क्या मूल्य लेगा? राजा इस वाक्यको श्रवणकर एकदम क्रोधित हो, उसे दण्ड देनेकी आज्ञा देना ही चाहता था कि मन्त्रीने कहा—महाराज! दो घण्टेके अनन्तर ही इसे दण्ड देनेकी आज्ञा दीजिये, अभी यह वराक अपनेमे नहीं है। राजाने मन्त्रीके वाक्यको श्रवणकर 'तथास्तु' कहा। अनन्तर वह राजा वनविहारसे निवृत्त होकर जब राजसभामे सिंहासनारूढ हुआ तब मन्त्रीकी आज्ञासे वह मद्यपायी तन्तुवाय बुलाया गया। महाराजने उससे प्रश्न किया—हाथी खरीदोगे? वह बेचारा महाराजके वाक्य श्रवणकर कम्पित हो गया और कर मुकुलितकर नम्रीभूतमस्तक हो विनयके साथ उत्तर देता है—भो प्रभो! हाथी खरीदनेवाला तो अभी नहीं है, वह भाव तभी तक था जब तक मद्यका नशा था। इसी तरह जब तक यह आत्मा मोह-मदिराके नशामे उन्मत्त रहता है तब तक ही परपदार्थोंका कर्ता बनता है। उस नशामें संसार भरके पदार्थोंका कर्ता आप तो बनता है सो ठीक ही है परन्तु निर्विकार आनन्दस्वरूप विज्ञानघन विकल्पजालमुक्त जो परमात्मा हैं उनमे भी इस अज्ञानदशामे जायमान कर्तापनका आरोप करता है। अज्ञानावस्थामे जो-जो विकार न हों, सो थोड़े हैं। इसीसे कल्याणमन्दिरमे कहा है—

त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि नूनं विभो हरिहरादिधिया प्रपन्नाः।
किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शङ्खो नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण॥

अर्थात् हे विभो! अज्ञानान्धकारसे रहित आपको ही अन्यवादीजन हरि, हर आदिकी बुद्धिसे प्राप्त हुए हैं—आपको हरि, हर आदि समझकर आपकी उपासना करते हैं। सो ठीक ही है क्योंकि हे ईश! काच और कामलारोगसे सहित लोगोंके द्वारा सफेद शङ्ख भी क्या नानाप्रकार-के विपरीत वर्णोंसे युक्त नहीं ग्रहण किया जाता? अवश्य किया जाता है॥१९३॥

अब आगे दृष्टान्तपूर्वक आत्माका अकर्तापन सिद्ध करते हैं—

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह॥३०८॥
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि॥३०९॥
ण कुदो चि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होइ॥३१०॥

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥३११॥

(चतुष्कम्)

अर्थ—जो द्रव्य जिन गुणोसे उत्पन्न होता है उसे उन गुणोसे अभिन्न जानो । जैसे कि कटक आदि पर्यायोसे उत्पन्न होता हुआ सुवर्ण उन पर्यायोसे अभिन्न होता है[1] । आगममें जीव और अजीवद्रव्यके जो परिणाम—पर्याय कहे गये हैं उस जीव और अजीवद्रव्यको उन परिणामो—पर्यायोंसे अभिन्न जानो, क्योंकि आत्मा किसीसे उत्पन्न नही हुआ है । इसलिये कार्य नही है और किसीको उत्पन्न नही करता, इसलिये कारण भी नही है । कर्मकी अपेक्षा कर्ता और कर्ताकी अपेक्षा कर्म उत्पन्न होते है, ऐसा नियम है । इस नियमको उल्लंकर अन्य किसी प्रकार कर्ता और कर्मकी सिद्धि नही होती ।

विशेषार्थ—निश्चयसे जीव क्रमनियमित अपने परिणामोसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नही । इसी प्रकार अजीव भी क्रमनियमित अपने परिणामोसे उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नही, क्योंकि सब द्रव्योंका अपने परिणामोके साथ तादात्म्य है । जिस प्रकार कि कङ्कण आदि पर्यायोके साथ सुवर्णका तादात्म्य रहता है । इस तरह अपने परिणामोंसे उत्पन्न होनेवाले जीवका अजीवके साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नही होता है, क्योंकि सभी द्रव्योका अन्य द्रव्यके साथ उत्पाद्य-उत्पादकभावका अभाव है । उसके अभावमे अजीवके जीवका कर्मपन सिद्ध नही होता और उसके सिद्ध न होने पर जीवके अजीवका कर्तापन सिद्ध नही होता, क्योकि कर्ता और कर्म अन्यकी अपेक्षा सिद्ध न होकर स्वद्रव्यकी अपेक्षा ही सिद्ध होते हैं । इससे जीव अकर्ता ठहरता है ।

ऐसा सिद्धान्त कुन्दकुन्ददेवने कर्तृकर्माधिकारमें भी स्पष्ट रीतिसे कहा है—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥

अर्थात् जो द्रव्य जिम स्वकीय द्रव्यस्वभावमे अथवा स्वकीय गुणमे वर्तता है वह द्रव्य, अन्य द्रव्य और अन्य गुणमें संक्रमण नही कर सकता । यहाँ पर ऐसा तात्पर्य जानना चाहिये कि निमित्तकारणको पाकर परिणमनशील जो पदार्थ है वह अन्यरूप नही होता है । जैसे कुम्भकारके

---

१. यही सिद्धान्त श्रीकुन्दकुन्दस्वामीने प्रवचनसारके ज्ञानाधिकारमें कहा है—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥८॥

जो द्रव्य जिस कालमें जिस परिणाम कर परिणमता है वह उस कालमें उससे तन्मय हो जाता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है । इसीसे जब आत्मा धर्मरूप परिणमता है तब उसे धर्म जानना चाहिये । जैसे लोहेका गोला जिस कालमें अग्निमें तपानेसे अग्निरूप परिणम जाता है उस कालमें उसे अग्नि ही, कहते है, वैसे ही आत्मा जिस कालमें सम्पूर्ण रागादिक विभावोंसे विहीन धर्मरूप परिणमता है उस कालमें श्रीजिनदेवने उसे धर्म कहा है ।

योग और उपयोगके द्वारा मिट्टीका घटरूप परिणमन हो जाता है। एतावता कुम्भकार घटरूप नही होता, क्योकि घटपर्यायका उपादानकारण मिट्टी है। अत. मिट्टीके अनुरूप घट होगा। उसी तरह जीव और पुद्गलमे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी जीवके परिणाममे उपादानकारण जीव और अजीवके परिणमनमे उपादानकारण अजीव है। अत. जीवका परिणमन जीवरूप और अजीवका परिणमन अजीवरूप ही होगा ॥३०८-३११

इसी सिद्धान्तको श्री अमृतचन्द्रस्वामी कलशा द्वारा कहते हैं—

शिखरिणीछन्द

अकर्ता जीवोऽय स्थित इति विशुद्ध स्वरसत
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवन.।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्ध प्रकृतिभि
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहन ॥१९४॥

अर्थ—जो स्वभावसे शुद्ध है तथा देदीप्यमान चैतन्यरूप ज्योतिके द्वारा जिसने ससारके विस्ताररूप भवनको व्याप्त कर लिया है, ऐसा यह आत्मा परद्रव्योका अकर्ता है, यह निश्चित है। फिर भी इस संसारमे कर्मप्रकृतियोके साथ इस जीवका जो बन्ध होता है वह निश्चयसे अज्ञानकी कोई अनिर्वचनीय गहन महिमा है।

भावार्थ—जीव स्वभावसे शुद्ध है और केवलज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा समस्त लोक-अलोकको प्रकाशित करनेवाला है, इसलिये वह कर्मोका कर्ता नही है। फिर भी अनादिसे कर्मप्रकृतियोके साथ जो इसका बन्ध हो रहा है वह अज्ञानकी ही बडी भारी महिमा है। निश्चयनयमे उत्पाद्योत्पादकभावकी मुख्यतासे कथन होता है और वह उत्पाद्योत्पादकभाव एक द्रव्यमे ही बनता है, अन्य द्रव्यमे नही। इसलिये निश्चयनयसे जीव कर्मोका कर्ता नही है। परन्तु व्यवहारनयमे निमित्त-नैमित्तिकभावकी मुख्यतासे कथन होता है और वह निमित्त-नैमित्तिकभाव अन्य द्रव्योमे बनता है। इसलिये व्यवहारनयसे जीव कर्मोका कर्ता है। इस प्रकार नयविवक्षासे कथन जानना चाहिये ॥१९४॥

अब इस अज्ञानकी महिमाको प्रकट करते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

चेया उ पयडियट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥३१२॥

एवं बंधो उ दुण्हं अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥३१३॥

(युग्मम्)

अर्थ—चेतनागुणविशिष्ट आत्मा, ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोके निमित्तसे उत्पन्न होता है और विनाशको प्राप्त होता है तथा प्रकृति भी उसी रूपसे—आत्मपरिणामभूत रागादिकके

निमित्तसे उत्पन्न होती है और विनशती है। इस प्रकार आत्मा और कर्म दोनोंका परस्परके निमित्तसे बन्ध होता है तथा उस बन्धसे ससार होता है।

विशेषार्थ—यह आत्मा, अनादि ससारसे प्रतिनियत जो पर और आत्माके स्वलक्षण है उनका ज्ञान न होनेसे दोनोमे एकत्वका निश्चय करनेके कारण कर्ता होता हुआ प्रकृतिके निमित्तसे उत्पाद और विनाशको प्राप्त होता है और प्रकृति भी आत्माके निमित्तसे उत्पत्ति और विनाशको प्राप्त होती है। इसतरह आत्मा और प्रकृतिमे परमार्थसे कर्तृ-कर्मभावका अभाव होनेपर भी परस्परके निमित्त-नैमित्तिकभावसे दोनोका बन्ध देखा गया है, उस बन्धसे संसार होता है और इसीसे उन दोनोमे कर्तृ-कर्मका व्यवहार होता है।

यह बात आचार्य पहले भी कर्तृकर्माधिकारमे दिखा चुके हैं—

जीवपरिणामहेदु कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोह्णं पि ॥८१॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाण ॥८२॥

अर्थात् पुद्गल जीवके रागादिक परिणामोका निमित्त पाकर कर्मरूप परिणमन करते है और जीव भी पुद्गलकर्मका निमित्त पाकर रागादिभावरूप परिणम जाता है, ऐसा परिणमन होनेपर भी जीवद्रव्य कर्मोमे कोई गुण नही करता है और पुद्गलकर्म जीवमे कोई गुण नही करता है, किन्तु दोनोका परस्परके निमित्तसे परिणाम देखा जाता है। इस कारणसे जीव अपने भावोका कर्ता है, पुद्गलकर्मकृत जो सम्पूर्ण भाव हैं उनका कर्ता नही है ॥३१२-३१३॥

आगे कहते हैं कि जबतक आत्मा प्रकृतिके निमित्तसे उपजना और विनाश होना नही छोड़ता है तबतक अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और असंयमी है—

अनुष्टुप्छन्द

जा एस पयडीयट्ठं चेया णेव विमुंचए।
अयाणओ हवे ताव मिच्छाइट्ठी असंजओ ॥३१४॥
जया विमुंचए चेया कम्मप्फलमणंतयं।
तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी ॥३१५॥

(युग्मम्)

अर्थ—यह आत्मा जबतक प्रकृतिके निमित्तसे जायमान उपजना और विनाशको नही त्यागता है तबतक अज्ञानी होता हुआ मिथ्यादृष्टि और असंयमी है तथा जब अनन्त कर्मफलको छोड़ देता है तब कर्मबन्धसे रहित होता हुआ ज्ञाता, द्रष्टा और सयमी होता है।

विशेषार्थ—जबतक यह आत्मा अपने-अपने प्रतिनियत लक्षणोका ज्ञान न होनेसे आत्माके बन्धका निमित्त जो प्रकृतिस्वभाव है उसे नही त्यागता है तबतक आत्मा और परमे एकपनका

ज्ञान होनेसे अज्ञानी है, आत्मा और परमे एकपनके दर्शनसे मिथ्यादृष्टि है तथा आत्मा और परमे एकपनकी परिणतिसे असयत है और तभी तक पर तथा आत्मामे एकपनका निश्चय करनेसे कर्ता होता है। परन्तु जिसकालमे यही आत्मा अपने-अपने प्रतिनियत लक्षणोका ज्ञान होनेसे आत्माके बन्धका निमित्त जो प्रकृतिस्वभाव है उसे छोड देता है उस कालमे आत्मा और परपदार्थके भेद-ज्ञानसे ज्ञायक होता है, आत्मा और परको भिन्न-भिन्न देखनेसे दर्शक होता है, आत्मा और परकी भिन्न-भिन्न परिणति होनेसे सयत होता है और उसी समय पर और आत्मामे एकपनका अध्यवसाय न करनेसे अकर्ता होता है ॥३१४-३१५॥

अब कर्तृत्वकी तरह भोक्तृत्व भी आत्माका स्वभाव नही है, यह कलशामे दिखाते हैं—

अनुष्टुप्

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृत कर्तृत्ववच्चित ।
अज्ञानादेव भोक्ताऽय तद्भावादवेदक ॥१९५॥

अर्थ—जैसे कर्तापन आत्माका स्वभाव नही है वैसे भोक्तापन भी आत्माका स्वभाव नही है। अज्ञानसे ही आत्मा भोक्ता होता है और अज्ञानके अभावमे यह अभोक्ता ही है।

भावार्थ—जिस नयसे आत्मा कर्मोंका अकर्ता है उस नयसे आत्मा कर्मोका अभोक्ता भी है और जिस नयसे कर्मोंका कर्ता है उस नयसे भोक्ता भी है ॥१९५॥

आगे यही भाव गाथामे कहते हैं—

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिओ दु वेदेइ ।
णाणी पुण कम्मफलं जाणइ उदियं ण वेदेइ ॥३१६॥

अर्थ—अज्ञानी जीव प्रकृतिके स्वभावमे स्थित होता हुआ कर्मफलको वेदता है—भोगता है। परन्तु ज्ञानी जीव उदयागत कर्मफलको जानता तो है पर भोगता नही है।

विशेषार्थ—अज्ञानी जीव, शुद्धात्मज्ञानका अभाव होनेके कारण निज और परके एकत्व ज्ञानसे, निज और परके एकत्व दर्शनसे तथा निज और परमे एकत्वकी परिणति होनेसे प्रकृति-स्वभावमे—कर्मस्वभावमे स्थित है। अत प्रकृतिस्वभावका अहम्भावसे अनुभव करता हुआ वह कर्मफलका भोक्ता होता है। परन्तु ज्ञानी जीव शुद्धात्मज्ञानके सद्भावके कारण निज और परमे भेदज्ञानसे, निज और परमे भेददर्शनसे तथा निज और परमे भिन्न परिणति होनेसे प्रकृतिस्वभाव-से दूर हट चुका है। इसलिये यह एक शुद्धात्मस्वभावका ही अहम्भावसे अनुभव करता हुआ उदयागत कर्मफलको ज्ञेयमात्रपनसे जानता ही है, किन्तु अहम्भावसे उसका अनुभव करना अशक्य होनेसे उसे भोगता नही है।

भावार्थ—अज्ञानी जीव शुद्धात्मस्वभावका ज्ञान न होनेसे उदयागत कर्मफलको आत्माका स्वभाव जानकर भोगता है और ज्ञानी जीव शुद्धात्मस्वभावका ज्ञाता होनेसे उदयागत कर्मफलको जानता मात्र है, भोगता नही है। अज्ञानी जीवके अन्तरङ्गमे मिथ्यादर्शनके सद्भावसे यथार्थज्ञान-का अभाव है, इसीसे उसके स्वपरका भेदज्ञान नही है और भेदज्ञानके अभावसे निरन्तर परपदार्थो-को अपने मानकर उनके परिणमनको अपने अनुकूल बनानेकी वह चेष्टा करता है जो कि सर्वथा

असभव है। इसीसे जो कर्मफल उदयमे आता है उसका भोक्ता बनता है। किन्तु ज्ञानी जीवके मिथ्यात्वभावके अभावसे सम्यग्ज्ञानका उदय है। अत वह भिन्न-भिन्न पदार्थोको जानता है और उनके परिणमनसे अपने परिणमनको भी भिन्न जानता है। अत उदयमे आये कर्मफलको जानता है अर्थात् उनके द्वारा जो सुख-दुःख होता है उसको जानता तो है पर वेदता नही है ॥३१६॥

आगे यही भाव कलशामे कहते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदक. ।
इत्येव नियम निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यता
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यता ज्ञानिता ॥१९६॥

अर्थ—अज्ञानी जीव प्रकृतिस्वभावमे रत होनेसे नित्य ही भोक्ता है और ज्ञानी जीव प्रकृतिस्वभावसे विरत होनेसे कदाचित् भी भोक्ता नही होता है। इस प्रकारके नियमको जानकर ज्ञानी पुरुष अज्ञानीपनको छोड़े और शुद्ध एक आत्मस्वरूप तेजमे स्थिर होकर ज्ञानीपनका सेवन करें।

भावार्थ—कर्मविपाकसे जायमान विकारको अज्ञानी जीव आत्माका स्वभाव जानता है, अत वह उसका भोक्ता बनकर हर्ष-विषादका अनुभव करता है। परन्तु ज्ञानी जीव एक ज्ञान-दर्शनरूप चिन्मात्र ज्योतिको ही आत्माका स्वभाव समझता है, इसलिये उसमे लीन रहता है, और कर्मविपाकसे जायमान रागादि विकारीभावोको पर मानता है, इसलिये उनमे लीन नही रहता। ज्ञानका विषय होनेसे वह उन्हे जानता तो है, परन्तु उनका भोक्ता नही होता है ॥१९६॥

आगे अज्ञानी भोक्ता ही है, ऐसा नियम करते हैं—

ण मुयइ पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइऊण सत्थाणि ।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति ॥३१७॥

अर्थ—अभव्य जीव सम्यक्प्रकारसे शास्त्रोका अध्ययन करके भी कर्मकी विपाकावस्थासे जायमान विभावभावोको अपना माननेरूप स्वभावको नही छोड़ता, सो ठीक ही है क्योकि सॉप गुड और दुग्धका पान करते हुए भी निर्विष नही होते।

विशेषार्थ—जिसप्रकार विषधर सर्प स्वकीय विषपनको न तो अपने आप छोड़ता है और न विषमोचनमे समर्थ शर्करा सहित दुग्धपानसे ही छोडता है। इसीप्रकार अभव्य जीव प्रकृति-निमित्तसे जायमान रागादिक विकारभावोको न तो स्वयमेव छोडता है और न रागादिकके अपहरणमे समर्थ द्रव्यश्रुतज्ञानसे भी उन्हे छोड़ता है, क्योकि भावश्रुतज्ञानरूप शुद्धात्मज्ञानके अभावसे वह अज्ञानी ही है। अतः नियम किया जाता है कि प्रकृतिस्वभावमे स्थित होनेसे अज्ञानी भोक्ता ही है ॥३१७॥

आगे ज्ञानी अभोक्ता ही है, ऐसा नियम करते हैं—

णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेइ ।
महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ तेण सो होई ॥३१८॥

अर्थ—वैराग्यभावको प्राप्त जो ज्ञानी आत्मा है वह बहुत प्रकारके मधुर और कटुक भेदरूप कर्मफलको जानता है, इसलिये अभोक्ता है ।

विशेषार्थ—ज्ञानी जीव अभेदरूप भावश्रुतज्ञान नामक शुद्धात्मज्ञानका सद्भाव होनेसे परपदार्थसे अत्यन्त विरक्त है, इसलिये वह प्रकृतिस्वभावको स्वयमेव त्याग देता है, ज्ञाता होनेके कारण उदयमे आये हुए अमधुर और मधुर—अनिष्ट और इष्ट कर्मफलको केवल जानता ही है, क्योकि इसप्रकारका ज्ञान होनेपर परद्रव्यका अहभावसे अनुभव नही किया जा सकता, इसलिये भोक्ता नही है । अतएव प्रकृतिस्वभावसे विरक्त होनेके कारण ज्ञानी अभोक्ता ही है ॥३१८॥

अब यही भाव कलशामे दिखाते है—

वसन्ततिलकाछन्द

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमय किल तत्स्वभावम् ।
जानन्पर करणवेदनयोरभावात्-
छुद्धस्वभावनियत स हि मुक्त एव ॥१९७॥

अर्थ—ज्ञानी न तो कर्मका कर्ता है और न भोक्ता है, केवल उनके स्वभावको निश्चयसे जानता ही है । परपदार्थको जाननेवाले ज्ञानी जीवके परपदार्थके प्रति कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अभाव होनेसे वह अपने शुद्धस्वभावमे नियत है, अत मुक्त ही है ।

भावार्थ—निश्चयनयनसे ज्ञानी जीव अपने स्वभावका ही कर्ता और भोक्ता होता है । अत वह कर्मरूप परद्रव्यका न तो कर्ता है और न भोक्ता है, केवल ज्ञाता ही है, इसलिये वह अपने शुद्धस्वभावमे लीन रहता है । शुद्धस्वभावमे लीन रहनेसे वह मुक्त ही कहा जाता है ॥१९७॥

आगे इसी अर्थको फिर भी कहते हैं—

ण वि कुव्वइ ण वि वेयइ णाणी कम्माइं बहुपयाराइं ।
जाणइ पुण कम्मफलं बधं पुण्णं च पावं च ॥३१९॥

अर्थ—ज्ञानी जीव बहुत प्रकारके कर्मोको न करता है, न भोक्ता है, किन्तु कर्मफलको जानता है, बन्धको जानता है, पुण्य और पापको जानता है ।

विशेषार्थ—निश्चयसे ज्ञानी जीव कर्मचेतना और कर्मफलचेतनासे रहित होनेके कारण स्वय न कर्ता है और न भोक्ता है । अतएव वह न तो कर्मको करता है और न भोगता है । किन्तु ज्ञानचेतनासे तन्मय होनेके कारण केवल ज्ञाता ही है । अतएव कर्मबन्ध और शुभ-अशुभ कर्मफलको केवल जानता ही है ॥३१९॥

आगे इसी बातको दृष्टान्तद्वारा पुष्ट करते है—

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव ।
जाणइ य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥३२०॥

अर्थ—जैसे नेत्र देखने योग्य पदार्थोंको देखता है, न तो उनका करनेवाला है, और न ही उनका भोगनेवाला है, वैसे ही ज्ञान बन्धको, मोक्षको, कर्मके उदयको और निर्जराको जानता है, न तो उनका करनेवाला है और न भोगनेवाला है।

विशेषार्थ—जिसप्रकार इस ससारमे नेत्र देखने योग्य पदार्थसे अत्यन्त भिन्न होनेके कारण उसके करने और भोगनेमे असमर्थ है। अत वह देखने योग्य पदार्थको न करता है और न भोगता है किन्तु देखता ही है। यदि ऐसा न माना जावे तो जिसप्रकार धोकनेवाला अग्निका कर्ता है और लोहपिण्ड जिसप्रकार स्वय ही उष्णताका अनुभव करनेवाला है उसीप्रकार नेत्र भी अग्निके देखनेसे उसका कर्ता हो जावेगा और स्वयं ही उष्णताका अनुभव करने लगेगा, परन्तु ऐसा होता नही है। देखने मात्रका स्वभाव होनेसे वह समस्त पदार्थोको केवल देखता ही है। उसीप्रकार ज्ञान भी स्वयं द्रष्टा होनेके कारण कर्मोसे अत्यन्त भिन्न है। अत वह परमार्थसे कर्मोके करने और भोगनेमे असमर्थ होनेसे न कर्मोंको करता है और न भोगता है। किन्तु केवल, ज्ञानमात्र स्वभाव होनेसे कर्मबन्धको, मोक्षको, कर्मोदयको और निर्जराको केवल जानता ही है ॥३२०॥

आगे आत्मा कर्मोका कर्ता है, ऐसा मानना मोक्षमे बाधक है, यह भाव कलशामें दिखाते है—

अनुष्टुप्छन्द

ये तु कर्तारमात्मान पश्यन्ति तमसा तता ।
सामान्यजनवत्तेपा न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥१९८॥

अर्थ—अज्ञानान्धकारसे आच्छादित हुए जो पुरुष आत्माको परका कर्ता देखते है। सामान्य मनुष्योकी तरह मोक्षकी इच्छा रखते हुए भी उन पुरुषोको मोक्ष नही होता है।

आगे इसी अर्थको गाथाओमे प्रकट करते हैं—

लोयस्स कुणइ विण्हू सुर-णारय-तिरिय-माणुसे सत्ते ।
समणाणं पि य अप्पा कुव्वइ छव्विहे काये ॥३२१॥
लोगसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसइ विसेसो ।
लोयस्स कुणइ विण्हू समणाण वि अप्पओ कुणइ ॥३२२॥
एवं ण को वि मोक्खो दीसइ लोय-समणाण दोण्हं पि ।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए ॥३२३॥
(त्रिकलम्)

अर्थ—लौकिक मनुष्योकी ऐसी श्रद्धा है कि देव, नारकी, तिर्यञ्च और मनुष्य इन

प्राणियोको विष्णु करता है और इसी तरह यदि मुनियोकी श्रद्धा हो कि षट्कायके जीवोको करनेवाला आत्मा है तो लौकिक मनुष्य और मुनियोका एक ही सिद्धान्त हुआ, कोई विशेषता नही दिखाई देती, क्योकि लौकिक मनुष्योके मतमे विष्णु करता है और मुनियोके मतमे आत्मा करता है। इसप्रकार लौकिक मनुष्य और मुनि इन दोनोका कोई भी मोक्ष दिखाई नही देता, क्योकि दोनो ही देव, मनुष्य और असुरोसे सहित लोकोको नित्य ही करते हुए प्रवर्तते हैं।

विशेषार्थ—जो आत्माको कर्ता ही मानते है वे लोकोत्तर (मुनि) होकर भी लौकिकपनका उल्लघन नही करते हैं अर्थात् लौकिक ही है, क्योकि लौकिकजनोंका परमात्मा विष्णु, देव-नारकी आदि कार्योको करता है और लोकोत्तरजनोका स्वात्मा देव,नारकी आदि कार्योको करता हैं। इसतरह यह खोटा सिद्धान्त दोनोका एक समान है। इसलिये आत्माको नित्य-कर्ता माननेसे लौकिकजनोके समान उन लोकोत्तरपुरुषोको भी मोक्ष नही हो सकता ॥३२१-३२३॥

अब आत्मा और परद्रव्यमे कुछ भी सम्बन्ध नही है, यह दिखानेके लिये कलशा कहते है—

अनुष्टुप्छन्द

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्ध परद्रव्यात्मतत्त्वयो ।
कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुत ॥१९९॥

अर्थ—परद्रव्य और आत्मामें परस्पर समस्त सम्बन्ध नही हैं, अत: कर्तृ-कर्मत्व सम्बन्धका भी अभाव है और उसके अभावमे आत्मा परद्रव्यका कर्ता कैसे हो सकता है ? ॥१९९॥

आगे परद्रव्य मेरा नहीं है, यह दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं—

ववहारभासिएण उ परदव्वं मम भणंति अविदियत्था ।
जाणंति णिच्छयेण उ ण य मह परमाणुमिच्चमवि किंचि ॥३२४॥
जह को वि णरो जंपइ अह्मं गामविसयणयररट्ठं ।
ण य होंति तस्स ताणि उ भणइ य मोहेण सो अप्पा ॥३२५॥
एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्संसयं हवइ एसो ।
जो परदव्व मम इदि जाणंतो अप्पय कुणइ ॥३२६॥
तम्हा ण मे त्ति णिच्चा दोह्णं वि एयाण कत्तविवसायं ।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहियाणं ॥३२७॥
(चतुष्कम्)

अर्थ—जिन लोगोने पदार्थके स्वरूपको नही जाना है वे व्यवहारकी भाषासे ऐसा कथन करते हैं कि 'परद्रव्य मेरा है'। परन्तु जो निश्चयसे पदार्थके स्वरूपको जानते हैं वे कहते हैं कि परमाणुमात्र भी 'परद्रव्य मेरा नही है'। जिसप्रकार लोकमे कोई मनुष्य ऐसा कहता है कि

१ अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्ण परमाणुमित्त पि ॥

हमारा ग्राम है, देश है, नगर है, तथा राष्ट्र है। पर वे ग्रामादिक उसके नहीं है, वह मोहसे उन्हे अपना मानता है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव भी परद्रव्यको जानता हुआ 'यह मेरा है' इस तरह उसे अपना मानने लगे तो वह मिथ्यादृष्टि ही है, इसमे शङ्काके लिये स्थान नही है। इसलिये ज्ञानी जीव 'परद्रव्य मेरा नही है' ऐसा जानकर लौकिकजन और मुनि इन दोनोंका परद्रव्यके विषयमे जो कर्तृत्वका व्यवसाय है उसे मिथ्यादृष्टियोका ही व्यवसाय जानता है।

विशेषार्थ—अज्ञानी जीव ही केवल व्यवहारमें विमूढ होकर 'परद्रव्य मेरा है' ऐसा देखते हैं। परन्तु निश्चनयके द्वारा प्रतिबोधको प्राप्त हुए ज्ञानी जीव परद्रव्यके कणिकामात्रको भी 'यह मेरा है' ऐसा नही देखते हैं। इसलिये जिसप्रकार इस लोकमें व्यवहार द्वारा विमुग्ध परकीय ग्रामवासी कोई मनुष्य दूसरेके ग्रामको 'यह हमारा ग्राम है' ऐसा देखता हुआ मिथ्यादृष्टि है, उसी प्रकार यदि ज्ञानी जीव भी किसी तरह व्यवहारमे मुग्ध होकर 'यह परद्रव्य हमारा है' ऐसा यदि देखने लगे तो उससमय वह भी नि सन्देह परद्रव्यको अपना करता हुआ मिथ्यादृष्टि ही होगा। इसलिये तत्त्वको जाननेवाले पुरुषको, 'सम्पूर्ण परद्रव्य मेरा द्रव्य नही है' ऐसा जानकर लौकिकजन और मुनि दोनोंका जो यह परद्रव्यमे कर्तृत्वका व्यवसाय है वह उनके सम्यग्दर्शनसे रहित होनेके कारण ही हो रहा है, ऐसा निश्चत जानना चाहिये ॥३२४–३२७॥

अब इसी भावको कलशा द्वारा प्रकट करते है—

वसन्ततिलकाछन्द

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्द्धं
सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्ध ।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम् ॥२००॥

अर्थ—यत इस संसारमे एक वस्तुका अन्य वस्तुके साथ सभी सम्बन्ध निषिद्ध किया गया है, इसलिये वस्तुभेदके रहते हुए अर्थात् दो पृथक् द्रव्योमे कर्तृ-कर्मव्यवहारकी उत्पत्ति नही हो सकती। अतएव हे मुनियो! और हे लौकिकजनों! तुम तत्त्व अकर्तृरूप देखो।

भावार्थ—संसारके सब पदार्थ अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको लिये हुए स्वतन्त्र अस्तित्व रखते है। कोई अपने चतुष्टयको परके चतुष्टयके साथ परिवर्तित करनेके लिए समर्थ नही हैं, इसलिये किसी अन्य पदार्थका किसी अन्य पदार्थके साथ कोई सम्बन्ध नही है। इस तरह दो पृथक् सिद्ध पदार्थोंमे जब सभी प्रकारके सम्बन्धका निषेध हो गया तब उनमे कर्तृ-कर्मसम्बन्ध कैसे बन सकता है? निश्चयसे कर्तृ-कर्मसम्बन्ध सदा एक ही वस्तुमे बनता है क्योंकि जो परिणमन करता है वह कर्ता कहलाता है और जो उसका परिणाम है वह कर्म कहलाता है। इस स्थितिमे आत्मा परपदार्थोंका कर्ता नही हो सकता और परपदार्थ आत्माका कर्म नही हो सकता। इसलिये आचार्य महानुभावने मुनियो तथा लौकिकजनो—दोनोको सम्बोधित करते हुए कहा है कि तुम आत्मतत्त्वको परद्रव्यका अकर्ता ही समझो ॥२००॥

अब भावकर्मका कर्ता चेतन ही है, यह दिखानेके लिए कलशा कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेम-
मज्ञानमग्नमहसो बत ते वराका. ।
कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म-
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्य ॥२०१॥

अर्थ—आचार्य खेदपूर्वक कहते है कि जो पुरुष वस्तुस्वभावके इस नियमको अङ्गीकार नही करते हैं तथा जिनका आत्मतेज अज्ञानमे डूब गया है वे दीन हुए कर्म करते हैं। इसलिये भावकर्मका कर्ता चेतन ही है, अन्य नही है।

भावार्थ—निश्चयनय दो विभिन्न द्रव्योमे कर्तृ-कर्मभावका निषेध करता है, इसलिये आत्मा द्रव्यकर्मका कर्ता नही है, इतना तो निश्चित हो चुका। अब रागादिक भावकर्मके कर्ताका विचार है, सो यह रागादिक भावकर्म उपादानोपादेयसम्बन्धकी अपेक्षा आत्माकी ही परिणति है क्यो कि आत्मा ही रागादिकरूप परिणमन करता है। अत. जब वे आत्माके ही परिणमन हैं तब आत्मा ही इनका कर्ता हो सकता है, अन्य द्रव्य नही। परन्तु ये रागादिक आत्माके स्वभाव नही हैं, परद्रव्यके सम्बन्धसे होनेवाले अशुद्धभाव है। अज्ञानदशामे ही आत्मा इनका कर्ता होता है, ज्ञानी दशामे नही ॥२०१॥

आगे इसी कथनको युक्ति द्वारा पुष्ट करते हैं—

मिच्छत्तं जइ पयडी मिच्छाइट्ठी करेइ अप्पाणं।
तम्हा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो ॥३२८॥
अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छत्तं।
तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छाइट्ठी ण पुण जीवो ॥३२९॥
अह जीवो पयडी तह पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं।
तम्हा दोहिं कदं तं दोण्णि वि भुंजंति तस्स फलं ॥३३०॥
अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं।
तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ॥३३१॥

(चतुष्कम्)

अर्थ—यदि मिथ्यात्वनामक प्रकृति आत्माको मिथ्यादृष्टि करती है अर्थात् मिथ्यात्वरूप भावकर्मको करती है तो हे सांख्यमती[1]! तुम्हारे सिद्धान्तमे अचेतन प्रकृति कारकपनको प्राप्त हो जावेगी अथवा यह जीव पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वको करता है, ऐसा मानोगे तो पुद्गलद्रव्य

१ सांख्यमतमें आत्माको तो अकर्ता ही माना है और प्रकृतिको ही कर्ता माना है। उसी अभिप्रायको लेकर आचार्यका कहना है कि यदि आत्माको सर्वथा शुद्ध माना जावे और मिथ्यात्वादि भावोका कर्ता प्रकृति को ही माना जावे, तो ऐसा माननेवाला सांख्यमतका ही अनुयायी होगा।

मिथ्यादृष्टि हुआ, जीव तो मिथ्यादृष्टि नही हुआ अथवा जीव और प्रकृति दोनों ही मिलकर पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वको करते हैं तो दोनोके द्वारा जो कार्य किया गया है, उसके फलको दोनों ही भोगेंगे, परन्तु ऐसा बन नही सकता क्योंकि भोक्तृपन चेतनका धर्म होनेसे जीवमे ही हो सकता है, जड प्रकृतिमे नही। कदाचित् यह मानो कि प्रकृति और जीव दोनो ही पुद्गलद्रव्यको मिथ्यादृष्टि नही करते हैं तो पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहना क्या मिथ्या नही है ?

विशेषार्थ—जीव ही मिथ्यात्व आदि भावकर्मका कर्ता है क्योकि यदि उसे अचेतन प्रकृतिका कार्य माना जावेगा तो उसमें अचेतनपनका प्रसङ्ग आ जावेगा। जीव अपने ही मिथ्यात्वादि भावकर्मका कर्ता है अर्थात् जीवमे जो मिथ्यात्वादि भावकर्मरूप परिणति होती है उसीका कर्ता जीव है। पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वादि भावकर्म जीवके द्वारा किये जाते है, यदि ऐसा माना जावे, तो पुद्गलद्रव्यमे चेतनपनका प्रसङ्ग आ जावेगा। जीव और प्रकृति दोनो ही मिथ्यात्वादि भावकर्मके कर्ता है, यदि ऐसा माना जावे, तो जीवके समान अचेतन प्रकृतिके भी उसका फल भोगनेका प्रसङ्ग आ जावेगा। यदि यह कहा जावे कि जीव और प्रकृति दोनो ही मिथ्यत्वादि भावकर्मके कर्ता नही हैं तो यह कहना भी ठीक नही है क्योंकि इस पक्षमे पुद्गलद्रव्यसे मिथ्यात्वादि भावकर्मका प्रसङ्ग स्वभावसे ही मानना पड़ेगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिक भावकर्म जीवके ही है, जीव ही इनका कर्ता है और ये जीवके ही कर्म है।

भावकर्म रागादिक है, यह अज्ञानावस्थामे, मिथ्यात्वके सद्भावसे जीवके होते है, जीव ही इनका कर्ता है, यही भाव ससारके कारण हैं। जीवाजीवाधिकारमे जो यह कहा है कि ये वर्णादिक व रागादिकभाव जीवके नही है, सो उसका यह तात्पर्य है—उस अधिकारमे जीवको परद्रव्यसे सर्वथा पृथक् जाननेका उपदेश है, अत वहाँ पर उन्ही भावोका ग्रहण है जो जीवकी सर्व अवस्थाओमे पाये जावे। अत ज्ञानदर्शन ही ऐसे हैं जो जीवत्वके साथ व्यापक होकर रहते है, रागादिकभाव इस तरहके नही हैं, वे कारणजन्य होनेसे औपाधिक भाव हैं, अतः जीवकी सर्व अवस्थाओमे उनकी व्याप्ति नही है। वस्तुके ऊपर विचार किया जावे तो जो-जो अवस्थायें वस्तुकी होती है उन-उन अवस्थाओका उसके साथ अभेद सम्बन्ध रहता है। जो वस्तु जिस कालमे जिस रूप परिणमती है उस कालमे वह तन्मय हो जाती है। तब जिस समय आत्मा रागादिरूप परिणमता है उस समय आत्माका रागादिकके साथ अभेद है और तज्जन्य जो आकुलता होती है उसका भोक्ता भी यही आत्मा होता है। अत आत्माको सर्वथा रागादि रहित मानना ससार और मोक्ष दोनोके स्वरूपका अपलाप करना है और इसका फल अनन्त ससार ही है ॥३२८-३२९-३३०-३३१॥

अब यही भाव कलशामे प्रकट करते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञाया प्रकृते स्वकार्यफलभुग्भावानुषङ्गात् कृति ।
नैकस्या प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुग ज्ञाता न यत्पुद्गल. ॥२०२॥

अर्थ—रागादिक भावकर्म, कार्य होनेसे बिना किया हुआ नही हो सकता, अर्थात् जब वह कार्य है तब किसी न किसीका किया हुआ अवश्य होगा। जीव और प्रकृति इन दोनोका वह कार्य है, ऐसा नही कहा जा सकता, क्योकि ऐसा मानने पर जीवकी तरह अचेतन जो प्रकृति है उसके भी उस कार्यके फलके भोगनेका प्रसङ्ग आता है। केवल एक प्रकृतिका भी कार्य नही हो सकता, क्योकि प्रकृति अचेतन है, अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति हो नही सकती। इसलिये जीव ही उसका कर्ता है और जीवका ही यह कर्म है क्योकि यह रागादिक भावकर्म चैतन्यानुगामी अर्थात् चेतन है और पुद्गल जडरूप है, जडरूप होनेसे पुद्गल इसका कर्ता नही हो सकता ॥२०२॥

भावार्थ—रागादिक चेतन है, अत उनका कर्ता चेतन ही हो सकता है। पौद्गलिक द्रव्यकर्म अचेतन है, अत· वह उनका कर्ता नही हो सकता। यह कथन उपादानकारणकी अपेक्षा है, निमित्तकारणकी अपेक्षा नही। रागादिकका उपादानकारण आत्मा है और निमित्तकारण पौद्गलिक द्रव्य।

आगे कर्म ही रागादिक भावकर्मका कर्ता है, इसका निराकरण करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां
कर्तात्मैष कथञ्चिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥२०३॥

अर्थ—कितने ही आत्मघाती पुरुषोने आत्माके कर्तापनका निराकरण कर तथा 'कर्म ही रागादिक भावोंका कर्ता है' ऐसी तर्कणा कर 'यह आत्मा कथञ्चित् रागादिक भावोका कर्ता है' इस निर्बाध श्रुतिको कुपित किया है। प्रचण्ड मोहसे जिनकी बुद्धि आवृत हो गई, ऐसे उन पुरुषोंके ज्ञानकी शुद्धिके लिये स्याद्वादके प्रतिबन्धसे विजय प्राप्त करनेवाली वस्तुस्थिति कही जाती है।

भावार्थ—सांख्यमतका अनुसरण करनेवाले कितने ही पुरुष आत्माको सर्वथा अकर्ता मान द्रव्यकर्मको ही रागादिक भावोका कर्ता मानते है। सो ऐसा माननेवाले पुरुष 'आत्मा कथंचित् रागादिक भावोका कर्ता है' इस 'निर्बाध' जिनवाणीको कुपित करते है—उसके विरुद्ध आचरण करते हैं। वैभाविक शक्तिके कारण आत्मामे रागादिरूप परिणमन करनेकी योग्यता है, इस योग्यताकी अपेक्षा रागादिकका कर्ता आत्मा है। परन्तु यह योग्यता द्रव्यकर्मके विपाकके विना विकसित नही होती। इसलिये निमित्तप्रधान दृष्टिमे रागादिकका कर्ता आत्मा नही है किन्तु द्रव्यकर्मका विपाक है। ऐसा जिनवाणीका कथन निर्बाध है—उसका कोई खण्डन नही कर सकता। जिन पुरुषोकी बुद्धि तीव्र मिथ्यात्वके उदयसे आवृत हो गई है उन्हे वस्तुका वास्तविक स्वरूप दृष्टिगत नही होता, अतएव उनके ज्ञानकी शुद्धिके लिये यहाँ स्याद्वादके द्वारा लगाये हुए प्रतिबन्धसे—स्वच्छन्द मान्यताओकी रुकावटसे विजय प्राप्त करनेवाली वस्तुस्थिति कही जाती है ॥२०३॥

आगे उसी वस्तुस्थितिको कहते हैं—

कम्मेहिं दु अण्णाणी किज्जइ णाणी तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिं सुवाविज्जइ जग्गाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ॥३३२॥

कम्मेहिं सुहाविज्जइ दुक्खाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहिं य मिच्छत्तं णिज्जइ णिज्जइ असंजमं चेव ॥३३३॥
कम्मेहिं भमाडिज्जइ उड्ढमहो चावि तिरियलोयं य ।
कम्मेहिं चेव किज्जइ सुहासुहं जित्तियं किंचि ॥३३४॥
जम्हा कम्मं कुव्वइ कम्मं देई हरत्ति जं किंचि ।
तम्हा उ सव्वजीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥३३५॥
पुरिसित्थियाहिलासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसइ ।
एसा आयरियपरंपरागया एरिसी दु सुई ॥३३६॥
तम्हा ण को वि जीवो अबंभचारी उ अम्ह उवएसे ।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसइ इदि भणियं ॥३३७॥
जम्हा घाएइ परं परेण घाइज्जए य सा पयडी ।
एएणच्छेण किर भण्णइ परघायणामित्ति ॥३३८॥
तम्हा ण को वि जीवो वघायओ अत्थि अम्ह उवदेसे ।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं घाएदि इदि भणियं ॥३३९॥
एवं संखुवएसं जे उ परूविंति एरिसं समणा ।
तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे ॥३४०॥
अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणई ।
एसो मिच्छसहावो तुम्हं एयं मुणंतस्स ॥३४१॥
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयम्हि ।
ण वि सो सक्कइ तत्तो हीणो अहिओ य काउं जे ॥३४२॥
जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमित्तं खु ।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कहं कुणइ दव्वं ॥३४३॥
अह जाणओ उ भावो णाणसहावेण अत्थि इत्ति मयं ।
तम्हा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणइ ॥३४४॥

(त्रयोदशकम्)

अर्थ—जिस प्रकार जीव कर्मोंसे अज्ञानी किया जाता है उसी प्रकार कर्मोंसे ज्ञानी किया जाता है, जिस प्रकार कर्मोंसे सुलाया जाता है, उसी प्रकार कर्मोंसे जगाया जाता है, जिस प्रकार कर्मोंसे सुखी किया जाता है, उसी प्रकार कर्मोंसे दुःखी किया जाता है। कर्मोंसे मिथ्यात्वको प्राप्त कराया जाता है, कर्मोंसे असंयमको भी प्राप्त कराया जाता है, कर्मोंसे जीव ऊर्ध्वलोक, अधोलोक

और मध्यलोकमे भ्रमाया जाता है तथा शुभ-अशुभ जितने कुछ भाव हैं वे सब कर्मोसे किये जाते हैं, क्योकि कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हरता है, जो कुछ है उसे कर्म ही करता है, इससे सम्पूर्ण जीव अकर्त्ता ठहरे। जब पुवेदका उदय आता है उस कालमे पुरुष स्त्रीरमणकी अभिलाषा करता है और स्त्रीवेदके उदयमे आत्मा पुरुषरमणकी अभिलाषा करता है। यह आचार्य-परम्परासे आई हुई श्रुति है, इसलिये कोई भी जीव हमारे सिद्धान्तके अनुकूल अब्रह्मचारी नही है क्योकि कर्म ही कर्मकी अभिलाषा करता है, ऐसा कहा है। जिस कारण परको घातता है अथवा परके द्वारा घाता जाता है, यह भी प्रकृति है, इसी अर्थको लेकर कहते हैं कि परघात नामा प्रकृति है। इसलिये हमारे सिद्धान्तके उपदेशसे कोई जीव परका घात करनेवाला नही है क्योकि कर्म ही कर्मको घातता है ऐसा कहा गया है। इस प्रकार जो श्रमण इस परिपाटीसे साख्य-मतके उपदेशका प्रतिपादन करते है उनके मतमे प्रकृति ही करनेवाली है और सम्पूर्ण आत्मा अकारक है। अब आत्माको कर्ता माननेके लिये आपका यह अभिमत है कि हमारा आत्मा स्वकीय आत्माको करता है तो तुम्हारा ऐसा मानना मिथ्या है क्योकि आत्मा आगममे नित्य और असख्यातप्रदेशी कहा गया है, उससे न तो कोई उसे अधिक कर सकता है और न हीन कर सकता है। जीवका जीवरूप विस्तारसे लोकप्रमाण जानो, ऐसा जो जीवद्रव्य है उससे हीन और अधिक कोई कैसे कर सकता है? अथवा ऐसा माना जावे कि ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभावसे स्थित है तो इसी कारणसे आत्मा अपने आत्माको नही करता है।

विशेषार्थ—कर्म ही आत्माको अज्ञानी करता है क्योकि ज्ञानावरणकर्मके उदयके बिना आत्मामे अज्ञानकी अनुपपत्ति है। कर्म ही आत्माको ज्ञानी बनाता है, क्योकि ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमके बिना आत्मामे ज्ञानका विकास नही होता है। कर्म ही आत्माको सुलाता है क्योकि निद्रा नामक कर्मके उदयके बिना आत्मामे शयनक्रियाकी उत्पत्ति नही होती है। कर्म ही आत्माको जगाता है क्योकि निद्रानामक दर्शनावरणकर्मके क्षयोपशमके बिना आत्मामे जागरणरूप क्रियाकी उपपत्ति असभव है। कर्म ही आत्माको सुखी करता है क्योकि सातावेदनीयकर्मके उदयके अभावमे सुखका लाभ असम्भव है, कर्म ही आत्माको दु खी करता है क्योकि असातावेदनीय-कर्मके उदयके बिना दु खकी अनुपपत्ति है। कर्म ही आत्माको मिथ्यादृष्टि बनाता है क्योकि मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहके उदयके अभावमे आत्मामे मिथ्यादर्शन पर्यायकी अनुपपत्ति है। कर्म ही आत्माको असयमी बनाता है क्योकि चारित्रमोहकर्मके उदय बिना आत्मामे असंयमभाव नही होता है। कर्म ही आत्माको ऊर्ध्व, अधो और मध्यलोकमे ले जाता है क्योकि आनुपूर्वीकर्मके उदय बिना आत्माका इन स्थानोमे गमन असिद्ध है।[1] और इनके सिवाय अन्य भी जो कुछ शुभ अथवा अशुभरूप जितने भाव है उन सभीको कर्म ही करता है क्योकि प्रशस्तराग और अशस्तराग नामक कर्मके उदय बिना आत्मामे इन भावोका अस्तित्व नही पाया जाता। जिस कारण इस पद्धतिसे स्वतन्त्र होकर कर्म ही करता है, कर्म ही देता है और कर्म ही हरता है, उस कारण सभी जीव नित्य ही एक एकान्तसे अकर्ता ही हैं ऐसा हम निश्चय करते हैं।

---

१ ग्रन्थान्तरोमें आनुपूर्व्यनामकर्मका कार्य विग्रहगतिमें आत्माके प्रदेशो का पूर्वपर्यायके आकार रखना बतलाया गया है। क्षेत्रान्तरमें ले जाना नहीं। यह कार्य गतिनामकर्मका है। आनुपूर्व्यनामकर्मका उदय विग्रहगतिमें ही होता है क्यो कि वह क्षेत्रविपाकी है।

इसके सिवाय श्रुति भी, जो हमने कहा है, इसी अर्थको कहती है—पुरुषवेद नामक कर्मके उदयसे यह जीव स्त्रीकी अभिलाषा करता है, इन वाक्योसे कर्म ही कर्मकी अभिलापा करता है, इसका समर्थन होनेसे और जीव अब्रह्मका कर्ता है, इसका असमर्थन होनेसे जीवके अब्रह्मके कर्तापनका निषेध अपने आप आ जाता है। तथा जो परको मारता है और परके द्वारा मारा जाता है वह परघात नामका कर्म है ऐसा जो वाक्य है उससे कर्म ही कर्मका घात करता है, इसका समर्थन होनेसे तथा जीवमे परघातके कर्तापनका प्रतिषेध होनेसे जीव सर्वथा ही अकर्ता है, इस बातको सिद्ध किया गया है। इस प्रकार इस साख्यसमयको स्वीय प्रज्ञाके अपराधसे सूत्रके अर्थको नही जाननेवाले कुछ श्रमणाभास प्ररूपित करते है, सो उन श्रमणाभासोने एकान्तसे प्रकृतिको ही स्वीकार किया है। अतः समस्त जीवोके एकान्त रूपसे अकर्तापनकी आपत्ति आती है और इसीसे 'जीव कर्ता है' इस श्रुतिके कोपका परिहार करना अशक्य है।

यहाँ पर कोई तटस्थ यह कहता है कि कर्म आत्माके पर्यायरूप अज्ञान आदि समस्त भावोको करता है और आत्मा द्रव्यरूप एक आत्माको ही करता है, इसलिये 'जीव कर्ता है' इस श्रुतिका कोप नही हो सकता है। सो उसका यह अभिप्राय मिथ्या ही है, क्योकि जीव द्रव्यरूपसे नित्य है तथा लोकके बराबर असख्येय प्रदेशी है। इनमे जो नित्य है वह कार्यरूप नही हो सकता क्योकि कृतकपन और नित्यपनका परस्पर विरोध है। और न अवस्थित असख्येय प्रदेशवाले जीवके एतादृश पुद्गलस्कन्धके समान प्रदेशोके प्रक्षेपण और अपकर्षणके द्वारा कार्यपन हो सकता है, क्योकि प्रदेशोके प्रक्षेपण और अपकर्षणके रहते हुए उसके एकपनमे व्याघात होता है। और न समस्त लोकरूपी भवनके विस्तारके बराबर जिसका विस्तार है, ऐसे जीवके प्रदेशोके सकोच और विस्तारके द्वारा भी कार्यपन बन सकता है, क्योकि प्रदेशोका सकोच और विस्तार भी सूखे और गीले चमड़ेके समान अपने निश्चित विस्तारसे हीनाधिक नहीं किया जा सकता है।

और जो कोई ऐसा मानता है कि वस्तुके स्वभावका अपोहन करना सर्वथा अशक्य है, अत जीवका जो ज्ञायकभाव है वह ज्ञानस्वभावसे सदा ही विद्यमान रहता है। और उस तरह विद्यमान रहता हुआ ज्ञायकभाव मिथ्यात्वादि भावोका कर्ता नही होता, क्यो कि ज्ञायकपन और कर्तापनमें अत्यन्त विरोध है। तथा मिथ्यात्व आदि भाव होते अवश्य है, पर उनका कर्ता कर्म ही है। आचार्य कहते है कि ऐसी वासनाका जो उन्मेष है वह 'आत्मा आत्माको करता है' इस मान्यताका सम्पूर्णरूपसे खण्डन ही करता है। इसलिये ऐसा मानना उचित है कि आत्माका जो ज्ञायकभाव है वह सामान्यकी अपेक्षा ज्ञानस्वभावमे अवस्थित होने पर भी कर्मजन्य मिथ्यात्वादि भावोको जिस समय जान रहा है उस समय अनादिकालसे ज्ञेय और ज्ञानमे भेदविज्ञान न होनेसे परको आत्मा जानने लगता है, इस विशेषकी अपेक्षा अज्ञानरूप ज्ञानपरिणामोके करनेसे वह कर्ता है। परन्तु आत्माका यह कर्तापन तभी तक मानना चाहिये जब तक कि उस समयसे लेकर ज्ञेय और ज्ञानके भेदविज्ञानकी पूर्णता नही हो। पूर्णता होनेपर आत्मा आत्माको ही जानने लगता है। अतएव विशेषकी अपेक्षा भी मात्र ज्ञानरूप ज्ञानके परिणामसे परिणमन करनेवाले स्वद्रव्यका केवल ज्ञाता रह जाता है, अतः साक्षात् अकर्ता ही है।

भावार्थ—स्याद्वादके मर्मको अच्छी तरह न जाननेके कारण कितने ही जैन मुनि भी वस्तुस्वभावका अन्यथा निरूपण करते है सो उनका यह निरूपण साख्यमतके आशयके सदृश ही जानना

चाहिये। उनका कहना है कि ये जो रागादिक भावकर्म होते हैं इनका कर्ता आत्मा नही है, यह तो मोहादिक कर्मप्रकृतिके उदयका कार्य है। इसी तरह ज्ञान, अज्ञान, सोना, जागना, सुख, दु ख, मिथ्यात्व, असयम, चारों गतियोमे भ्रमण तथा शुभ-अशुभभाव आदि जो भी भाव हैं उन सव भावोंका कर्म ही कर्ता है, जीव अकर्ता है। यही जैनशास्त्रोका मत है कि पुरुषवेदके उदयसे स्त्री रमणकी अभिलाषा होती है और स्त्रीवेदके उदयसे पुरुष रमणकी इच्छा होती है तथा उपघातादि प्रकृतियोके निमित्तसे ही परस्पर घात होता है। साख्यमतवाले भी यही कहते हैं कि पुरुष अर्थात् आत्मा अकर्ता है और प्रकृति ही कर्त्री है।

इस पूर्वपक्षका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि ऐसा माननेवालोंके ऊपर स्याद्वाद-वाणीका, जो आत्माको कथञ्चित् कर्ता मानती है, कोप अवश्य होगा। उस कोपका वारण करने-के लिये 'आत्मा तो अपने आपका कर्ता है और इन मिथ्यात्वादि भावोका कर्ता कर्म ही है' यह कहना भी सगत नही है, क्यो कि आत्मा तो द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है तथा असंख्यातप्रदेशी है, इस-लिये यहाँ तो कुछ करनेके लिये है ही नही। भावरूप रागादिक परिणामों का कर्ता कर्म ही है, अत आत्मा तो अकर्ता ही रहा। इस स्थितिमे भी स्याद्वादवाणीका कोप तो पूर्ववत् ही रहा, अत. आत्माको कथञ्चित् अकर्ता और कथञ्चित् कर्ता मानना ही स्याद्वाद है। सामान्य ज्ञायक-भावकी अपेक्षासे तो आत्मा अकर्ता है परन्तु विशेषकी अपेक्षासे जो ये रागादिकभाव होते हैं, अज्ञानावस्थामे उनका कर्ता ही है। यही श्रीकुन्दकुन्द स्वामीका मत है ॥३३२-३४४॥

यही भाव श्रीअमृतचन्द्रस्वामी कलशामे प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछंद

माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुष साख्या इवाप्यार्हता
कर्तार कलयन्तु त किल सदा भेदावबोधादधः।
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेक परम् ॥२०४॥

अर्थ—साख्यो के सदृश ये जैन मुनि भी आत्माको सर्वथा अकर्ता मत मानें, भेदज्ञानके पहले उसे सदा कर्ता मानें और भेदज्ञान होनेके ऊपर उत्कृष्ट ज्ञानमन्दिरमे निश्चित इस स्वय प्रत्यक्ष आत्माको कर्तृत्वसे रहित, अचल और एक परम ज्ञाता ही देखें।

भावार्थ—जिस प्रकार साख्यमतवाले आत्माको एकान्तसे अकर्ता मानते हैं उस प्रकार जैन मुनि भी उसे सर्वथा अकर्ता मत समझें, क्यो कि भेदज्ञानके पूर्व अज्ञानदशामे आत्मा रागादिभावो-का कर्ता है और भेदज्ञानके अनन्तर आत्मा एक ज्ञाता ही रह जाता है, उसका कर्तापन स्वयं छूट जाता है। इसलिये स्याद्वादकी दृष्टिसे ऐसा ही श्रद्धान करना उचित है ॥२०४॥

आगे क्षणिक होनेसे कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है, बौद्धोंकी इस मान्यताका निरा-करण करते हुए कलशा कहते हैं—

मालिनीछन्द

क्षणिकमिदमिहैक कल्पयित्वात्मतत्त्व
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम्

अपहरति विमोह तस्य नित्यामृतोघैः
स्वयमयमभिषिञ्चंश्चिच्चमत्कार एव ॥२०५॥

अर्थ—इस ससारमे इस आत्मतत्त्वको क्षणिक मानकर एक—बौद्ध अपने मनमे कर्ता और भोक्तामे भेद मानता है। सो यह चैतन्यका चमत्कार ही कथञ्चित् नित्यरूप अमृतके प्रवाहोसे स्वय सीचता हुआ उसके उस विमोहको दूर करता है।

भावार्थ—पर्यायदृष्टिसे विचार किया जावे तो कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है। और जब द्रव्यदृष्टिसे विचार किया जावे तब जो कर्ता है वही भोक्ता है। क्षणिकवादी बौद्ध कर्ता और भोक्तामे सर्वदा भेद मानते हैं। उनका कहना है कि जो प्रथम क्षण था वह दूसरे क्षणमे नही है। क्योकि परिणमन सर्वदा बदलता रहता है। बौद्धोका यह कहना सर्वथा सगत नही है क्योंकि वस्तु द्रव्यदृष्टिसे नित्य है तथा ऐसा प्रत्यभिज्ञान भी होता है। कहा भी है—

नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा।
क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसचरदोषत. ॥५६॥—आप्तमीमासा

यही जो प्रत्यभिज्ञान है वह सर्वथा अनित्यके व्यामोहको दूर करता है। यदि वस्तु सर्वथा क्षणिक मानी जावे तो 'यह वही देवदत्त है जिसे पहले देखा था' ऐसा प्रत्यभिज्ञान नही हो सकता ॥२०५॥

आगे इस क्षणिकवादका युक्तिके द्वारा निराकरण करते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यन्तं वृत्तिमन्नाशकल्पनात्।
अन्य. करोति भुङ्क्तेऽन्य इत्येकान्तश्चकास्तु मा ॥२०६॥

अर्थ—वृत्त्यशोके सर्वथा भिन्न होनेसे वृत्तिमान्‌के नाशकी कल्पना कर अन्य करता है, अन्य भोगता है, ऐसा एकान्त सुशोभित न हो।

भावार्थ—प्रतिसमय जो पदार्थोंकी अवस्था होती है उसे वृत्त्यश कहते है। उनको सर्वथा भिन्न मानकर वृत्तिमान् पदार्थके नाशकी कल्पना द्वारा अन्य करता है, अन्य भोगता है, ऐसा जो एकान्त है सो सवथा अयुक्त है। क्योकि पर्यायके नाशसे यदि पर्यायीकी नाश माना जावे तो जिसने हिंसाका अभिप्राय किया वह तो क्षणिकपनसे नष्ट हो गया और जिस चित्‌ने हिंसाका अभिप्राय नही किया वही घात करनेवाला हुआ और जिसने घात किया वह नष्ट हो गया और इस हिंसाकर्मसे जिसे बन्ध हुआ वह भिन्न है। तथा वह चित् जो बन्ध अवस्थाको प्राप्त हुआ था वह क्षणिकपनसे नष्ट हो गया। अत' अन्य चित्‌की ही मुक्ति हुई, इत्यादि अनेक दोषोका इस पक्षमे सद्भाव है, इसलिये क्षणिकपक्ष हेय है ॥२०६॥

अब अनेकान्तद्वारा क्षणिकवादका निषेध करते हैं—

केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥३४५॥

केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो ।
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥३४६॥
जो चेव कुणइ सो चिय ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४७॥
अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४८॥

(चतुष्कम्)

अर्थ—क्योकि जीव नामक पदार्थ कितनी ही पर्यायोके द्वारा विनाशको प्राप्त होता है और कितनी ही पर्यायोके द्वारा विनाशको प्राप्त नही होता, इसलिये वही जीव करता अथवा अन्य जीव करता है, ऐसा एकान्त नही है। क्योकि जीव नामक पदार्थ कितनी ही पर्यायोसे नाशको प्राप्त होता है और कितनी ही पर्यायोसे नाशको प्राप्त नही होता, इसलिये वही जीव भोगता है या अन्य जीव भोगता है, ऐसा एकान्त नही है। जो जीव करता है वही नहीं भोगता है, ऐसा जिसका सिद्धान्त है, उस जीवको मिथ्यादृष्टि तथा अर्हन्तके मतसे बाह्य जानना चाहिये। इसी तरह अन्य जीव करता है और अन्य जीव भोगता है, यह जिसका सिद्धान्त है, उस जीवको मिथ्यादृष्टि तथा अर्हन्तके मतसे बहिर्भूत जानना चाहिये।

विशेषार्थ—क्योकि प्रत्येक समय सभवते हुए अगुरुलघुगुणके परिणाम द्वारा जीव क्षणिक है और अचलित चैतन्यके अन्वयरूप गुणके द्वारा नित्य है, इसलिये जीव कितनी ही पर्यायोके द्वारा नष्ट होता है और कितनी ही पर्यायोके द्वारा नष्ट नही होता है। इस तरह जीवका स्वभाव दो स्वभाववाला है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो करता है वही भोगता है और अन्य भी भोगता है। जो भोगता है वही करता है अथवा अन्य भी करता है, ऐसा एकान्त नही है। पर्याय-दृष्टिसे जिसने कार्य किया था वह पर्याय तो भोगनेके समय नही रही, अत यह कहना असगत नही कि करनेवाला अन्य था और भोगनेवाला अन्य है। और जब द्रव्यदृष्टि देखते है तब जो जीव करनेके समय था वही तो भोगनेके समय द्रव्यरूपसे नित्य है अतः जो करता है वही भोगता है, ऐसा माननेमे कोई आपत्ति नही, क्योकि जीव नामक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है। इसी अभि-प्रायको लेकर आचार्य महाराजका कहना है कि जो भोगता है वही जीव करता है अथवा अन्य ही करता है ऐसा एकान्त नही है। अनेकान्तसे ऐसी वस्तुव्यवस्था होने पर भी बौद्धसिद्धान्तीका कहना है कि जो वर्तमान क्षणमे है, उसीमे परमार्थसत्त्वकी अपेक्षा वस्तुत्व है अर्थात् वही वस्तु है। इस प्रकार वस्तुके अंशमे भी वस्तुपनका आरोप कर शुद्धनयके लोभसे ऋजुसूत्रनयके एकान्तमे स्थिर होकर 'जो जीव करता है वही नही भोगता है, अन्य जीव करता है और अन्य भोगता है' ऐसा अवलोकन करता है, उसे मिथ्यादृष्टि ही जानना चाहिये। वृत्तिमान् पदार्थके जो वृत्तिरूप अंश है उनमे क्षणिकपन होनेपर भी वृत्तिमान् जो चैतन्यचमत्कार है उसका टङ्कोत्कीर्णरूपसे ही अन्तरङ्गमे प्रतिभास होता रहता है ॥३४५-३४८॥

अब इसी अर्थको कलशामें दिखाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकैः
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः ।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः [1]शुद्धर्जुसूत्रेरितै-
रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो निस्सूत्रमुक्तेक्षिभिः ॥२०७॥

अर्थ—सर्वथा शुद्ध आत्माकी इच्छा करनेवाले अज्ञानी बौद्धोंने अतिव्याप्तिको प्राप्त होकर तथा कालकी उपाधिके बलसे उस आत्मामे भी अधिक अशुद्धता आती है ऐसा मानकर शुद्ध ऋजुसूत्रनयसे प्रेरित हो चैतन्य क्षणिक ही है ऐसी कल्पना की है । सो जिस प्रकार सूत्ररहित केवल मोतियोंको देखनेवाले मनुष्य जिसप्रकार हारको छोड़ देते है अर्थात् उनकी दृष्टिमे मोती ही आते है, हार नही, उसी प्रकार आश्चर्य है कि उन बौद्धोने इस आत्माको छोड़ दिया है । अर्थात् उनकी दृष्टिमें आत्माकी शुद्ध ऋजुसूत्रनयकी विषयभूत समयमात्र-व्यापी पर्याय ही आती है, सर्वपर्यायोमे अन्वयरूपसे व्याप्त रहनेवाला आत्मा नही आता ।

भावार्थ—आत्माको सम्पूर्णरूपसे शुद्ध अर्थात् परनिरपेक्ष माननेके इच्छुक बौद्धोने विचार किया कि यदि आत्माको नित्य माना जावे तो उसमें कालकी अपेक्षा आती है, इसलिये कालकी उपाधिके बलसे उसमे अधिक अशुद्धता आ जावेगी और ऐसी अशुद्धता आत्मातिरिक्त द्रव्योमे भी पाई जाती है । अतः अतिव्याप्ति दोष आवेगा, इस भयसे उन्होने शुद्ध ऋजुसूत्रनयका विषय जो वर्तमान पर्याय है उतना ही क्षणिक चैतन्य है, ऐसी कल्पना की है । इस कल्पनासे उन्होंने मात्र पर्यायोंको तो ग्रहण किया है परन्तु उन पर्यायोंका आधारभूत जो आत्मा है उसे छोड़ दिया है । जिस प्रकार अनेक मोतियोंका एक सूत्रमें गुम्फनकर हार बनाया जाता है, वहाँ जो मनुष्य केवल मोतियोको देखते हैं, सूत्रको नही देखते, वे हारके लाभसे वञ्चित रहते है क्योंकि सूत्रके बिना केवल मोतियोसे हारकी उत्पत्ति सम्भव नही । इसी प्रकार जो मनुष्य आत्माकी समय-समयव्यापी पर्यायोंको तो देखते हैं परन्तु उन सब पर्यायोंमे अनुस्यूत रहनेवाले द्रव्यको नही देखते वे आत्मासे वञ्चित हैं । दृश्यमान पुद्गलद्रव्यके समान आत्मा भी द्रव्य और पर्यायरूप ही प्रत्येक ज्ञानी जीवके अनुभवमें आ रहा है, फिर भी बौद्धोंकी दृष्टि इस परमार्थसत्यकी ओर नही जाती । अतएव आचार्यने उन्हें 'अन्धक' और 'पृथुक' (बालक-अज्ञानी) जैसे शब्दोसे निर्दिष्ट किया है । तथा प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुस्वरूपका अपलाप करनेके कारण 'अहो' शब्दके द्वारा आश्चर्य प्रकट किया है ॥ २०७ ॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव सञ्चिन्त्यताम् ।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचि-
च्चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः ॥ २०८ ॥

---

१. शुद्धर्जुसूत्रे रतैः इत्यपि पाठः ।

अर्थ—कर्ता और भोक्तामे युक्तिके वशसे भेद हो अथवा अभेद हो, जो कर्ता है वह भोक्ता होवे अथवा न होवे, मात्र वस्तुका ही विचार किया जावे, चतुर मनुष्योके द्वारा सूतमे गुम्फित मणियोकी मालाके समान जो कही भेदी नही जा सकती, ऐसी ज्ञानी मनुष्योके द्वारा आत्मामे गुम्फित यह एक चैतन्यरूप चिन्तामणिरत्नोंकी माला ही मेरे सब ओर सुशोभित हो।

भावार्थ—वस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप है। आत्मा भी वस्तु है, अतः वह भी द्रव्यपर्यायस्वरूप है। जब द्रव्यकी अपेक्षा विचार किया जाता है तब जो कर्ता है वही भोक्ता है, यह विकल्प आता है और जब पर्यायकी अपेक्षा विचार किया जाता है तब जो कर्ता है वह भोक्ता नही है, ऐसा विकल्प आता है। आचार्य कहते हैं कि नयविवक्षासे वस्तु जैसी है वैसी रहे, उस विकल्पमें न पडकर मात्र वस्तुका चिन्तन करना चाहिये। जिस प्रकार चतुर मनुष्योंके द्वारा सूतमें पिरोये हुए मणियोकी माला भेदरूप न होकर अभेदरूपसे एक माला ही मानी जाती है उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्योंके द्वारा आत्मामे अनुभूत जो चैतन्यगुणरूप चिन्तामणिरत्नोकी माला है वह भेदरूप न होकर अभेदरूप एक चेतनद्रव्य ही है। आचार्य इच्छा प्रकट करते है कि यह एक अखण्ड चेतनद्रव्य ही मेरे लिये उपलब्ध हो अर्थात् तथाभूत ही मेरी परिणति हो ॥ २०८ ॥

अब व्यवहार और निश्चयदृष्टिसे कर्ता-कर्मका प्रतिपादन करनेके लिये कलशा कहते हैं—

रथोद्धताछन्द

व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ॥ २०९ ॥

अर्थ—केवल व्यवहारनयकी दृष्टिसे ही कर्ता और कर्म भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। यदि निश्चयनयसे वस्तुका विचार किया जाता है तो कर्ता और कर्म सदा एक ही माने जाते हैं।

भावार्थ—पर्यायाश्रित होनेसे व्यवहारनय भेदको विषय करता है और द्रव्याश्रित होनेसे निश्चयनय अभेदको विषय करता है। इसलिये व्यवहारनयकी दृष्टिसे जब निरूपण होता है तब कर्ता और कर्म पृथक्-पृथक् कहे जाते हैं, जैसे कुलाल घटका कर्ता है। और निश्चयनयकी दृष्टिसे जब कथन होता है तब कर्ता और कर्म एक ही कहे जाते है, जैसे मिट्टी घटका कर्ता है ॥ २०९ ॥

आगे इसी कथनको गाथाओंमें करते हैं—

जह सिप्पिओ उ कम्मं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होइ ॥३४९॥

जह सिप्पिओ उ करणेहिं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ॥३५०॥

जह सिप्पिओ उ करणाणि गिह्णइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो करणाणि उ गिह्णइ य तम्मओ होइ ॥३५१॥

जह सिप्पिओ उ कम्मफलं भुंजदि ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजइ ण य तम्मओ होइ ॥३५२॥
एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दरिसणं समासेण ।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकयं तु जं होई ॥३५३॥
जह सिप्पिओ उ चिट्ठं कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से ।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वइ हवइ य अणण्णो से ॥३५४॥
जह चिट्ठं कुव्वंतो उ सिप्पिओ णिच्च दुक्खिओ होई ।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो ॥३५५॥
(सप्तकम्)

अर्थ—जैसे सुनार आदि कारीगर कटक, केयूर आदि आभूषणोंको बनाता है परन्तु वह कारीगर उन कटक, केयूरादि आभूषणरूप नही हो जाता, वैसे ही जीव भी ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मोंको करता है परन्तु उन कर्मोरूप नही हो जाता ।

जिस प्रकार शिल्पकार हथौड़ा, संडासी आदि करणोके द्वारा आभूषणोको बनाता है किन्तु उन करणोरूप नही परिणमता है । इसी प्रकार जीव मन-वचन-कायके व्यापाररूप करणोके द्वारा पुद्गलकर्मको करता है किन्तु उन करणोंरूप नही हो जाता है ।

जिस तरह शिल्पी हथौडा आदि करणोंको ग्रहण करता है किन्तु उन करणो स्वरूप नही हो जाता । उसी तरह जीव भी मन-वचन-कायके व्यापाररूप करणोको ग्रहण करता है, किन्तु तन्मय नही हो जाता है ।

जैसे सुनार उन आभूषणोके फलस्वरूप ग्राम, धन आदि फलको भोगता है किन्तु उस फलस्वरूप नही होता है । वैसे ही यह जीव साता-असाता आदि कर्मोके उदयसे प्राप्त सुख-दुःखादिको भोगता है परन्तु तन्मय नही हो जाता है ।

इस प्रकार व्यवहारनयका सिद्धान्त सक्षेपसे कहा गया । अब निश्चयनयके सिद्धान्तको सुनो, जो अपने परिणामसे किया जाता है ।

जैसे शिल्पी आभूषण बनानेके लिये चेष्टाको करता है और उस चेष्टासे तन्मय हो जाता है । वैसे ही जीव भी अपने परिणामस्वरूप चेष्टाको करता है और उस चेष्टासे तन्मय हो जाता है, उससे अन्य नही होता ।

और जैसे शिल्पी चेष्टा करता हुआ निरन्तर दुःखी होता है और उस दु.खसे वह अभिन्न रहता है । वैसे ही अपने परिणामस्वरूप चेष्टाको करता हुआ जीव भी दु खी होता है और उस दुःखसे वह कथंचित् अभिन्न रहता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार सुवर्णकार आदि शिल्पी कुण्डलादि परद्रव्यके परिणामस्वरूप कर्मको करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्यात्मक करणोके द्वारा करता है, परद्रव्यात्मक हथौड़ा आदि करणोको ग्रहण करता है और उन कुण्डलादि आभूषणोके बनानेसे जो ग्राम-धन आदि फल मिलता है उसको भोगता है परन्तु वह अनेक द्रव्यरूप होनेके कारण उन करणादि परद्रव्योसे भिन्न ही है

और इसीसे तन्मय नही होता। अतएव वहाँपर निमित्त-नैमित्तिकभावमात्रसे ही कर्ता, कर्म, भोक्ता और भोग्यका व्यवहार होता है। उसी प्रकार आत्मा भी पुण्य-पापादिस्वरूप पुद्गलपरिणामात्मक कर्मको करता है, पुद्गलद्रव्यके परिणामस्वरूप काय, वचन और मनरूप करणोंके द्वारा करता है, पुद्गलपरिणामात्मक काय, वचन और मनरूप करणोको ग्रहण करता है और पुद्गलद्रव्यात्मक पुण्यपापसे जन्य सुख-दु:खस्वरूप पुद्गलकर्मफलको भोगता है, परन्तु अनेक द्रव्यपनसे उनसे अन्य है, इसीसे तन्मय नही होता, अतएव उसमे निमित्त-नैमित्तिकभावमात्रसे ही कर्ता, कर्म भोक्ता और भोग्यका व्यवहार होता है।

और जिस प्रकार कार्य करनेकी इच्छा करनेवाला वही शिल्पी चेष्टाके अनुकूल आत्मपरिणामरूप कर्मको करता है, और उस चेष्टाके अनुरूप सुख-दु:ख लक्षण आत्मपरिणामात्मक जो फल है उसको भोगता है, यहाँ चेष्टा करनेवाला शिल्पी उस चेष्टासे भिन्नद्रव्य नही, किन्तु वह चेष्टा उसीका व्यापार है, इसलिये उससे तन्मय है। अतएव उन्हीमे परिणाम-परिणामीभावसे कर्ता, कर्म, भोक्ता और भोग्यपनका निश्चय है। उसी प्रकार कार्यकी इच्छा करनेवाला आत्मा भी चेष्टास्वरूप आत्मपरिणामात्मक कर्मको करता है और दु:खरूप आत्मपरिणामात्मक चेष्टानुरूप कर्मफलको भोगता है तथा उस चेष्टासे, एक द्रव्य होनेके कारण आत्मा भिन्न द्रव्य नही है। अतएव उससे तन्मय हो जाता है। इसलिये परिणाम-परिणामीभावसे उन्हीमे कर्ता. कर्म, भोक्ता और भोग्यपनका निश्चय है ॥३४९-३५५॥

अब यही भाव कलशामे दिखाते हैं—

नर्दटकछन्द

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयत:
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव तत: ॥२१०॥

अर्थ—निश्चयसे परिणाम ही कर्म है और वह परिणाम दूसरेका नही है किन्तु परिणामीका ही है। जो कर्म है वह कर्ताके बिना नही होता और वस्तुकी स्थिति एक अवस्थारूप नही रहती, इसलिये वस्तुका कर्ता वही वस्तु है।

भावार्थ—निश्चयनयसे जो परिणमन करता है वह कर्ता कहलाता है और उसका जो परिणाम है वह कर्म कहलाता है। वह जो परिणाम है सो अपने आश्रयभूत परिणामी द्रव्यका है, अन्य परिणामी द्रव्यका नही है क्योकि जो जो परिणाम होता है वह अपने-अपने उपादानसे तन्मय रहता है। इसीसे वस्तुका स्वरूप द्रव्यपर्यायात्मक माना है। अतएव वस्तु न तो कूटस्थ नित्य ही है और न सर्वथा एकक्षणस्थायी क्षणिक ही है। अपने परिणामरूप कर्मका आप ही स्वय कर्ता है, यह निश्चय सिद्धान्त है। तात्पर्य यह है कि निश्चयनयसे कर्तृ-कर्मभाव एक ही द्रव्यमे होता है ॥२१०॥

पृथ्वीछन्द

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनन्तशक्ति: स्वय
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम्।

स्वभावनियत यत. सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुल. किमिह मोहित क्लिश्यते ॥२११॥

अर्थ—यद्यपि वस्तुकी स्वय प्रकट होनेवाली अनन्त शक्तियाँ बाहर लोट रही है अर्थात् यह स्वय अनुभवमे आ रहा है कि वस्तु अनन्त शक्तियोका भण्डार है तो भी अन्य वस्तु किसी अन्य वस्तुके भीतर प्रवेश नही करती है क्योकि सम्पूर्ण वस्तु अपने-अपने स्वभावमे नियत मानी जाती है। जब सब वस्तुएँ अपने-अपने स्वभावमे नियत हैं तब इस संसारमे अज्ञानी जीव वस्तुको उसके स्वभावसे विचलित करनेमें आकुल होता हुआ खेदखिन्न क्यो होता है ?

भावार्थ—वस्तुमे अनन्त शक्तियाँ होती अवश्य है। पर उनमे ऐसी एक भी शक्ति नही है जिसके आधार पर एक वस्तु दूसरी वस्तुके भीतर प्रवेश कर सके, अर्थात् उस रूप हो सके। जबकि ससारकी समस्त वस्तुएँ अपने-अपने स्वभावमे नियत है अर्थात् अपने स्वभावको छोड़कर अन्य वस्तुके स्वभावको ग्रहण नही करती तब यह जीव आत्माको अपने स्वभावसे विचलित कर पुद्गलकर्म स्वरूप हो उसके कर्तृत्वका अहंकार क्यो धारण करता है ? जान पड़ता है कि उसके इस क्लेशका कारण अनादिकालसे साथ लगा हुआ मोह ही है ॥२११॥

रथोद्धताछन्द

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् ।
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥२१२॥

अर्थ—क्योकि इस संसारमे एक वस्तु अन्य वस्तुकी नही है, इसलिये वह वस्तु उसी वस्तुरूप रहती है, यह निश्चय है, फिर बाहर लोटता हुआ भी अन्य पदार्थ अन्य पदार्थका क्या करता है ? अर्थात् कुछ नही।

भावार्थ—यहाँ वस्तुका अर्थ द्रव्य है। संसारका प्रत्येक द्रव्य अपना-अपना चतुष्टय पृथक्-पृथक् लिए हुए है, इसलिये एकद्रव्य दूसरे द्रव्यरूप त्रिकालमे नही हो सकता। एकद्रव्यका दूसरे द्रव्यमे अत्यन्ताभाव है, यह नियम है। निश्चयकी दृष्टिसे कर्ता वही हो सकता है जो कर्मरूप परिणत हो सके। यदि जीवद्रव्यको पुद्गलकर्मका कर्ता माना जाय तो जीवद्रव्यको पुद्गलकर्मरूप परिणमन करना चाहिये, पर ऐसा हो नही सकता। इसलिये जीव और पुद्गलकर्मका परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप सयोगसम्बन्ध होनेपर भी उनमे कर्तृ-कर्मभाव सिद्ध नही होता है। व्यवहारनय निमित्त-नैमित्तिकभावको ग्रहण करता है, इसलिये उस नयकी दृष्टिसे जीव, पुद्गल-कार्मणवर्गणाओमे कर्मरूप परिणमन करानेमे निमित्त होनेसे उनका कर्ता होता है और पुद्गलकर्म उसके कार्य होते हैं ॥२१२॥

रथोद्धताछन्द

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुन. किंचनापि परिणामिनः स्वयम् ।
व्यावहारिकदृशैव तन्मत नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥२१३॥

अर्थ—स्वय परिणमन करनेवाली अन्य वस्तुका अन्य वस्तु कुछ करती है, यह जो मत है, वह व्यावहारिक दृष्टिसे ही सम्पन्न होनेवाला मत है। निश्चयनयसे इस जगतमे अन्य वस्तुका अन्य कुछ भी नही है।

भावार्थ—संसारके प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमनशील है। उनके उस परिणमनमे अन्य पदार्थ निमित्त होते है, इसलिये निमित्तप्रधान दृष्टिको अङ्गीकृत कर व्यवहारनय ऐसा कथन करता है कि अमुक वस्तु अमुक वस्तुकी कर्ता है। परन्तु जब निश्चयनयसे विचार होता है तब एक वस्तु दूसरी वस्तुरूप नही होती, इसलिये वह उसका कर्ता नही है, यह सिद्धान्त प्रकट होता है। निश्चयनय उपादानप्रधान दृष्टिको अङ्गीकृत कर कथन करता है ॥२१३॥

आगे इसी कथनको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं—

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु ॥३५६॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह पासओ दु ण परस्स पासओ पासओ सो दु ॥३५७॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होइ।
तह संजओ दु ण परस्स संजओ संजओ सो दु ॥३५८॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होदि।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥३५९॥
एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥३६०॥
जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणइ णाया वि सयेण भावेण ॥३६१॥
जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सइ जीवो वि सयेण भावेण ॥३६२॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहइ णाया वि सयेण भावेण ॥३६३॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहइ सम्मादिट्ठी सहावेण ॥३६४॥
एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते।
भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वो ॥३६५॥

अर्थ—जैसे सेटिका (श्वेतिका) सफेदी करनेवाले कलई-चूना अथवा खड़िया मिट्टी आदि सफ़ेद पोतनी भित्ती आदि परद्रव्यकी नही है किन्तु सेटिका स्वय सेटिका है अर्थात् भित्ति आदि-को सफेद करनेसे सेटिका सेटिका नही है, किन्तु सेटिका स्वयं शुक्लगुणविशिष्ट सेटिका है।

वैसे ही ज्ञायक जो आत्मा है वह स्वकीय स्वरूपसे भिन्न परपदार्थोंको जाननेसे ज्ञायक नही है किन्तु स्वय ज्ञायक है।

जिस प्रकार सेटिका, भित्ति आदि परद्रव्यकी नही है। किन्तु सेटिका स्वय सेटिका है उसी प्रकार दर्शक जो आत्मा है वह परके अवलोकनसे दर्शक नही है किन्तु स्वयं दर्शक है।

जिस तरह सेटिका, भित्ति आदि परद्रव्यकी नहीं है किन्तु सेटिका स्वय सेटिका है उसी तरह संयत जो आत्मा है सो परपदार्थके त्यागसे संयत नही है किन्तु स्वय ही सयत है—संयमी है।

जैसे सेटिका परवस्तुके सफ़ेद करनेसे सेटिका नही है किन्तु सेटिका स्वय सेटिका है वैसे ही परद्रव्यके श्रद्धानसे दर्शन नही है किन्तु दर्शन स्वय ही दर्शन है।

इस प्रकारसे निश्चयनयका ज्ञान, दर्शन और चारित्रके विषयमे वक्तव्य है। अब इस विषयमें व्यवहारनयका जो वक्तव्य है, उसे सक्षेपसे कहते है, सो सुनो।

जैसे सेटिका अपने स्वभावसे ही भित्ति आदि परद्रव्यको सफ़ेद करती है वैसे ही ज्ञाता आत्मा भी अपने ज्ञायकस्वभावसे परद्रव्यको जानना है।

जिस तरह सेटिका अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करती है उसी तरह जीव भी अपने स्वभावसे परद्रव्यका अवलोकन करता है।

जिस प्रकार सेटिका अपने स्वभावसे ही परद्रव्यको सफेद करती है उसी प्रकार ज्ञाता आत्मा भी अपने स्वभावसे परद्रव्योका त्याग करता है अर्थात् परद्रव्योका त्यागकर सयत होता है।

जिस तरह सेटिका अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करती है उसी तरह सम्यग्दृष्टि आत्मा भी अपने स्वभावसे परद्रव्यका श्रद्धान करता है।

इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्रके विपयमे व्यवहारनयका जो मत है वह कहा गया। इसी पद्धतिसे अन्य पर्यायोके विपयमे भी व्यवहारनयका निर्णय जानना चाहिये।

विशेषार्थ—यहाँ सेटिका श्वेतगुणसे पूरित स्वभाववाला द्रव्य है और उसके व्यवहारसे सफ़ेद करने योग्य जो भित्ती आदिक हैं वह परद्रव्य है। अब यहाँपर इसीका विचार करते हैं—

सफ़ेद करनेवाली जो सेटिका है वह सफेद करनेके योग्य भित्ति आदि परद्रव्यकी है या नही है? इस प्रकार श्वैत्य और श्वेतिका इन उभय तत्त्वोकी मीमांसा की जाती है। यदि सेटिका भित्ति आदिकी है तो ऐसा सिद्धान्त है कि जो जिसका होता है वह वही होता है अर्थात् उसी रूप होता है जैसे ज्ञान आत्माका है तो वह आत्मा ही होता है। इस सिद्धान्तके रहते हुए सेटिका यदि भित्ति आदिकी है ऐसा माना जाय तो उसे भित्ति आदि रूप ही होना चाहिये और ऐसा होनेपर सेटिकाके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जावेगा अर्थात् सेटिका भित्ति आदिसे पृथक् कोई द्रव्य नही रहेगा और ऐसा होता नही, क्योकि द्रव्यान्तर संक्रमणका पहले ही निपेध कर चुके हैं। अतएव सेटिका भित्ति आदिकी नहीं है।

अब फिर आशङ्का होती है कि यदि सेटिका भित्ति आदिकी नही है तो किसकी है? इस आशङ्काका यह उत्तर है कि सेटिका सेटिकाकी ही है। इसपर पुनः आशङ्का होती है कि वह

अन्य सेटिका कौन-सी है, जिसकी कि यह सेटिका है ? इसका उत्तर यह है कि सेटिकासे अन्य सेटिका नही है किन्तु आप ही मे स्व और आप ही मे स्वामित्व अश मानकर व्यवहारसे उपपत्ति कर लेनी चाहिये। तब कोई पुन पूछता है कि यहाँ स्व और स्वामि अशके व्यवहारसे साध्य क्या है ? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होता है ? उसका उत्तर देते हैं कि कुछ भी नही। तब यही निश्चय हुआ कि सेटिका किसी अन्यकी नही है किन्तु सेटिका सेटिका ही है। जिस प्रकार यह दृष्टान्त है उसी प्रकार इस दृष्टान्तसे प्रतिफलित होनेवाले दार्ष्टान्तिक अर्थको जान लेना चाहिये।

यहाँपर जो चेतयिता है वह ज्ञानगुणसे पूरित स्वभाववाला द्रव्य है और व्यवहारसे पुद्गलादिक परद्रव्य उसके ज्ञेय हैं। अब यहाँपर ज्ञायक जो चेतयिता है वह ज्ञेयरूप पुद्गलादिक परद्रव्यका है अथवा नही है ? इस प्रकार ज्ञेय और ज्ञायक इन उभय तत्त्वोके सम्बन्ध पर विचार किया जाता है—यदि ऐसा माना जावे कि चेतयिता पुद्गलादिक परद्रव्यका है तो 'जो जिसका होता है वह उसी रूप होता है, जैसे ज्ञान आत्माका होता हुआ आत्मरूप ही होता है' इस तत्त्वसम्बन्धके जीवित रहते हुए चेतयिताको यदि पुद्गलादिकका माना जावे तो उसे पुद्गलादि-रूप ही हो जाना चाहिये और ऐसा होनेपर चेतयिताके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायगा अर्थात् चेतयिता अन्यरूप होकर अपने अस्तित्वको ही समाप्त कर देगा, क्योकि द्रव्यान्तर सक्रमणका पहले ही निषेध कर आये हैं, अत द्रव्यका उच्छेद हो नही सकता। तब यह सिद्ध हुआ कि चेतयिता पुद्गलादिक परद्रव्यका नही है। इस स्थितिमे यहाँ यह आशङ्का होती है कि यदि चेतयिता पुद्गलादिकका नही है तो किसका है ? इसका उत्तर यह है कि चेतयिता चेतयिताका ही है। इसपर पुन प्रश्न होता है कि वह अन्य चेतयिता कौन है जिसका कि चेतयिता होता है ? तो उसका उत्तर है कि चेतयितासे अन्य चेतयिता नही है किन्तु आप ही स्व और आप ही स्वामी है। इस प्रकार आप ही मे अश-अशीकी कल्पनासे ऐसा व्यवहार होता है। कोई फिर पूछता है कि यहाँ स्व-स्वामी अंशके इस व्यवहारसे क्या साध्य है ? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होता है ? तो उसका उत्तर है कि कुछ भी साध्य नही है। तब यही निश्चय हुआ कि ज्ञायक जो चेतयिता है वह किसीका नही है किन्तु ज्ञायक ज्ञायकका ही अथवा चेतयिता चेतयिताका ही है अर्थात् ज्ञायक अथवा चेतयिता है—वह स्वरूपसे ही ज्ञायक अथवा चेतयिता है।

अब यही पद्धति आत्माके दर्शक होनेके विषयमे ग्राह्य है। जैसे—

यहाँ पर सेटिका श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला पुद्गलद्रव्य है, और व्यवहारसे सफेद करने योग्य भित्ति आदि उसके परद्रव्य हैं। अब यहाँ सफेद करनेवाली सेटिका, सफेद करनेके योग्य जो भित्ति आदि परद्रव्य हैं उनकी है अथवा नही है ? इस प्रकार श्वेत्य और श्वेतक इन दोनो तत्त्वोके पारस्परिक सम्बन्धकी मीमासा की जाती है। यदि सेटिका भित्ति आदि परद्रव्यकी है ऐसा माना जावे तो 'जो जिसका होता है, वह उसीरूप होता है, जैसे कि आत्माका ज्ञान आत्मारूप ही है' इस तत्त्वसम्बन्धके जीवित रहते हुए यदि सेटिकाको भित्ति आदिकी मानी जावे तो उसे भित्ति आदिरूप ही होना चाहिए। और ऐसा होनेपर स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायगा अर्थात् सेटिका भित्ति आदिरूप होकर अपनी सत्ता ही समाप्त कर देगी, परन्तु द्रव्यका उच्छेद होता नही है क्योकि द्रव्यान्तर सक्रमणका अर्थात् एकद्रव्यका दूसरे द्रव्यरूप होनेका निषेध पहले ही किया जा

चुका है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सेटिका भित्ति आदिकी नही है। यहाँ यह आशङ्का होती है कि यदि सेटिका भित्ति आदिकी नही है तो किसकी है ? इसका उत्तर है कि सेटिका सेटिकाकी है। इस स्थितिमे पुनः आशङ्का होती है कि वह अन्य सेटिका कौन है, जिसकी कि यह सेटिका है ? इसका उत्तर यह है कि अन्य सेटिका नही है किन्तु स्व और स्वामीके अश ही अन्य है अर्थात् आप ही स्व है और आप ही अपना स्वामी है। जैसे देवदत्तके एक ही पुत्र था, उससे किसीने पूछा—आपका बडा पुत्र कौन है ? उसने कहा, यही। मध्यम कौन है ? उसने कहा—यही। और जघन्य कौन है ? यही। उसी प्रकार आपमे ही अश-अशीकी कल्पनासे इस व्यवहारकी उपपत्ति कर लेना चाहिये। कोई पूछता है कि इस स्व-स्वामी अशके व्यवहारसे साध्य क्या है ? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? इसका उत्तर है कि कुछ भी नही। तब यही निश्चय हुआ कि सेटिका किसी अन्यकी नही है किन्तु सेटिका सेटिकाकी ही है। जैसा यह दृष्टान्त है वैसा ही दृष्टान्तसे प्रतिफलित होनेवाला दार्ष्टान्तिक है। जैसे—

यहाँ चेतयिता दर्शनगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है और व्यवहारसे उसका दृश्य अर्थात् देखनेके योग्य पुद्गलादि परद्रव्य है। अब यहाँ दर्शक जो चेतयिता है वह दृश्यरूप पुद्गलादि परद्रव्यका है अथवा नही है ? इस प्रकार दृश्य और दर्शक इन दोनो तत्त्वोंके सम्बन्धकी मीमासा की जाती है—

यदि चेतयिता अर्थात् दर्शक आत्मा पुद्गलादिका है तो 'जो जिसका होता है वह उसी रूप होता है, जैसे ज्ञान आत्माका होता हुआ आत्मा ही होता है'। इस प्रकारके तत्त्व-सम्बन्धके जीवित रहते हुए चेतयिताको यदि पुद्गलादिकका माना जावे तो उसे पुद्गलादि रूप ही हो जाना चाहिये और ऐसा होनेपर चेतयिताका स्वद्रव्योच्छेद हो जावेगा अर्थात् चेतयिता पुद्गलादिरूप होकर अपनी सत्ता ही समाप्त कर देगा। परन्तु द्रव्यका उच्छेद कभी होता नही है क्योकि द्रव्यान्तर सक्रमणका पहले ही निषेध किया जा चुका है। इससे यह सिद्ध हुआ कि चेतयिता पुद्गलादिकका नही है। यहाँ आशङ्का होती है कि यदि चेतयिता पुद्गलादिकका नही तो किसका है ? इसका उत्तर है कि चेतयिता चेतयिताका ही है। फिर आशङ्का होती है कि वह अन्य चेतयिता कौन है जिसका कि चेतयिता होता है ? तो उसका उत्तर है कि चेतयितासे अन्य चेतयिता नही है किन्तु स्व-स्वामी अश ही अन्य है अर्थात् आप ही स्व है और आप ही स्वामी है, इस प्रकारकी कल्पनासे स्व-स्वामी व्यवहारकी उपपत्ति हो जाती है। यहाँ कोई पुन: पूछता है कि स्व-स्वामी अशके व्यवहारसे साध्य क्या है ? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? तो उत्तर यह है कि कुछ भी नही है। इससे यह निश्चय हुआ कि दर्शक आत्मा किसीका नही है किन्तु दर्शक दर्शकका ही है। चेतयिता तात्त्विकदृष्टिसे किसीका दर्शक नही है किन्तु स्वयमेव दर्शक है ऐसा निश्चय सिद्धान्त है। जिस प्रकार काष्ठादि पदार्थोंको जलानेसे अग्नि दाहक है सो नही, किन्तु स्वयमेव अग्नि दाहक है। इसी प्रकार घटपटादि पदार्थोंके देखनेसे आत्मा दर्शक है सो नही, किन्तु आत्मा पर-निरपेक्ष स्वय दर्शक है।

यह पद्धति चारित्रगुणके विषयमे स्वीकार्य है। जैसे—

यहाँ सेटिका श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है और व्यवहारसे श्वेत करने योग्य भित्ति आदि उसके परद्रव्य है। यहाँ सफेद करनेवाली सेटिका भित्ति आदि परद्रव्यकी है अथवा

नहीं ? इसप्रकार श्वैत्य और श्वेतक दो पदार्थोंके सम्बन्धकी मीमासा की जाती है। यदि सेटिका भित्ति आदि परद्रव्यकी मानी जावे तो 'जो जिसका होता है वह उसी रूप होकर रहता है, जैसे ज्ञान आत्माका होता हुआ आत्मा रूप ही होता है' इस तत्त्वसम्बन्धके जीवित रहते हुए सेटिका यदि भित्ति आदिकी है तो उसे भित्ति आदि रूप ही होना चाहिये और ऐसा होनेपर सेटिकाके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जावेगा अर्थात् सेटिका भित्ति आदि रूप होकर अपनी सत्ता नष्ट कर देगी। परन्तु द्रव्यका उच्छेद हो नही सकता, क्योंकि द्रव्यान्तर सक्रमणका निषेध पहले किया जा चुका है। इससे यह निश्चय हुआ कि सेटिका भित्ति आदिकी नही है। तब आशङ्का होती है कि यदि सेटिका भित्ति आदिकी नहीं है तो किसकी है ? इसका उत्तर है कि सेटिकाकी ही सेटिका है। फिर आशङ्का होती है कि वह अन्य सेटिका कौन है जिसकी कि सेटिका होती है ? इसका उत्तर है कि सेटिकासे अन्य सेटिक नही है किन्तु स्व-स्वामी अश ही अन्य हैं। कोई फिर पूछता है कि यहाँ स्व-स्वामी अशके व्यवहारसे क्या साध्य है ? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? उसका उत्तर है कि कुछ भी नही। इससे यह निश्चय हुआ कि सेटिका किसी अन्यकी नहीं है, किन्तु सेटिका सेटिकाकी ही है। जिस प्रकार यह दृष्टान्त है उसी प्रकार इससे प्रतिफलित होनेवाला दार्ष्टान्तिक है। जैसे—

यहाँपर चेतयिता जो आत्मद्रव्य है सो ज्ञान-दर्शनगुणसे परिपूर्ण और परद्रव्यके अपोहन-रूप चारित्रगुणको धारण करनेवाला है तथा उसी आत्मद्रव्यके अपोह्यरूप पुद्गलादि परद्रव्य है। अब अपोहक अर्थात् परपदार्थका त्याग करनेवाला चेतयिता अपोह्य अर्थात् त्याग करने योग्य पुद्गलादिक परद्रव्यका है अथवा नही ? इस प्रकार अपोह्य और अपोहक इन दो तत्त्वोके सम्बन्ध-की मीमासा की जाती है।

यदि चेतयिता पुद्गलादिकका है तो 'जो जिसका होता है वह उसी रूप होता है, जैसे ज्ञान आत्माका होता हुआ आत्मारूप होता है' इस तत्त्वसम्बन्धके जीवित रहते हुए चेतयिता पुद्गलादिकका होता हुआ पुद्गलादिरूप ही हो जावेगा और ऐसा होने पर चेतयिताके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जावेगा अर्थात् चेतयिता पुद्गलादिरूप होकर अपना अस्तित्व समाप्त कर देगा, सो द्रव्यका उच्छेद कभी हो नही सकता, क्योंकि द्रव्यान्तर-सक्रमणका निषेध पहले कर आये हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि चेतयिता पुद्गलादिकका नही है। अब यह आशंका होती है कि यदि चेतयिता पुद्गलादिकका नही है तो फिर किसका है ? इसका उत्तर यह है कि चेतयिता चेतयिता-का ही है। पुन प्रश्न होता है कि वह अन्य चेतयिता कौन है जिसका वह चेतयिता होता है ? इसका उत्तर यह है कि चेतयितासे अन्य कोई दूसरा चेतयिता नही है किन्तु स्व-स्वामीके अश ही अन्य हैं। कोई फिर पूछता है कि यहाँ स्व-स्वामी अशके व्यवहारसे क्या साध्य है ? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? उसका उत्तर यह है कि कुछ भी नही। इससे यह निश्चय हुआ कि चेतयिता किसीका अपोहक नही है, अपोहक अपोहक ही है। इस प्रकार ज्ञेय-ज्ञायक, दृश्य-दर्शक और अपोह्य-अपोहक सम्बन्धका विचार निश्चयनयकी अपेक्षा किया। अब व्यवहारनयकी अपेक्षा इन सम्बन्धोपर विचार किया जाता है—

जिस प्रकार श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाली सेटिका स्वय भित्ति आदि परद्रव्यरूप नही परिणमती और भित्ति आदि परद्रव्यको अपनेरूप नही परिणमाती, किन्तु भित्ति आदि परद्रव्यके

निमित्तसे होनेवाले अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होती हुई भित्ति आदि परद्रव्यको, जो सेटिकानिमित्तक अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न हो रहा है, अपने स्वभावसे सफेद करती है, ऐसा व्यवहार होता है। उसी प्रकार ज्ञानगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी स्वय पुद्गलादि परद्रव्यके स्वभावसे नही परिणमता है और पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप नही परिणमाता है, किन्तु पुद्गलादि परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने ज्ञानगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होता हुआ पुद्गलादि परद्रव्यको, जो कि चेतयिताके निमित्तसे होनेवाले अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न हो रहा है, अपने स्वभावसे जानता है, ऐसा व्यवहार होता है।

इसी प्रकार दर्शनगुणके साथ योजना करना चाहिये। जिस प्रकार श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाली वही सेटिका स्वय भित्ति आदि परद्रव्यके स्वभावसे नही परिणमती और भित्ति आदि परद्रव्यको अपने स्वभावसे नही परिणमाती, किन्तु भित्ति आदि परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होती हुई भित्ति आदि परद्रव्यको, जो कि सेटिकाके निमित्तसे होनेवाले अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न हो रहा है, अपने स्वभावसे सफेद करती है, ऐसा व्यवहार होता है। उसी प्रकार दर्शनगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी स्वय पुद्गलादि परद्रव्यके स्वभावसे नही परिणमता और पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप नही परिणमाता, किन्तु पुद्गलादि परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने दर्शनगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होता हुआ पुद्गलादि परद्रव्यको, जो कि चेतयिताके निमित्तसे जायमान अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न हो रहा है, अपने स्वभावसे देखता है, ऐसा व्यवहार किया जाता है।

इसी प्रकार चारित्रगुणके विषयमे भी यही योजना करना चाहिये। जिस प्रकार श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाली वही सेटिका स्वय भित्ति आदि परद्रव्यके स्वभावरूप नही परिणमती और भित्ति आदि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप नही परिणमाती, किन्तु भित्ति आदि परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होती हुई भित्ति आदि परद्रव्यको, जो कि सेटिकाके निमित्तसे जायमान अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न हो रहा है, अपने स्वभावसे सफेद करती है, ऐसा व्यवहार होता है। उसी प्रकार ज्ञानदर्शनगुणसे परिपूर्ण तथा परपदार्थके अपोहन—त्यागरूप स्वभावसे चेतयिता भी स्वय पुद्गलादि परद्रव्यके स्वभावरूप नही परिणमता और पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप नही परिणमाता, किन्तु पुद्गलादि परद्रव्यके निमित्तसे जायमान अपने ज्ञानदर्शनगुणसे परिपूर्ण तथा परद्रव्यके अपोहन—त्यागरूप स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होता हुआ पुद्गलादि परद्रव्यको, जो कि चेतयिताके निमित्तसे होनेवाले अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न हो रहा है, अपने स्वभावसे अपोहित करता है—छोडता है, ऐसा व्यवहार होता है। इस प्रकार यह आत्माके ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप पर्यायोके निश्चय तथा व्यवहारका प्रकार है। इसी तरह अन्य सभी पर्यायोके निश्चय और व्यवहारका प्रकार जानना चाहिये।

भावार्थ—जानना, देखना, श्रद्धान करना और त्याग करना ये सब आत्माके चैतन्यगुणके परिणाम है। निश्चयनयसे विचार करनेपर आत्मा परद्रव्यका ज्ञायक नही है, परद्रव्यका दर्शक नही है, परद्रव्यका श्रद्धायक नही है और परद्रव्यका अपोहक नही है। उसके ये सब भाव आप ही है क्योकि आत्माका परिणमन आत्माश्रित है और परद्रव्यका परिणमन पराश्रित है। 'सेटिका

भित्ति आदिको सफेद करती है' यहाँ विचार करनेपर भित्तिका परिणमन भित्तिरूप हो रहा है और सेटिकाका परिणमन सेटिकारूप हो रहा है अर्थात् भित्ति भित्तिरूप ही रहती है और सेटिका सेटिकारूप ही रहती है। परन्तु व्यवहारनयसे विचार करनेपर आत्मा परद्रव्यका ज्ञायक है, परद्रव्यका दर्शक है, परद्रव्यका श्रद्धायक है और परद्रव्यका अपोहक है, क्योकि परपदार्थका जो ज्ञेय, दृश्य, श्रद्धेय और अपोह्यरूप परिणाम है वह आत्माके ज्ञायक, दर्शक, श्रद्धायक और अपोहक भावके निमित्तसे जायमान है और आत्मामे जो ज्ञायकभाव आदिरूप परिणाम है वह परपदार्थके ज्ञेयभाव आदिरूप परिणामके निमित्तसे उत्पद्यमान है। 'सेटिका भित्तिको सफेद करती है' यही भित्तिका श्वेतगुणरूप परिणाम है वह सेटिकाके निमित्तसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये निमित्त-नैमित्तिक भावकी प्रधानतासे तथोक्त व्यवहार होता है। इस तरह निश्चय और व्यवहारकी पद्धतिको यथार्थरूपसे जानकर वस्तुस्वरूपका श्रद्धान करना चाहिये ॥३५६-३६५॥

अब यही भाव कलशामे दिखाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगत चकास्ति किमपि द्रव्यान्तर जातुचित्।
ज्ञान ज्ञेयमवैति यत्तु तदय शुद्धस्वभावोदय
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जना. ॥२१४॥

अर्थ—शुद्ध द्रव्यके निरूपणमे जिसने बुद्धि लगाई है तथा जो सम्यक् प्रकारसे तत्त्वका अनुभव कर रहा है ऐसे पुरुषके एक द्रव्यमे प्राप्त दूसरा कुछ भी द्रव्य कभी भी प्रतिभासित नही होता। 'ज्ञान ज्ञेयको जानता है' यह जो कहा जाता है सो यह ज्ञानके शुद्धस्वभावका उदय है। ये लोक अन्य द्रव्यके ग्रहणसे आकुलित बुद्धि होते हुए तत्त्वसे क्यो चिगते है ?

भावार्थ—जब शुद्ध निश्चयनयसे तत्त्वका यथार्थ विचार किया जाता है तब यह अनुभव होता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमे कभी प्रवेश नही करता है। 'ज्ञान ज्ञेयको जानता है', ऐसा जो व्यवहार होता है वहाँ ज्ञानके भीतर ज्ञेयका प्रवेश नही है। और ज्ञेयके भीतर ज्ञानका प्रवेश नही है। ज्ञान और ज्ञेय यथास्थान अपने-अपने स्वभावरूप परिणम रहे है फिर भी ज्ञानकी स्वच्छताके कारण ऐसा प्रतिभास होता है कि ज्ञानमे ज्ञेय आ रहा है। जब यह वस्तुस्थिति है तब ससारके ये प्राणी अन्य द्रव्यकी प्राप्तिके लिये व्यग्र होते हुए तत्त्वसे विचलित क्यों होते है ? उनकी इस अज्ञानमूलक प्रवृत्तिपर आचार्य आश्चर्य प्रकट करते हैं ॥ २१४ ॥

मन्दाक्रान्ताछन्द

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात् किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्द्रव्य भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभाव ।
ज्योत्स्नारूप स्नपयति भुव नैव तस्यास्ति भूमि-
र्ज्ञान ज्ञेय कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ॥२१५॥

अर्थ—शुद्ध द्रव्य जो चेतन है उसका स्वभावरूप परिणमन होता है। उससे अतिरिक्त स्वभावका शेष क्या रह जाता है अर्थात् कुछ नही। यदि यह कहा जाय कि ज्ञेयरूप अन्य द्रव्य

चेतनमे प्रतिफलित होते हैं तो क्या इससे वे उसके स्वभाव हो गये ? चाँदनीका धवल रूप पृथिवी-को नहला देता है तो क्या इससे पृथिवी चाँदनीकी हो-जाती है ? अर्थात् नही । इसी तरह ज्ञान ज्ञेयको जानता है परन्तु ज्ञेय कभी ज्ञानका नही होता।

भावार्थ—यहाँ शुद्धद्रव्यसे प्रयोजन आत्मद्रव्यसे है। उसका स्वरस अर्थात् निज स्वभाव चैतन्य है। वह आत्मद्रव्य सदा निज स्वभावरूप परिणमन कर रहा है। इस परिणमनसे शेप क्या बच रहता है जो उस स्वभावका कहा जावे ? यदि अन्य द्रव्य आत्मामे होते भी है अर्थात् ज्ञानकी स्वच्छताके कारण उसमे प्रतिफलित होते भी हैं तो इससे वे अन्य द्रव्य आत्माके स्वभाव नही हो सकते। जिस प्रकार चाँदनी पृथिवीको सफ़ेद कर देती है तो क्या इससे पृथिवी चाँदनी हो जाती है ? नही, इसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयको जानता है तो इससे क्या ज्ञेय ज्ञानका हो जाता है ? नही, सदा ज्ञान ज्ञान ही रहता है और ज्ञेय ज्ञेय ही रहता है। यह प्रकरण निश्चयनयसे ज्ञायक और ज्ञेयके सम्बन्धका है। यहाँ आचार्यने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि निश्चयसे ज्ञायक आत्मा स्वय ही ज्ञायक है, परद्रव्यको जाननेके कारण ज्ञायक नही है क्योकि परद्रव्य जो पुद्गलादि द्रव्य है वे कभी आत्मद्रव्यरूप नही परिणमते। इसमे दृष्टान्त चाँदनीका दिया है। जिस प्रकार चादनीद्वारा प्रकाशित होने मात्रसे पृथिवी चाँदनीकी नहीं हो जाती, उसी प्रकार ज्ञानद्वारा जाने-जाने मात्रसे ज्ञेय ज्ञानके नही हो जाते ॥२१५॥

अब ज्ञानमे राग-द्वेषका उदय कहाँ तक रहता है, यह दिखानेके लिये कलशा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावज्
ज्ञानं ज्ञान भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम् ।
ज्ञान ज्ञान भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभाव
भावाभावौ भवति तिरयन्येन पूर्णस्वभाव ॥२१६॥

अर्थ—राग और द्वेष ये दोनो तब तक उदित होते रहते है जब तक कि यह ज्ञान ज्ञान नही हो जाता और ज्ञेय ज्ञेयपनको नही प्राप्त हो जाता। इसलिये आचार्य आकाङ्क्षा प्रकट करते हैं कि अज्ञानभावको दूर करनेवाला यह ज्ञान ज्ञान ही रहे, जिससे कि भाव और अभावको अर्थात् चतुर्गति सम्बन्धी उत्पाद-व्ययको दूर करता हुआ आत्मा पूर्णस्वभावसे युक्त हो जावे।

भावार्थ—ज्ञान ज्ञेयरूप होता है और ज्ञेय ज्ञानरूप होता है, इस प्रकारका समिश्रण मिथ्यात्व-दशामे ही होता है। और जब तक यह मिथ्यात्वदशा रहती है तब तक रागद्वेष नियमसे उत्पन्न होते रहते है। मिथ्यात्वके कारण यह जीव परदार्थको सुख-दुःखका कारण मानता है, इसलिये उनकी इष्टानिष्ट परिणतिमे रागद्वेषका होना सुलभ है। अतः आचार्य आकाङ्क्षा प्रकट करते है कि ज्ञान ज्ञान ही रहे तथा वह 'ज्ञान ज्ञेयरूप होता है और ज्ञेय ज्ञानरूप होता है' इस अज्ञानभावको नष्ट कर दे। जब तक एतादृश ज्ञान प्रकट नही होता तब तक आत्मा पूर्णस्वभाव-प्राप्त नही होता और जब तक पूर्णस्वभावको प्राप्त नही होता तब तक इसका चतुर्गति सम्बन्धी उत्पाद-व्यय—जन्म-मरण नष्ट नही होता। अतएव आत्माका पूर्णस्वभाव प्राप्त करनेके लिये ज्ञानका ज्ञानरूप होना आचार्यको अभीष्ट है ॥२१६॥

आगे राग-द्वेष-मोह जीवसे अभिन्न परिणाम हैं, यह कहते हैं—

दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेयणे विसये।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसयेसु ॥३६६॥
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेयणे कम्मे।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तम्हि कम्मम्मि ॥३६७॥
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेयणे काये।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ॥३६८॥
णाणस्स दंसणस्स य भणिओ घाओ तहा चरित्तस्स।
ण वि तहिं पुग्गलदव्वस्स को वि घाओ उ णिद्दिट्ठो ॥३६९॥
जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु।
तम्हा सम्माइट्ठिस्स णत्थि रागो उ विसएसु ॥३७०॥
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा।
एएण कारणेण उ सद्दादिसु णत्थि रागादि ॥३७१॥

अर्थ—दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनो अचेतन विषयमें कुछ भी नही हैं, इसलिये चेतयिता उन विषयोमे क्या घात करे ?

दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनो अचेतन ज्ञानावरणादि कर्मोंमे कुछ भी नही हैं, इसलिये चेतयिता उन कर्मोंमे क्या घात करे ?

इसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनो अचेतन कायमे कुछ भी नही हैं, इसलिये चेतयिता उस कायमे क्या घात करे ?

जैसा दर्शन, ज्ञान और चारित्रका घात कहा गया है वैसा पुद्गलद्रव्यका कोई भी घात नही कहा गया है।

जीवके जो कोई गुण हैं वे निश्चयसे परद्रव्योमे नही रहते, इसलिये सम्यग्दृष्टि जीवके विषयोमे राग नही होता।

राग, द्वेष और मोह ये जीवके ही अनन्य परिणाम हैं। अर्थात् जीवके साथ इनका अनित्य तादात्म्य है। यही कारण है कि शब्दादिक विषयोमे ये रागादिक नही हैं।

विशेषार्थ—निश्चयसे जो धर्म जहाँ होता है उस वस्तुके घातनेसे वह धर्म भी घाता जाता है। जैसे प्रदीपके घातसे प्रकाश भी घाता जाता है। उसी तरह जिसमे जो होता है उसका घात होनेपर वह भी घाता जाता है। जैसे प्रकाशका घात होनेपर प्रदीपका भी घात होता है। अर्थात् प्रतीपमे प्रकाश रहता है और प्रकाशमे प्रदीप रहता है, इसलिये एक दूसरेका घात होनेपर दोनो घाते जाते हैं। परन्तु जो जिसमे नही होता वह उसका घात होनेपर नही घाता जाता, जैसे घटका घात होनेपर घटमे रखा हुआ दीपक नही घाता जाता। उसी तरह जो जिसमे नही होता

वह उसका घात होनेपर नहीं घाता जाता, जैसे घटके भीतर स्थित प्रदीपका घात होनेपर घट नही घाता जाता। उसी प्रकार आत्माके धर्म जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं वे पुद्गलद्रव्यका घात होनेपर भी नही घाते जाते और न दर्शन-ज्ञान-चारित्रका घात होनेपर भी पुद्गलद्रव्य घाता जाता है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र पुद्गलद्रव्यमे नही है क्योकि यदि ऐसा होता तो दर्शन-ज्ञान-चारित्रका घात होनेपर पुद्गलद्रव्यका घात और पुद्गलद्रव्यका घात होनेपर दर्शन-ज्ञान-चारित्रका घात दुर्निवार होता, परन्तु ऐसा नही है। जिस कारण ऐसा है उस कारण जो जितने कुछ भी जीवके गुण हैं वे सभी परद्रव्योमे नही है, इस प्रकार हम सम्यक् देखते है। अन्यथा यहाँपर भी जीवके गुणोका घात होनेपर पुद्गलद्रव्यका घात और पुद्गलद्रव्यका घात होनेपर जीवके गुणोका घात दुर्निवार हो जाता, परन्तु ऐसा नही है। यहाँ आशङ्का होती है कि यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टिके विषयोमे राग किसी कारणसे होता है ? इसका उत्तर है कि न किसी कारणसे। तब फिर रागको खान क्या है ? अर्थात् रागकी उत्पत्ति किससे होती है ? इसका उत्तर यह है कि राग-द्वेष-मोह जीवके ही अज्ञानमय परिणाम है, इसलिये वे परद्रव्यादि विषयोमे नही होते। अज्ञानका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टि जीवके रागादिक नही होते। इस प्रकार वे राग-द्वेष-मोह विषयोमे न होते हुए सम्यग्दृष्टिके नही होते, यह नियम है ॥ ३६६-३७१ ॥

अब यही भाव कलशामें दिखाते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित्।
सम्यग्दृष्टि क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटन्तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहज येन पूर्णाचलार्चि ॥ २१७ ॥

अर्थ—निश्चयसे इस आत्मामे अज्ञानभावके कारण ज्ञान ही राग-द्वेषरूप परिणत होता है। वस्तुके यथार्थ स्वरूपपर संलग्न दृष्टिसे देखे जाने पर वे राग-द्वेष कुछ भी नही है। इसलिये प्रकट होते हुए उन रागद्वेषोको सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्वदृष्टिसे—वस्तुके परमार्थस्वरूपका विचार करानेवाली बुद्धिसे नष्ट करे, जिससे कि पूर्ण और अविनाशी किरणोसे युक्त स्वाभाविक ज्ञान-ज्योति प्रकाशमान हो।

भावार्थ—राग-द्वेष आत्माकी ही अशुद्ध परिणति है। उसकी उत्पत्तिमे आत्माका अज्ञान-भाव कारण है। जब आत्मतत्त्वके शुद्धस्वरूपपर दृष्टि डालते है तब उसमे राग-द्वेषकी सत्ता दिखाई नही देती अर्थात् परमार्थसे आत्मा राग-द्वेषसे रहित है। इसलिये वर्तमानमे जो राग-द्वेष प्रकट हो रहे हैं उन्हे सम्यग्दृष्टि जीव निजमे परके निमित्त जायमान विकारीभाव समझकर नष्ट करनेका पुरुषार्थ करे, क्योकि राग-द्वेषके नष्ट हो चुकनेपर ही पूर्ण तथा अविनाशी केवलज्ञानरूपी ज्योति प्रकट हो सकती है ॥ २१७ ॥

अब राग-द्वेषका उत्पादक परद्रव्य नही है, यह भाव कलशामे दिखाते हैं—

शालिनीछन्द

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या
नान्यद् द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि।

सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति
व्यक्तात्यन्त स्वस्वभावेन यस्मात् ॥२१८॥

अर्थ—तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य कुछ भी दिखाई नही देता, क्योकि सब द्रव्योकी उत्पत्ति अपने ही निज स्वभावसे अपने ही भीतर प्रकट होती हुई अत्यन्त सुशोभित होती है।

भावार्थ—यहाँ उपादानदृष्टिकी प्रमुखतासे कथन है, इसलिये रागद्वेषकी उत्पत्ति बाह्य-पदार्थोंसे न बताकर आत्माके स्वस्वभावसे ही बतलाई है। इसलिये रागद्वेषको नष्ट करनेके लिये अपने अज्ञानभावको ही सर्वप्रथम नष्ट करना चाहिये ॥२१८॥

अब सर्व द्रव्य स्वभावसे ही उपजते हैं, यह कहते हैं—

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ।
तम्हा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

अर्थ—अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके गुणोका उत्पाद नही होता, इसलिये सब द्रव्य स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं।

विशेषार्थ—परद्रव्य जीवके रागादिकोंको उत्पन्न कराता है, ऐसी आशङ्का नही करना चाहिये, क्योकि अन्य द्रव्यके अन्य द्रव्य सम्बन्धी गुणोंके उत्पन्न करनेकी असमर्थता है। सब द्रव्यो-का अपने स्वभावसे ही उत्पाद होता है, इसी बातको दिखाते है—

जैसे मिट्टीका घडा बनता है। यहाँ घटरूपसे उत्पन्न होती हुई मिट्टी क्या कुम्भकारके स्वभावसे घटरूप उत्पन्न होती है अथवा मिट्टीके स्वभावसे ? यदि कुम्भकारके स्वभावसे घटरूप उत्पन्न होती है, ऐसा माना जावे तो घट बनानेके अहंकारसे पूरित पुरुष अधिष्ठित तथा घट-निर्माणमे व्यापृत हाथोसे युक्त पुरुषका जो शरीर है उसके आकार घट होना चाहिये, परन्तु ऐसा नही होता, क्योकि अन्य द्रव्यके स्वभावसे अन्य द्रव्यमे परिणामका उत्पाद नही देखा जाता। यदि ऐसा है तो यह निश्चित हो गया कि मिट्टीका घटाकार परिणमन कुम्भकारके स्वभावसे नही होता, किन्तु मिट्टीके स्वभावसे ही होता है क्योकि द्रव्यमे परिणामका उत्पाद स्वकीय स्वभावसे ही देखा जाता है। तथा ऐसा होनेपर मिट्टी अपने स्वभावका अतिक्रमण नही कर सकती। इसलिये घटका उत्पादक कुम्भकार नही है किन्तु मिट्टी ही कुम्भकारके स्वभावका स्पर्श न करती हुई स्वकीय स्वभावसे घटरूप उत्पन्न होती है।

इसी प्रकार सभी द्रव्य स्वकीय परिणामरूप पर्यायसे उत्पन्न होते हैं। सो उस तरह उत्पन्न होते हुए वे द्रव्य क्या निमित्तभूत द्रव्यान्तरके स्वभावसे उत्पन्न होते हैं या स्वकीय स्वभावसे ? यह आशङ्का होती है। यदि निमित्तभूत द्रव्यान्तरके स्वभावसे उत्पन्न होते हैं तो उनका वह परि-णाम निमित्तभूत परद्रव्यके आकार होना चाहिये, परन्तु ऐसा नही है क्योकि द्रव्यान्तरके स्वभावसे द्रव्यमें परिणाम नही देखा जाता। यदि ऐसा है तो यह निश्चय हुआ कि सर्वद्रव्य निमित्तभूत परद्रव्यके स्वभावसे उत्पन्न नही होते, किन्तु स्वकीय स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं क्योकि द्रव्यमे जो परिणामका उत्पाद है वह स्वकीय स्वभावसे ही देखा जाता है और ऐसा होनेपर सर्वद्रव्य अपने स्वभावका अतिक्रमण नही कर सकते, इसलिये निमित्तभूत अन्य द्रव्य उनके परिणामके

उत्पादक नही है किन्तु सर्वद्रव्य ही निमित्तभूत द्रव्यान्तरके स्वभावका स्पर्श न करते हुए स्वकीय स्वभावसे अपने अपने परिणामरूपसे उत्पन्न होते हैं। इसलिये हम परद्रव्यको जीवके रागादिक भावोंका उत्पादक नही देखते है, जिसके लिये कुपित हों अर्थात् क्रोध प्रकट करें।

यहाँ उपादानकारणकी प्रधानतासे कथन किया गया है, इसलिये निमित्तकारणका सर्वथा निषेध नही समझना चाहिये ॥३७२॥

अब कहते हैं कि रागादिककी उत्पत्तिमें आत्मा ही अपराधी है, अन्य द्रव्य नही—

मालिनीछन्द

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूति
कतरदपि परेषा दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्त यात्वबोधोऽस्मि बोध. ॥२१९॥

अर्थ—इस आत्मामे जो रागादिककी उत्पत्ति होती है उसमें परद्रव्यका किञ्चिन्मात्र भी दूषण नही है। यह आत्मा स्वय अपराधी होता है और अपराधके कारण इसका अज्ञान फैलता है, यह बात सबको विदित हो, अत. अज्ञान अस्तको प्राप्त हों जावे, क्योकि मै ज्ञानस्वरूप हूँ।

भावार्थ—रागादिककी उत्पत्तिका उपादानकारण आत्मा स्वय है, इसलिये परपदार्थको क्या दोष दिया जाय? अज्ञानभावके कारण आत्मामे रागादिकभाव उत्पन्न होते है। इसलिये आचार्य आकङ्क्षा प्रकट करते हैं कि मेरा वह अज्ञानभाव नष्ट हो, क्योकि मै ज्ञानरूप हूँ। अज्ञानी जीव रागद्वेषकी उत्पत्तिमे परदव्यको ही निमित्त मानकर उनके ऊपर क्रोध करता है। यह व्यर्थ है क्योकि रागद्वेषका उपादानकारण अज्ञानी जीव स्वय है। अत: उनके ऊपर क्रोध करना जलताड़नके सदृश व्यर्थ है। अपने अज्ञानभावको त्यागो, आपसे आप इनका विलय हो जावेगा ॥२१९॥

आगे रागादिककी उत्पत्तिमे परद्रव्यको ही निमित्त माननेका निषेध करते हैं—

रथोद्धताछन्द

रागजन्मनि निमित्तता परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनी शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धय ॥२२०॥

अर्थ—जो रागकी उत्पत्तिमें परद्रव्यका ही निमित्तपन मानते है वे मोहरूपी नदीको नही उतर सकते, क्योकि शुद्धनयका विषयभूत जो आत्मा उसके बोधसे शून्य होनेके कारण वे अन्धबुद्धिवाले है।

भावार्थ—आत्माके अज्ञानरूप रागादिक परिणाम मोहकर्मके उदयमे होते हैं। जो केवल परद्रव्यकी निमित्तताकी मुख्यतासे ही उनका अस्तित्व मानते है वे शुद्धवस्तुस्वरूपके ज्ञानसे रहित अन्धे हैं तथा कभी भी मोहनदीके पार नही जा सकते ॥२२०॥

आगे शब्द, रस, गन्ध आदिक बाह्य पदार्थ रागद्वेषके कारण नहीं हैं, यह दिखाते हैं—

णिंदियसंथुयवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुयाणि।
ताणि सुणिऊण रूसदि तूसदि य अहं पुणो भणिदो ॥३७३॥

पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणयं तस्स जइ गुणो अण्णो ।
तम्हा ण तुमं भणिओ किंचि वि किं रूससि अबुद्धो ॥३७४॥
असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणइ सुणसु मं ति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं सोयविषयमागयं सद्दं ॥३७५॥
असुहं सुहं च रूवं ण तं भणइ पिच्छ मं ति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं चक्खुविसयमागयं रूवं ॥३७६॥
असुहो सुहो व गंधो ण तं भणइ जिग्घ मं ति सो चेव ।
ण य एव विगिग्गहिउं घाणविसयमागयं गंधं ॥३७७॥
असुहो सुहो व रसो ण त भणइ रसय मं ति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं रसणविसयमागयं तु रसं ॥३७८॥
असुहो सुहो व फासो ण तं भणइ फुससु मं ति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं कायविसयमागयं फासं ॥३७९॥
असुहो सुहो व गुणो ण तं भणइ बुज्झ मं ति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं तु गुणं ॥३८०॥
असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणइ बुज्झ मं ति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं दव्वं ॥३८१॥
एयं तु जाणिऊण उवसमं णेव गच्छई मूढो ।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥३८२॥

(दशकम्)

अर्थ—अनेक प्रकारके जो निन्दा और स्तुतिके वचन हैं। पुद्गलद्रव्य उन रूप परिणमता है। उन्हे सुनकर 'ये शब्द मुझसे कहे गये हैं' ऐसा समझकर अज्ञानी जीव रुष्ट होता है तथा संतुष्ट होता है। अर्थात् निन्दाके वचन सुनकर रुष्ट होता है और स्तुतिके वचन सुनकर सतुष्ट होता है।

परन्तु यहाँ पुद्गलद्रव्य ही शब्दरूप परिणत हुआ है। यदि उसका गुण अन्य है अर्थात् तुझसे भिन्न है तो तुझसे कुछ भी नही कहा गया है। तूँ अज्ञानी हुआ क्यो रुष्ट होता है ?

अशुभ और शुभ शब्द तुझसे नही कहता कि तूँ मुझे सुन, और न श्रोत्रइन्द्रियके विषयको प्राप्त हुए शब्दको ग्रहण करनेके लिये आत्मा ही आता है।

इसी प्रकार अशुभ और शुभ रूप तुझसे नही कहता कि तूँ मुझे देख, और न नेत्रइन्द्रियके विषयको प्राप्त हुए रूपको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है।

इसी तरह अशुभ और शुभ गन्ध तुझसे नही कहता कि तूँ मुझे सूँघ, और न घ्राण इन्द्रियके विषयको प्राप्त हुए गन्धको ग्रहण करनेके लिये आत्मा ही आता है।

इसी पद्धतिसे अशुभ और शुभ रस तुझसे नही कहता है कि तूँ मुझे चख, और न रसना इन्द्रियके विषयको प्राप्त रसको ग्रहण करनेके लिये आत्मा ही आता है।

इसी विधिसे अशुभ और शुभ स्पर्श तुझसे नही कहता कि तूँ मुझे स्पर्श कर, और न स्पर्शन इन्द्रियके विषयको प्राप्त हुए स्पर्शको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है।

इसी प्रकार अशुभ और शुभ गुण तुझसे नही कहता कि तूँ मुझे जान, और न बुद्धिके विषयको प्राप्त हुए गुणको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है।

तथा इसी तरह अशुभ और शुभ द्रव्य तुझसे नही कहता कि तूँ मुझे जान, और न बुद्धिके विषयको प्राप्त हुए द्रव्यको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है।

जो परको ग्रहण करनेका मन करता है तथा स्वयं कल्याणकारी बुद्धिको प्राप्त नही हुआ है, ऐसा मूढ जीव इस प्रकार जानकर भी उपशमभावको प्राप्त नही होता है।

विशेषार्थ—इस लोकमें जिस प्रकार देवदत्त यज्ञदत्तका हाथ पकड़कर उसे किसी कार्यमें लगाता है उसी प्रकार ये घटपटादि बाह्य पदार्थ दीपकको हाथमे लेकर 'मुझे प्रकाशित करो' इस तरह कहते हुए अपने आपके प्रकाशनमें उसे प्रेरित नही करते और न दीपक भी चुम्बकसे खिची हुई लोहकी सुईके समान अपने स्थानसे च्युत होकर उन घटपटादि पदार्थोंको प्रकाशित करनेके लिए आता है क्योंकि वस्तुका स्वभाव परके द्वारा उत्पन्न नही किया जा सकता तथा पर भी वस्तुस्वभावके द्वारा उत्पन्न नही किया जा सकता, इसलिये जिस प्रकार दीपक परके सन्निधानमे स्वरूपसे ही प्रकाशित होता है उसी प्रकार परके असन्निधानमे भी स्वरूपसे ही प्रकाशित होता है। वस्तुस्वभावसे ही विचित्र परिणतिको प्राप्त होते हुए सुन्दर या असुन्दर जो घटपटादि पदार्थ है वे स्वरूपसे ही प्रकाशित होनेवाले दीपककी किञ्चिन्मात्र भी विक्रिया (विकार) करनेके लिए समर्थ नही हैं। उसी प्रकार बाह्य पदार्थ जो शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, गुण और द्रव्य हैं वे यज्ञदत्तको देवदत्तके समान हाथमे पकडकर मुझे सुनो, मुझे देखो, मुझे सूँघो, मुझे चखो, मुझे स्पर्श करो और मुझे जानो, इस तरह अपने ज्ञानके लिए आत्माको प्रेरित नही करते है, किन्तु वस्तुस्वभाव परके द्वारा उत्पन्न नही किया जा सकता और वस्तुस्वभावके द्वारा पर उत्पन्न नहीं किया जा सकता, इसलिये जिस प्रकार आत्मा उन शब्दादिकके असन्निधानमे उन्हे जानता है उसी प्रकार उनके सन्निधानमे भी स्वरूपसे ही उन्हे जानता है। वस्तुस्वभावसे ही विचित्र परिणतिको प्राप्त होते हुए सुन्दर या असुन्दर जो शब्दादिक बाह्यपदार्थ है वे स्वरूपसे ही जाननेवाले आत्मामे किञ्चिन्मात्र भी विक्रिया (विकार) उत्पन्न करनेके लिए समर्थ नही हो सकते। इस तरह यह आत्मा दीपकके समान परपदार्थके प्रति नित्य ही उदासीन रहता है। यह वस्तुकी स्थिति है तो भी जो रागद्वेष उत्पन्न होते हैं वह अज्ञान है।

भावार्थ—शुभ-अशुभ शब्द आदिका परिणमन उनके स्वाधीन है, वे आत्मामे रागद्वेष उत्पन्न करनेके लिये समर्थ नही है। फिर भी आत्मामे जो रागद्वेष होता है वह उसका अज्ञान है ॥३७३-३८२॥

आगे यही भाव कलशामें कहते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादय
यायात्कामपि विक्रिया तत इतो दीप प्रकाश्यादिव।

तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयीभवन्ति सहजा मुञ्चन्त्युदासीनताम् ॥२२१॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रकाशित करने योग्य घटपटादि पदार्थोंसे दीपक कुछ भी विक्रियाको प्राप्त नही होता उसी प्रकार पूर्ण, एक, अच्युत तथा शुद्ध ज्ञानकी महिमासे युक्त यह बोद्धा अर्थात् आत्मा, ज्ञानके विषयभूत शब्दादि पदार्थोंसे कुछ भी विक्रियाको प्राप्त नही हो सकता है। इसलिये वस्तुस्थितिके ज्ञानसे शून्य बुद्धिवाले ये अज्ञानी जीव रागद्वेषरूप क्यो हो रहे हैं तथा अपनी सहज उदासीनता—वीतराग परिणतिको क्यो छोड रहे हैं ?

भावार्थ—जिस प्रकार बाह्यपदार्थ दीपकमे कुछ भी विकार करनेमे समर्थ नही है अर्थात् पदार्थ अच्छा या बुरा किसी प्रकारका रहे, दीपक उसे मध्यस्थभावसे प्रकाशित ही करता है, उस पदार्थके निमित्तसे स्वय हर्ष-विषादका अनुभव नही करता। उसी प्रकार ज्ञानी जीव अच्छे या बुरे पदार्थोंको जानता मात्र है, उनके निमित्तसे हर्ष-विषादका अनुभव नही करता। इस तरह बाह्यपदार्थ ज्ञानी जीवमे कुछ भी विकार उत्पन्न करनेमें समर्थ नही है। फिर भी वस्तुस्वभावके यथार्थ विचारसे रहित ये अज्ञानी प्राणी शुभ-अशुभ शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श आदिका निमित्त पाकर रागद्वेष युक्त होते हैं तथा अपनी सहज जो उदासीनता है उसे छोड देते हैं, यह आश्चर्यकी बात है ॥२२१॥

अब राग-द्वेषसे रहित जीव ही ज्ञानचेतनाको प्राप्त होते है, यह कहते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृश
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात् ।
दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चञ्चच्चिदर्चिर्मयी
विन्दन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवना ज्ञानस्य सञ्चेतनाम् ॥२२२॥

अर्थ—जो रागद्वेषरूप विभावसे रहित तेजके धारक है, जो नित्य ही स्वभावका स्पर्श करते हैं, जो अतीत और अनागत सम्बन्धी समस्त कर्मोंसे रहित है तथा जो वर्तमानकाल सम्बन्धी कर्मोदयसे भिन्न है ऐसे ज्ञानी जीव, अत्यन्त गाढरूपसे धारण किये हुए चारित्रके वैभवके बलसे उस ज्ञानचेतनाको प्राप्त होते हैं, जो चमकती हुई चैतन्यज्योतिसे तन्मय है तथा जिसने स्वकीय ज्ञानरूप रससे तीनो लोकोको सीचा है।

भावार्थ—जिनका आत्मतेज रागद्वेषसे रहित है अर्थात् अविरतसम्यग्दृष्टि आदिकी अवस्थामे अप्रत्याख्यानावरणादि प्रकृतियोंके उदयसे जायमान रागादिकके रहते हुए भी जो अपने आत्मतेजको उससे रहित अनुभव करते हैं और आगे चलकर मोहकर्मका अभाव होनेसे परमार्थरूपसे जिनका आत्मतेज रागद्वेषसे रहित हो गया है तथा रागद्वेषसे रहित होनेके लिये जो निरन्तर स्वकीय ज्ञाता-द्रष्टा स्वभावका स्पर्श करते हैं अर्थात् सदा ऐसी भावना रखते है कि मेरा स्वभाव पदार्थोंको जानना-देखना मात्र है रागी-द्वेषी होना नही। जो अतीत और अनागत सम्बन्धी कर्मसे रहित हैं अर्थात् कर्मचेतनासे मुक्त हैं और वर्तमानमें उदयको प्राप्त कर्मफलसे भिन्न हैं अर्थात् कर्मफलचेतनासे रहित हैं ऐसे जीव अतिशय दृढताके साथ धारण किये हुए

रागद्वेषकी निवृत्तिरूप चारित्रके विभवकी सामर्थ्यसे अर्थात् यथाख्यातचारित्रके बलसे ज्ञानकी उस समीचीन चेतनाको प्राप्त होते है जिसमें एक चैतन्यका चमत्कार ही विद्यमान है। उसीसे जो तन्मय है तथा जिसने स्वकीय केवलज्ञानरूप परिणतिसे समस्त भुवनको व्याप्त किया है अर्थात् लोकालोकको अपना विषय बना लिया है। तात्पर्य यह है कि जिनका रागद्वेप चला जाता है, तथा जो अतीत, अनागत और वर्तमान कर्मोदयसे भिन्न आत्माका अनुभव करते है उन्ही महापुरुपोके चारित्रके वैभवका उदय होता है, जिसके बलसे वे कर्मचेतना और कर्मफल-चेतनासे भिन्न ज्ञानचेतनाका अनुभवन करते हैं तथा उस शुद्ध चेतनाकी ऐसी महती शक्ति है कि जिसमे अखिल लोक एक समयमे प्रतिभासित होने लगाता है ॥२२२॥

अब प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा आलोचनाका स्वरूप बताते हैं—

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं ।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमण ॥३८३॥
कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि वज्झइ भविस्सं ।
तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया ॥३८४॥
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं ।
तं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयणं चेया ॥३८५॥
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं य पडिक्कमदि जो ।
णिच्चं आलोचेयइ सो हु चरित्तं हवइ चेया ॥३८६॥
(चतुष्कम्)

अर्थ—पूर्वकालमे किये हुए अनेक विस्तार विशेपसे युक्त जो शुभ-अशुभ कर्म हैं उनसे अपने आपको जो निवृत्त करता है वह प्रतिक्रमण है।

जिस भावके रहते हुए भविष्यकालमे जो, शुभ-अशुभ कर्म बन्धको प्राप्त होनेवाले है उस भावसे जो चेययिता निवृत्त होता है वह प्रत्याख्यान है।

और जो वर्तमानकालमें अनेक प्रकारके विस्तारविशेपसे युक्त शुभ-अशुभकर्म उदयमे आया है उसके दोपका जो चेतयिता चिन्तन करता है वह आलोचना है।

इस पद्धतिसे जो चेतयिता नित्य ही प्रत्याख्यान करता है, नित्य ही प्रतिक्रमण करता है और नित्य ही आलोचना करता है निश्चयसे वही चारित्र है अर्थात् वही चारित्रगुणका धारक है।

विशेपार्थ—निश्चयसे जो चेतयिता (आत्मा) पुद्गलकर्मके विपाकसे होनेवाले भावोंसे स्वीय आत्माको निवृत्त करता है वह उन भावोके कारणभूत पूर्वकर्मोंका प्रतिक्रमण करता हुआ स्वय ही प्रतिक्रमणरूप होता है। वही आत्मा उन भावोके कार्यभूत अर्थात् उन भावोसे बँधनेवाले उत्तरकर्मको त्यागता हुआ प्रत्याख्यानरूप होता है और वही आत्मा वर्तमान कर्मविपाकको आत्मासे अत्यन्त भेदरूप जानता हुआ आलोचनारूप होता है। इस तरह यह आत्मा नित्य ही प्रतिक्रमण,

प्रत्याख्यान और आलोचना करता हुआ, पूर्वकर्मके कार्य और उत्तरकर्मके कारणरूप भावोंसे अत्यन्त निवृत्त होता हुआ और वर्तमान कर्मविपाकको आत्मासे अत्यन्त भिन्न जानता हुआ स्वकीय ज्ञानस्वभावसे निरन्तर आचरण करनेसे चारित्र होता है। और चारित्ररूप होता हुआ ज्ञानमात्र जो स्वीय स्वरूप है उसका अनुभवन करनेसे स्वयमेव ज्ञानचेतना हो जाती है।

भावार्थ—यहाँपर प्रधानतासे निश्चयचारित्रका कथन है। जहाँपर चारित्रका वर्णन होता है वहाँपर प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनाका वर्णन होता है। परन्तु यह सब प्रक्रिया मोहोदयमे होती है। जैसे अपराध जो होता है वह मोहके तीव्रोदयमे होता है और उसका जो प्रतिक्रमणादि होता है वह मोहके मन्द उदयमे होता है। जिस प्रकार लोकमे कोई व्याख्यान देनेका उद्यम करता है और व्याख्यान समाप्तिके अनन्तर उपस्थित सभासदोसे नम्र शब्दोमे यह निवेदन करता है कि यदि हमसे अज्ञान और प्रमादके कारण किसी प्रकारका अनुचित भाषण हुआ हो तो उसे आप महानुभाव क्षमा करें। उसी प्रकार मोही आत्मासे अतीतमे मोहके वश जो अपराध हुए हैं उनके दूर करनेके लिये वह पश्चात्ताप करता हुआ अपने आपको धिक्कारता है। अब आगामी कालमे ऐसे अपराधके कारण जो भाव हैं उन्हे नही करूँगा अर्थात् ऐसे भावोंसे अपनी आत्माका निवारण करता है। इसीका नाम प्रत्याख्यान है। तथा जो कर्मोदय वर्तमानमे आ रहा है उसे साम्यभावसे सहन करता हुआ भोगता है। और यह विचार करता है कि यह कर्मोदय हमारे ज्ञानस्वभावसे अत्यन्त भिन्न है, इसीका नाम आलोचना है। निश्चयनयसे विचार किया जाय तो यहाँ पर आत्मा ही प्रतिक्रमण है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही आलोचना है और आत्मा ही परमार्थसे चारित्र है। जब आत्मा ही स्वय चारित्ररूप हो जाता है तब उसका ज्ञानमात्र जो स्वकीय स्वरूप है उसीका अनुभव रह जाता है, इसलिये कर्मचेतना और कर्मफल-चेतनासे निवृत्ति होकर मात्र ज्ञानचेतना रह जाती है ॥३८३–३८६॥

अब ज्ञानचेतना और अज्ञानचेतना (कर्मचेतना और कर्मफलचेतना) का फल दिखाते हुए कलशा कहते हैं—

उपजातिछन्द

ज्ञानस्य सचेतनयैव नित्यं
प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।
अज्ञानसचेतनया तु धावन्
बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः ॥२२३॥

अर्थ—ज्ञानके संचेतनसे ही अत्यन्त शुद्ध ज्ञान प्रकाशित होता है और अज्ञानके सचेतनसे बन्ध दौडता हुआ ज्ञानकी शुद्धिको रोक लेता है।

भावार्थ—पदार्थोंका जानना ही मेरा स्वभाव है, उनका कर्ता या भोक्तापन मेरा स्वभाव नही है। इस प्रकार निरन्तर ज्ञानस्वभावका चिन्तन करनेसे ज्ञान शुद्ध हो जाता है अर्थात् उसमे मोहोदयसे होनेवाले परके कर्तृत्व और भोक्तृत्वका जो भ्रम (विकारी अश) था वह दूर हो जाता है। तथा इसके विपरीत अज्ञानका चिन्तन करनेसे अर्थात् ज्ञानस्वभावसे भिन्न जो कर्तृत्व (कर्मचेतना) और भोक्तृत्व (कर्मफलचेतना) भाव है उसका विचार करनेसे ज्ञानकी शुद्धि रुक जाती है और कर्मोंका बन्ध होने लगता है ॥२२३॥

अब अज्ञानचेतना बंधका कारण है, यह गाथाओंमें स्पष्ट करते हैं—

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणइ जो दु कम्मफलं ।
सो तं पुणो वि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८७॥
वेदंतो कम्मफलं मए कयं मुणइ जो दु कम्मफलं ।
सो तं पुणो वि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८८॥
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा ।
सो तं पुणो वि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८९॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—जो आत्मा कर्मफलका अनुभव करता हुआ कर्मफलको अपनाता है अर्थात् कर्मफलसे भिन्न आत्माको नही मानता वह आत्मा दु खोके बीजस्वरूप आठ कर्मोंका फिर भी बन्ध करता है ।

जो आत्मा कर्मफलका वेदन करता हुआ यह कर्मफल मेरे द्वारा किया हुआ है, ऐसा मानता है वह दु:खके बीजस्वरूप आठ प्रकारके कर्मोका फिर भी बन्ध करता है ।

और जो आत्मा कर्मफलका अनुभव करता हुआ सुखी-दु खी होता है वह दु:खके बीज स्वरूप आठ प्रकारके कर्मोंका फिर भी बन्ध करता है ।

विशेषार्थ—ज्ञानसे भिन्न पदार्थमे 'यह मै हूँ' इस प्रकार जो जानना है वह अज्ञानचेतना है । यह अज्ञानचेचना कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाके भेदसे दो भेदवाली है । इन दोनोंमे ज्ञानसे भिन्न पदार्थोमे 'मै इसे करता हूँ' ऐसा जो ज्ञान है इसीको कर्मचेतना कहते हैं तथा ज्ञानसे भिन्न पदार्थोमे 'मैं इसको भोगता हूँ' ऐसा जो आत्माका अनुभवन है, इसीका नाम कर्मफलचेतना है । यह अज्ञानचेतना सम्पूर्णरूपसे संसारका बीजभूत है क्योकि ससारका बीज जो आठ प्रकारका कर्म है उसका यह बीज है । अतः मोक्षार्थी पुरुषके द्वारा अज्ञानचेतनाके प्रलय (विनाशके) लिये सकल कर्मत्यागकी भावना और सकल कर्मफलत्यागकी भावनाको प्रकट कर स्वभावभूत भगवती एक ज्ञानचेतनाको ही निरन्तर प्रकट करना चाहिये ।

इन दोनोमे सकल कर्मत्यागकी भावनाको कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

आर्याछन्द

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः ।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥२२४॥

अर्थ—कृत, कारित, अनुमोदन और मन-वचन-कायके द्वारा तीन काल सम्बन्धी जो कर्म मेरे द्वारा किये गये है उन सबका परिहार कर मै परम निष्कर्मभावका आलम्बन करता हूँ ।

आगे इन्हीके भङ्गोका वर्णन करते हैं—मन, वचन और काय ये तीन है तथा कृत, कारित और अनुमोदना भी तीन है । इनमे मन, वचन, काय इनके स्वतन्त्र एक-एकके द्वारा जो किया जावे वह तीन प्रकारका होता है तथा मनवचन, मनकाय और वचनकाय इस तरह दो-दोको मिलाकर तीन भङ्ग हुए तथा मन, वचन, काय इन तीनोके द्वारा भी मिलकर एक भङ्ग हुआ,

इस तरह सात भङ्ग होते हैं। इसी तरह कृत, कारित और अनुमोदना इन तीनके भी सात भङ्ग होते है। इन दोनों सात-सात भङ्गोको परस्पर गुणित करनेसे ४९ भङ्ग होते हैं। इस तरह प्रतिक्रमण ४९ तरहका होता है। इन्ही भेदोंको स्पष्ट करते है—प्रतिक्रमण करनेवाला कहता है कि जो पाप मैने अतीतकालमे किया था, अन्यके द्वारा कराया था तथा अन्यके द्वारा किये गये पापकी अनुमोदना की थी, वह मन, वचन और कायसे मिथ्या हो १, जो पाप अतीतकालमे मैंने किया अन्यके द्वारा कराया था, तथा अन्यके द्वारा किये गये पापकी अनुमोदना की थी, वह मन और वचनसे मिथ्या हो २, जो पाप मैने किया था, कराया था और किये हुएकी अनुमोदना की थी, वह मन और कायसे मिथ्या हो ३, जो पाप मैने किया था, कराया था और किये हुएकी अनुमोदना की थी, वह वचन और कायसे मिथ्या हो ४, जो पाप मैंने किया था, कराया था और किये हुएकी अनुमोदना की थी, वह मनसे मिथ्या हो ५, जो पाप मैंने किया था, कराया था और जिसकी अनुमोदना की थी, वह वचनसे मिथ्या हो ६, जो पाप मैंने किया था, कराया था और जिसकी अनुमोदना की थी, वह कायसे मिथ्या हो ७, जो पाप मैने किया था और कराया था, वह मन, वचन और कायसे मिथ्या हो ८, जो पाप मैने किया था और किये हुएकी अनुमोदना की थी, वह मेरा पाप, मन, वचन, कायसे मिथ्या हो ९, जो पाप मैने कराया था और दूसरेसे किये हुएकी अनुमोदना की थी, वह मेरा पाप मनसे, वचनसे और कायसे मिथ्या हो १०, जो मैने किया था और दूसरेसे कराया था, वह मेरा पाप मनसे मिथ्या हो ११, जो मैंने किया था और जिसे करते हुएकी अनुमोदना की थी, मेरा वह पाप मनसे तथा वचनसे मिथ्या हो १२, जिसे मैने दूसरेसे कराया था और जिसे करते हुएकी अनुमोदना की थी, वह मेरा पाप मनसे और वचनसे मिथ्या हो १३, जिसे मैंने किया था और दूसरेसे कराया था वह मेरा पाप मनसे और कायसे मिथ्या हो १४, जिसे मैने किया था और जिसे करते हुएको अनुज्ञा दी थी वह मेरा पाप मनसे और कायसे मिथ्या हो १५, जिसे मैंने कराया था और जिसे करते हुएको अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप मनसे तथा कायसे मिथ्या हो १६, जिसे मैने किया था और जिसे कराया था, वह मेरा पाप वचन और कायसे मिथ्या हो १७, जिसे मैंने किया था और जिसे करते हुएको अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप वचन और कायसे मिथ्या हो १८, जिसे मैंने कराया था और जिसे करते हुएको अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप वचन और कायसे मिथ्या हो १९, जिसे मैने किया था और जिसे कराया था, वह मेरा पाप मनसे मिथ्या हो २०, जिसे मैंने किया था और जिसे करते हुए दूसरेको अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप मनसे मिथ्या हो २१, जिसे मैंने कराया था और जिसे करते हुएको अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप मनसे मिथ्या हो २२, जिसे मैंने किया था और जिसे दूसरेसे कराया था, वह मेरा पाप वचनसे मिथ्या हो २३, जिसे मैंने किया और जिसे करते हुए अन्यको अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप वचनसे मिथ्या हो २४, जिसे मैंने कराया था और जिसे करते हुए अन्यको अनुज्ञा दी थी वह मेरा पाप वचनसे मिथ्या हो २५, जिसे मैंने किया था और जिसे कराया था, वह मेरा पाप कायसे मिथ्या हो २६, जिसे मैंने किया था और जिसे करते हुए दूसरेको अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप कायसे मिथ्या हो २७, जिसे मैंने कराया था और जिसे करते हुए अन्यको अनुज्ञा दी थी वह मेरा पाप कायसे मिथ्या हो २८, जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप मन, वचन और कायसे मिथ्या हो २९, जिसे मैंने कराया था मेरा वह पाप मन, वचन और कायसे मिथ्या हो ३०, जिस पापको करते हुए दूसरेको मैने अनुज्ञा दी थी, मेरा वह पाप मन, वचन और कायसे मिथ्या हो,

३१, जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप मनसे तथा वचनसे मिथ्या हो ३२, जिसे मैने कराया था मेरा वह पाप मन और वचनसे मिथ्या हो ३३, जिस पापको करते हुए अन्य पुरुषको मैने अनुज्ञा दी थी, मेरा वह पाप मन और वचनसे मिथ्या हो ३४, जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप मन और कायसे मिथ्या हो ३५, जिसे मैने कराया था मेरा वह पाप मन और कायसे मिथ्या हो ३६, जिस पापको करते हुए अन्यको मैने अनुज्ञा दी थी मेरा वह पाप मन और कायसे मिथ्या हो ३७, जिसे मैने किया था मेरा वह पाप वचन और कायसे मिथ्या हो ३८, जिसे मैने कराया था मेरा वह पाप वचन और कायसे मिथ्या हो ३९, जिस पापको करते हुए अन्यको मैने अनुज्ञा दी थी मेरा वह पाप वचन और काय मिथ्यासे हो ४०, जिसे मैने किया था मेरा वह पाप मनसे मिथ्या हो ४१, जिसे मैने कराया था मेरा वह पाप मनसे मिथ्या हो ४२, जिसे करते हुए अन्यको मैने अनुज्ञा दीथी मेरा वह पाप मनसे मिथ्या हो ४३, जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप वचनसे मिथ्या हो ४४, जिसे मैने कराया था मेरा वह पाप वचनसे मिथ्या हो ४५, जिसे करते हुए दूसरेको मैने अनुज्ञा दी थी मेरा वह पाप वचनसे मिथ्या हो ४६, जिसे मैने किया था मेरा वह पाप कायसे मिथ्या हो ४७, जिसे मैने कराया था मेरा वह पाप कायसे मिथ्या हो ४८, जिसे करते हुए अन्यको मैने अनुज्ञा दी थी मेरा वह पाप कायसे मिथ्या हो ४९ ।[1]

आर्याछन्द

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२५॥

अर्थ—मैने मोहसे जो कर्म किये थे उन समस्त कर्मोका प्रतिक्रमण कर मै समस्त कर्मोसे रहित चैतन्यस्वरूप आत्मामे अपने आपके द्वारा निरन्तर वर्त रहा हूँ ॥२२५॥

---

१ इन ४९ भगोके भीतर पहले भंगमें कृत, कारित, अनुमोदना ये तीन लिये है और उनपर मन, वचन, काय ये तीन लगाये है, इसलिये इस भङ्गका साकेतिक नाम ३३ है। २ से ४ तकके भगोमें कृत, कारित, अनुमोदनाके तीनो लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे दो-दो लगाये हैं। इस प्रकार बने हुए इन तीन भंगोको ३२ की संज्ञा है। ५ से ७ तकके भंगोमें कृत, कारित, अनुमोदनाके तीनो लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे एक-एक लगाया है। इन तीनो भंगोको ३१ की सज्ञासे पहिचाना जा सकता है। ८ से १० तकके भगोमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे दो-दो लेकर उनपर मन, वचन, काय तीनो लगाये हैं। इन तीन भगोको २३ की सज्ञासे जाना जा सकता है। ११ से १९ तकके भगोमें कृत कारित, अनुमोदनामें दो-दो लेकर उनपर मन, वचन, कायमें-से दो-दो लगाये है। इन नौ भगोको २२ की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। २० से २८ तकके भगोमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे दो-दो लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे १-१ लगाया है। इन नौ भगोको २१ की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। २९ से ३१ तकके भगोमें कृत, कारित, अनुमोदनामें-से एक-एक लेकर उनपर मन, वचन, काय तीनों लगाये है। इन तीन भगोको १३ की सज्ञासे जाना जा सकता है। ३२ से ४० तकके भगोमे कृत, कारित, अनुमोदनामे-से एक-एक लेकर उनपर मन, वचन, कायमें-से दो-दो लगाये है। इन नौ भगोको १२ की सज्ञासे पहिचाना जा सकता है। ४१ से ४९ तकके भगोमे कृत, कारित, अनुमोदनामे-से एक-एक लेकर उनपर मन, वचन, कायमे-से एक-एक लगाया है। इन ९ भगोकी सज्ञा ११ है। इस प्रकार सब मिलाकर ४९ भंग हुए ।

इस तरह प्रतिक्रमणकल्प समाप्त हुआ।

अब आलोचनासम्बन्धी ४९ भङ्ग कहे जाते हैं:—

मैं वर्तमानमें कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ और न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे, वचनसे, कायसे १, मैं कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ, न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे और वचनसे २, मैं कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मन और कायसे ३, मैं कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अन्यको अनुमति देता हूँ वचन और कायसे ४, मैं कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे ५, मैं कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ वचनसे ६, मैं कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ कायसे ७, मैं कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ मनसे, वचनसे, कायसे ८, मैं कर्मको न करता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे, वचनसे, कायसे ९, मैं कर्मको न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे, कायसे १०, मैं कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ मनसे, वचनसे ११, मैं कर्मको न करता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे, वचनसे १२, मैं कर्मको न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे, वचनसे १३, मैं कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ मनसे, कायसे १४, मैं कर्मको न करता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे, कायसे १५, मैं कर्मको न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे, कायसे १६, मैं कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ वचनसे, कायसे १७, मैं कर्मको न करता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ वचनसे, कायसे १८, मैं कर्मको न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ वचनसे, कायसे १९, मैं कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ मनसे २०, मैं कर्मको न करता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे २१, मैं कर्मको न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे २२, मैं कर्मको न करता हूँ न करता हूँ वचनसे २३, मैं कर्मको न करता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ वचनसे २४, मैं कर्मको न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ वचनसे २५ मैं कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ कायसे २६, मैं कर्मको न करता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ कायसे २७, मैं कर्मको न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ कायसे २८, मैं कर्मको न कराता हूँ मनसे, वचनसे, कायसे २९, मैं कर्मको न कराता हूँ मनसे, वचनसे, कायसे ३०, मैं कर्मको करते हुए अन्यको अनुमति नही देता हूँ मनसे, वचनसे, कायसे ३१, मैं कर्मको न करता हूँ मनसे, वचनसे ३२, मै कर्मको न कराता हूँ मनसे, वचनसे ३३, मै करते हुए अन्यको अनुमति नही देता हूँ मनसे, वचनसे ३४, मै कर्मको न करता हूँ मनसे, कायसे ३५, मैं कर्मको न कराता हूँ मनसे, कायसे ३६, मै करते हुए अन्यको अनुमति नही देता हूँ मनसे, कायसे ३७, मैं कर्मको नही करता हूँ वचन, कायसे ३८, मैं कर्मको नही कराता हूँ वचनसे, कायसे ३९, मै कर्मको करते हुए अन्यको अनुमति नही देता हूँ वचनसे कायसे, ४०, मै कर्मको न करता हूँ मनसे ४१, मै कर्मको नही कराता हूँ मनसे ४२, मैं करते हुए अन्यको अनुमति नही देता हूँ मनसे ४३, मै कर्मको न करता हूँ वचनसे ४४, मै कर्मको नही कराता हूँ वचनसे ४५, मैं करते हुए अन्यको अनुमति नही देता हूँ वचनसे ४६, मैं कर्मको न करता हूँ कायसे ४७, मै कर्मको नही कराता हूँ कायसे ४८, मे करते हुए अन्यको अनुमति नही देता हूँ कायसे ४९।

आर्याछन्द

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्मसकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२६॥

अर्थ—मोहविलासके विस्तारस्वरूप, उदयागत समस्त कर्मसमूहकी आलोचना कर मै कर्मरहित चैतन्यस्वरूप आत्मामे अपने आप निरन्तर वर्तता हूँ ।

भावार्थ—वर्तमान कालमें उदयमें आते हुए कर्मोंके विषयमे ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि यह सब मोहके विलासका विस्तार है अर्थात् अज्ञानसे जायमान है, यह मेरा स्वरूप नही है, मै तो समस्त कर्मोंसे रहित चैतन्यस्वरूप हूँ, उसीमे मुझे लीन रहना चाहिये ॥२२६॥

इस तरह आलोचनाकल्प समाप्त हुआ ।

अब प्रत्याख्यान सम्बन्धी ४९ भङ्ग कहते है—

मै कर्मको न करूँगा न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे, वचनसे, कायसे १, मै कर्मको न करूँगा न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे, वचनसे २, मै कर्मको न करूँगा न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे, कायसे ३, मै कर्मको न करूँगा न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा वचनसे, कायसे ४, मै कर्मको न करूँगा न करवाऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे ५, मैं कर्मको न करूँगा न करवाऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमत्ति दूँगा वचनसे ६, मै कर्मको न करूँगा न करवाऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा कायसे ७, मैं कर्मको न करूँगा न कराऊँगा मनसे, वचनसे ८, मैं कर्मको न करूँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे, वचनसे, कायसे ९, मै कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे, वचनसे, कायसे १०, मै कर्मको न करूँगा न कराऊँगा मनसे, वचनसे ११, मै कर्मको न करूँगा न करते हुए अन्यको अनुमत्ति दूँगा मनसे, वचनसे १२, मै कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे, वचनसे १३, मैं कर्मको न करूँगा न कराऊँगा मनसे, कायसे १४, मै कर्मको न करूँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे, कायसे १५, मै कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमत्ति दूँगा मनसे, कायसे १६, मै कर्मको न करूँगा न कराऊँगा वचनसे, कायसे १७, मै कर्मको न करूँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा वचनसे, कायसे १८, मैं कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा वचनसे, कायसे १९, मै कर्मको न करूँगा न कराऊँगा मनसे २०, मै कर्मको न करूँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे २१, मै कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे २२, मै कर्मको न करूँगा न कराऊँगा वचनसे २३, मै कर्मको न करूँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा वचनसे २४, मै कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा वचनसे २५, मै कर्मको न करूँगा न कराऊँगा कायसे २६, मै कर्मको न करते हुए अन्यको भी अनुमति दूँगा कायसे २७, मै कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा कायसे २८, मैं कर्मको न करूँगा मनसे, वचनसे, कायसे २९, मै कर्मको न कराऊँगा मनसे, वचनसे, कायसे ३०, मैं करते हुए अन्यको अनुमति नही दूँगा मनसे, वचनसे, कायसे ३१, मै कर्मको न करूँगा मनसे, वचनसे ३२, मैं कर्मको न कराऊँगा मनसे, वचनसे ३३, मैं करते हुए अन्यको भी अनुमति नही दूँगा मनसे, वचनसे, ३४, मैं कर्मको न कराऊँगा मनसे, कायसे ३५, मै कर्मको न कराऊँगा मनसे, कायसे, ३६, मै करते हुए अन्यको अनुमति नही दूँगा मनसे, कायसे ३७, मै कर्मको न

करूँगा वचनसे, कायसे ३८, मै कर्मको नही कराऊँगा वचनसे, कायसे ३९, मैं करते हुए अन्यको अनुमति नही दूँगा वचनसे, कायसे, ४०, मैं कर्मको नही करूँगा मनसे ४१, मैं कर्मको नही कराऊँगा मनसे ४२, मै करते हुए अन्यको भी अनुमति नही दूँगा मनसे ४३, मैं कर्मको नही करूँगा वचनसे ४४, मै कर्मको नही कराऊँगा वचनसे ४५, मै करते हुए अन्यको भी अनुमति नही दूँगा वचनसे ४६, मैं कर्मको न करूँगा कायसे ४७, मै कर्मको न कराऊँगा कायसे ४८, मे करते हुए अन्यको अनुमति नही दूँगा कायसे ॥४९॥

आर्याछन्द

प्रत्याख्याय भविष्यत् कर्म समस्त निरस्तसमोह ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२७॥

अर्थ—भविष्यकालके समस्त कर्मोंका प्रत्याख्यान कर जिसका मोह नष्ट हो चुका है ऐसा मैं कर्मरहित चैतन्यस्वरूप आत्मामे अपने आप निरन्तर वर्त रहा हूँ।

भावार्थ—ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि कर्मचेतना मेरा स्वरूप नही है, इसलिये जिस प्रकार अतीतकाल और वर्तमानकाल सम्बन्धी कर्मोंका कर्तृत्व मेरे ऊपर नही है उसी प्रकार भविष्यकाल सम्बन्धी कर्मोंका कर्तृत्व भी मुझ पर नही है। मै कृत, कारित और अनुमोदना और मन, वचन, कायसे भविष्यत्काल सम्बन्धी समस्त कर्मोका प्रत्याख्यानकर कर्मरहित तथा चैतन्यस्वरूप अपने आत्मामें ही अपने आपके पुरुषार्थसे निरन्तर लीन रहता हूँ ॥२२७॥

इस तरह प्रत्याख्यानकल्प समाप्त हुआ।

अब ज्ञानी जीवकी भावना प्रकट करनेके लिये कलशा कहते हैं—

उपजातिछन्द

समस्तमित्येवमपास्य कर्म
त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी ।
विलीनमोहो रहितं विकारै-
श्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बी ॥२२८॥

अर्थ—इस प्रकार तीन काल सम्बन्धी समस्त कर्मोका त्यागकर मैं शुद्धनयका अवलम्बी होता हुआ मोहरहित हो विकारोसे रहित चैतन्यमात्र आत्माका अवलम्बन लेता हूँ।

भावार्थ—प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यानके द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्यकाल सम्बन्धी समस्त कर्मोंके त्यागसे अर्थात् उनके प्रति कर्तृत्वका भाव छोडनेसे जिसका समस्त मोह नष्ट हो गया है ऐसा शुद्धनयका अवलम्बन करनेवाला जीव विचार करता है कि मेरी आत्मा तो समस्त विकारोसे रहित चैतन्यमात्र स्वरूपका धारक है, वही मेरा स्वीयद्रव्य है, उसीमे मुझे लीन होना चाहिये, ऐसा विचार कर वह मात्र ज्ञानचेतनाका आलम्बनले कर निरन्तर आत्मस्वरूपमे लीन रहता है ॥२२८॥

अब समस्त कर्मफलके त्यागकी भावनाको प्रकट करते हैं—

आर्याछन्द

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
सञ्चेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम् ॥२२९॥

अर्थ—कर्मफलचेतनाका त्यागी ज्ञानी जीव विचार करता है कि कर्मरूपी विषवृक्षके फल मेरे भोगे बिना ही खिर जावे, मै तो चैतन्यस्वरूप आत्माका ही निश्चल रूपसे अनुभव करता हूँ।

भावार्थ—मै कर्मफलोको केवल जानने-देखनेवाला हूँ, भोगनेवाला नही हूँ, इसलिये वर्तमानमे जो कर्म अपना फल दे रहे है उनके प्रति मेरा कोई ममत्वभाव नही है। फल देते हुए भी वे मेरे लिये फल न देते हुएके समान है। मेरा स्वकीय द्रव्य तो चैतन्यलक्षणवाला आत्मा है अत. उसीका निरन्तर चिन्तन करता हूँ ॥२२९॥

अब ज्ञानावरणादि आठ मूल कर्मोकी जितनी भी उत्तरप्रकृतियाँ है उन सबके फलको भोगनेवाला मै नही हूँ, यह क्रमसे प्रकट करते है—

मै मतिज्ञानावरणीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ १, मै श्रुतज्ञानावरणीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ २, मै अवधिज्ञानावरणीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ ३, मै मन पर्ययज्ञानावरणीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ ४, मैं केवलज्ञानावरणीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ ५, मै चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६, मै अचक्षुर्दर्शनावरणीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७, मै अवधिदर्शनावरणीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८, मैं केवलदर्शनावरणीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९, मै निद्रादर्शनावरणीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०, मै निद्रानिद्रादर्शनावरणीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११, मै प्रचलादर्शनावरणीय कर्मको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२, मै प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३, मै स्त्यानगृद्धिदर्शनावरण कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४, मै सातावेदनीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्य० १५, मै असातावेदनीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १६, मै सम्यक्त्वमोहनीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप १७, मै मिथ्यात्वमोहनीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १८, मै सम्यङ्मिथ्यात्वमोहनीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप १९, मै अनन्तानुबन्धी क्रोधकषायवेदनीयमोहनीयके फलको नही भोगता हू, चैतन्यस्वरूप० २०, मै अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोधकषायवेदनीयमोहनीयके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २१, मै प्रत्याख्यानावरणीय क्रोधकपायवेदनीय मोहनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २२, मै सज्वलन क्रोधवेदनीयमोहनीय-कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २३, मै अनन्तानुबन्धी मानकषाय वेदनीयमोहनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २४, मै अप्रत्याख्यानावरणीय मानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २५, मै प्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २६, मै सज्वलनमानकपायवेदनीयमोहनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २७,

मैं अनन्तानुवन्धी मायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २८, मै अप्रत्याख्यानावरणीय मायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० २९, मै प्रत्याख्यानावरणीय मायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३०, संज्वलनमायाकषायवेदनीयमोहकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३१, मै अनन्तानुबन्धी लोभकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३२, मैं अप्रत्याख्यानावरणीय लोभकपायवेदनीयमोहनोयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३३, मै प्रत्याख्यानावरणीय लोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३४, मै सज्वलन लोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३५, मै हास्यनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३६, मै रतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३७, मै अरतिनोकषायवेदनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३८, मै शोकनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३९, मै भयनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४०, मै जुगुप्सानोकपायवेदनीयमोहनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४१, मैं स्त्रीवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४२ मै पुरुपवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४३, मै नपुंसवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४४, मै नरकायु कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४५, मैं तिर्यगायु कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४६, मै मानुषायु.कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४७, मै देवायु कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४८, मैं नरकगतिनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४९, मै तिर्यगतिनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५०, मै मनुष्यगतिनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५१, मैं देवगतिनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५२, मै एकेन्द्रियजातिनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५३, मै द्वीन्द्रियजातिनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५४, मै त्रीन्द्रियजातिनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५५, मै चतुरिन्द्रियजातिनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५६, मै पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५७, मै औदारिकशरीरनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५८, मै वैक्रियिकशरीरनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५९, मैं आहारकशरीर नामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६०, मैं तैजसशरीरनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६१, मैं कार्माणशरीरनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६२, मै औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनामकर्मके फलको नही भोगता हू, चैतन्यस्वरूप० ६३, मैं वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६४, मैं आहारकशरीराङ्गोपाङ्गनासकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६५, मै औदारिकशरीरवन्धननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६६, वैक्रियिकशरीरवन्धननामकमर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६७, मै आहारकशरीरवन्धननामकर्मके फलको नही भोगता हू, चैतन्यस्वरूप० ६८, मैं तैजसशरीर-

बन्धननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६९, मै कार्मणशरीरबन्धननाम कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७०, मै औदारिकशरीरसघातनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७१, मै वैक्रियिकशरीरसघातनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७२, मै आहारकशरीरसघातनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७३, मै तैजसशरीरसंघातनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७४, मै कार्मणशरीरसघातनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७५, मै समचतुरस्र-संस्थाननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ७६, मै न्यग्रोधपरिमण्डलसस्थाननाम-कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७७, मै स्वातिसस्थाननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७८, मै कुब्जकसस्थाननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७९, मै वामनसंस्थाननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८०, मै हुण्डक-सस्थाननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८१, मै वज्रर्षभनाराचसहननननाम-कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८२, मै वज्रनाराचसहनननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८३, मै नाराचसहनननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप ८४, मै अर्धनाराचसंहनननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८५, मै कीलकसहनननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८६, मै असप्राप्त-सृपाटिकासहनननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८७, मै स्निग्धस्पर्शनाम-कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८८, मै रूक्षस्पर्शनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ८९, मै शीतस्पर्शनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९०, मैं उष्णस्पर्शनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९१, मै गुरुस्पर्शनामकर्मके फलको भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९२, मै लघुस्पर्शनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्य-स्वरूप० ९३, मै मृदुस्पर्शनामकके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९४, मै कर्कश-स्पर्शनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९५, मै मधुररसनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९६, मै अम्लरसनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्य-स्वरूप० ९७, मै तिक्तरसनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९८, मै कटुकरस-नामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ९९, मैं कषायरसनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १००, मैं सुरभिगन्धनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्य-स्वरूप० १०१, मै असुरभिगन्धनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०२, मै शुक्लवर्णनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०३, मै रक्तवर्णनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०४, मै पीतवर्णनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०५, मै हरितवर्णनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०६, मै कृष्णवर्णनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०७, मै नरकगत्यानुपूर्वीनाम-कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०८, मै तिर्यंग्गत्यानुपूर्वीनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०९, मै मनुष्यगत्यानुपूर्वीनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११०, मै देवगत्यानुपूर्वीनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १११, मै निर्माणनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११२, मै अगुरुलघुनाम-कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११३, मै उपघातनामकर्मके फलको नही भोगता

हूँ चैतन्यस्वरूप० ११४, मैं परघातनामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११५ मैं आतपनामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११६, मैं उद्योतनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११७, मै उच्छ्‌वासनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११८, मै प्रशस्तविहायोगतिनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११९, मै अप्रशस्तविहायोगति नामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२०, मैं साधारणशरीरनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२१, मैं प्रत्येकशरीरनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२२, मैं . स्थावरनामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२३, मै त्रसनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२४, मैं सुभगनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२५, मै दुर्भगनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप१२६, मैं सुस्वरनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२६, मै दु स्वरनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२८, मै शुभनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२९, मै अशुभनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३०, मै सूक्ष्मशरीरनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३१, मैं बादरशरीरनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३२, मै पर्याप्तनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैयन्यस्वरूप० १३३, मैं अपर्याप्तनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३४, मैं स्थिरनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३५, मैं अस्थिर नामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३६, मै आदेयनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३७, मै अनादेयनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३८, मै यश कीर्तिनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३९, मैं अयश.कीर्तिनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४०, मै तीर्थंकरत्वनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४१, मै उच्चगोत्रकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४२, मै नीचगोत्रकर्मके फलको नही भगोता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४३, मैं दानान्तरायकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० १४४, मैं लाभान्तरायकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४५, मैं भोगान्तरायकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४६, मै उपभोगान्तराय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४७, मै वीर्यान्तरायकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४८।

यहाँ आशङ्का होती है कि जब ऊपर लिखे अनुसार कर्मोंका फल आत्मा नही भोगता है तो फिर कौन भोगता है ? क्या जड शरीर भोगता है ? इसका उत्तर यह है कि जड शरीर नही भोगता, क्योंकि जड शरीरमे स्वयं सुख-दु खका वेदन करनेका सामर्थ्य नही है। फलत आत्मा ही भोगता है। परन्तु कर्मोंके उदयसे आत्माकी जो अशुद्ध दशा होती है वह आत्माका स्वभाव नही है। आत्माका स्वभाव तो चैतन्यरूप है, अत ज्ञानी जीव उसी चैतन्यस्वरूपका निरन्तर अनुभव करता है। कर्मोदयसे होनेवाली अवस्थाओंको परजन्य होनेसे आत्मस्वभावसे पृथक् अनुभव करता है। जिस प्रकार अग्निके सम्बन्धसे 'पानी उष्ण हो गया' यहाँ व्यवहार तो यही होता है कि पानी उष्ण है। परन्तु परमार्थसे विचार करनेपर उष्णता अग्निकी ही है, पानीकी नही। कुछ समयके अनन्तर अग्निका सम्बन्ध दूर होनेपर पानी शीतल हो जाता है। इससे प्रतीत होता है कि शीतलता पानीका स्वकीय धर्म है और उष्णता परजन्य। स्वभावकी चर्चामे

परजन्य विभावका स्थान नही है। निश्चयनय स्वभावका ही वर्णन करता है। अतः उसकी दृष्टिमे आत्मा अपने चैतन्यस्वभावका ही भोक्ता है। परन्तु व्यवहारनयसे आत्मा कर्मोका कर्त्ता तथा उनके फलका भोक्ता कहलाता है, निश्चयकी दृष्टिसे न कर्त्ता है न भोक्ता है ॥३८७-३८९॥

आगे निखिल कर्मफलोंका त्याग करनेसे आत्मा चैतन्यतत्त्वको प्राप्त होता है यह दिखानेके लिये कलशा कहते है—

वसन्ततिलकाछन्द

निःशेषकर्मफलसन्यसनान्ममैव
सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं
कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता ॥२३०॥

अर्थ—इस प्रकार समस्त कर्मोके फलका परित्याग करनेसे जिसकी अन्य समस्त क्रियाओं सम्बन्धी विहारसे वृत्ति दूर हट गई है तथा जो स्वरूपमे अचल है, ऐसी मेरी यह अनन्तकालकी परम्परा अतिशयरूपसे चैतन्यलक्षणवाले आत्मतत्त्वकी उपासना करते हुए ही व्यतीत हो।

भावार्थ—जब ज्ञानी जीव पूर्वोक्त प्रकारसे समस्त कर्मफलोका त्याग कर चुकता है तब उसकी कर्मोदयसे जायमान अन्य क्रियाओ सम्बन्धी उपभोगसे वृत्ति स्वय हट जाती है तथा वह स्वकीय स्वरूपमे निश्चल हो जाता है। उस दशामे उसकी चैतन्य लक्षणवाले आत्मतत्त्वपर ही दृष्टि रुकती है। उसीकी उसे बार-बार अनुभूति होती है और उस अनुभूतिमे वह ऐसा अद्भुत आनन्द निमग्न होता है कि उसकी ऐसी भावना होने लगती है कि मेरा अनन्तकाल इसी आत्मतत्त्वकी उपासना करते-करते ही व्यतीत हो, एकक्षणके लिये भी मेरा उपयोग अन्य विषयोमे न जावे ॥२३०॥

वसन्ततिलकाछन्द

य. पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां
भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं
निष्कर्मशर्ममयमेति दशान्तरं स. ॥२३१॥

अर्थ—जो निश्चयसे आत्मस्वरूपमें तृप्त होता हुआ पूर्वकालके अज्ञानमयभावोसे किये हुए कर्मरूपी विषवृक्षोके फलोंको नही भोगता है अर्थात् उन फलोंका स्वामी नही होता है वह तत्कालमें रमणीय और भविष्यत्कालमे रमणीय, कर्मोसे रहित स्वाधीन सुखरूप अन्य अवस्थाको—जो आज तक संसारमें प्राप्त नही हुई, ऐसी मोक्ष अवस्थाको प्राप्त होता है।

भावार्थ—ज्ञानी मनुष्य अपने चैतन्यस्वरूपमे ही सतुष्ट रहता है, इसलिये पूर्व अवस्थामे अज्ञानमय भावोंसे बाँधे हुए कर्मोका जो उसे फल प्राप्त होता है उससे वह पूर्ण उदासीन रहता है, उस फलके प्रति उसके हृदयमे कुछ भी स्वामित्व नही रहता है। इस स्वरूपसंतोषका उसे फल यह प्राप्त होता है कि वह कर्मसे रहित स्वाधीन सुखसे तन्मय ऐसी मुक्त अवस्थाको प्राप्त होता है, जो कि तत्कालमे रमणीय है और आगामी अनन्तकालमे भी रमणीय ही रहेगी ॥२३१॥

अब ज्ञानीजन अज्ञानचेतनाको नष्टकर ज्ञानचेतनाको पूर्ण करते हुए सदा शान्तरसका पान करें, ऐसी भावना आचार्य प्रकट करते हैं—

स्रग्धराछन्द

अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥२३२॥

अर्थ—ज्ञानीजन कर्म और उसके फलसे निरन्तर अत्यन्त विरक्तिकी भावनाको पाकर, सम्पूर्ण अज्ञानचेतनाका स्पष्ट ही नाशकर, निजरसको प्राप्त स्वभावको पूर्णकर स्वकीय ज्ञानचेतनाको बडे आनन्दके साथ नाचते हुए इस समयसे लेकर आगे निरन्तर प्रशमरसका पान करें।

भावार्थ—अज्ञानचेतना और ज्ञानचेतनाके भेदसे चेतना दो प्रकारकी है। उसमे अज्ञानचेतनाके कर्मचेतना और कर्मफलचेतना ऐसे दो भेद है। अज्ञानी जीव स्वरूपसे च्युत हो अनादिकालसे कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाकी ही भावना करते हुए निरन्तर अशान्तिका अनुभव करते आ रहे हैं। ज्ञानचेतनाकी ओर उनका किञ्चिन्मात्र भी लक्ष्य नही जाता। इसीलिये परमदयालु अमृतचन्द्रस्वामी करुणाभावसे आकाक्षा प्रकट करते हैं कि ससारके प्राणी कर्म और कर्मफलसे अत्यन्त विरक्त हो, अज्ञानचेतनाको समूल नष्ट करें और आत्मीयरससे युक्त स्वभावको पूर्णरूपसे प्राप्तकर अपनी ज्ञानचेतनाको बडे उल्लासके साथ प्रकट करे और उसके फलस्वरूप लोकोत्तर शान्तरसका सदाकाल पान करें ॥२३२॥

अब आगे एक निराकुल ज्ञान ही शेप रहता है, यह दिखानेके लिये कलशा कहते है—

वंशस्थछन्द

इत पदार्थप्रथनावगुण्ठनाद्
विनाकृतेरेकमनाकुलं ज्वलत्।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्
विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥२३३॥

अर्थ—अब इसके आगे पदार्थसमूहके आलम्बनसे होनेवाली आकृतिके बिना जो एकरूपताको प्राप्त है, आकुलता रहित है, देदीप्यमान है और समस्त वस्तुओके भिन्नत्वके निश्चयसे जो पृथक् किया गया है ऐसा ज्ञान ही यहाँ अवस्थित रहता है।

भावार्थ—'यह घटज्ञान है' 'यह पटज्ञान है' इस तरह पदार्थसमूहके आलम्बनसे जो ज्ञान पहले नानाज्ञेयोके आकार होनेसे नाना आकृतियोको धारण करता हुआ अनेकरूप अनुभवमे आता था, अब अज्ञानचेतनाके नष्ट हो जानेके अनन्तर वह ज्ञान, ज्ञेयके आकारका विकल्प छूट जानेसे एकरूप हो जाता है, पहले जो ज्ञान मोहविपाकसे जायमान रागादि विकारोसे सपृक्त होनेके कारण आकुलताका उत्पादक था, पर अब वह मोहजन्य विकारोका सपर्क छूट जानेसे आकुलतासे रहित हो जाता है। पहले जो ज्ञान क्षायोपशमिक अवस्थामे ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे उदयानुसार उदयास्तको प्राप्त होता था—हीनाधिक अवस्थाको प्राप्त होता था, परन्तु

अब वह ज्ञानावरणका क्षय हो जानेसे सदा दैदीप्यमान रहता है। पहले जो ज्ञान ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्धके कारण ज्ञेयरूपताको प्राप्त था, पर अब सब पदार्थ भिन्न-भिन्न है, ऐसा निश्चय हो जानेके कारण सबसे पृथक् अनुभवमे आता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानचेतनाके फलस्वरूप अन्तमें ऐसा ज्ञान ही अवस्थित रहता है जिससे अन्य ओरसे ज्ञानीका उपयोग हट जाता है ॥२३३॥

आगे शास्त्र आदिसे ज्ञान भिन्न है, यह वर्णन करनेके लिये गाथाएँ कहते हैं—

सत्थं णाणं ण हवइ जम्हा सत्थं ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥३९०॥
सद्दो णाणं ण हवइ जम्हा सद्दो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ॥३९१॥
रूवं णाणं ण हवइ जम्हा रूवं ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ॥३९२॥
वण्णो णाणं ण हवइ जम्हा वण्णो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ॥३९३॥
गंधो णाणं ण हवइ जम्हा गंधो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ॥३९४॥
ण रसो दु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं रसं दु अण्णं जिणा विंति ॥३९५॥
फासो ण हवइ णाणं जम्हा फासो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ॥३९६॥
कम्मं णाणं ण हवइ जम्हा कम्मं ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥३९७॥
धम्मो णाणं ण हवइ जम्हा धम्मो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥३९८॥
णाणमधम्मो ण हवइ जम्हा धम्मो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति ॥३९९॥
कालो णाणं ण हवइ जम्हा कालो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा विंति ॥४००॥
आयासं पि ण णाणं जम्हायासं ण याणए किंचि ।
तम्हायासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा विंति ॥४०१॥

णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा ।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ॥४०२॥
जम्हा जाणइ णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणओ णाणी ।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥४०३॥
णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं ।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा ॥४०४॥

(पञ्चदशकम्)

अर्थ—शास्त्र ज्ञान नही है क्योकि शास्त्र कुछ भी नही जानता है, इससे ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है, ऐसा जिन भगवान् जानते है ।

शब्द ज्ञान नही है क्योकि शब्द कुछ नही जानता है, इससे ज्ञान अन्य है और शब्द अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं ।

रूप ज्ञान नही है क्योकि रूप किंचिन्मात्र भी नही जानता है, इससे ज्ञान अन्य है और रूप अन्य है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् जानते है ।

वर्ण ज्ञान नही है क्योकि वर्ण कुछ नहीं जानता है, इसीसे ज्ञान अन्य है और वर्ण अन्य है, ऐसा जिनेन्द्र प्रभु जानते है ।

गन्ध ज्ञान नही है क्योकि गन्ध कुछ भी नही जानता है, इसीलिये ज्ञान अन्य है और गन्ध अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं ।

रस ज्ञान नही है क्योकि रस कुछ भी नही जानता है, इसीसे ज्ञान अन्य है और रस अन्य है, ऐसा जिनस्वामी जानते है ।

स्पर्श ज्ञान नही है क्योकि स्पर्श कुछ भी नही जानता है, इसीसे ज्ञान अन्य है और स्पर्श अन्य है, ऐसा भगवान् केवली जानते है ।

कर्म ज्ञान नही है क्योकि कर्म कुछ भी नही जानता है, इसलिये ज्ञान अन्य है और कर्म अन्य है, ऐसा भी जिनेश जानते है ।

धर्मास्तिकाय ज्ञान नही है क्योकि धर्म अस्तिकाय कुछ भी नही जानता है, इसीसे धर्म अस्तिकाय अन्य है और ज्ञान अन्य है, ऐसा अनन्तज्ञानी जानते हैं ।

अधर्मास्तिकाय ज्ञान नही है क्योकि अधर्मास्तिकाय कुछ भी नही जानता है, इसीसे ज्ञान अन्य है और अधर्मास्तिकाय अन्य है, ऐसा सर्वज्ञदेव जानते है ।

काल ज्ञान नही है क्योकि काल कुछ भी नही जानता है, इसीसे ज्ञान अन्य है और काल अन्य है, ऐसा सकलपरमात्मा जानते हैं ।

आकाश भी ज्ञान नही है क्योंकि आकाश कुछ भी नही जानता है, इसीसे ज्ञान अन्य है और आकाश अन्य है, ऐसा जिनेन्द्र जानते है ।

अध्यवसान ज्ञान नही है क्योकि अध्यवसान कुछ भी नही जानता है, इसीसे ज्ञान अन्य है और अध्यवसान अन्य है, ऐसा सर्वज्ञ परमेष्ठी जानते है।

यत· जीव नित्य जानता है ही इसलिये वह ज्ञायक तथा ज्ञानी है। ज्ञान ज्ञायकसे अभिन्न है, ऐसा जानना चाहिये।

और ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही सयम है, ज्ञान ही अङ्गपूर्वगतसूत्र है, तथा ज्ञान, धर्म, अधर्म और प्रव्रज्या है ऐसा पण्डितलोग स्वीकार करते है।

विशेषार्थ—द्रव्यश्रुत ज्ञान नही है क्योकि वह अचेतन है, इसलिये द्रव्यश्रुत और ज्ञानमे भिन्नता है। शब्द ज्ञान नही है क्योकि वह अचेतन है, इसीसे शब्द और ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं। रूप ज्ञान नही है क्योकि वह अचेतन है, अत: ज्ञान और रूपमे परस्पर भिन्नता है। वर्ण ज्ञान नही है क्योकि वह अचेतन है, अत ज्ञान और वर्ण भिन्न-भिन्न है। गन्ध ज्ञान नही है क्योकि वह अचेतन है, अत. ज्ञान और गन्धमे भेद है। रस ज्ञान नही है क्योकि वह अचेतन है, इसलिये ज्ञान और रसमे भिन्नता है। स्पर्श ज्ञान नही है क्योकि वह अचेतन है, इसीसे ज्ञान और स्पर्श भिन्न-भिन्न है। कर्म ज्ञान नही है क्योकि वह अचेतन है, इसीसे ज्ञान और कर्ममे व्यतिरेक है। धर्म-द्रव्य भी ज्ञान नही है क्योकि वह अचेतन है, इसलिये ज्ञान और धर्मद्रव्यमे भिन्नता है। अधर्मद्रव्य ज्ञान नही है क्योंकि वह अचेतन है, इसलिये ज्ञान और अधर्मद्रव्यमे पृथक्पन है। काल ज्ञान नही है क्योकि वह अचेतन है इससे ज्ञान और काल भिन्न-भिन्न है। आकाश ज्ञान नही है क्योकि वह अचेतन है, इसलिये ज्ञान और आकाश पृथक्-पृथक् है। अध्यवसानभाव ज्ञान नही है क्योकि वह अचेतन है, इससे ज्ञान और अध्यवसानभाव भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार ज्ञानका समस्त परद्रव्योके साथ निश्चयसे सिद्ध किया हुआ भेद देखने योग्य है। इस प्रकार शास्त्र आदिके साथ ज्ञानकी भिन्नता दरशा कर अब जीवके साथ उसकी अभिन्नता दिखाते है—

केवल जीव ही एक ज्ञान है क्योकि वह चेतन है इसलिये ज्ञान और जीवमे अभेद है। जीव स्वय ज्ञानरूप है इसलिये ज्ञान और जीवमे कोई भेद है, ऐसी शङ्का नही करना चाहिये क्योकि उन दोनोमें गुणगुणीका भेद होने पर भी नित्य तादात्म्य रहता है। ऐसा होने पर ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही सयम है, ज्ञान ही अगपूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म-अधर्म है, और ज्ञान ही प्रव्रज्या है। इस तरह ज्ञानका जीवपर्यायोके साथ निश्चयसे सिद्ध किया हुआ अभेद द्रष्टव्य है—देखने योग्य है। इस प्रकार समस्त परद्रव्योसे भिन्नपन तथा समस्त दर्शन ज्ञानादि जीव-स्वभावसे अभिन्नपनके कारण जो अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषोका परिहार कर रहा है, तथा अनादि विभ्रम जिसका मूलकारण है ऐसे पुण्य-पापरूप परसमयका त्याग कर जो स्वयमेव प्रव्रज्याको धारण करता हुआ दर्शनज्ञानचारित्रमे स्थिर होने रूप स्वसमयको प्राप्त हुआ है, जिसने मोक्षमार्गको अपने आपमे परिणत किया है, सम्पूर्ण विज्ञानघनभावको जिसने प्राप्त किया है, जो ग्रहण और त्यागके विकल्पसे शून्य है तथा साक्षात् समयसारभूत है, ऐसा परमार्थरूप एक शुद्ध ज्ञान ही स्थित रह जाता है, ऐसा अनुभव करना चाहिये।

भावार्थ—यहाँ परद्रव्योंसे भिन्न और अपने स्वरूपसे अभिन्न आत्माका स्वभाव ज्ञान दिखाया है। इससे न तो अतिव्याप्ति है और न सव्याप्ति है क्योकि आत्माका लक्षण उपयोग है, उपयोग ज्ञानदर्शनस्वरूप ही है, यह अन्य द्रव्योमे नही पाया जाता, इससे अतिव्याप्ति नही, है

और आत्माकी सर्व अवस्थामे पाया जाता है, इससे अव्याप्ति भी नही है। यहाँ पर ज्ञान कहनेसे आत्मा ही जानना चाहिये क्योकि अभेददृष्टिसे गुणगुणीमे भिन्नदेशता नही होती। यहाँ पर ज्ञानको ही मुख्य कहा है, उसका यह तात्पर्य है कि आत्मा अनन्तधर्मात्मक है, उनमे कोई धर्म तो हमारे अनुभवमे ही नही आते, अत उनके द्वारा आत्माको जानना असम्भव है और कोई अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्वादि अनुभवगोचर भी है। परन्तु वे अजीवादिद्रव्य साधारण होनेसे अतिव्याप्तिरूप है उनसे भी आत्माका परिचय होना कठिन है। कोई भाव परद्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न होते है, जैसे रागादिक। ये भाव अव्याप्तरूप हैं, अत उनसे भी आत्माका ज्ञान होना असभव है तथा कोई भाव कर्मके क्षयसे होते हैं, जैसे केवलज्ञानादि। यह भाव यद्यपि असाधारण हैं तथापि सर्व अवस्थाओंमे न रहनेसे अव्याप्त हैं। अतएव केवलज्ञानादि पर्यायोके द्वारा आत्माका निर्णय करना अशक्य है। इसी तरह क्षायोपशमिकभाव भी आत्माके निर्णायक नही है क्योकि ये भाव भी आत्माकी सर्व अवस्थाओमे नही रहते। अत. सामान्यरूपसे उपयोग ही आत्माका लक्षण है, यही सब अवस्थाओमे व्याप्त होकर रहता है, अत यही लक्षण आत्माका इतर पदार्थोंसे भेद कराता है क्योकि यह आत्माकी सब अवस्थाओमे व्यापक है। इस ज्ञानमे अनादि कालसे मिथ्यात्व तथा रागादिक परिणामके योगसे शुभाशुभ प्रवृत्तिका सद्भाव चला आ रहा है, उसे निजस्वरूपकी श्रद्धाके बलसे दूर कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय स्व-समयरूप जो मोक्षमार्ग है उसमे अपनी आत्माको लीन कर जब ज्ञानकी शुद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है तब आत्मा कृतकृत्य हो जाता है, त्याग और ग्रहणका वहाँ विचार ही नही होता, ऐसा साक्षात् समयसाररूप पूर्णज्ञान ही परमार्थसे शुद्ध है, यही आत्माकी साक्षात् प्राप्ति है, उसीको देखना-जानना और आचरणमे लाना चाहिये।

आत्माका यह देखना आदि तीन प्रकारसे होता है—एक तो जब आत्मामे मिथ्यात्वका अभाव होता है तब उसकी श्रद्धा, परोक्षज्ञान तथा अनन्तानुबन्धी कषायके अभावसे आशिक स्वरूपचर्याकी उद्भूति रूप होती है और तभीसे यह आत्मा चरणनुयोगशास्त्रकी पद्धतिसे मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्यका त्यागी होता है। दूसरा प्रकार यह है कि ज्ञान-श्रद्धान होनेके अनन्तर निखिल परिग्रहका त्याग कर इसी तत्त्वका अभ्यास करना, अपने उपयोगको निखिल पदार्थोंसे हटा कर आपमे ही स्थिर करना। इसका यह तात्पर्य है कि ज्ञानमे कोई भी ज्ञेय आवे, राग-द्वेपसे उसकी रक्षा करना। अर्हद्भक्तिमे अर्हन्त भावनाके गुणोका विचार होता है और स्वाध्यायके समय भी अर्हन्त परमेष्ठीके गुणोका विचार होता है परन्तु अर्हद्भक्ति बन्धका कारण है और स्वाध्याय निर्जराका कारण होता है। यह अन्तर रागाशके सद्भाव और असद्भावसे हो पडता है अत उपयोग किसी ज्ञेयमे जावे, उसमे राग-द्वेप न होना ही महत्त्वपदकी जड है। यहाँ पर ज्ञानकी मुख्यताका कथन है सो जैसा शुद्धनयके द्वारा आत्मस्वरूपको सिद्ध समान जान श्रद्धान किया था, वैसा ही ध्यानमे लाकर चित्तको स्थिर करना और निरन्तर इसीका अभ्यास करना चाहिये। यह देखना अप्रमत्त दशामे होता है। इसलिये केवलज्ञानकी प्राप्ति पर्यन्त ऐसा अभ्यास करना चाहिये। तीसरा प्रकार यह है कि शुक्लध्यानके द्वारा घातिचतुष्कका क्षय कर जब केवलज्ञान प्राप्त होता है तब जिस आत्माका पहले परोक्षरूपसे भान होता था वही अब साक्षात् भासमान होने लगता है, यही पूर्णज्ञानका देखना है और जो ज्ञान है वही आत्मा है। अभेदविवक्षामे आत्मा कहो या ज्ञान कहो, एक ही है, कोई विरोध नही है। ३९०–४०४

अब यही भाव कलशामें व्यक्त करते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञान तथावस्थितम् ।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुर
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥२३४॥

अर्थ—जो अन्य पदार्थोंसे भिन्न है, आत्मस्वरूपमे निश्चल है, पृथग् वस्तुपनको धारण कर रहा है, ग्रहण और त्यागके विकल्पसे शून्य है, तथा निर्मल है ऐसा यह ज्ञान उस तरह अवस्थित होता है जिस तरह कि मध्य, आदि और अन्तके विभागसे रहित स्वाभाविक सातिशय प्रभावसे देदीप्यमान, और शुद्ध ज्ञानसे सान्द्र इसकी महिमा नित्य उदित रहती है।

भावार्थ—अन्तमे आत्मा जिस ज्ञानरूप होकर अवस्थित रहता है वह कैसा है ? इसकी चर्चा इस काव्यमे की गई है—वह ज्ञान, शास्त्र, रूप, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श तथा धर्मास्तिकाय आदि अन्य पदार्थोंसे भिन्न है, आत्मस्वरूपमे नियत है अर्थात् योग और कषायके कारण पहले जो उसकी चञ्चलता रहती थी वह समाप्त हो जाती है, वह पृथग् वस्तुताको धारण करता है अर्थात् ज्ञेयोसे मिश्रित होनेपर भी उनसे पृथक् अपना अस्तित्व रखता है। पहले मोहके उदयसे ज्ञानमे ग्रहण और त्यागके विकल्प उठा करते थे, परन्तु अब मोहका अभाव हो जानेपर उसमे वे विकल्प अस्तमित हो जाते है। पहले रागादिकके सपर्कसे ज्ञानमे जो मलिनता थी, अथवा क्षायोपशमिक अवस्थाके कारण पूर्ण स्पष्टता नही थी, अब उसका अभाव हो जानेसे वह ज्ञान पूर्ण निर्मल हो जाता है। पहले यह ज्ञान बाह्य साधन सापेक्ष होनेके कारण उपजता और तिरोहित होता रहता था, इसलिये आदि मध्य और अन्तसे सहित था। परन्तु अब बाह्य साधनसे निरपेक्ष होनेके कारण सर्वदा प्रकाशमान रहता है, इसलिये उसमे आदि, मध्य और अन्तका कुछ भी विकल्प नही रहता। रागादिकका सर्वथा क्षय हो जानेसे उसकी शुद्धता कभी नष्ट होनेवाली नही, इसलिये वह शुद्ध ज्ञानसे घन है तथा पहले ज्ञानावरणके क्षयोपशमके अधीन रहनेसे मेघमालाके मध्य स्थित विद्युत्के समान प्रकट होता और फिर तिरोहित हो जाता था। परन्तु अब ज्ञानावरणका सर्वथा क्षय हो जानेसे नित्य उदयरूप रहता है अर्थात् उसका अन्त कभी नही होता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा केवलज्ञानरूपसे अवस्थित रहता है ॥२३४॥

अब आत्माकी कृतकृत्यदशाका वर्णन करते हुए कलशा कहते है—

उपजातिछन्द

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्
तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मन. सहृतसर्वशक्ते
पूर्णस्य सधारणमात्मनीह ॥२३५॥

अर्थ—जिसने रागादि विभावरूप परिणमन करनेवाली सर्व शक्तियोंका सकोच कर लिया है तथा केवलज्ञानादि गुणोके पूर्ण हो जानेसे जो पूर्णताको प्राप्त हो चुका है ऐसे आत्माको जो

आत्मामे ही—अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूपमे ही समीचीनरूपसे धारण करना है वही इसमे जो कुछ छोडने योग्य था उसे सम्पूर्णरूपसे छोड दिया और जो ग्रहण करने योग्य था उसे सम्पूर्णरूपसे ग्रहण कर लिया।

भावार्थ—जिस कालमे आत्मा सब ओरसे अपनी शक्तियोका सकोच कर अपने ही स्वरूपमे लय हो जाता है उस कालमे जो त्यागने योग्य था वह सब विशेषरूपसे त्याग दिया और जो ग्रहण करने योग्य था वह सब ग्रहण कर लिया। अब आत्माको न कुछ छोडना शेष है और न कुछ ग्रहण करना अवशिष्ट है, इसलिये आत्मा कृतकृत्य अवस्थाको प्राप्त होता है ॥२३५॥

अब वह ज्ञान देहरहित है, यह दिखानेके लिये कलश कहते है—

अनुष्टुप्छन्द

व्यतिरिक्त परद्रव्यादेव ज्ञानमवस्थितम् ।
कथमाहारक तत्स्यायेन देहोऽस्य शङ्क्यते ॥२३६॥

अर्थ—इस प्रकार ज्ञान जब परद्रव्यसे पृथक् अवस्थित है तब वह आहारककर्म और नोकर्मको ग्रहण करनेवाला कैसे हो सकता है, जिससे इसके देहकी शङ्का की जा सके।

भावार्थ—देह पुद्गलका कार्य है, ज्ञानका नही, अत ज्ञानके देह है, ऐसी आशका ही नही करना चाहिये ॥२३६॥

आगे यही भाव गाथाओमे कहते हैं—

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारओ हवइ एवं ।
आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पुग्गलमओ उ ॥४०५॥
ण वि सक्कइ घित्तुं जं ण विमोत्तुं जं य जं परदव्वं ।
सो को वि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि ॥४०६॥
तम्हा उ जो विसुद्धो चेया सो णेव गिण्हए किंचि ।
णेव विमुंचइ किंचि वि जीवाजीवाण दव्वाणं ॥४०७॥
(त्रिकलम्)

अर्थ—इस प्रकार जिसका आत्मा अमूर्तिक है वह निश्चयसे आहारक नही है क्योकि आहार मूर्तिक है तथा पुद्गलमय है।

जो परद्रव्य न ग्रहण किया जा सकता है और न छोडा जा सकता है सो वह आत्माका कोई प्रायोगिक अथवा स्वाभाविक गुण है।

इसलिये जो विशुद्ध चेतयिता है वह जीवाजीव द्रव्योमे न तो कुछ ग्रहण करता है और न कुछ त्यागता ही है।

विशेषार्थ—ज्ञाननामक जो गुण है वह न तो परद्रव्यको किञ्चिन्मात्र ग्रहण करता है और न परवस्तुको किञ्चिन्मात्र त्यागता है क्योकि उसमे प्रायोगिक अथवा वैस्रसिक—स्वाभाविक

गुणका ऐसा ही सामर्थ्य है। उस सामर्थ्यसे ज्ञानके द्वारा परद्रव्य न ग्रहण किया जा सकता है और न छोडा जा सकता है। अमूर्त आत्मप्रत्ययरूप जो ज्ञान है उसका परद्रव्य आहार नही हो सकता, क्योकि आहार मूर्तपुद्गलद्रव्यरूप है। इसलिये ज्ञान आहारक नही है, अतएव ज्ञानके देह है, ऐसी शङ्का नही करना चाहिए ॥४०५-४०७॥

अब आगामी गाथाओकी अवतणिकारूप कलशा कहते है—

अनुष्टुप्छन्द

एव ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।
ततो देहमय ज्ञातुर्न लिङ्ग मोक्षकारणम् ॥२३७॥

अर्थ—इस तरह जब शुद्ध ज्ञानके देह ही नही है तब देहरूप जो लिङ्ग है वह आत्माके मोक्षका कारण नही हो सकता ॥२३७॥

अब यही भाव गाथाओमे कहते हैं—

पाखडीलिंगाणि व गिहलिंगाणि व बहुप्पयाराणि ।
घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ॥४०८॥
ण उ होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा ।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति ॥४०९॥
(युग्मम्)

अर्थ—मुनिलिङ्ग अथवा बहुत प्रकारके गृहस्थलिङ्गोको ग्रहणकर अज्ञानीजन कहते है कि यह लिङ्ग मोक्षमार्ग है, परन्तु लिङ्ग मोक्षमार्ग नही है क्योकि शरीरसे ममत्व रहित अरहतदेव लिङ्गको छोडकर दर्शन-ज्ञान-चारित्रका सेवन करते है।

विशेषार्थ—कितने ही जन अज्ञानसे द्रव्यलिङ्गको ही मोक्षमार्ग मानते हुए मोहसे द्रव्यलिङ्गको ही ग्रहण करते है, सो वह मानना सगत नही है क्योकि समस्त भगवान् अरहन्तदेवोने शुद्ध ज्ञानसे तन्मय होनेके कारण द्रव्यलिङ्गके आश्रयभूत शरीरसे ममकारका त्याग किया है। तथा शरीराश्रित द्रव्यलिङ्ग भिन्न आत्मस्थित दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी ही मोक्षमार्गरूपसे उपासना देखी जाती है ॥४०८-४०९॥

अनन्तर इसीको सिद्ध करते है—

ण वि एस मोक्खमग्गो पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि ।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥४१०॥

अर्थ—जो मुनि और गृहस्थरूप लिङ्ग है वे मोक्षमार्ग नही है क्योकि जिनेन्द्र भगवान् दर्शन, ज्ञान और चारित्रको ही मोक्षमार्ग कहते है।

विशेषार्थ—निश्चयसे द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग नही है क्योकि शरीराश्रित होनेसे वह परद्रव्य है। इसलिये दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है क्योकि आत्माश्रित होनेसे वे स्वद्रव्य है। यहाँपर

द्रव्यलिङ्गका मोह छुडाकर सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमे लगानेका उपदेश है। सो इसका आशय यह है कि द्रव्यलिङ्ग शरीराश्रित है उसीको कोई मोक्षमार्ग मान ले तथा आत्माश्रित जो सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र हैं उनकी ओर लक्ष्य न दे तो उसे वास्तविक वस्तुस्वरूप बतलानेके लिये आचार्य महाराजका उपदेश है कि द्रव्यलिङ्गके ममकारको त्यागकर आत्माश्रितगुणोका सेवन करो, वही मोक्षमार्ग है। कुछ देशव्रत और महाव्रतके छुडानेका उपदेश नही है क्योकि बिना मुनिलिङ्ग धारण किये मोक्षकी प्राप्ति शक्य नही है। हाँ, यह अवश्य है कि यावती प्रवृत्ति है वह बन्धका कारण है अत ज्ञानी जीव देशव्रत तथा महाव्रत पालते हैं और उनके निर्दोष पालनेका यत्न भी करते हैं। परन्तु उस प्रवृत्तिको बन्धमार्ग ही समझते हैं, मोक्षमार्ग नही ॥४१०॥

फिर भी इसी अर्थको दृढ़ करनेका उपदेश है—

तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिए।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥४११॥

अर्थ—इसलिये गृहस्थ—प्रतिमाधारियो और गृहत्यागी—मुनियोके द्वारा गृहीत लिङ्गोको छोडकर आत्माको दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्गमे युक्त करो। ऐसा श्रीगुरुओका उपदेश है।

विशेषार्थ—यत द्रव्यलिङ्ग मोक्षका मार्ग नही है इसलिये सभी द्रव्यलिङ्गोसे व्यामोहको छोड़कर दर्शनज्ञानचारित्रमे ही आत्माको लगाना चाहिये, क्योकि यही मोक्षमार्ग है यह जिनागमकी आज्ञा है।

अब दर्शनज्ञानचारित्र ही मोक्षमार्ग है, यह कलशामे दिखाते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मन ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥२३८॥

अर्थ—दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनरूप ही आत्माका तत्त्व है, यही मोक्षमार्ग है, इसलिये मोक्षके अभिलाषी पुरुषके द्वारा यही एक मार्ग सदा सेवन करने योग्य ॥२३८॥

आगे इसी मोक्षमार्गमे आत्माको लगाओ, ऐसा उपदेश करते हैं—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्ण दविएसु ॥४१२॥

अर्थ—उसी मोक्षमार्गमे आत्माको लगाओ, उसीका ध्यान करो, उसीमे नित्य विहार करो, अन्यद्रव्योमे विहार न करो।

विशेषार्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे भव्य! यद्यपि यह आत्मा अनादिकालसे अपनी बुद्धिके दोषसे राग-द्वेषके वशीभूत होकर प्रवृत्त हो रहा है तो भी अपनी ही बुद्धिके गुणसे उस आत्माको वहाँसे निवृत्तकर दर्शनज्ञानचारित्रमे नित्य ही अत्यन्त निश्चलरूपसे स्थापित करो, तथा अन्य पदार्थ सम्बन्धी चिन्ताओको त्यागकर अत्यन्त एकाग्र हो दर्शनज्ञानचारित्रका ही ध्यान करो। तथा समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाका त्याग कर शुद्ध ज्ञानचेतनामय

दर्शनज्ञानचारित्रका ही अनुभव करो। तथा द्रव्यस्वभावके वशसे प्रत्येक क्षणमे बढते हुए परिणामपनसे तन्मय परिणाम होकर दर्शनज्ञानचारित्रमे ही विहार करो। तथा एक निश्चल ज्ञानस्वरूपका ही अवलम्बन ज्ञेयरूप उपाधिके कारण सभी ओरसे दौड़कर आते हुए सभी परद्रव्योमे किञ्चिन्मात्र भी विहार मत करो ॥४१२॥

आगे यही भाव कलशामे दरशाते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्तात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतसि ।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥२३९॥

अर्थ—जो यह सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप एक मोक्षमार्ग निश्चित है उसीमे जो पुरुष स्थितिको प्राप्त होता है, उसीका निरन्तर चित्तमे ध्यान करता है, और अन्य द्रव्योका स्पर्श न करता हुआ उसीमे निरन्तर विहार करता है वह अवश्य ही नित्य उदित रहनेवाले समयसारको—आत्माकी शुद्ध परिणतिरूप मोक्षको शीघ्र ही प्राप्त होता है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रयकी जो एकता है वह मोक्षका निश्चित एक ही मार्ग है, इसके अतिरिक्त अन्य मार्गोसे मोक्षकी प्राप्ति अशक्य है। इसलिये जो इसी मोक्षमार्गमे स्थित है, इसीका रातदिन अपने हृदयमे ध्यान करता है तथा अन्य द्रव्योको अपने उपयोगका विषय न बनाकर इसी रत्नत्रयको तथा उसके आधारभूत जीवद्रव्यको ही अपने उपयोगका विषय बनाता है वह नियमसे शीघ्र ही जिसका नित्य उदय रहता है ऐसे समयसारको प्राप्त होता है। व्यवहाररत्नत्रय निश्चयरत्नत्रयका साधक होनेसे मोक्षमार्ग कहा जाता है। निश्चयसे रहित मात्र व्यवहाररत्नत्रयसे मोक्षकी प्राप्ति दुर्लभ है ॥२१९॥

अब जो मात्र व्यवहारमार्गका आश्रय करते है वे समयसारके दर्शनसे वञ्चित रहते है, यह भाव कलशामे प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः ।
नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥२४०॥

अर्थ—और तत्त्वज्ञानसे च्युत हुए जो पुरुष इस निश्चय मोक्षमार्गको छोडकर व्यवहार मोक्षमार्गमे प्रस्थान करनेवाले अपने आपके द्वारा मात्र द्रव्यलिङ्गमे ममताको धारण करते है अर्थात् उसे ही मोक्षमार्ग मानते है वे उस निर्मल समयसारका आज भी अवलोकन नही कर रहे है जो नित्य उदयरूप है, अखण्ड है, एक है, अनुपम प्रकाशसे युक्त है तथा स्वभावकी प्रभाका प्राग्भार है।

भावार्थ—आत्माकी शुद्ध परिणतिको समयसार कहते हैं, इसीको परमात्मपद कहते हैं, यह समयसार निरन्तर उदयरूप रहता है अर्थात् एकबार प्राप्त होनेपर फिर कभी भी नष्ट नहीं होता, और जो अखण्ड है अर्थात् गुणगुणीके भेदसे रहित है, द्रव्यदृष्टि होनेसे एक है, केवलज्ञान-रूप ऐसे प्रकाशसे सहित है जिसकी सूर्य, चन्द्रमा आदिके प्रकाशसे कभी तुलना नही कर सकते, ज्ञान-दर्शनरूप जो आत्माका स्वभाव है उसीके पूर्ण विकाससे सहित है तथा रागादिकका अभाव हो जानेसे निर्मल है ऐसे समयसारके दर्शन उन पुरुषोको आज भी दुर्लभ हैं जो मात्र व्यवहार-मार्गमे चलकर केवल द्रव्यलिंगमे ही ममताभाव रखते हैं—उसीको मोक्षमार्ग मानते है। वास्तवमे ऐसे पुरुष तत्त्वज्ञानसे रहित है, इसीलिये वे इस ससारमे अनन्तवार मुनिपद धारण करके भी ससारके ही पात्र बने रहते हैं ॥२४०॥

आगे यही अर्थ गाथामे कहते हैं—

पाखंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तं तेहिं ण णायं समयसारं ॥४१३॥

अर्थ—जो मुनियोके लिङ्गमे तथा नानाप्रकारके गृहस्थोंके लिङ्गमे ममता करते है उन्होने समयसारको नही जाना है।

विशेषार्थ—निश्चयसे जो पुरुष 'मैं श्रमण हूँ' अथवा 'श्रमणोका उपासक हूँ' इस प्रकार द्रव्यलिङ्गकी ममतासे मिथ्या अहकार करते है वे अनादिकालसे चले आये व्यवहारमे विमूढ हैं तथा उत्कृष्ट भेदज्ञानसे युक्त निश्चयको अप्राप्त है ऐसे जीव परमार्थ सत्यरूप भगवान् समयसार-को नही देखते है।

भावार्थ—जो पुरुष मुनिवेष अथवा गृहस्थोके नानाप्रकारके वेषको धारण कर यह मानते है कि मैं मुनि हूँ अथवा ऐलक, क्षुल्लक आदि हूँ तथा मेरा यही वेष मुझे मोक्षकी प्राप्ति करा देनेवाला है, इस प्रकार मात्र व्यवहारमें मूढ रहकर निश्चय मोक्षमार्गकी ओर लक्ष्य नही देते। आचार्य कहते हैं कि ऐसे पुरुषोने समयसारको जाना भी नही है, उसकी प्राप्ति होना तो दुर्लभ ही है ॥४१३॥

आगे यही भाव कलशामे प्रकट करते है—

वियोगिनीछन्द

व्यवहारविमूढदृष्टय परमार्थं कलयन्ति नो जना ।
तुषबोधविमुग्धबुद्धय. कलयन्तीह तुष न तण्डुलम् ॥२४१॥

अर्थ—जिनकी बुद्धि व्यवहारमें ही विमूढ है ऐसे मनुष्य परमार्थको नही प्राप्त करते हैं क्योकि जिनकी बुद्धि तुषज्ञानमे ही विमुग्ध हो रही है ऐसे पुरुष इस संसारमे तुषको ही प्राप्त करते हैं, चावलको नही।

भावार्थ—यद्यपि तुष और चावल जबसे धानके पौवेमे उत्पन्न हुए तभीसे साथ-साथ हैं तो भी तुष पृथक् वस्तु है और उसके भीतर रहनेवाला चावल पृथक् वस्तु है। इसी प्रकार शरीर

और आत्मा अनादिकालसे साथ-साथ रहनेसे यद्यपि एक दिखते है तो भी शरीर अलग है और आत्मा अलग है। शरीर रूप, रस, गन्ध और स्पर्शको लिये हुए पुद्गलद्रव्यकी परिणति है और आत्मा ज्ञान-दर्शनस्वभावको लिये हुए स्वतन्त्र जीवद्रव्य है। मुनिलिङ्ग अथवा गृहस्थलिङ्ग शरीरके परिणमन हैं और समयसार आत्माकी परिणति है। इस भेद-विज्ञानको न समझकर जो केवल शरीरकी परिणतिसे समयसारको प्राप्त करना चाहते हैं वे समयसारके लाभसे वञ्चित रहते है। जैसे कोई तुषको ही सर्वस्व समझ मात्र उसीकी सभालमे सलग्न रहे और उसके भीतर रहनेवाले चावलकी ओर लक्ष्य न दे, तो वह तुषको ही प्राप्त करता है चावलको नही, वैसे ही जो शरीरको ही सर्वस्व समझ उसीकी सभालमे सलग्न रहे तथा ज्ञान-दर्शनस्वभावकी ओर लक्ष्य न दे तो उसे शरीरकी ही प्राप्ति होगी, आत्मा की नही, अर्थात् वह इसी ससारमे बार-बार जन्म-मरणका पात्र होता रहेगा ॥२४१॥

स्वागताछन्द

द्रव्यलिङ्गममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव स्वत. ॥२४२॥

अर्थ—द्रव्यलिङ्गके ममकारसे जिनके आभ्यन्तर नेत्र मुद्रित हो गये हैं उनके द्वारा समयसार नही देखा जाता है क्योकि इस लोकमे जो द्रव्यलिङ्ग है वह निश्चयसे अन्याश्रित है और यह जो एक ज्ञान है वह निश्चयसे स्वत. है अर्थात् स्वाश्रित है।

भावार्थ—जो मात्र द्रव्यलिङ्गसे मोक्ष मानते है वे अन्धे है। जैसे कोई चश्मा ही को देखनेका उपकरण समझ आँखकी परवाह न करे तो उसे नेत्रशक्तिके बिना पदार्थ अवलोकन नही होता वैसे ही कोई द्रव्यलिङ्गको ही मोक्षप्राप्तिका साधक मान निश्चयरत्नत्रयकी परवाह न करे तो उसे आभ्यन्तरकी निर्मलताके बिना केवल द्रव्यलिङ्गसे मोक्षकी प्राप्ति नही होती ॥२४२॥

आगे व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयोसे मोक्षमार्गका प्रतिपादन करते हैं—

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

अर्थ—व्यवहारनय, मुनिलिङ्ग और गृहस्थलिङ्ग—दोनो लिङ्गोको मोक्षमार्ग कहता है और निश्चयनय सभी लिङ्गोको मोक्षमार्गमे नही चाहता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे श्रमण और श्रमणोपासक अर्थात् मुनि और श्रावकके भेदसे दो प्रकारके द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग है यह जो कथन करनेका प्रकार है वह केवल व्यवहार ही है, परमार्थ नही है क्योकि व्यवहारनय स्वयं अशुद्ध द्रव्यके अनुभवनरूप है अतः उसमे परमार्थपनका अभाव है। और श्रमण तथा श्रमणोपासकके विकल्पसे रहित, दर्शनज्ञानचारित्रकी प्रवृत्तिमात्र शुद्ध ज्ञान ही एक है इस प्रकारका निस्तुष अर्थात् परद्रव्यसे रहित जो अनुभव है वह निश्चयनय है, क्योकि निश्चयनय ही स्वयं शुद्ध द्रव्यके अनुभवनरूप होनेसे परमार्थ है। इसलिये जो व्यवहार-काही परमार्थ बुद्धिसे अनुभव करते है वे समयसारका अनुभव ही नही करते और जो परमार्थका—निश्चयका ही परमार्थबुद्धिसे अनुभव करते है वे ही समयसारका अनुभव करते है।

भावार्थ—व्यवहारनयकी अपेक्षा साक्षात् मुनिलिङ्ग और परम्परासे गृहस्थलिङ्ग मोक्षमार्ग है और निश्चयनयकी अपेक्षा दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी प्रवृत्तिरूप एक ज्ञान ही मोक्षमार्ग है ॥४१४॥

आगे आचार्य एक परमार्थके ही अनुभव करनेका उपदेश देते हुए कलशा कहते हैं—

मालिनीछन्द

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥२४३॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि बहुत कथन तथा बहुत प्रकारके दुर्विकल्पोंसे रुको, उनसे क्या प्रयोजन है ? इस जगत्में निरन्तर इसी एक परमार्थका चिन्तन किया जाय, क्योंकि निज रसके समूहसे परिपूर्ण ज्ञानके विकासरूप समयसारसे बढकर अन्य कुछ भी नही है ।

भावार्थ—आत्माका जो ज्ञान मोहकी उपाधिसे कलङ्कित होकर परपदार्थमे निजत्वकी कल्पनासे दुःखी हो रहा था, जब उस उपाधिके अभावसे वह परमार्थरूप हो गया, इससे उत्तम और क्या होगा ॥२४३॥

अब ज्ञान पूर्णताको प्राप्त होता है, यह कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम् ।
विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतां नयत् ॥२४४॥

अर्थ—जो विकल्पातीत होनेके कारण एक है, जगत्के पदार्थोंको प्रकट करनेके लिये नेत्रस्वरूप है, अविनाशी है, तथा जो विज्ञानघन और आनन्दमय आत्माकी प्रत्यक्षताको प्राप्त करा रहा है, ऐसा यह ज्ञान पूर्णताको प्राप्त होता है ।

भावार्थ—विज्ञानघन तथा परमानन्दमय जो आत्मा है उसका प्रत्यक्ष अनुभव ज्ञानके द्वारा ही होता है । यह ज्ञान विकल्पातीत होनेसे एक है, तथा अविनाशी है और जगत्के पदार्थोंको प्रकट करनेके लिये चक्षु स्वरूप है । ऐसा यह ज्ञान पूर्णताको प्राप्त होता है ॥२४४॥

अब श्रीकुन्दकुन्दस्वामी समयप्राभृतको पूर्ण करते हुए उसके फलका प्रतिपादन करते हैं—

जो समयपाहुडमिणं पडिहूणं अत्थतच्चदो णाउं ।
अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्खं ॥४१५॥

अर्थ—जो आत्मा इस समयप्राभृतको पढकर तथा अर्थ और तत्त्वसे उसे अवगतकर इसके अर्थमे स्थिर होगा वह उत्तम सुखस्वरूप होगा ।

विशेषार्थ—निश्चयसे जो पुरुष समयसारभूत भगवान् परमात्माका, जो कि विश्वका प्रकाशक होनेसे विश्वसमय कहा जाता है, प्रतिपादन करनेसे शब्दब्रह्मके समान आचरण करनेवाले इस समयप्रभाभृत नामक शास्त्रको पढकर समस्त पदार्थोंके प्रकाशनमे समर्थ परमार्थभूत

चैतन्यप्रकाशस्वरूप परमात्माका निश्चय करता हुआ अर्थ और तत्त्वसे इसे जानकर इसीके अर्थभूत एक, पूर्ण तथा विज्ञानघन परमब्रह्ममे सम्पूर्ण आरम्भके साथ अर्थात् पूर्ण प्रयत्न द्वारा स्थित होगा वह साक्षात् तथा उसी समय विकसित एक चैतन्यरससे परिपूर्ण स्वभावमे अच्छी तरह स्थित तथा निराकुल आत्मस्वरूप होनेसे परमानन्दशब्दके वाच्य, उत्तम तथा अनाकुलता-लक्षणसे युक्त सुखस्वरूप स्वयं हो जावेगा ।

भावार्थ—यह समयप्राभृतनामक शास्त्र, समय अर्थात् आत्माकी सारभूत अवस्था जो परमात्मपद है उसका प्रतिपादन करता है, इसलिये शब्दब्रह्मके समान है। इसका जो महानुभाव अच्छी तरह अध्ययन कर 'समस्त पदार्थोके प्रकाशन करनेमे समर्थ परमार्थभूत चैतन्यप्रकाशमय परमात्मा है' ऐसा निश्चय करता हुआ इसी समयाप्राभृत शास्त्रके प्रतिपाद्य विषयभूत विज्ञानघन एक परमब्रह्ममे अर्थात् शुद्धात्म परिणतिमे पूर्ण उद्यमके साथ स्थित होता है अर्थात् उसीमे अपना उपयोग स्थिर करेगा वह स्वय निराकुल सुखस्वरूप होगा। इस तरह निराकुल सुखकी प्राप्ति ही इस समयप्राभृत शास्त्रके अध्ययनका फल है। अतएव हे भव्यात्माओ! अपने कल्याणके अर्थ इस शास्त्रका अध्ययन करो, कराओ, सुनो, सुनाओ, मनन करो। इसी पद्धतिसे अविनाशी सुखके पात्र होओगे, ऐसा श्रीगुरुका उपदेश है ॥४१५॥

अब ज्ञान ही आत्माका तत्त्व है, यह बतलानेके लिये कलशा कहते है—

अनुष्टुप्छन्द

इतीदमात्मनस्तत्त्व ज्ञानमात्रमवस्थितम् ।
अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ॥४५२॥

अर्थ—इस प्रकार यह आत्माका तत्त्व ज्ञानमात्र निश्चित हुआ। यह ज्ञान अखण्ड है, एक है, अचल है, स्वसवेदनके योग्य है तथा अविनाशी है।

भावार्थ—आत्माका निजरूप ज्ञानमात्र ही कहा है। आत्मा अनन्तधर्मोका पिण्ड है, उनमे कई धर्म तो साधारण और कितने ही असाधारण है। उन असाधारण धर्मोंमें भी कई ऐसे है जो सर्वसाधारणके गोचर नही हैं। चैतन्यसामान्य भी, दर्शनज्ञानपर्यायोके बिना अनुभवमे नही आता। इन दर्शन-ज्ञानमे भी जो ज्ञानगुण है वह साकार है और इसीकी महिमा है क्योकि यही सर्व पदार्थोकी व्यवस्था योग्य रीतिसे करता है। इसी कारण मुख्यतासे ज्ञानमात्र आत्माको कहा है सो यही परमार्थ है। इसका यह तात्पर्य नहो कि अन्य गुण मिथ्या है। यदि कोई ज्ञानको ही मान अन्यको कुछ भी नही माने, जो कुछ है सो ज्ञान ही का विकार है ऐसे विज्ञानाद्वैतवादी अथवा ब्रह्मवादीकी तरह श्रद्धा कर लेवे तो वह मुनिव्रत पालन करके भी मोक्षका पात्र नही हो सकता है। मन्दकषायसे स्वर्ग चला जावे तो चला जावे, कुछ यथार्थ लाभ नही हुआ। इसलिये स्याद्वादके द्वारा वस्तुतत्त्वको यथार्थ जानना चाहिये ॥२४५॥

इस प्रकार कुन्दकुन्दस्वामी विरचित समयप्राभृतमे सर्वविशुद्धज्ञान
नामक नौवें अधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ ।

१०. स्याद्वादाधिकार

अनुष्टुप्

अथ स्याद्वादशुद्धयर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ।
उपायोपेयभावश्च मनाग् भूयोऽपि चिन्त्यते ॥२४६॥

अर्थ—अब स्याद्वादकी शुद्धिके लिये वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था और उपयोपेयभावका फिर भी कुछ विचार किया जाता है ॥२४६॥

निश्चयसे स्याद्वाद, वस्तुतत्त्वको सिद्ध करनेवाला अर्हन्त भगवान्का एक अस्खलित शासन है, अर्थात् इसका कोई खण्डन नही कर सकता है। यह स्याद्वाद 'सम्पूर्ण पदार्थ अनेकान्तात्मक हैं' ऐसा उपदेश देता है क्योकि सभी वस्तुएँ अनेकान्तस्वभाववाली है। यद्यपि इस समयप्राभृतग्रन्थमे आत्माको ज्ञानमात्र कहा गया है तो भी इससे स्याद्वादका कोप नही होता है अर्थात् स्याद्वादकी मान्यतामे कोई बाधा नही आती है, क्योकि ज्ञानमात्र जो आत्मा नामक वस्तु है वह स्वयं अनेकान्तरूप है। यहाँ जो वस्तु तत्रूप है वही अतत्रूप है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है। इस तरह एक ही वस्तुके वस्तुत्वको सिद्ध करनेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोका प्रकाशन करना अनेकान्त है। आत्मामे इसी अनेकान्तकी पद्धतिसे ऊपर कही हुई परस्पर विरुद्ध शक्तियोका समन्वय इस प्रकार होता है—

यही स्वकीय आत्मा नामक वस्तु यद्यपि ज्ञानमात्र है तथापि अभ्यन्तरमें प्रकाशमान ज्ञान-स्वरूपकी अपेक्षा तो तत्रूप अर्थात् ज्ञानरूप है और बाहरमे प्रकट होनेवाले अनन्तज्ञेयो, जो कि स्वरूपसे अतिरिक्त परद्रव्य है, उनरूप न होनेके कारण अतत्रूप भी है अर्थात् ज्ञानरूप नही है। यह आत्मा सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनन्त चेतनके अंशोके समुदायरूप अखण्ड द्रव्यकी अपेक्षा एक है और अखण्ड एक द्रव्यमे व्याप्त होकर रहनेवाले सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनन्त चेतनके अंशरूप पर्यायोकी अपेक्षा अनेकरूप है। स्वकीय द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके परिणमनकी शक्तिरूप स्वभावसे युक्त होनेके कारण सत्रूप है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अपरिणमनकी शक्तिरूप स्वभावसे युक्त होनेके कारण असत्रूप है। अनादिनिधन अविभागी एकवृत्तिरूप परिणत होनेसे नित्य है और क्रम-क्रमसे एक-एक समयमे प्रवर्तनेवाले अनेक पर्यायाशोमे परिणत होनेसे अनित्य है। इस तरह आत्मामे तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत्, तथा नित्य-अनित्यरूप परस्पर विरोधी धर्मोका पुञ्ज प्रकाशमान होता ही है।

यहाँ कोई आशङ्का करता है कि आत्मवस्तुके ज्ञानमात्र होनेपर भी यदि स्वयं ही अनेकान्त प्रकाशमान रहता है तो फिर अर्हन्त भगवान्के द्वारा उस ज्ञानमात्रपनकी सिद्धिके लिये अनेकान्तका उपदेश किसलिये दिया जाता है? इस आशङ्काका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि अज्ञानी जीवोके लिये ज्ञानमात्र आत्मवस्तुकी सिद्धिके अर्हन्त भगवान्के द्वारा अनेकान्तका उपदेश दिया जाता है, हम ऐसा कहते है, क्योकि अनेकान्तके बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ही सिद्ध नही होती। उसीको स्पष्ट करते हैं—

स्वभावसे ही अनेकभावोंसे भरे हुए विश्वमे सब भावोके स्वभावसे अद्वैतपन होनेपर भी

द्वैतपनका निषेध नही किया जा सकता, इसलिये समस्त वस्तुएँ स्वभावमें प्रवृत्ति और परभावसे व्यावृत्तिरूप होनेके कारण दो भावोसे युक्त है, ऐसा नियम है। उन सर्व वस्तुओमे जब यह ज्ञानमात्रभाव अर्थात् आत्मा, शेषभावोके साथ निजरसके भारसे प्रवर्तित ज्ञातृ-ज्ञेय-सम्बन्धके कारण अनादिकालसे ज्ञेयरूप परिणमन होनेसे ज्ञानतत्त्वको पररूप मानकर अज्ञानी होता हुआ नाशको प्राप्त होता है तब स्वरूपसे तत्त्व अर्थात् ज्ञानरूपताको प्रकट करके ज्ञातारूपसे परिणमनके कारण उसे ज्ञानी करता हुआ अनेकान्त ही उसका उद्धार करता है—उसे उज्जीवित करता है—नष्ट होनेसे बचाता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी दर्पणमें सम्मुख स्थित मयूरका प्रतिबिम्ब पड रहा है और उस प्रतिबिम्बके कारण दर्पण मयूररूप ही दिख रहा है। यहाँ प्रतिबिम्बकी अपेक्षा कोई दर्पणको 'यह मयूर है' ऐसा कहता है तो इसके इस कथनमे दर्पणका अभाव प्रकट होता है। उसी प्रकार स्वच्छताके कारण ज्ञानमात्र आत्मामे अनादिकालसे ज्ञेयोके आकार प्रतिबिम्बित हो रहे है और उन प्रतिबिम्बोंके कारण ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञेयाकार जान पड़ता है। यहाँ ज्ञेयाकार परिणतिके कारण कोई ज्ञानमात्र आत्माको 'यह अमुक ज्ञेय है' ऐसा कहता है, तो इस कथनमे आत्माका अभाव प्रकट होता है। परन्तु अनेकान्त आकर कहता है—नही भाई! यह मयूर नही है किन्तु दर्पण है, स्वच्छताके कारण इसमे मयूरका प्रतिबिम्बमात्र पड रहा है, इस प्रतिबिम्बकी अपेक्षा इसे मयूर भले ही कहते रहो, परन्तु दर्पणपनका नाश नही हो सकता, दर्पण दर्पण ही है। इसी तरह ज्ञानका ज्ञेयाकार परिणमन होनेपर भी अनेकान्त कहता है—नही भाई! यह ज्ञेय नही है किन्तु ज्ञान है, स्वच्छताके कारण इसमे ज्ञेयका प्रतिबिम्बमात्र पड़ रहा है, इस-प्रतिबिम्बकी अपेक्षा इसे ज्ञेय भले ही कहते रहो परन्तु ज्ञानपनका नाश नही हो सकता, ज्ञान ज्ञान ही है ॥१॥

जब यह ज्ञानमात्रभाव, 'निश्चयसे यह सब आत्मा है' इस प्रकार अज्ञानतत्त्वको ज्ञानस्वरूपसे स्वीकार कर विश्वके ग्रहण द्वारा अपना नाश करता है अर्थात् अपने आपको विश्वरूप मानकर अपनी ज्ञानरूपताको नष्ट करता है तब अनेकान्त ही उसे नष्ट नही होने देता क्योकि वह दिखलाता है कि ज्ञानमे जो अतद्रूपता है वह पररूपकी अपेक्षा है अर्थात् विश्वाकार परिणमनकी अपेक्षा है। स्वरूपकी अपेक्षा जो ज्ञान विश्वसे भिन्न ही है, उसकी ज्ञानरूपताको कौन नष्ट कर सकता है? ॥२॥

जब यह ज्ञानमात्रभाव अनेक ज्ञेयोंके आकारसे सकल एक ज्ञानाकारको खण्डित करता हुआ नाशको प्राप्त होता है तब द्रव्यकी अपेक्षा एकपनको प्रकट करता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित करता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सामने रखे हुए दर्पणमे सेनाका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, उस प्रतिबिम्बसे दर्पण, हाथी, घोड़ा, रथ आदि पदार्थरूप दिखता है उन पदार्थोको देखकर एक ही दर्पणको हाथी, घोडा, रथ आदि नानारूप कहा जाता है उसी प्रकार एक ही ज्ञानमें अनेक पदार्थोंके आनेसे ज्ञानको अनेकरूप कहा जाता है। तब अनेकान्त कहता है कि जिस प्रकार दर्पणमें हाथी, घोड़ा, रथ आदिके प्रतिबिम्बके कारण अनेकरूपता है दर्पणकी अपेक्षा नही, दर्पण तो एक ही है। इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मामे अनेक ज्ञेयाकार परिणमन होनेसे अनेकरूपता है, द्रव्यकी अपेक्षा नही, द्रव्य तो एक ही है। इस तरह अनेकान्त ही आत्माकी एकरूपताको जीवित रहता है ॥३॥

जब वह ज्ञानमात्र भाव, एक ज्ञानका आकार ग्रहण करनेके लिये अनेक ज्ञेयोके आकारके त्यागसे अपने आपको नष्ट करता है तब पर्यायोकी अपेक्षा अनेकपनको प्रकाशित करता हुआ

अनेकान्त ही उसे नष्ट नही होने देता है। तात्पर्य यह है कि एक ज्ञानाकारकी अपेक्षा ज्ञानमात्रभाव एक है उसमे अनेक ज्ञेयोके आकार प्रतिबिम्बित होनेसे जो अनेकरूपता दिखाती है वह नही है। इस तरह जब एकरूपताके एकान्तका पक्ष लेकर ज्ञानभावकी अनेकरूपताका नाश किया जाता है तब अनेकान्त कहता है कि एक ज्ञानाकारकी अपेक्षा ज्ञानभावमे एकरूपता भले ही रहे परन्तु अनेक ज्ञेयाकारोके प्रतिबिम्ब पडनेसे उसमे जो अनेकरूपता अनुभवमे आती है उसका निषेध कौन कर सकता है? इस तरह ज्ञानभावकी अनेकरूपताको सिद्ध कर अनेकान्त ही उसे नष्ट होनेसे बचाता है ॥४॥

जब ज्ञानके विषयभूत परद्रव्यरूप परिणमन करनेसे ज्ञाता द्रव्यको परद्रव्यरूप मानकर नाशको प्राप्त होता है तब स्वद्रव्यकी अपेक्षा सत्त्वको सिद्ध करता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित करता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानमात्रभाव जो ज्ञाताद्रव्य (आत्मा) है वह जिस कालमें जिस पदार्थको जानता है उस कालमे उस पदार्थरूप हो जाता है। जैसे घटको जाननेवाला आत्मा घटरूप हो जाता है। ऐसा कथन करनेवाला एकान्ती ज्ञाताको ज्ञेयरूप स्वीकार कर अपना नाश करता है। परन्तु अनेकान्त कहता है कि आत्मा घटरूप होने पर भी स्वरूपकी अपेक्षा नाशको प्राप्त नही हो सकता, वह स्वद्रव्यकी अपेक्षा सदा सत्त्वरूप रहता है। इस तरह अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है ॥५॥

जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्व द्रव्य मै ही हूँ' इस तरह परद्रव्यको ज्ञातृद्रव्यरूपसे स्वीकृत कर अपने आपको नष्ट करने लगता है तब आत्मद्रव्यमे परद्रव्यकी सत्ता नही है ऐसा सिद्ध करता हुआ अनेकान्त ही उसे नष्ट नही होने देता। तात्पर्य यह है कि आत्मामे जिन द्रव्योका प्रतिबिम्ब पड रहा है वे सब द्रव्य में ही हूँ ऐसी श्रद्धासे जब यह आत्मा परद्रव्यको ज्ञाता द्रव्य मानकर अपने आपका नाश करने लगता है तब अनेकान्त कहता है कि परद्रव्योका तुझमे प्रवेश हुआ ही कब है? जानने मात्रसे परद्रव्य तेरा नही हो सकता। इस तरह परद्रव्यके असत्त्वको बताकर आत्माको अनेकान्त ही नष्ट होनेसे बचाता है ॥६॥

जब यह ज्ञानमात्र भाव, परक्षेत्र सम्बन्धी ज्ञेय पदार्थोके आकार परिणमन करनेसे पर क्षेत्ररूप होते हुए ज्ञानको स्वीकार कर नाशको प्राप्त होता है तब स्वक्षेत्रकी अपेक्षा अस्तित्वको बतलाता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित रखता है। तात्पर्य यह है कि जब ज्ञान परक्षेत्र सम्बन्धी पदार्थोंको जाननेसे अपनेको परक्षेत्ररूप मान कर नष्ट होने लगता है तब अनेकान्त यह कहता हुआ उसकी रक्षा करता है कि ज्ञान स्वक्षेत्रकी अपेक्षा सदा विद्यमान रहता है केवल परक्षेत्रगत पदार्थोंका आकार पडनेसे वह नष्ट नही होता ॥७॥

जब वह ज्ञानमात्र भाव, स्वक्षेत्रमे रहनेके लिये परक्षेत्रगत ज्ञेयोके आकारके त्यागसे ज्ञानको तुच्छ करता हुआ अपने आपको नष्ट करता है क्योकि स्वक्षेत्रमे रहकर ही पर क्षेत्रगत ज्ञेयोके आकार परिणमन करना ज्ञानका स्वभाव है, इसलिये परक्षेत्रकी अपेक्षा नास्तित्वको प्रकट करता हुआ अनेकान्त ही उसे नष्ट नही होने देता। तात्पर्य यह है कि जब जब ज्ञान परक्षेत्र सम्बन्धी ज्ञेयोके आकाररूप परिणमनको छोडकर स्व-क्षेत्रसम्बन्धी ज्ञेयोके आकार परिणमन करता है तब ज्ञानका नाश होता हुआ जान पड़ता है उस समय अनेकान्त यह कहता हुआ उसकी रक्षा करता है कि स्वक्षेत्रमे रहता हुआ ही ज्ञान परक्षेत्रसम्बन्धी

ज्ञेयोंके आकाररूप परिणमन करता है क्योंकि ऐसा उसका स्वभाव है। अतः परक्षेत्रकी अपेक्षा ही ज्ञानमें नास्तित्वका व्यवहार होता है ॥८॥

जब यह ज्ञानमात्रभाव, पूर्वालम्बित पदार्थोंके विनाशकालमे ज्ञानका असत्त्व स्वीकार कर नाशको प्राप्त होता है तब स्वकालकी अपेक्षा सत्त्वको बतलाता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित्त रखता है। तात्पर्य यह है कि जब ज्ञान पूर्वमे 'आलम्बित पदार्थोको छोडकर नवीन पदार्थोका आलम्बन लेता है तब पूर्वालम्बित पदार्थोंके आकारका विनाश हो जाता है। इस दशामें कोई यह मानता है कि ज्ञान असद्भावको प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है उसके लिये अनेकान्त यह कहता हुआ उसे जीवित रखता है कि पूर्वालम्बित पदार्थके नष्ट हो जाने पर भी ज्ञान स्वकालकी अपेक्षा अस्तित्वरूप ही रहता है ॥९॥

जब वह ज्ञानमात्रभाव, 'पदार्थके आलम्बनकालमे ही ज्ञानका सत्त्व रखता है अन्य कालमे नही' ऐसा स्वीकार कर अपने आपको नष्ट करता है तब परकालकी अपेक्षा ज्ञानके असत्त्वको प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे नष्ट नही होने देता। तात्पर्य यह है—किसीका कहना है कि जिस समय ज्ञान पदार्थोको जानता है उसी समय सत्त्व रहता है अन्य समयमें नही। इस तरह जाननेके अतिरिक्त समयमे ज्ञानका नाश हो जाता है इस स्थितिमे अनेकान्त ही यह प्रकट करता हुआ उसे नष्ट होनेसे बचाता है कि परकालकी अपेक्षा ही ज्ञानका असत्त्व हो सकता है स्वकालकी अपेक्षा नही।

जब वह ज्ञानमात्रभाव, ज्ञानके विषयभूत परभावरूप परिणमन करनेसे ज्ञायकभावको परभावरूपसे स्वीकारकर नाशको प्राप्त होता है तब स्वभावसे सत्त्वको प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित करता है। तात्पर्य यह है—जब ज्ञानमे परभावका विचार आता है तब परभावरूप उसका परिणमन होता है, एतावता ज्ञान परभाव होकर नाशको प्राप्त होने लगता है। उस समय अनेकान्त यह कहता हुआ उसे जीवित रखता है कि स्वभावसे ज्ञानका सदा सत्त्व ही रहता। जाननेकी अपेक्षा परभावरूप होनेपर भी ज्ञानका स्वभावकी अपेक्षा कभी नाश नही हो सकता ॥११॥

जब वह ज्ञानमात्रभाव, 'सर्व भाव मै ही हूँ' इस प्रकार परभावको ज्ञायकभावरूपसे मानकर अपने आपको नष्ट करने लगता है तब परभावकी अपेक्षा असत्त्वको बतलाता हुआ अनेकान्त ही उसे नष्ट नही होने देता है। तात्पर्य यह है कि जिस समय परभाव ज्ञानमे आते है उस समय उन भावोका ज्ञानरूप परिणमन होता है। एतावता ज्ञानका परभावरूप परिणाम स्वीकार करनेसे ज्ञानके नाशका प्रसङ्ग आता है तब अनेकान्त यह कहकर उसे नष्ट होनेसे बचाता है कि ज्ञानका असत्त्व परभावकी अपेक्षा है स्वभावको अपेक्षा नही ॥१२॥

जब वह ज्ञानमात्रभाव, अनित्य ज्ञानविशेषोके द्वारा खण्डित हो गया है नित्य सामान्यज्ञान जिसका, ऐसा होता हुआ नाशको प्राप्त होता है तब ज्ञानसामान्यकी अपेक्षा नित्यपनको प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित करता है। तात्पर्य यह है—एक तो सामान्यज्ञान है जो सदा विद्यमान रहनेसे नित्य कहलाता है और एक घटपटादिकका विशेषज्ञान है जो उत्पन्न होता और विनशता रहता है इसलिये अनित्य कहलाता है। जिस समय ज्ञानका अनित्य ज्ञानविशेषरूप परिणमन होता है उस समय नित्य ज्ञानसामान्य खण्डित हो जाता है एतावता ज्ञानके नाशका

अवसर आता है तब अनेकान्त यह कहता हुआ उसे जीवित रखता है कि ज्ञानसामान्यकी अपेक्षा ज्ञान नित्य है अर्थात् उसका नाश नही होता। विशेष ज्ञान उत्पन्न होता और विनशता रहता है, इसलिये उसकी अपेक्षा नाश भले ही हो, पर सामान्यज्ञानकी अपेक्षा उसका नाश नही हो सकता ॥१३॥

और जब वह ज्ञानमात्र भाव, नित्यज्ञानसामान्यको ग्रहण करनेके लिए अनित्यज्ञानविशेषके त्यागद्वारा अपने आपका नाश करता है तब ज्ञानविशेषरूपसे अनित्यताको प्रकट करता हुआ अनेकान्त ही उसे नष्ट नही होने देता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानका, ज्ञानसामान्य और ज्ञान-विशेषके भेदसे दो प्रकारका परिणमन होता है। इनमे ज्ञानसामान्य नित्य है और ज्ञानविशेष अनित्य है। जिस समय ज्ञान, ज्ञानसामान्यरूप परिणमनको ग्रहण करनेके लिये ज्ञानविशेषरूप परिणमनका त्याग करता है उस समय ज्ञानके नाशका प्रसङ्ग आता है परन्तु अनेकान्त यह प्रकट करता हुआ उसे नष्ट नही होने देता कि ज्ञानविशेषकी अपेक्षा ही ज्ञानमे अनित्यता हो सकती है ज्ञानसामान्यकी अपेक्षा नही। अर्थात् ज्ञानसामान्यकी अपेक्षा उसका कभी नाश नही होता ॥१४॥

भावार्थ—यहाँ तत्-अतत्के २ भङ्ग, एक-अनेकके २ भङ्ग, सत्-असत्के द्रव्यक्षेत्रकाल-भावकी अपेक्षा ८ भङ्ग, और नित्य-अनित्यके २ भङ्ग, इस प्रकार सब मिलकर १४ भङ्ग होते हैं। इन सभी भङ्गोमे यह बताया गया है कि एकान्तसे ज्ञानमात्र (आत्मा) का अभाव होता है और अनेकान्तसे आत्मा जीवित रहता है। अर्थात् एकान्तसे आत्माका यथार्थ बोध नही होता और अनेकान्तसे यथार्थ बोध होता है।

अब इन १४ भङ्गोके १४ कलशा कहते हैं। उनमे प्रथम भङ्गका कलशा इस प्रकार है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

बाह्यार्थै परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्
विश्रान्त पररूप एव परितो ज्ञानं पशो सीदति।
यत्तत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरत. पूर्णं समुन्मज्जति ॥२४७॥

अर्थ—जो बाह्य ज्ञेय पदार्थोंकि द्वारा सब ओरसे पिया गया है, अपनी प्रकटता छूट जानेसे जो रिक्त हुआ है, तथा जो सम्पूर्णरूपसे पररूपमे ही विश्रान्त हुआ है ऐसा अज्ञानी एकान्त-वादीका ज्ञान नष्ट होता है और 'जो तत् है वह स्वरूपसे ही तत् है' ऐसा स्याद्वादीका जो ज्ञान है वह अतिशयरूपसे प्रकट घनस्वभावके भारसे पूर्ण होता हुआ उन्मग्न होता है—उदयको प्राप्त होता है।

भावार्थ—कोई अज्ञानी एकान्तवादी ऐसा मानते है कि ज्ञान अनादिकालसे ज्ञेयाकार ही परिणम रहा है और इस तरह परिणम रहा है कि उसकी निजकी प्रकटता छूट गई है अर्थात् ज्ञेय ज्ञेय ही अनुभवमें आता है, ज्ञान अनुभवमे नही आता तथा वह परसे उत्पन्न होनेके कारण सर्वथा पररूपमे ही विश्रान्त रहता है अर्थात् सर्वथा पराधीन ही रहता है। आचार्य कहते हैं कि पशुके समान अज्ञानी एकान्तवादीका जो तथाकथित ज्ञान है वह नष्ट हो जाता है। परन्तु स्याद्वादी

ऐसा मानते है कि जो तत् है वह स्वरूपसे ही तत् है अर्थात् ज्ञान स्वकीय स्वभावसे ज्ञेयाधीन नही है। इसलिये वह अतिशयरूपसे प्रकट अपने घनस्वभावसे परिपूर्ण होता हुआ सदा उदित रहता है। यह प्रथम तत्स्वरूप भङ्ग है ॥२४७॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

विश्व ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमय. पशु. पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते ।
यत्तत्तत्परूपतो नो तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ॥२४८॥

अर्थ—विश्व, ज्ञान है अर्थात् समस्त ज्ञेय ज्ञानमय है ऐसा विचारकर समस्त जगत्‌को निजतत्त्वकी आशासे देखकर विश्वरूप हुआ अज्ञानी एकान्तवादी, पशुके समान स्वच्छन्द चेष्टा करता है। परन्तु स्याद्वादको देखनेवाला ज्ञानी पुरुष, जो तत् है वह पररूपसे तत् नही है अर्थात् ज्ञान पररूपसे ज्ञान नही है किन्तु स्वरूपसे ज्ञान है, वह ज्ञान विश्वसे भिन्न है और समस्त विश्वसे घटित नही है अर्थात् समस्त ज्ञेयवस्तुओसे घटित होनेपर ज्ञेयस्वरूप नही है, इस तरह ज्ञानके स्वतत्त्व—निजस्वरूपका अनुभव करता है।

भावार्थ—ससारके समस्त पदार्थ ज्ञानके विषय है, इसलिये 'समस्त विश्व ज्ञान है' ऐसा समझ एकान्तवादी अपने आपको विश्वमय मानता है समस्त ससारको स्वतत्त्व मानकर पशुकी तरह स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है। परन्तु स्याद्वादी उस ज्ञानतत्त्वके निजस्वरूपको अच्छी तरह समझता है, वह जानता है कि ज्ञान, स्वरूपकी अपेक्षा तद्रूप है, परस्वरूपकी अपेक्षा तद्रूप नही है। इसीलिये ज्ञान, ज्ञेयोके आकार परिणमन हुआ भी उनसे भिन्न है। यह अतत्स्वरूपका द्वितीय भङ्ग है ॥२४८॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोल्लसज्
ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुटयन् पशुर्नश्यति ।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रम ध्वंसय-
न्नेक ज्ञानमबाधितानुभवन पश्यत्यनेकान्तवित् ॥२४९॥

अर्थ—बाह्य पदार्थोसे ग्रहणरूप स्वभावके भारसे सब ओरसे उल्लसित होनेवाले नाना ज्ञेयोके आकारसे जिसकी शक्ति खण्ड-खण्ड हो गई है तथा इसी कारण जो सब ओरसे टूट रहा है ऐसा अज्ञानी एकान्तवादी नाशको प्राप्त होता है और सदा उदित रहनेवाले एक द्रव्यस्वभावसे भेदके भ्रमको नष्ट करनेवाला अनेकान्तका जाननेवाला, जिसका निर्बाध अनुभव हो रहा है ऐसे ज्ञानको एक देखता है।

भावार्थ—पदार्थोको ग्रहण करना ज्ञानका स्वभाव है उस स्वभावके कारण उसमे सब ओरसे अनेक ज्ञेयोके आकार उल्लसित होते रहते है इसलिये सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी ज्ञानको अनेक खण्ड-खण्डरूप देखता हुआ ज्ञानमय आत्माका नाश करता है परन्तु स्याद्वादी ज्ञानको ज्ञेयाकारोंकी अपेक्षा अनेकरूप होनेपर भी सदा उदित रहनेवाले द्रव्यस्वरूपकी अपेक्षा एक देखता है तथा इस एक ज्ञानके अनुभवनमें कोई बाधा भी नही आती। यह एकस्वरूप तृतीय भङ्ग है ॥२४९॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति प्रक्षालन कल्पयन्
एकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञान पशुर्नेच्छति ।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञान स्वत क्षालित
पर्यायैस्तदनेकता परिमृशत् पश्यत्यनेकान्तवित् ॥२५०॥

अर्थ—ज्ञेयोंके आकाररूप कलङ्कसे मलिन ज्ञानमें प्रक्षालनकी कल्पना करता हुआ अज्ञानी एकान्तवादी एकाकार करनेकी इच्छासे यद्यपि ज्ञान स्पष्ट ही अनुभवमे आ रहा है फिर भी उसकी इच्छा नही करता है अर्थात् उसे नष्ट करना चाहता है। वास्तवमे जो ज्ञान ज्ञेयाकारोकी विचित्रताके होनेपर भी अविचित्रताको प्राप्त है तथा स्वत क्षालित है—उज्ज्वल है वह ज्ञान पर्यायोकी अपेक्षा अनेकताका भी स्पर्श कर रहा है ऐसा अनेकान्तका ज्ञाता देखता है।

भावार्थ—ज्ञेयोके आकारके कारण ज्ञानमे जो अनेकरूपता दिखती है उसे कलङ्क समझ एकान्ती घो डालना चाहता है। वह ज्ञानको एकरूप ही करना चाहता है इसलिये अनेकरूपतासे युक्त ज्ञान यद्यपि प्रकट अनुभवमे आता है तो भी एकान्तवादी उसे नही मानता है, उसका नाश करना चाहता है। परन्तु अनेकान्तका ज्ञाता स्याद्वादी ऐसा जानता है कि ज्ञानमे यद्यपि ज्ञेया-कारोको विभिन्नतासे जायमान अनेकरूपता है तो भी वह एकरूपताको प्राप्त है और इस ज्ञेया-काररूप कलङ्कसे स्वय रहित है फिर भी पर्यायोकी अपेक्षा अनेकरूपताको भी प्राप्त हो रहा है। भिन्न-भिन्न ज्ञेयोको जाननेसे ज्ञानमे जो भिन्न-भिन्न आकार अर्थात् विकल्प आते हैं वे सब ज्ञानकी पर्यायें हैं। उन पर्यायोके ऊपर जब लक्ष्य दिया जाता है तब वह ज्ञान अनेकरूप मालूम होता है। यह चौथा अनेकस्वरूप भङ्ग है ॥२५०॥

शार्दूलविक्रीडित

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावञ्चित
स्वद्रव्यानवलोकनेन परित शून्य पशुर्नश्यति ।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुण सद्य. समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति ॥२५१॥

अर्थ—प्रत्यक्षरूपसे चित्रित स्फुट और निश्चल परद्रव्यके अस्तित्वसे ठगाया हुआ अज्ञानी एकान्तवादी स्वद्रव्यके न दिखनेसे सम्पूर्णरूपसे शून्य हुआ नष्ट होता है। परन्तु स्याद्वादो शीघ्र ही प्रकट होनेवाले निर्मल ज्ञानरूप तेजके द्वारा अच्छी तरह देखकर स्वद्रव्यके अस्तित्वसे पूर्ण होता हुआ जीवित रहता है।

भावार्थ—एकान्तवादी अज्ञानी, ज्ञानमे ज्ञेयरूपसे प्रतिबिम्बित परद्रव्यके अस्तित्वको देख-कर ज्ञानको परद्रव्यरूप ही समझने लगता है। ज्ञेयके अतिरिक्त ज्ञान भी कोई द्रव्य है, इस ओर उसका लक्ष्य नही जाता। एतावता ज्ञानरूप स्वीय द्रव्यके अस्तित्वसे शून्य हुआ वह अज्ञानी नष्ट होता है। परन्तु स्याद्वादी ज्ञानी जीवके, ज्ञानमे प्रतिबिम्बित ज्ञेयको देखते ही तत्काल ऐसा निर्मल ज्ञान प्रकट होता है कि जिसके प्रभावसे उसे ज्ञेयके अतिरिक्त ज्ञानरूप स्वीय द्रव्यका अस्तित्व स्पष्ट ही प्रतीत होने लगता है। फलस्वरूप वह स्वीय द्रव्यके अस्तित्वको स्वीकृत करता हुआ सदा जीवित रहता है। यह स्वद्रव्यकी अपेक्षा अस्तित्वका पञ्चम भङ्ग है ॥२५१॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासित·
स्वद्रव्यभ्रमत पशुः किल परद्रव्येपु विश्राम्यति
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तिता
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥२५२॥

अर्थ—मिथ्यावासनासे वासित अज्ञानी एकान्तवादी, आत्माको सर्व द्रव्यमय स्वीकार कर स्वद्रव्यके भ्रमसे परद्रव्योमे विश्राम करता है। परन्तु निर्मल शुद्धज्ञानकी महिमाका धारक स्याद्वादी समस्त वस्तुओमे परद्रव्यरूपसे नास्तित्ताको जानता हुआ स्वद्रव्यका ही आश्रय करता है।

भावार्थ—ज्ञानकी स्वच्छताके कारण ज्ञेयरूपसे उसमे सर्व द्रव्योका प्रतिबिम्ब पडता है। एतावता उन प्रतिबिम्बित परद्रव्योको स्वद्रव्य समझ कर अज्ञानी जीव उन्हीमे लीन रहता है अर्थात् वह ज्ञानको परद्रव्यरूप मानता है परन्तु जिनागमके अध्ययनसे जिसके ज्ञानकी महिमा निर्मल है ऐसा स्याद्वादी ज्ञानी पुरुष समस्त वस्तुओमें परद्रव्यके नास्तित्वको स्वीकृत करता हुआ सदा स्वद्रव्यमे ही लीन रहता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी जीव समस्त पदार्थोको स्वद्रव्यकी अपेक्षा अस्तिरूप और परद्रव्यकी अपेक्षा नास्तिरूप श्रद्धान करता है। यह परद्रव्यकी अपेक्षा नास्तित्वका षष्ठ भङ्ग है ॥२५२॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठ सदा
सीदत्येव बहि पतन्तमभित. पश्यन्पुमासं पशु·।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभस. स्याद्वादवेदी पुन—
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ॥२५३॥

अर्थ—जो भिन्न क्षेत्रमे स्थित ज्ञेय पदार्थोके निश्चित व्यापारमे स्थित है अर्थात् जो ऐसा मानता है कि ज्ञानरूप पुरुष (आत्मा) परक्षेत्रमे स्थित पदार्थोंको जानता है ऐसा अज्ञानी एकान्त वादी पुरुष (आत्मा) को सब ओरसे बाह्य पदार्थोमे ही पडता हुआ देख निरन्तर दुःखी होता है—नष्ट होता है। परन्तु स्याद्वादको जाननेवाला ज्ञानी, स्वक्षेत्रके अस्तित्वसे जिसका वेग रुक गया है तथा जिसके जाननेरूप व्यापारकी शक्ति स्वक्षेत्रमे स्थित ज्ञेय पदार्थोमे नियत है, ऐसा होता हुआ विद्यमान रहता है—नष्ट नही होने पाता।

भावार्थ—अज्ञानी एकान्तवादी, भिन्न क्षेत्रमे स्थित ज्ञेय पदार्थोके जाननेरूप व्यापारमे प्रवृत्त पुरुषको सब ओरसे बाह्य पदार्थोमे पडता हुआ देख नाशको प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वाद का ज्ञाता मानता है कि पुरुष (आत्मा) स्वक्षेत्रमे स्थित रहकर अन्य क्षेत्रमे स्थित ज्ञेयोको जानता है। अज्ञानीके मतमे जिस प्रकार पुरुष बाह्य पदार्थोमे वेगसे पड़ता है वैसा स्याद्वादीके मतमे नही पड़ता, स्वक्षेत्रके अस्तित्वसे उसका वेग रुक जाता है, वह अपने आपमे प्रतिबिम्बित जो ज्ञेय है उन्हीको जानता है। ऐसा जानता हुआ स्याद्वादी नाशको प्राप्त नही होता। यह स्वक्षेत्रमें अस्तित्वका सप्तम भग है ॥२५३॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झना-
तुच्छीभूय पशु प्रणश्यति चिदाकारान्सहार्थैर्वमन्
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तिता
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ॥२५४॥

अर्थ—अज्ञानी एकान्तवादी स्वक्षेत्रमे ठहरनेके लिये परक्षेत्रमे स्थित नानाप्रकारके ज्ञेय पदार्थोंके छोडनेसे तुच्छ होकर ज्ञेय पदार्थोंके साथ चिदाकारोको भी छोडता हुआ नष्ट होता है। परन्तु स्याद्वादी स्वक्षेत्रमे बसता हुआ तथा परक्षेत्रमे अपनी नास्तिताको जानता हुआ यद्यपि परक्षेत्रगत बाह्य ज्ञेयोको छोडता है तो भी तुच्छताका अनुभव नही करता—नाशको प्राप्त नही होता, क्योकि स्वक्षेत्रमे स्थित रहता हुआ भी परक्षेत्रगत परपदार्थोंको आकार द्वारा खीचता रहता है अर्थात् उनका आकार ज्ञानमे प्रतिभासित होता रहता है।

भावार्थ—स्वक्षेत्रमे स्थित ज्ञानमें परक्षेत्रगत पदार्थोंका आकार प्रतिफलित होता है। एतावता एकान्तवादी अज्ञानी यह समझकर कि यदि चैतन्यके आकारोको अपना मानूँगा तो अपना क्षेत्र छूट जायगा, इसलिये जिस प्रकार ज्ञेय पदार्थोंको छोडता है उसी प्रकार ज्ञानमे पडे हुए उनके आकारोको भी छोडता है। इस तरह तुच्छ होकर वह एकान्तवादी नाशको प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादी समझता है कि हमारा ज्ञान स्वक्षेत्रमे अस्तिरूप है तथा परक्षेत्रमे नास्तिरूप है। जब परक्षेत्रमे नास्तिरूप है तब उसका परक्षेत्रसम्बन्धी ज्ञेयोके साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इस तरह बाह्य ज्ञेयोका यदि वह त्याग करता है तो भी अपनी स्वच्छतासे पर-क्षेत्र सम्बन्धी ज्ञेयोके आकारोको ग्रहण करता रहता है। उन आकारोकी अपेक्षा वह ज्ञान नाशको प्राप्त नही होता। इस विवेचनसे स्पष्ट है कि एकान्तवादी तो नष्ट होता है और स्याद्वादी जीवित रहता है। यह परक्षेत्रकी अपेक्षा नास्तित्वका आठवाँ भङ्ग है ॥२५४॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन्नत्यन्ततुच्छः पशुः।
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ॥२५५॥

अर्थ—अज्ञानी एकान्तवादी जिनका पूर्वकालमे आलम्ब लिया गया था, ऐसे ज्ञेय पदार्थोंके नाशके समय ज्ञानका नाश, जानता हुआ समझता है कि हमारे पास कुछ भी नही रहा, इस तरह अत्यन्त तुच्छ होता हुआ नियमसे नाशको प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादको जाननेवाला पुरुष निजकालकी अपेक्षा ज्ञानके अस्तित्वको स्वीकार करता है। इसलिये बाह्य वस्तुओके बार-बार होकर नष्ट हो जाने पर भी पूर्ण ही ठहरता है अर्थात् नाशको प्राप्त नही होता।

भावार्थ—एकान्तवादी अज्ञानी पदार्थोंके आलम्बनसे ज्ञान होता है, ऐसा मानता है। एतावता जब पूर्वकालमे आलम्बित पदार्थोंका नाश हो जाता है तब विवश होकर उसे मानना पड़ता है कि ज्ञानका भी नाश हो जाता है। इस तरह ज्ञानका नाश होने पर वह कुछ भी ग्रहण

नहीं कर सकता। तब अत्यन्त तुच्छ होता हुआ नाशको प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादी ज्ञान और ज्ञेयके अस्तित्वको पृथग्-पृथग् मानता है, इसलिये पूर्वालम्बित ज्ञेयोका नाश होने पर उनके अस्तित्व-को नष्ट हुआ मानता है, न कि ज्ञानके अस्तित्वको। ज्ञान स्वकालकी अपेक्षा अपने अस्तित्वको सदा सुरक्षित रखता है। बाह्य ज्ञेय अपने-अपने चतुष्टयकी अपेक्षा उत्पन्न होते है तथा नाशको भी प्राप्त होते हैं, परन्तु इससे ज्ञानका अस्तित्व नष्ट नही होता। इस वस्तु-विवेचनको स्वीकृत करने-वाला स्याद्वादी सदा स्थित रहता है—नष्ट नही होता। यह स्वकालकी अपेक्षा अस्तित्वका नौवाँ भंग है ॥२५५॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन् ॥२५६॥

अर्थ—एकान्तवादी अज्ञानी पदार्थोंके आलम्बनकालमे ही ज्ञानके अस्तित्वको स्वीकार करता हुआ बाह्य ज्ञेयोके आलम्बनकी इच्छासे युक्त मनसे भ्रमण करता है अर्थात् इस विचारमें निमग्न रहता है कि बाह्य ज्ञेयोंका आलम्बन मिले तो हमारे ज्ञान उत्पन्न हो। ऐसी विचारधारा वाला एकान्तवादी अज्ञानी अर्थालम्बनकालके अतिरिक्तकालमे ज्ञानके अस्तित्वको स्वीकार न करता हुआ नष्ट होता है। परन्तु स्याद्वादी परकालकी अपेक्षा ज्ञानके नास्तित्वको स्वीकार करता हुआ भी आत्मामें अतिशयरूपसे गड़े हुए अर्थात् तादात्म्यभावसे स्थित नित्य सहज ज्ञानका एक पुञ्ज होता हुआ सदा स्थित रहता है अर्थात् कभी नष्ट नही होता।

भावार्थ—एकान्तवादीका कहना है कि ज्ञानका अस्तित्व ज्ञेयपदार्थोंके आलम्बनकालमें ही रहता है अन्यकालमें नही। एतावता जब ज्ञेय पदार्थोंका आलम्बन नही रहता तब ज्ञान भी नही रहता, इस तरह ज्ञानके नाशको स्वीकार करता हुआ एकान्तवादी अज्ञानी नाशको प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादी कहता है कि परकालकी अपेक्षा ही ज्ञानका नास्तित्व है स्वकालकी अपेक्षा नही। ज्ञानका आत्माके साथ नित्य तादात्म्य सम्बन्ध है अतः आत्मा निरन्तर नित्य साह-जिक ज्ञानका एक पुञ्जरूप होता हुआ सदा विद्यमान रहता है। यह परकालकी अपेक्षा नास्तित्व-का दशवाँ भङ्ग है ॥२५६॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

विश्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकान्तनिश्चेतनः।
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः ॥२५७॥

अर्थ—जो परभावको ही अपना भाव समझकर निरन्तर बाह्य वस्तुओमे विश्रामको प्राप्त है तथा स्वभावकी महिमामे एकान्तरूपसे निश्चेतन है—जड है—स्वभावकी महिमासे अपरिचित है, ऐसा अज्ञानी एकान्तवादी नियमसे नष्ट होता है। परन्तु जिसका स्वभावरूप परिणमन

निश्चित है ऐसे ज्ञानकी अपेक्षा समस्त परभावोसे भिन्न होता हुआ स्याद्वादी अपने सहज स्वभावकी श्रद्धासे युक्त हो नाशको प्राप्त नही होता।

भावार्थ—अज्ञानी जीव, परभावोको अपना भाव समझकर उन्हीमे लीन रहता हुआ स्वभावकी महिमासे बिलकुल अपरिचित रहता है, अत नाशको प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादी समझता है कि अपने ज्ञानस्वभावके कारण आत्मा समस्त परभावोसे पृथक् है। वास्तवमे ज्ञान, ज्ञेयाकार होनेपर भी उससे पृथक् वस्तु है। इस प्रकार सहज स्वभावकी प्रतीतिको दृढ करता हुआ स्याद्वादी नाशको प्राप्त नही होता है। यह स्वकीय भावकी अपेक्षा अस्तित्वका ग्यारहवां भङ्ग है ॥२५७॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवन शुद्धस्वभावच्युत
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभय स्वैर पशु. क्रीडति।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभाव भरा-
दारूढ. परभावभावविरहव्यालोकनिष्कम्पित. ॥२५८॥

अर्थ—अज्ञानी एकान्तवादी, अपनी आत्मामे सब भावोका होना मानकर शुद्ध-स्वभावसे च्युत होता हुआ सब पदार्थोमे स्वच्छन्दतापूर्वक निर्भय हो विना किसी प्रतिबन्धके क्रीडा करता है। परन्तु स्याद्वादी अपने स्वभावमे ही सर्वथा आरूढ हुआ परभावके अभावका निश्चय होनेसे निश्चलदशाको प्राप्त हो शुद्ध ही सुशोभित होता है।

भावार्थ—अज्ञानी परभावोको निजभाव मानता है इसलिये वह अपने शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ सभी परभावोमे स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवर्तता है। परभाव बन्धके कारण हैं, ऐसा उसे भय नही होता। परभावोमे प्रवृत्ति करनेसे उसे कोई रोक नही सकता। परन्तु स्याद्वादका ज्ञाता ज्ञानी पुरुष ऐसा समझता है कि मुझमे परभावका अभाव है यद्यपि मैं परभावोकी जानता हूँ तो भी वे मुझमे प्रविष्ट नही है, मेरे साथ उनका नित्य तादात्म्य नही है। इस प्रकारके दृढ श्रद्धानसे वह सदा निष्कम्प रहता है और सदा शुद्ध ही शोभायमान रहता है। यह परभावकी अपेक्षा नास्तित्वका बारहवां भङ्ग है ॥२५८॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

प्रादुर्भावविराममुद्रितवहज्ज्ञानांशनानात्मता
निर्ज्ञानात्क्षणभङ्गसङ्गपतित. प्राय पशुर्नश्यति।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशश्चिद्वस्तु नित्योदित
टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिमाज्ञानं भवन् जीवति ॥२५९॥

अर्थ—अज्ञानी एकान्तवादी, उत्पाद-व्ययसे मुद्रित—युक्त होनेके कारण प्रवर्तमान ज्ञानांशोकी नानारूपताका निश्चय होनेसे क्षणभङ्गके सङ्गमे पडा प्राय नाशको प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादी चैतन्यस्वरूपसे चैतन्य वस्तुका अनुभव करता हुआ नित्योदित तथा टङ्कोत्कीर्ण घनस्वभावमहिमासे युक्त जो ज्ञान है उस रूप होता हुआ जीवित रहता है।

भावार्थ—एकान्तवादी कहता है कि जिस प्रकार ज्ञेयके आकार उत्पाद और व्ययसे सहित हैं अर्थात् उपजते और विनशते है, उसी प्रकार प्रवर्तमान जो नाना ज्ञानके अश है वे भी उत्पाद-व्ययसे युक्त है अर्थात् उपजते और विनशते है। एतावता ज्ञानको क्षणभङ्गुर मानता हुआ अज्ञानी नाशको प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादी कहता है कि ज्ञान क्षणभङ्गुर होनेपर भी अपने चैतन्य-स्वरूपसे चिद्वस्तुका स्पर्श करता हुआ नित्य उदयरूप रहता है तथा टङ्कोत्कीर्ण घनस्वभावकी महिमासे युक्त होता है। एतावता इस ज्ञानरूप होता हुआ स्याद्वादी जीवित रहता है। यह नित्य-पनका तेरहवाँ भङ्ग है ॥२५९॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
वाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किञ्चन ।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वल
स्याद्वादी तदनित्यता परिमृशश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात् ॥२६०॥

अर्थ—एकान्तवादी अज्ञानी, टङ्कोत्कीर्ण निर्मल ज्ञानके प्रवाहरूप आत्मतत्त्वकी आशासे ज्ञानको उछलती हुई निर्मल चैतन्यपरिणतिसे भिन्न कुछ अन्य ही नित्यद्रव्य मानता है। परन्तु स्याद्वादी, चिद्वस्तु (आत्माकी) परिणतियोके क्रमसे उस ज्ञानकी अनित्यताका अनुभव करता हुआ ऐसे ज्ञानको प्राप्त होता है जो अनित्यतासे युक्त होनेपर भी उज्ज्वल—निर्मल रहता है।

भावार्थ—अज्ञानी एकान्तवादी, ज्ञानको द्रव्यरूप मानकर नित्य ही स्वीकार करता है। परन्तु स्याद्वादी उपजते और विनशते हुए ज्ञेयाकाररूप पर्यायोकी अपेक्षा उसे अनित्य स्वीकार करता है, ऐसा ज्ञान पर्यायोके उपजने और विनशनेकी अपेक्षा अनित्य होनेपर भी उज्ज्वल रहता है क्योकि पर्यायोका उपजना और विनशना वस्तुका स्वभाव है। यह अनित्यपनका चौदहवाँ भङ्ग है ॥२६०॥

अनुष्टुप्

इत्यज्ञानविमूढाना ज्ञानमात्र प्रसाधयन् ।
आत्मतत्त्वमनेकान्तः स्वयमेवानुभूयते ॥२६१॥

अर्थ—इस प्रकार अज्ञानसे विमूढ प्राणियोके लिये ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको सिद्ध करता हुआ अनेकान्त स्वय ही अनुभवमें आता है ॥२६१॥

अनुष्टुप्

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्व व्यवस्थापयन् स्वयम्
अलङ्घ्य शासन जैनमनेकान्तो व्यवस्थित ॥२६२॥

अर्थ—इस प्रकार तत्त्वकी व्यवस्थाके द्वारा जो स्वय अपने आपको व्यवस्थित कर रहा है ऐसा यह व्यवस्थित अनेकान्त जिनेन्द्र भगवान्का अलङ्घ्य शासन है।

भावार्थ—यह अनेकान्त स्वय व्यवस्थित है तथा तत्त्वकी उत्तम व्यवस्था करनेवाला है। इसीलिये यह जिनेन्द्र भगवान्का अलंघनीय शासन माना गया है ॥२६२॥

यहाँ कोई कहता है कि जब आत्मा अनेक धर्ममय है तब उसका ज्ञानमात्रसे कथन क्यो

किया है ? उसका उत्तर देते है—लक्षणकी प्रसिद्धि द्वारा लक्ष्यकी प्रसिद्धिके लिये आत्माको ज्ञान-मात्र कहा है। वास्तवमे ज्ञान आत्माका लक्षण है क्योकि वह आत्माका असाधारण गुण है। अतएव ज्ञानकी प्रसिद्धि द्वारा उसके लक्ष्यभूत आत्माकी प्रसिद्धि होती है। फिर प्रश्न है कि इस लक्षणकी प्रसिद्धिसे क्या प्रयोजन है, लक्ष्य ही सिद्ध करना चाहिये ? उत्तर देते हैं कि जिसे लक्षण प्रसिद्ध नही है उसे लक्ष्यकी प्रसिद्धि नही होती, इसके विपरीत जिसे लक्षण प्रसिद्ध है उसे लक्ष्य-की प्रसिद्धि होती है। फिर प्रश्न है कि वह लक्ष्य है क्या वस्तु, जो कि ज्ञानकी प्रसिद्धि द्वारा उससे भिन्न सिद्ध किया जाता है ? उत्तर देते है कि ज्ञानसे भिन्न लक्ष्य नही है क्योकि ज्ञान और आत्मामे द्रव्यपनकी अपेक्षा अभेद है। पुन प्रश्न है—तब लक्ष्य-लक्षणका विभाग किसके द्वारा किया गया है ? उत्तर देते हैं कि—प्रसिद्ध-प्रसाध्यमानके द्वारा किया गया है। ज्ञान प्रसिद्ध है क्योकि ज्ञानमात्र स्वसंवेदनसे सिद्ध है। उस प्रसिद्ध ज्ञानके द्वारा प्रसाध्यमान है उससे अविनाभूत अनन्त धर्मोका समुदायरूप आत्मा। इसलिये ज्ञानमात्रमे निश्चलरूपसे गडी हुई दृष्टिके द्वारा क्रमप्रवृत्त और अक्रमप्रवृत्त ज्ञानसे अविनाभूत जितना जो कुछ अनन्त धर्मोका समूह दिखाई देता है वह सम्पूर्ण ही निश्चयसे एक आत्मा है। इसीलिये यहाँ इस आत्माका ज्ञानमात्रसे कथन किया है। फिर प्रश्न है कि जब क्रम और अक्रमसे प्रवृत्त होनेवाले अनन्त धर्मोसे आत्मा तन्मय है तब उसमे ज्ञानमात्रपन कैसे रह सकता है ? इसका उत्तर है कि—परस्पर एक दूसरेसे भिन्न अनन्त धर्मोके समुदायरूप परिणत एक ज्ञानक्रियारूपसे आत्मा स्वय परिणम रहा है। इसीलिसे इस आत्माके ज्ञानमात्र एकभावके भीतर पडनेवाली अनन्त शक्तियाँ उदित होती है। नीचे उन्हीं शक्तियोमेसे कुछका वर्णन किया जाता है—

(१) आत्मद्रव्यके कारणभूत चैतन्यमात्र भावप्राणको धारण करना जिसका लक्षण है ऐसी पहली जीवत्वनामा शक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मा चैतन्यरूप भावप्राणको धारण करता है।

(२) अजडत्व अर्थात् चेतना जिसका स्वरूप है ऐसी दूसरी चितिशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा, ज्ञान और दर्शन चेतनारूप परिणमन करता है।

(३) अनाकार उपयोगरूप तीसरी दृष्टि शक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा पदार्थोको निर्विकल्परूप-से देखता है।

(४) साकार उपयोगरूप चौथी ज्ञानशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा पदार्थोको विकल्पसहित जानता है।

(५) अनाकुलतारूप लक्षणसे युक्त पाँचवी सुखशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा सुखका अनुभव करता है।

(६) आत्मस्वरूपकी रचनाकी सामर्थ्यरूप छठवी वीर्यशक्ति है। इस शक्तिसे आत्माके सब गुण अपने-अपने स्वभावरूप प्रवर्तन करते हैं।

(७) अखण्डित प्रतापसे युक्त जो स्वाधीनपन उससे सुशोभित होना जिसका लक्षण है ऐसी सातवी प्रभुत्वशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा अपने स्वभावके धारणमे परनिरपेक्ष रहता है।

(८) सब भावोमे व्यापक जो एक ज्ञानभाव तद्रूप आठवी विभुत्वशक्ति है। इस शक्तिसे आत्माका ज्ञानगुण अन्य सब भावोमे व्यापक होकर रहता है।

(९) समस्त विश्वके सामान्य भावरूप परिणत आत्मदर्शनसे तन्मय नौवी सर्वदर्शित्व शक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा केवलदर्शनसे सहित होता है।

(१०) समस्त विश्वके विशेषभावरूप परिणत आत्मज्ञानसे तन्मय दशवी सर्वज्ञत्वशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा केवलज्ञानसे सहित होता है।

(११) अरूपी आत्मप्रदेशोमे प्रकाशमान लोक-अलोकके आकारसे चित्रित उपयोग जिसका लक्षण है ऐसी ग्यारहवी स्वच्छत्वशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मप्रदेशोमे लोक-अलोकका आकार प्रतिबिम्बित होता है।

(१२) स्वय प्रकाशमान निर्मल स्व-सवेदनसे तन्मय बारहवी प्रकाशशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा सदा स्व-संवेदनशील रहता है।

(१३) क्षेत्र और कालसे अमर्यादित चैतन्यके विलासरूप तेरहवी असकुचित विकासत्वशक्ति है। इस शक्तिकी महिमासे आत्माका चिद्विलास सर्वक्षेत्र और सर्वकालमे व्याप्त रहता है।

(१४) अन्यके द्वारा न किये जानेवाले तथा अन्यको न करनेवाले एक द्रव्यस्वरूप चौदहवी अकार्य-कारण शक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मा न किसी अन्य द्रव्यके द्वारा की जाती है और न किसी अन्य द्रव्यको करती है।

(१५) पर और आपके निमित्तसे होनेवाले ज्ञेयाकार और ज्ञानकारोंके ग्रहण करने-करानेके स्वभाव-रूप पन्द्रहवी परिणम्य-परिणामकत्व शक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मा ज्ञेय तथा ज्ञान-रूप परिणमता है।

(१६) हीनाधिकतासे रहित स्वरूपमे नियत रहना जिसका लक्षण है ऐसी सोलहवी त्यागोपदान-शून्यत्व शक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मस्वरूपमे न किसी अतिरिक्त तत्त्वका त्याग होता है और न किसी न्यून तत्त्वका ग्रहण होता है।

(१७) षट्स्थानपतित वृद्धि-हानिरूप परिणत स्वरूपकी प्रतिष्ठाका कारण जो विशिष्ट गुण है तद्रूप सतरहवी अगुरुलघुत्वशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्माके गुणोमे न सर्वथा वृद्धि होती है और न सर्वथा हानि ही है।

(१८) क्रमवृत्तिपन तथा अक्रमवृत्तिपन जिसका लक्षण है ऐसी अठारहवीं उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मामे क्रमसे प्रवृत्त होनेवाला उत्पाद-व्यय तथा अक्रमसे प्रवृत्त होनेवाला ध्रौव्य विद्यमान रहता है।

(१९) द्रव्यके स्वभावभूत ध्रौव्य, व्यय और उत्पादसे आलिङ्गित समान तथा असमान परिणामरूप एक अस्तित्वमात्रसे तन्मय उन्नीसवी परिणामशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मामे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणमन होता रहता है और वह परिणमन समान तथा असमानके भेदसे दो प्रकारका होता है।

(२०) कर्मबन्धके अभावसे प्रकट, सहज तथा स्पर्शादिशून्य आत्मप्रदेशस्वरूप बीसवी अमूर्तत्वशक्ति है। इस शक्तिकी महिमासे आत्माके प्रदेश स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णसे शून्य रहते है। आत्मप्रदेशोकी अमूर्तावस्था कर्मबन्धके नष्ट हो जाने पर व्यक्त होती है।

(२१) सकल कर्मोसे किये गये, ज्ञातापनमात्रसे अतिरिक्त-अन्य परिणामोके कर्तृत्वसे विरत होना जिसका लक्षण है ऐसी इक्कीसवी अकर्तृत्वशक्ति है। इस शक्तिके कारण ज्ञातारूप परिणाम-के सिवाय आत्मामे जो कर्मनिमित्तक रागादिक परिणाम होते है उनका आत्मा कर्ता नही होता है।

(२२) सकल कर्मोसे किये गये, ज्ञातापनमात्रसे अतिरिक्त अन्य परिणामोके अनुभवसे विरत होना

बाईसवी अभोक्तृत्वशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा ज्ञातृत्वस्वभावसे अतिरिक्त, कर्मकृत अन्य सकल भावोका भोक्ता नही होता है।

(२३) समस्त कर्मोके अभावसे प्रवृत्त हुआ आत्मप्रदेशोंका निश्चलपन जिसका स्वरूप है ऐसी तेईसवी निष्क्रियत्वशक्ति है। इस शक्तिके प्रभावसे कर्मोका क्षय होने पर आत्मामे निष्क्रियता आ जाती है। समस्त कर्मोका क्षय होने पर ऊर्ध्वगमन स्वभावसे यह आत्मा एक समयमे सिद्धालयमे जाकर विराजमान हो जाता है, फिर अनन्त काल तक उसमे कोई क्रिया नही होती।

(२४) अनादि ससारसे जिनमें सकोच-विस्तार होता रहा है तथा मुक्त अवस्थामे चरम शरीरसे किञ्चित् न्यून परिमाणमे जो अवस्थित रहते हैं ऐसे लोकाकाशके बराबर असख्यात आत्म-प्रदेशोका होना जिसका लक्षण है ऐसी चौबीसवी नियत प्रदेशत्वशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्माके प्रदेश सदा लोकाकाशके बराबर असंख्यात ही रहते है उनमे पुद्गलस्कन्धके प्रदेशोके समान अनियतपन नही रहता।

(२५) सब शरीरोमे एकस्वरूप होकर रहना जिसका लक्षण है ऐसी पच्चीसवी स्वधर्मव्यापकत्व शक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा किसी भी शरीरमे रहे अपने ज्ञानदर्शनादि धर्मोंमे व्याप्त होकर ही रहता है अर्थात् शरीरकी विचित्रतासे आत्मा अपने धर्मोका परित्याग नही करता।

(२६) स्व-परके समान, असमान तथा समानासमानके भेदसे तीन प्रकारके भावोको धारण करना जिसका स्वरूप है ऐसी छब्बीसवी साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा ऐसे धर्मोंको धारण करता है जो अन्य द्रव्योंके समान होते हैं, जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व आदि। कुछ ऐसे भावोको धारण करता है जो अन्य द्रव्योके समान नही होते हैं, जैसे ज्ञान-दर्शनादि, तथा कुछ ऐसे भावोको धारण करता है जो समान-असमान दोनो प्रकारके होते हैं, जैसे अमूर्तत्व।

(२७) परस्परभिन्न लक्षणवाले अनन्त स्वभावोसे मिला हुआ एकभाव जिसका लक्षण है ऐसी सत्ताईसवी अनन्तधर्मत्वशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मा अनन्त धर्मोको धारण करता है।

(२८) तत्स्वरूप और अतत्स्वरूपसे तन्मयपन जिसका लक्षण है ऐसी अट्ठाईसवी विरुद्धधर्मत्वशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा विवक्षावश नित्यत्वरूप तथा नित्यत्वरूप आदि विरुद्ध धर्मोंको धारण करता है।

(२९) तत्वस्वरूप होना जिसका लक्षण है ऐसी उनतीसवी तत्त्वशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा सदा आत्मरूप ही रहता है।

(३०) अतत्स्वरूप न होना जिसका लक्षण है ऐसी तीसवी अतत्त्वशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा अनात्मरूप नही होता।

(३१) अनेक पर्यायोमे व्याप्त होकर रहनेवाला एक द्रव्यरूप होना जिसका लक्षण है ऐसी इकतीसवी एकत्वशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा अपनी अनेक पर्यायोमे व्याप्त होकर भी एक द्रव्यरूप रहता है।

(३२) एक द्रव्यमे व्याप्त होकर रहनेवाली अनेक पर्यायोसे तन्मय होकर रहना जिसका लक्षण है

ऐसी बत्तीसवीं अनेकत्वशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मा, द्रव्यकी अपेक्षा एक होकर भी अनेक पर्यायोंमें व्याप्त रहनेसे अनेकरूप होता है।

(३३) भूतावस्थपन जिसका स्वरूप है ऐसो तेतीसवी भावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्माकी कोई न कोई अवस्था विद्यमान रहती ही है।

(३४) शून्यावस्थपन जिसका स्वरूप है ऐसी चौंतीसवी अभावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मामे वर्तमान पर्यायके सिवाय अन्य अतीत और अनागत पर्यायोका अभाव रहता है।

(३५) वर्तमान पर्यायका व्यय जिसका स्वरूप है ऐसी पैंतीसवी भावाभावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मामे वर्तमान पर्यायका नाश होता है।

(३६) जो पर्याय वर्तमानमे नही है उसका उदय होनेरूप छत्तीसवी अभावभावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मामे अभावरूप अनागत पर्यायका उदय होता है।

(३७) वर्तमान पर्यायके होनेरूप सैंतीसवी भावभावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा अपनी वर्तमान पर्यायमे वर्तता है।

(३८) न होनेवाली पर्यायके न होनेरूप अडतीसवी अभावाभावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मामे अविद्यमान पर्यायका अभाव रहता है।

(३९) कर्ता-कर्म आदि कारकोंसे अनुगत क्रियासे रहित होकर होना ही जिसका स्वरूप है ऐसी उनतालीसवी भावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा कर्ता-कर्म आदि कारकोसे रहित होकर हो प्रवर्तता है।

(४०) कारकोसे अनुगत होकर होना जिसका स्वरूप है ऐसी चालीसवी क्रियाशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा कारकोका विकल्प साथमें लेकर प्रवर्तता है।

(४१) प्राप्त होते हुए सिद्धरूप भावसे तन्मय इकतालीसवी कर्मशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा स्वय सिद्ध (प्रकट) होता हुआ कर्मरूप होता है।

(४२) होनेरूप जो सिद्धरूप भाव उसके भावकपनसे तन्मय व्यालीसवी कर्तृत्वशक्ति है। इस शक्तिसे आत्माकी जो सिद्धरूप दशा है उसका करनेवाला वह स्वय होता है।

(४३) होते हुए भावके होनेमे जो साधकतमपन है उससे तन्मय तेतालीसवी करणशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मामे जो भाव हो रहा है उसका अतिशय साधक वह स्वयं होता है।

(४४) स्वय दिये जानेवाले भावके उपेयपनसे तन्मय चवालीसवी सम्प्रदानशक्ति है। इस शक्तिसे आत्माके द्वारा जो भाव दिया जा रहा है उसके द्वारा उपेय—प्राप्त करने योग्य आत्मा स्वय होता है।

(४५) उत्पाद-व्ययसे आलिंगित भावके अपायमे जो हानिसे रहित ध्रुवपन (अवधिपन) है उससे तन्मय पेंतालीसवी अपादानशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मासे जब उत्पाद-व्ययसे युक्त भावका अपाय होने लगता है अर्थात् ऐसा भाव जब आत्मासे पृथक् होने लगता है तब उसका अवधिभूत—अपादान आत्मा स्वय होता है।

(४६) भाव्यमान भावके आधारपनसे तन्मय छयालीसवी अधिकरणशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा भावने योग्य भावोका आधार स्वय होता है।

(४७) अपने भावमात्रके स्वस्वामीपनसे तन्मय सेंतालीसवी सम्बन्धशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा

अपने समस्त भावोका स्वामी स्वयं होता है।

अब इन शक्तियोका सकोच करते हुए आचार्य कलश कहते है—

वसन्ततिलकाछन्द

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि,
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भाव.।
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्र
तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु ॥२६३॥

अर्थ—इस प्रकार जो सेतालीस शक्तियाँ ऊपर कही गई हैं उन्हें आदि लेकर अनेक निज-शक्तियोसे अच्छी तरह भरा हुआ होनेपर भी जो भाव ज्ञानमात्रभावसे तन्मयताको नही छोड़ता ऐसा क्रमवर्ती पर्यायो और अक्रमवर्ती गुणोसे चित्रित तथा द्रव्य और पर्यायोसे तन्मय चैतन्यरूप वस्तु इस ससारमे है।

भावार्थ—आत्मा यद्यपि अनेक शक्तियोसे परिपूर्ण है तो भी वह ज्ञानमात्रभावसे तन्मय है अर्थात् वे समस्त शक्तियाँ आत्माके ज्ञानमात्रभावमे अन्त प्रविष्ट है। यह चैतन्यरूप आत्म-द्रव्य क्रमवर्ती पर्यायो और अक्रमवर्ती गुणोसे तन्मय है तथा द्रव्य और पर्यायरूप है। एकान्त-वादियोंके अनुसार न केवल द्रव्यरूप है और न केवल पर्यायरूप ॥२६३॥

आगे स्याद्वादकी महिमारूप काव्य कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

नैकान्तसगतदृशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिरिति प्रविलोकयन्त'।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो
ज्ञानीभवन्ति जिननीतिमलङ्घयन्त ॥२६४॥

अर्थ—एकान्तदृष्टिसे वस्तुत्त्वकी व्यवस्था नही हो सकती, इस प्रकार स्वय ही अवलोकन करनेवाले सत्पुरुष जिननीतिका—जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्रतिपादित नयसरणिका उल्लङ्घन न करते हुए स्याद्वादकी अधिक शुद्धिको प्राप्तकर ज्ञानरूप हो जाते हैं—मोक्षको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—वस्तुका जो वास्तविक स्वरूप है उसकी व्यवस्था अनेकान्तसे ही होती है एकान्तसे नही, ऐसा विचारकर जो स्याद्वादकी अधिक शुद्धिको प्राप्त करते हैं तथा जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्रतिपादित नीतिका—नयमार्गका जो कभी उल्लन नही करते ऐसे वे सत्पुरुष ज्ञानी होते है अर्थात् अनादि कर्मबन्धनको काटकर मुक्त होते हैं ॥२६४॥

उपायोपेयभाव

अब इस ज्ञानमात्रभावके उपायोपेयभावका चिन्तन करते हैं—

पाने योग्य वस्तु जिससे प्राप्त की जा सके वह उपाय है और उस उपायके द्वारा जो वस्तु प्राप्त की जावे वह उपेय है। आत्मारूप वस्तु यद्यपि ज्ञानमात्र है तो भी उसमे उपायोपेयभाव विद्यमान है, क्योकि उस आत्मवस्तुके एक होनेपर भी उसमें साधक और सिद्धके भेदसे दोनों

प्रकारका परिणाम देखा जाता है अर्थात् आत्मा ही साधक है और आत्मा ही सिद्ध है। उन दोनों परिणामोमे जो साधकरूप है वह उपाय कहलाता है और जो सिद्धरूप है वह उपेय कहा जाता है। इसलिये अनादिकालसे साथ लगे हुए मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अचारित्रके कारण स्वरूपसे च्युत होनेसे जो चतुर्गति ससारमे परिभ्रमण कर रहा है, ऐसा यह आत्मा जब अत्यन्त निश्चल-भावसे ग्रहण किये हुए व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके पाकप्रकर्षकी परम्पराके द्वारा क्रमसे स्वरूपको प्राप्त होता है तब अन्तर्मग्न निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी विशेषतासे उसका साधक रूप परिणमन होता है। तथा परमप्रकर्षकी उत्कृष्ट दशाको प्राप्त रत्नत्रयके अतिशयसे प्रवृत्त होनेवाले जो समस्त कर्मोका क्षय उससे प्रज्वलित तथा कभी नष्ट नही होनेवाला जो स्वभाव भाव उसकी अपेक्षा सिद्धरूप परिणमन होता है। इस तरह साधक और सिद्धरूप परिणमन करनेवाले आत्माका जो ज्ञानमात्रभाव है वह एक ही उपायोपेयभावको सिद्ध करता है अर्थात् आत्माका ज्ञानमात्रभाव ही उपाय है और वही उपेय है।

तात्पर्य ऐसा है—यह आत्मा अनादिकालसे मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रके कारण ससारमे भ्रमण करता है। जब तक व्यवहाररत्नत्रयको निश्चलरूपसे अगीकृत कर अनुक्रमसे अपने स्वरूपके अनुभवकी वृद्धि करता हुआ निश्चयरत्नत्रयकी पूर्णताको प्राप्त होता है तबतक तो साधक-रूप भाव है और निश्चयरत्नत्रयकी पूर्णतासे समस्त कर्मोको क्षय होकर जो मोक्ष प्राप्त होता है वह सिद्धरूप भाव है। इन दोनो भावरूप परिणमन ज्ञानका ही परिणमन है, इसलिये वही उपाय है और वही उपेय है।

इस प्रकार साधक और सिद्ध दोनो प्रकारके परिणमनोमे ज्ञानमात्रकी अनन्यता—अभिन्नतासे निरन्तर अस्खलित जो आत्मारूप एक वस्तु उसके निश्चल ग्रहणसे उन मुमुक्षजनोको, जिन्हे अनादि ससारसे लेकर अभी तक ससारसागरसे सतरण करानेवाली ज्ञानमात्र भूमिकाका लाभ नही हुआ, भी उस भूमिकाका लाभ हो जाता है। तदनन्तर उस भूमिकामे निरंतर लीन रहनेवाले वे सत्पुरुष, स्वय ही क्रम तथा अक्रमसे प्रवृत्त होनेवाले अनेक धर्मोकी मूर्तिरूप होते हुए साधकभावसे उत्पन्न होनेवाले परमप्रकर्षकी उच्चतम अवस्थास्वरूप सिद्धभावके पात्र होते है। परन्तु जो पुरुष, अन्तर्नीत अर्थात् भीतर समाये है अनेक धर्म जिसमे ऐसी ज्ञानमात्र एकभावरूप इस भूमिको नही प्राप्त करते है वे निरन्त अज्ञानी रहते हुए, ज्ञानमात्र भावके स्वरूपसे नही होने तथा पररूप होनेको देखते-जानते तथा अनुचरण करते हुए मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्रके धारक होते है तथा उपायोपेयभावसे सर्वथा भ्रष्ट होकर निरन्तर भटकते ही रहते है।

आगे यही भाव कलशामे कहते है—

वसन्ततिलका

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पा
भूमि श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहा ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धा
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥२६५॥

अर्थ—जिसका किसी तरह मोह (मिथ्यात्व) नष्ट हो गया है ऐसे जो सत्पुरुष, ज्ञानमात्र

निजभावरूप निश्चल भूमिका आश्रय करते हैं वे साधकपनको प्राप्त कर सिद्ध होते हैं। पर जो मूढ—मिथ्यादृष्टि हैं वे इस भूमिको न पाकर परिभ्रमण करते हैं।

भावार्थ—स्वभावसे अथवा परके उपदेश आदिसे जिनका मिथ्यात्व दूर हो जाता है ऐसे जो जीव इस ज्ञानमात्र भूमिको प्राप्त करते है वे साधक अवस्थाको प्राप्त होकर अन्तमे सिद्ध होते है और इनके विपरीत मिथ्यादृष्टि जीव इस भूमिको न पाकर चतुर्गति ससारमे जन्म-मरण करते हुए निरन्तर घूमते रहते है ॥२६५॥

आगे इस भूमिकी प्राप्ति कैसे होती है, यह कहते हैं—

वसन्ततिलका

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसयमाभ्या
यो भावयत्यहरह स्वमिहोपयुक्त ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री-
पात्रीकृत श्रयति भूमिमिमा स एक ॥२६६॥

अर्थ—जो स्याद्वादकी कुशलता तथा अत्यन्त निश्चल सयमके द्वारा निरन्तर इसी ओर उपयोग लगाता हुआ अपने ज्ञानरूप आत्माकी भावना करता है—आत्माका चिन्तन करता है वही एक ज्ञाननय और क्रियानयकी परस्पर तीव्र मित्रताका पात्र हुआ इस ज्ञानमयी भूमिको प्राप्त होता है।

भावार्थ—जो पुरुष, मात्र ज्ञाननयको स्वीकार कर क्रियानयको छोड देता है अर्थात् चरणानुयोगकी पद्धतिसे चारित्रका पालन नही करता वह स्वच्छन्द हुआ इस ज्ञानमयी भूमिको नही पाता और जो क्रियानयको ही स्वीकार कर मात्र बाह्य आचरणमे लीन रहता है तथा आस्रव और बन्ध आदिके योग्य भावोके परिज्ञानसे रहित होता है वह भी इस भूमिको नही प्राप्त करता। किन्तु जो इन दोनो नयोको अगीकार कर ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्रका पालन करता है वही इस भूमिको प्राप्त होता है ॥२६६॥

अब ज्ञानमयी भूमिको प्राप्त करनेवालेको ही आत्माका उदय होता है, यह कहनेके लिये कलशा कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहास
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभात ।
आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥२६७॥

अर्थ—जिसका विकासरूपी हास चैतन्यपिण्डके तेजसे विलसित है—शोभायमान है, जो शुद्धप्रकाशके समूहसे अच्छी तरह सुशोभित है, जो अनन्त सुखमे अच्छी तरह स्थित और निरन्तर न चिगनेवाले एक—अद्वितीयरूपसे युक्त है तथा जिसकी ज्ञानरूपी ज्योति अचल है ऐसा यह आत्मा उसी ज्ञानमात्र भूमिकाको प्राप्त करनेवाले महानुभावके उदयको प्राप्त होता है।

भावार्थ—यहाँ चित्पिण्ड आदि विशेषणसे अनन्तदर्शनका प्रकट होना बतलाया है, शुद्ध-प्रकाश आदि विशेषणसे अनन्तज्ञानका प्रकट होना बतलाया है, आनन्दसुस्थित आदि विशेषणसे प्रकट होना सूचित किया है और अचलार्चि इस विशेषणसे अनन्तवीर्यका सद्भाव जताया है। इस तरह अनन्तचतुष्टयसे तन्मय आत्मा उसी महानुभावके उदयरूप होता है जो ज्ञानमात्र भूमि-को प्राप्त हो चुकता है ॥२६७॥

आगे आचार्य स्वभावके प्रकट होनेको आकाक्षा दिखलाते हुए कलशा कहते हैं—

वसन्ततिलका

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
　　शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
　　र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥२६८॥

अर्थ—जिसका लहलहाट करता तेज स्याद्वादसे देदीप्यमान है, तथा जिसमे शुद्धस्वभावकी महिमा विद्यमान है ऐसा ज्ञानरूप प्रकाश जब मुझमे उदयको प्राप्त हो चुका है तब मुझे बन्ध और मोक्षके मार्गमे गिरनेवाले अन्यभावोसे क्या प्रयोजन है ? मै तो चाहता हूँ कि मेरा नित्य ही उदयरूप रहनेवाला यह स्वभाव ही अतिशयरूपसे स्फुरायमान हो ।

भावार्थ—शुद्धस्वभावकी महिमासे युक्त यथार्थ ज्ञानके प्रकट होने पर बन्ध और मोक्षके विकल्प उठानेवाले अन्य भावोसे ज्ञानी जीवको कोई प्रयोजन नही रह जाता, इसलिये वह सदा यही चाहता है कि मेरा जो ज्ञानमात्र स्वभाव है वही सदा उदित रहे ॥२६८॥

आगे ज्ञानी एक-अखण्ड आत्माकी भावना करता है, यह दिखानेके लिये कलशा कहते है—

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
　　सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः ।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक-
　　मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥२६९॥

अर्थ—अनेक प्रकारको आत्मशक्तियोका समुदायरूप यह आत्मा नयकी दृष्टिसे खण्ड-खण्ड होता हुआ शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, इसलिये मै अपने आत्माका ऐसा अनुभव करता हूँ कि मै तो वह चैतन्यरूप तेज हूँ जो अखण्ड है अर्थात् प्रदेशभेद न होनेसे जो सदा अखण्ड रहता है, फिर भी शक्तियोकी विभिन्नताके कारण जिसके खण्ड दूर नही किये जा सकते, जो एक है, अत्यन्त शान्त है तथा अचल है अर्थात् अपने स्वभावसे कभी चिगता नही है ।

भावार्थ—आत्मा नाना प्रकारकी जिन आत्मशक्तियोका समुदाय है वे शक्तियाँ नयो पर अवलम्बित है । इसलिये जब नयदृष्टिसे आत्माका चिन्तन किया जाता है तब एक आत्मा खण्ड-खण्डरूप अनुभवमे आता है, केवल अश ही सामने आता है, अशीरूपसे उसका नाश हो जाता है। अतएव ज्ञानी पुरुष नयचक्रसे परे रहनेवाले एक अखण्ड आत्माका ही चिन्तन करता है। यद्यपि प्रारम्भमे, ज्ञानमे, नय, प्रमाण और निक्षेपके विकल्प आते है, परन्तु आगे चलकर वे विकल्प स्वय शान्त हो जाते हैं ॥२६९॥

ज्ञानी जीव ऐसा अनुभव करता है कि मै न तो द्रव्यके द्वारा आत्माको खण्डित करता हूँ, न क्षेत्रके द्वारा खण्डित करता हूँ, न कालके द्वारा खण्डित करता हूँ और न भावके द्वारा खण्डित करता हूँ। मै तो अत्यन्त विशुद्ध एक ज्ञानमात्र हूँ। यद्यपि वस्तुस्वरूपके विवेचनमे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका विकल्प आता है, परन्तु अभेदनयसे विचार करनेपर इन चारोमे प्रदेशभेद नही है। अत उक्त विकल्प स्वय शान्त हो जाते हैं और वस्तु एकरूप अनुभवमे आने लगती है।

शालिनीछन्द

योऽय भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्र. स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्
ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्र. ॥२७०॥

अर्थ—जो यह मै ज्ञानमात्र भाव हूँ उसे ज्ञेयका ज्ञानमात्र नही जानना, किन्तु ज्ञेयोके आकाररूप ज्ञानकी कल्लोलोसे चञ्चल, ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता ऐसे तीन भेदोसे युक्त वस्तुमात्र जानना।

भावार्थ—ऊपर आत्माको ज्ञानमात्र भाव कहा है, सो उसका यह अभिप्राय नही है कि आत्मा केवल ज्ञेयोके ज्ञानमात्र ही है, किन्तु ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता इस प्रकार तीन भेदोको लिये हुए वस्तुमात्र है अर्थात् आत्मा ज्ञान भी है, ज्ञेय भी है और ज्ञाता भी है। उस आत्मामे ज्ञेयोके आकार प्रतिफलित होते हैं, वे आकार ही ज्ञानके कल्लोल कहलाते है। इन ज्ञानकी कल्लोलोके द्वारा वह आत्मा चञ्चल रहता है अर्थात् उसमे ज्ञेयाकाररूप ज्ञानके विकल्प सदा उठते रहते हैं ॥२७०॥

अब आत्माकी अनेकरूपता ज्ञानियोके मनमे भ्रम उत्पन्न नही करती, यह दिखलानेके लिये कलशा कहते हैं—

पृथ्वीछन्द

क्वचिल्लसति मेचक क्वचिन्मेचकामेचक
क्वचित्पुनरमेचक सहजमेव तत्त्व मम।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसा तन्मनः
परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत् ॥२७१॥

अर्थ—ज्ञानी जीव ऐसा अनुभव करता है कि मेरा जो सहज आत्मतत्त्व है, वह यद्यपि कही तो मेचक—अशुद्ध, कही मेचकामेचक—शुद्धाशुद्ध और कही अमेचक—शुद्ध ही सुशोभित होता है। तथपि वह निर्मल बुद्धिके धारक पुरुषोके मनको भ्रान्तियुक्त नही करता, क्योकि वह परस्पर अच्छी तरह मिलकर प्रकट हुई शक्तियोके समूहसे युक्त तथा स्फुरायमान—अनुभव-गोचर है।

भावार्थ—जिस प्रकार नाटकमे एक ही पात्र नानारूपोको धारण करनेके कारण नानारूप दिखाई देता है, परन्तु परमार्थसे वह एक ही होता है, इसलिये ज्ञानी पुरुषोको भ्रम नही होता वे स्पष्ट समझ लेते हैं कि नाना वेषोको धारण करनेवाला एक ही पात्र है। उसी प्रकार यह आत्मा भी नानारूप धारण करनेके कारण नानारूप दिखाई देता है। जैसे कर्मोदयकी तीव्रतामे

यह आत्मा रागादिक विकारोसे अशुद्ध दिखाई देता है, फिर कुछ कर्मोदय दूर होनेपर रागादिक विकारोंमे न्यूनता होनेपर शुद्धाशुद्ध अनुभवमे आता है और तदनन्तर कर्मोका सर्वथा क्षय हो जानेपर रागादिक विकारोसे सर्वथा रहित होता हुआ शुद्ध दिखाई देता है। इस तरह आत्मा यद्यपि नानारूपोमे अनुभवगोचर होता है परन्तु निर्मल भेदज्ञानको धारण करनेवाले पुरुपोको इससे आत्मामे अनेकरूपताका भ्रम नही होता। वे समझते है कि एक ही आत्माकी ये नाना अवस्थाएँ है। भ्रम उत्पन्न न होनेका कारण यह है कि आत्मा परस्पर मिली हुई अनेक शक्तियोके समूहसे युक्त एक ही अनुभवमे आती है। उन शक्तियोके कारण आत्मामे अशुद्धता, शुद्धताशुद्धता और शुद्धतारूप परिणमन करनेकी योग्यता विद्यमान है ॥२७१॥

आगे आत्माके आश्चर्यकारी सहज वैभवको दिखलानेके लिए कलशा कहते है—

पृथ्वीछन्द

इतो गतमनेकतां दधदित सदाप्येकता-
मितः क्षणविभङ्गुर ध्रुवमितः सदैवोदयात् ।
इत परमविस्तृत धृतमित. प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्‌भुतं वैभवम् ॥२७२॥

अर्थ—अहो! आत्माका वह सहज वैभव बड़ा आश्चर्यकारी है क्योकि इस ओर अनेकताको प्राप्त है तो इस ओर सदा एकताको धारण कर रहा है, इस ओर क्षणभङ्गुर है तो इस ओर निरन्तर उदयरूप रहनेसे ध्रुव है, इस ओर परम विस्तृत है तो इस ओर स्वकीय प्रदेशोसे धारण किया हुआ है।

भावार्थ—यहाँपर अनेक दृष्टियोको हृदयमे रखकर अमृतचन्द्रस्वामी आत्माके विभवका वर्णन कर रहे है। पर्यायदृष्टिसे आत्मा अनेकताको प्राप्त है, द्रव्यदृष्टिसे एकताको प्राप्त है, क्रमभावी पर्यायकी दृष्टिसे आत्मा क्षणभङ्गुर है, सहभावी गुणकी दृष्टिसे ध्रुवरूप है, ज्ञानकी अपेक्षा सर्वगत दृष्टिसे आत्मा परम विस्तारको प्राप्त है और स्वकीय प्रदेशोकी अपेक्षा आत्म-प्रदेशोके परिमाण है। इन विविध शक्तियोके कारण आत्मामे परस्पर विरुद्ध धर्मोका समावेश भी सिद्ध हो जाता है ॥२७२॥

आगे आत्माकी उसी आश्चर्यकारक महिमाका वर्णन फिर भी करते है—

पृथ्वीछन्द

कषायकलिरेकत स्खलति शान्तिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकत स्पृशति मुक्तिरप्येकत. ।
जगत्त्रितयमेकत. स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्‌भुतादद्‌भुत ॥२७३॥

अर्थ—एक ओर कषायसे उत्पन्न कलह स्खलित हो रहा है—स्वरूपसे भ्रष्ट हो रहा है तो एक ओर शान्ति विद्यमान है। एक ओर ससारकी बाधा है तो एक ओर मुक्ति स्पर्श कर रही है। एक ओर तीनो लोक स्फुरायमान होते है तो एक ओर चैतन्यमात्र ही सुशोभित होता

है। आचार्य कहते है कि अहो ! आत्माके स्वभावकी महिमा अद्भुतसे अद्भुत—अत्यन्त आश्चर्यकारी विजयरूप प्रवर्त्त रही है—सर्वोत्कृष्टरूपसे विद्यमान है।

भावार्थ—जब विभावशक्तिकी अपेक्षा विचार करते हैं तब आत्मामे कपायका उपद्रव दिखाई देता है, और जब स्वभाव दशाका विचार करते है तो शान्तिका प्रसार अनुभवमे आता है। कर्मबन्धकी अपेक्षा जन्म-मरणरूप ससारकी बाधा दिखाई देती है और शुद्धस्वरूपका विचार करने पर मुक्तिस्पर्श अनुभवमे आता है। स्व-परज्ञायकभावकी अपेक्षा विचार करनेपर आत्मा लोकत्रयका ज्ञाता है और स्वज्ञायकभावकी अपेक्षा एक चैतन्यमात्र अनुभवमे आता है। इस तरह अनेक विरुद्ध धर्मोके समावेशके कारण आत्मस्वभावकी महिमा अद्भुतोमे भी अद्भुत—अत्यन्त आश्चर्यकारी जान पडती है ॥२७३॥

आगे चिच्चमत्कारका स्तवन करते हैं—

मालिनीछन्द

जयति सहजतेज.पुञ्जमज्जत्त्रिलोकी-
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूप ।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भ
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एप ॥२७४॥

अर्थ—अपने स्वभावरूप तेजके पुञ्जमे निमग्न होते हुए तीन लोक सम्बन्धी पदार्थोसे जिसमे अनेक विकल्प दिखाई देते हैं तो भी जो स्वरूपकी अपेक्षा एक है, जिसे निजरसके समूहसे पूर्ण अबाधित तत्त्वकी उपलब्धि हुई है तथा जिसकी दीप्ति बलपूर्वक नियमित की गई है अर्थात् जो अपने स्वरूपमे निष्कम्प है ऐसा यह चैतन्यचमत्कार जयवत प्रवर्तता है—सर्वोत्कृष्टरूपसे प्रवर्त्तमान है।

भावार्थ—यहाँ अन्तमङ्गलरूपसे आचार्य चैतन्यचमत्कारका विजय-गान कर रहे हैं। जिस चैतन्यचमत्कारमे स्वच्छताके कारण प्रतिभासित तीन लोक सम्बन्धी पदार्थोके निमित्तसे अनेक विकल्प स्खलित हो रहे हैं—रुकते हुए अनुभवमे आ रहे हैं और उन विकल्पोके कारण जो अनेकरूप दिखाई देता है तो भी स्वरूपकी अपेक्षा एक ही है, जिसे निजरसके प्रसारसे भरे अखण्ड आत्मतत्त्वकी उपलब्धि हुई है और अनन्तवीर्यके कारण जिसकी दीप्ति स्वकीय स्वभावमे बलात् नियमित की गई है, ऐसा चैतन्यचमत्कार सदा जयवत प्रवर्ते ॥२७४॥

अब अमृतचन्द्रस्वामी श्लेषालकारसे अपना नाम प्रकट करते हुए आत्मज्योतिके देदीप्यमान रहनेकी आकाक्षा प्रकट करते हैं—

मालिनीछन्द

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्न धारयद् ध्वस्तमोहम् ।
उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समन्ताज्-
ज्वलतु विमलपूर्णं नि सपत्नस्वभावम् ॥२७५॥

अर्थ—जो निश्चल चैतन्यस्वरूपसे युक्त आत्मामे निरन्तर निमग्न आत्माको आत्माके

द्वारा धारण कर रही है, जिसने मोहको नष्ट कर दिया है, जो सब ओरसे उदयको प्राप्त है, विमल है, पूर्ण है तथा जिसका स्वभाव प्रतिपक्षी कर्मसे रहित है, ऐसी यह कभी नष्ट न होनेवाली अमृतमय चन्द्रमाकी ज्योतिके समान आह्लाददायक आत्मज्योति सदा देदीप्यमान रहे।

भावार्थ—यहाँ लुप्तोपमालंकारसे आत्माको अमृतचन्द्रज्योति कहा है क्योकि 'अमृतचन्द्रवत् ज्योतिः' ऐसा समास करनेसे 'वत्' शब्दका लोप हो जाता है तब 'अमृतचन्द्रज्योति' बनता है। यदि 'अमृतचन्द्ररूपज्योति' ऐसा विग्रह किया जाय तो भेदरूपक अलकार होता है। अथवा 'अमृतचन्द्रज्योति' ऐसा ही कहा जाय, आत्माका नाम न कहा जाय तब अभेदरूपक अलकार होता है। इसके विशेषणोके द्वारा चन्द्रमासे व्यतिरेक भी है क्योकि 'ध्वस्तमोह' विशेषण अज्ञानान्धकारका दूर होना बतलाता है, 'विमलपूर्ण' विशेषण लाञ्छनरहितपन तथा पूर्णता बतलाता है, 'निःसपत्नस्वभाव' विशेषण राहुबिम्ब तथा मेघ आदिसे आच्छादित न होना बतलाता है तथा 'समन्तात् ज्वलतु'—विशेषण सब क्षेत्र और सब कालमे प्रकाश करना बतलाता है। चन्द्रमा ऐसा नही है। यहाँ टीकाकारने 'अमृतचन्द्र' ऐसा श्लेषसे अपना नाम भी सूचित किया है ॥२७५॥

अनुष्टुप्

मुक्तामुक्तैकरूपो य. कर्मभि सविदादित. ।
अक्षय परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमाम्यहम् ॥१॥

अर्थ—जो कर्मोसे मुक्त है तथा ज्ञानादिगुणोसे अमुक्त है उस अविनाशी ज्ञानमूर्ति परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ।

अब द्रव्यकी अपेक्षा सप्तभङ्गीका अवतार करते है—

(१) स्यादस्ति द्रव्यम्। (२) स्यान्नास्ति द्रव्यम्। (३) स्यादस्ति नास्ति च द्रव्यम्। (४) स्यादवक्तव्य द्रव्यम्। (५) स्यादस्ति चावक्तव्य च द्रव्यम्। (६) स्यान्नास्ति चावक्तव्य च द्रव्यम्। स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्।

इनमे सर्वथापनका निषेध करनेवाला, अनेकान्त अर्थका द्योतक, कथञ्चित् अर्थवाला निपातसज्ञक 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया गया है। इन सातो भगोका सार इस प्रकार है—

(१) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे द्रव्य है।
(२) परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे द्रव्य नही है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावका द्रव्यमें अभाव है।
(३) क्रमसे स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे द्रव्य है और नही है।
(४) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे युगपद् कहे जानेकी अशक्यताकी अपेक्षासे द्रव्य अवक्तव्य है।
(५) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और युगपत् स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे द्रव्य है तथा अवक्तव्य है।
(६) परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा युगपत् स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे द्रव्य नही है और अवक्तव्य है।

(७) स्वद्रव्यक्षेत्र-काल-भाव और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके क्रमकी अपेक्षासे, तथा युगपत् स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे द्रव्य है, और नही है तथा अवक्तव्य है ।

भावार्थ—द्रव्यमे अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्यत्वके भेदसे तीन धर्म है। इन तीन धर्मोंका पृथक् पृथक् तथा सयोगरूपसे कथन करनेपर सात भङ्ग होते हैं। जिस समय स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे द्रव्यके अस्तित्वका कथन होता है उस समय 'स्यादस्ति द्रव्यम्' ऐसा पहला भङ्ग होता है अर्थात् स्वद्रव्यादिकी अपेक्षासे द्रव्य है। जब परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे द्रव्यका कथन होता है तब 'स्यान्नास्ति द्रव्यम्', ऐसा दूसरा भङ्ग होता है। जब क्रमसे स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे कथन करते हैं तब 'स्यात् अस्तिनास्ति द्रव्यम्' यह तीसरा भङ्ग होता है अर्थात् द्रव्य है और नही है। जब स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे एक साथ कहना चाहते हैं तब कथन न किये जा सकनेके कारण 'स्यात् अवक्तव्य द्रव्यम्' ऐसा चौथा भङ्ग होता है अर्थात् द्रव्य अवक्तव्य है। जब स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और एक साथ स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे कथन करते है तब 'स्यदस्ति च अवक्तव्य च द्रव्य' यह पाचवाँ भङ्ग होता है अर्थात् द्रव्य है और अवक्तव्य है। जब परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा एक साथ स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा कथन करते हैं तब 'स्यान्नस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्' यह छठवाँ भङ्ग होता है अर्थात् द्रव्य नही है और अवक्तव्य है। तथा जब क्रमसे स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा एक साथ स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे कथन करते है तब 'स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्य च द्रव्यम्' यह सातवाँ भङ्ग होता है अर्थात् द्रव्य है, नही हैं, और अवक्तव्य है। तीन धर्मोके पृथक् पृथक् तीन और दो-दोके सयोगी तीन तथा तीन सयोगी एक सब मिलाकर धर्म सातसे अधिक नही होते, इसलिये सब भङ्ग सात ही होते हैं अधिक नही। 'सप्ताना भङ्गाना समाहारः सप्तभङ्गी' इस तरह समास करनेपर 'सप्तभङ्गी' शब्द निष्पन्न होता है।

इस तरह स्याद्वादाधिकार पूर्ण हुआ।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यस्माद् द्वैतमभूत् पुरा स्वपरयोर्भूत यतोऽत्रान्तर
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जात क्रियाकारकै ।
भुञ्जाना च यतोऽनुभूतिरखिल खिन्ना क्रियाया फल
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किंचिन्न किंचित्खलु ॥२७६॥

अर्थ—जिस अज्ञानभावसे पहले तो स्व और परका द्वैतरूप एक भाव हुआ, फिर उस द्वैतपनसे अपनेमे अन्तर हुआ, उस अन्तरके पड़नेसे राग-द्वेषका परिग्रहण हुआ, उसके होनेपर क्रिया और कारकोका भेद उत्पन्न हुआ और क्रिया-कारकोके भेदसे आत्माकी अनुभूति क्रियाके सम्पूर्ण फलको भोगती हुई खेदको प्राप्त हुई, वह अज्ञान इस समय विज्ञानघनके समूहमे निमग्न हो गया है अर्थात् ज्ञानरूपमे परिणत हो गया है, इसलिये अब कुछ भी नही है।

भावार्थ—अज्ञानके कारण जीव और कर्मका सयोगरूप द्वैतभाव होता है। उस द्वैतसे स्वरूपमे अन्तर आता है, उस अन्तरसे आत्मामे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, उन रागद्वेषोके कारण आत्मामे क्रिया-कारकका भाव आता है अर्थात् आत्मा परका कर्ता बनता है, जब आत्मा परका

कर्ता बन गया तब आत्माकी अनुभूति स्वरूपसे च्युत हो अपनी क्रियाके फलका भोक्ता बनती है, इस स्थितिमे आत्माकी अनुभूति खेदखिन्न होती है। इस तरह समस्त अनर्थोंकी जड़ अज्ञानभाव था, मेरा वह अज्ञानभाव अब विज्ञानघनके समूहमे निमग्न हो गया है, इसलिये उपर्युक्त सब विकल्प स्वय समाप्त हो गये हैं। मै इस ग्रन्थका कर्ता हूँ, अतः इसके फलको भोगूँ, ऐसा जो भाव था वह अज्ञानमूलक था, अब वह अज्ञान समाप्त हो गया है, इसलिये मै इस ग्रन्थका कर्ता और इसके फलका भोक्ता हूँ, ऐसा मेरा भाव नही है ॥२७६॥

अब ग्रन्थकर्ता दूसरे ढँगसे ग्रन्थके प्रति अपना अकर्तृत्व सूचित करते है—

उपजातिछन्द

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेय समयस्य शब्दै. ।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरे ॥२७७॥

अर्थ—अपनी शक्तिसे वस्तुतत्त्वको सूचित करनेवाले शब्दोंके द्वारा यह समयप्राभृत आगमकी व्याख्या की गई है। आत्मस्वरूपमें लीन रहनेवाले अमृतचन्द्रसूरिका इसमे कुछ भी कर्त्तव्य नही है। यहाँ टीकाकार अमृतचन्द्रस्वामीने अपनी लघुता प्रकाशित की है। साथ ही अपने आपको 'स्वरूपगुप्तस्य' विशेषण देकर यह सिद्धान्त भी प्रकट किया है कि जब यह जीव आत्मस्वरूपमे लीन हो जाता है तब उसका परपदार्थोंके प्रति कर्तृत्वका भाव नष्ट हो जाता है। अर्थात् वह परपदार्थोंका कर्ता नही बनाता। इस समयप्राभृत ग्रन्थकी व्याख्याका प्रारम्भ करते समय सूरिने कहा था कि परपरिणतिका कारण जो मोह है उसके प्रभावसे मलिन मेरी चिन्मात्र-मूर्तिमें इस समयसारकी व्याख्यासे परम विशुद्धता होवे। अब ग्रन्थके अन्तमे प्रकट करते हैं कि मेरा अज्ञान विज्ञानघनमें विलीन हो गया तथा मैं स्वरूपमे लीन हो गया, इस तरह मुझमे परम विशुद्धता आई है, उसके फलस्वरूप मेरा परके प्रति कर्तृत्वभाव निकल चुका है। अत मैं इस ग्रन्थका कर्ता नही हूँ। तो फिर इस व्याख्याको किसने बना दिया? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए उन्होने कहा है कि अपनी अभिधाशक्तिके सद्भावसे सब शब्दोमे वस्तु-स्वरूपके कहनेको सामर्थ्य रहती है। अत' शब्दोके द्वारा ही यह व्याख्या बनाई गई है ॥२७७॥

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्यविरचित समयप्राभृतके अमृतचन्द्रसूरिरचित स्याद्वादाधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ।



परिशिष्ट १

तात्पर्यवृत्तिमें व्याख्यात और आत्मख्यातिमें अव्याख्यात अतिरिक्त गाथाओंका अर्थ—

(१० वीं और ११ वीं गाथाके बीच)

णाणम्हि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य ।
ते पुण तिण्णि वि आदा तम्हा कुण भावणं आदे ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोमे भावना करना चाहिये और वे तीनो चूँकि आत्मा हैं इसलिए आत्मामे करना चाहिये।

भावार्थ—पूर्वार्धमे गुण और गुणीका भेद स्वीकृतकर सम्यग्दर्शनादि तीन गुणोका पृथक् निर्देश किया है और उत्तरार्धमे गुण-गुणीका अभेद स्वीकृतकर कहा गया है कि जिस कारण सम्यग्दर्शनादि तीनो गुण आत्मा ही हैं इसलिये आत्माकी ही भावना करना चाहिये।

जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

अर्थ—जो मुनि निरन्तर उसी ओर उपयोग लगाकर इस आत्म-भावनाको करता है वह थोडे ही समयमे समस्त दु खोसे छुटकारा पा जाता है।

भावार्थ—आत्मध्यानकी अपूर्व महिमा है। निरन्तर तन्मयीभावसे जो आत्मध्यान करता है—सब ओरसे विकल्प-जालको हटाकर आत्मस्वरूपमे स्थिर होता है वह शीघ्र ही मोक्षका पात्र होता है।

(१५ वीं और १६ वी गाथाके बीचमे)

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दसणे-चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥

अर्थ—निश्चयसे मेरा आत्मा ज्ञानमे है, दर्शनमे है, चारित्रमे है, प्रत्याख्यानमे हैं, सवरमे है और योग—निर्विकल्पक समाधिमे है।

भावार्थ—गुण-गुणीमे अमेद-विवक्षासे कथन है कि मेरा आत्मा ही ज्ञानदर्शनादिरूप है।

(१९ वीं और २० वीं गाथाके बीच)

जीवे व अजीवे वा संपदि समयम्हि जत्थ उवजुत्तो ।
तत्थेव बंधमोक्खो हवदि समासेण णिद्दिट्ठो ॥

अर्थ—आत्मा वर्तमान समयमे जिस जीव अथवा अजीवमे उपयुक्त होता है—तन्मयीभावसे उन्हे उपादेय मानता है उसीमे बन्ध और मोक्ष होता है, ऐसा सक्षेपसे कहा गया है।

भावार्थ—जब शरीरादिक अजीव पदार्थमे तन्मय होकर उन्हे ही उपादेय मानता है, तब बन्ध होता है और जब जीव—शुद्ध आत्मस्वरूपमे तन्मय होकर उसे ही उपादेय मानता है तब मोक्ष होता है ॥

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं ॥

अर्थ—आत्मा निश्चयनयसे जिस भावको करता है वह उसी भावका कर्ता होता है और व्यवहारसे पुद्गलकर्मोका कर्ता है ।

भावार्थ—शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा अपने ज्ञानादिभावोका कर्ता है, अशुद्धनिश्चनयसे रागादिक अशुद्धभावोका कर्ता है और अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनयसे पुद्गलरूप द्रव्यकर्मादिकका कर्ता है ।

(७५ और ७६ वी गाथाके बीच)

कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण ।
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥

अर्थ—आत्मा कर्ता कहा गया है और कर्ता नही कहा गया है सो किस उपायसे ? इसे जो जानता है तथा धर्म-अधर्मरूप परिणामोको जो जानता है वह ज्ञानी है ।

भावार्थ—निश्चयनयसे आत्मा कर्ता नही है और व्यवहारनयसे कर्ता है, ऐसा जो जानता है वह ज्ञानी है । इसी तरह जो पुण्य-पापरूप परिणामोको समझता है वह ज्ञानी है ।

(८६ और ८७ वीं गाथाके बीच)

पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं ॥

अर्थ—आत्मा उदयागत द्रव्यकर्मका निमित्त पाकर जिस प्रकार अपने भावको करता है उसी प्रकार द्रव्यकर्मका निमित्त पाकर अपने भावका वेदन करता है ।

भावार्थ—निश्चयनयसे आत्मा अपने ही भावका कर्ता है और अपने ही भावका भोक्ता है ।

(१२५ और १२६ वीं गाथाके बीच)

जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।
तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥,

अर्थ—जो साधु बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहको छोडकर उपयोग लक्षणसे युक्त अपने शुद्ध आत्माको जानता है उसे परमार्थका ज्ञाता नि सग—निर्ग्रंथ साधु कहते हैं ।

जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥

अर्थ—जो साधु समस्त चेतन-चेतन एव शुभ-अशुभ परद्रव्योसे मोह छोड़कर ज्ञानस्वभावसे परिपूर्ण आत्माको जानता है उसे परमार्थके ज्ञाता पुरुष जितमोह कहते हैं।

जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्ध ।
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति ॥

अर्थ—जो साधु शुभोपयोग परिणामरूप धर्म अर्थात् पुण्यशक्तिको छोडकर उपयोग-लक्षणसे युक्त शुद्ध आत्माको जानता है उसे परमार्थके ज्ञाता पुरुष धर्मसगसे मुक्त कहते है ॥

(१८९ और १९० के बीच)

उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि ।
भण्णदि तहेव घिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य ॥

अर्थ—परोक्ष आत्माका ध्यान किस प्रकार होता है, इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार कोई पुरुष किसीके उपदेशसे परोक्ष रूपको देखकर कहता है कि मैंने उसे देख लिया, जान लिया। इसी प्रकार आगमके उपदेशसे जीवको ग्रहण कर लिया, देख लिया, तथा जान लिया, ऐसा कहा जाता है।

को वि दिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं ।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठंतं ॥

अर्थ—छद्मस्थावस्थामे आत्माका परोक्षज्ञान होता है। इसके विपरीत यदि किसीका ऐसा कथन हो कि मैं आत्माका प्रत्यक्ष दर्शन करता हूँ तो उससे हम पूछते हैं—जिसने पदार्थको प्रत्यक्ष नही जाना है ऐसा कौन साधु इस समय कह सकता है कि मैने इस आत्मस्वरूपको प्रत्यक्ष ही देखा है जब कि वह आत्मा परोक्ष श्रुतज्ञानका विषय हो रहा है। अर्थात् कोई नही कह सकता।

भावार्थ—स्वसवेदनज्ञानकी अपेक्षा आत्माका प्रत्यक्ष जानना कहा जाता है। परन्तु इन्द्रियो द्वारा उसका ज्ञान नही होता, एतावता परोक्ष कहलाता है। यद्यपि आत्मा परोक्ष है तथापि उसका ध्यान निषिद्ध नही है ॥

(१९९ और २००वीं गाथाके बीच)

कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो ।
परदव्वाणुवओगो ण दु देहो हवदि अण्णाणी ॥

अर्थ—यहाँ कोई प्रश्न करता है कि यह नाना प्रकारका कर्मोदयके फलका विपाक तेरा क्यो नही है ? इसके उत्तरमे कहते हैं कि जिस कारण यह कर्मोदयका विपाकफल तेरे साथ लगे हुए कर्मरूप परद्रव्यका उपयोग अर्थात् उदयरूप है, इसलिये तेरता नही है। यह कर्मोदयके फलका विपाक तेरा नही है। इसी तरह यह शरीर भी तेरा नही है क्योकि यह अज्ञानो है—ज्ञानदर्शनसे रहित है।

भावार्थ—भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म तेरे नही है।

(२११ और २१२वीं गाथाके बीच)

धम्मच्छि अधम्मच्छी आयासं सुत्तभंगपुव्वेसु ।
संगं च तहा णेयं देव-मणुअ-तिरिय-णेरइयं ॥

अर्थ—जिसके वाह्य द्रव्योमे इच्छा नही है वह अपरिग्रह—परिग्रहसे रहित कहा गया है। ऐसा जीव, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, अङ्गपूर्वगतश्रुत, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह तथा देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारक पर्यायकी इच्छा नही करता अर्थात् इन सबको अपने शुद्धात्म-द्रव्यसे पृथक् मानता है।

(२१९ और २२०वी गाथाके बीच)

णागफलीए मूलं णाइणितोयेण गब्भणागेण ।
णागं होइ सुवण्णं धम्मंतं मत्थवाएण ॥

अर्थ—अशुद्ध आत्मा शुद्ध कैसे हो जाता है, इसका दृष्टान्तपूर्वक कथन करते है—जिस प्रकार सपाफनीकी जड, हस्तिनीका मूत्र और सिन्दूरके साथ सीसा धोकनीकी वायुसे गलाने पर सुवर्ण बन जाता है उसी प्रकार अशुद्ध आत्मा शुद्ध बन जाता है।

कम्मं हवेई किट्टं रागादी कालिया अह विभावो ।
सम्मत्तणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि ॥
झाणं हवेइ अग्गी तवयरणं भत्तली समक्खादो ।
जीवो हवेइ लोहं धमियव्वो परमजोईहिं ॥

अर्थ—कर्म कीट है, रागादिक विभाव कालिमा है, सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र परम औषधि है, ऐसा जानो। ध्यान अग्नि है, तपश्चरण भातली—पात्र कहा गया है और आत्मा लोहा है। परम योगीश्वरोको इसे तपाना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार किसो पात्रमे रखकर लोहेको परम औषधिके साथ अग्निमें तपानेसे वह सुवर्ण बन जाता है तथा उसकी कीट और कालिमा भस्म हो जाती है। इसी प्रकार तपश्चरणरूपी पात्रमे जीवरूपी लोहेको सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परम औषधके साथ ध्यानरूपी अग्निमे तपानेसे यह जीव शुद्ध हो जाता है तथा उसकी द्रव्यकर्मरूपी कीट और रागादिकभावकर्मरूप कालिमा भस्म हो जाती है।

(२६९ और २७० के बीच)

कायेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वा वि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
वाचाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वा वि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥

मणसाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वा वि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
सच्छेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वा वि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
कायेण च वाया वा मणेण सुहिदे करेमि सत्ते ति ।
एवं पि हवदि मिच्छा सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥

अर्थ—मैं शरीरके द्वारा जीवोको दु खी करता हूँ, यदि ऐसी तू बुद्धि करता है तो तेरी यह सब बुद्धि मिथ्या है क्योकि कर्मके द्वारा ही जीव दु.खी होते है।

मैं वचनके द्वारा जीवोको दु.खी करता हूँ, यदि ऐसी बुद्धि करता है तो तेरी यह सब बुद्धि मिथ्या है क्योकि कर्मके द्वारा ही जीव दु खी होते है।

मैं मनके द्वारा जीवोको दु·खी करता हूँ, यदि ऐसी तेरी बुद्धि है तो तेरी यह सब बुद्धि मिथ्या है क्योकि कर्मोके द्वारा जीव दु खी होते हैं।

मैं शास्त्रके द्वारा जीवोको दु खी करता हूँ, ऐसी यदि तेरी बुद्धि है तो यह सब मिथ्या है क्योकि जीव कर्मसे ही दु खी होते हैं।

मै शरीर, वचन और मनके द्वारा जीवोको सुखी करता हूँ, ऐसी यदि तेरी बुद्धि है तो यह सब मिथ्या है क्योकि कर्मसे ही जीव सुखी होते हैं।

(२७० और २७१ वीं गाथाके बीच)

जा संकप्पवियप्पो ता कम्मं कुणदि असुहसुहजणय ।
अप्पसरूवा रिद्धी जाव ण हियए परिप्फुरइ ॥

अर्थ—जब तक बाह्य पदार्थोंमे सकल्प और बिकल्प करता है तथा जब तक हृदयमे आत्मस्वरूप ऋद्धि प्रस्फुरित नही होती है तब तक शुभ-अशुभको उत्पन्न करनेवाले कर्मको करता है।

भावार्थ—स्त्री, पुत्र तथा शरीर आदि पदार्थोंमे 'ये मेरे हैं' इस प्रकारके भावको सकल्प कहते हैं, और अन्तरङ्गमे हर्ष-विषादरूप परिणतिको विकल्प कहते हैं। जब तक ये दोनो विद्यमान रहते है तब तक पुण्य-पाप कर्मोका बन्ध होता है। परन्तु जब हृदयमे शुद्धात्मस्वरूपका ध्यान जागृत होता है और उपर्युक्त सकल्प-विकल्प दूर हो जाते हैं तब सब प्रकारका बन्ध रुक जाता है।

(२८५ और २८६ के बीच)

आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा ।
कहमणुमण्णदि अण्णेण कीरमाणा परस्स गुणा ॥

आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं ।
कह तं मम कारविदं जं णिच्चमचेदणं वुत्तं ॥

अर्थ—अधःकर्म आदिक जो ये पुद्गलद्रव्यके दोष है उन्हे तू आत्माके कैसे मानता है क्योंकि ये दूसरेके द्वारा—गृहस्थके द्वारा किये हुए परके आहाररूप पुद्गलके गुण है।

अधः कर्म और उद्देश्यसे बनाया गया जो आहार है वह पुद्गलद्रव्यमय है वह मेरा कराया हुआ कैसे हो सकता है क्योंकि वह तो नित्य अचेतन कहा गया है।

(३१६ और ३१७ वीं गाथाके बीच)

जो पुण णिरावराहो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि ।
आराहणाए णिच्चं वट्टदि अहमिदि वियाणंतो ॥

अर्थ—जो अज्ञानी जीव सापराध है वह तो सशङ्कित होता हुआ कर्मफलको तन्मय होकर भोगता है। परन्तु जो निरपराध ज्ञानी पुरुष है वह कर्मोदय होनेपर क्या करता है, यह इस गाथामे बताते हुए कहा है कि—

जो ज्ञानी पुरुष निरपराध है वह निःशङ्कित रहता है और 'मै ज्ञान-दर्शनस्वरूप आत्मा हूँ', ऐसा जानता हुआ निरन्तर उसकी आराधनामे तत्पर रहता है।

(३३१ और ३३२ वीं गाथाके बीच)

सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं ।
तम्हा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो ॥

अर्थ—यदि सम्यक्त्वप्रकृति आत्माको सम्यग्दृष्टि करती है, ऐसा माना जाय, तो तेरे मतमे अचेतन प्रकृति सम्यक्त्वको करनेवाली हुई।

परिशिष्ट २

समयप्राभृतकी अकारादि क्रमसे गाथानुक्रमणी

परिशिष्ट ३

कलश-काव्योंकी अनुक्रमणी

उद्धृत श्लोक और गाथाओंकी अनुक्रमणी

परिशिष्ट ५

शब्द-कोष

गा०

अतिव्याप्ति दोष ६८

जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनोंमें रहे, ऐसा लक्षण, जैसे जीव अमूर्तिक है।

अधर्म ३७

जीव और पुद्गलके ठहरनेमें सहायक द्रव्य।

अध्यवसान ३९

आत्माकी रागादिरूप परिणतिको अध्यवसान कहते हैं।

अध्यात्मस्थान ५२

स्व और परमें एकत्वका भाव होना।

अनुभागस्थान ५२

कर्मप्रकृतियोके फलदानकी तरतमता।

अनुमोदना (अनुमनन)

किसी कार्यकी अनुमोदना करना।

अनेकान्त १

वस्तुमें रहनेवाले परस्पर विरोधी अनेक धर्मोंका सद्भाव।

अपर्याप्त ६७

अपर्याप्तकके दो भेद हैं—१ निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक। जिनकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण तो नही हुई है परन्तु नियमसे पूर्ण हो जायगी वे निर्वृत्यपर्याप्तक कहलाते है। गर्भ और उपपाद जन्म वालोकी प्रथम अन्तर्मुहुर्तमें यह अवस्था होती है। उसके बाद वे नियमसे पर्याप्तक हो जाते हैं। जिनकी एक भी पर्याप्ति पूर्ण नही हुई है और न होगी वे लब्ध्यपर्याप्तक है। यह अवस्था सम्मूर्च्छन जन्मवाले मनुष्य और तिर्यञ्चोके ही होती है।

गा०

अप्रतिबुद्ध ९९

कर्म, नोकर्मको आत्मरूप और आत्माको कर्म-नोकर्म रूप माननेवाला जीव अप्रतिबुद्ध है—अज्ञानी है।

अप्रमत्त ६

सप्तमगुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तकके जीवोंको अप्रमत्त कहते है।

अभव्य २७३

जिसे रत्नत्रय प्राप्त होनेकी योग्यता न हो उसे अभव्य कहते है। इसके विपरीत जिसे रत्नत्रय प्राप्त करनेकी योग्यता है उसे भव्य कहते हैं।

अमूढदृष्टि अंग २३२

समस्त भावोमें मूढता नही करना।

अमेचक १६

आत्माकी शुद्ध अवस्थाको अमेचक कहते है।

अवधिज्ञान २०४

जो इन्द्रिय और मनकी सहायताके विना रूपी द्रव्योको अवधि—सीमा लिये हुए जानता है वह अवधि-ज्ञान है। इसके २ भेद हैं—भवप्रत्यय और क्षयोपशम-निमित्तक।

अविरतिभाव ८९

असयमरूप भावको अविरतिभाव कहते है। यह प्राणि-असंयम और इन्द्रिय-असंयमके भेदसे दो प्रकारका है। प्राणि-असयमके ६ और इन्द्रिय-असंयमके ६ भेद हैं।

अज्ञान २३

मिथ्यात्वसे दूषित ज्ञान अज्ञान है। इसके कुमति, कुश्रुत और कुअवधिके भेदसे तीन भेद है।

गाथा

अव्याप्तिदोष ६८

लक्ष्यके एक देशमें रहनेवाला लक्षण, जैसे जीव रागादिसे रहित है।

असंभव ५८

जिसका लक्ष्यमें रहना सम्भव न हो, जैसे जीवका लक्षण अज्ञान

आधःकर्म २८७

जो आहार पापकर्मसे उपार्जितद्रव्यके द्वारा बनाया गया है उसे आधःकर्म कहते हैं।

आभिनिबोधिक ज्ञान २०४

यह मतिज्ञानका दूसरा नाम है। इन्द्रिय और मनकी सहायतासे जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। इसके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा भेदसे चार भेद हैं।

आलोचना ३८५

वर्तमानके दोषोपर पश्चात्ताप करना।

आस्रव ६९

आत्मामें कर्मप्रदेशोका आगमन आस्रव कहलाता है। इसके द्रव्यास्रव और भावास्रवके भेदसे दो भेद हैं।

उदयस्थान ५३

अपना फल प्रदान करनेमें समर्थ कर्मोंकी उदयावस्था।

उद्देशिक २८६

जो आहार किसीके निमित्तसे बनाया जाता है उसे उद्देशिक कहते हैं।

उपगूहन अंग २३३

परनिन्दाका भाव नहीं होना। इस अंगका दूसरा नाम उपबृंहण भी है, जिसका अर्थ आत्मगुणोंकी वृद्धि करना है।

उपयोग ३६

आत्माकी चैतन्यगुणसे सम्बन्ध रखने वाली परिणतिको उपयोग कहते हैं। इसके दो भेद हैं—१ ज्ञानोपयोग और २ दर्शनोपयोग।

गाथा

उपादान कारण ८२

जो स्वयं कार्यरूप परिणमता है वह उपादान कारण है, जैसे घडाका उपादान मिट्टी।

उपादानोपादेयभाव ११

जो स्वयं कार्यरूप परिणमन करता है वह उपादान है, और उससे जो कार्य होता है वह उपादेय है। यह उपादानोपादेयभाव एक द्रव्यमें ही होता है, भिन्न द्रव्योमें नही।

कर्तृकर्मभाव ७०

जो कार्यरूप परिणमन करता है उसे कर्ता और जो परिणमन है उसे कर्म कहते हैं। जैसे 'मिट्टीसे घट बना', यहाँ मिट्टी कर्ता है और घट कर्म है।

कर्म १९

ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म आत्माके प्रत्येक प्रदेशों के साथ कार्मणवर्गणाके कर्मरूप होनेके उम्मेदवार पुद्गल परमाणु लगे हुए है। आत्माके रागादि भावोका निमित्त पाकर वे कर्मरूप परिणम जाते हैं।

कर्मबन्धनके चार पाये २२९

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग।

कषाय १६३

जो आत्माके चारित्रगुणका घात करे उसे कषाय कहते हैं। इसके अनन्तानुबन्धी आदि १६ भेद हैं।

केवलज्ञान २०४

जो सर्वद्रव्य और उनकी सब पर्यायोको युगपत् जानता है उसे केवलज्ञान कहते है।

कारित २२४ (क०)

किसी कार्यको दूसरोसे कराना।

कृत २२४ (क०)

किसी कार्यको स्वयं करना।

क्रियानय २६६ (क०)

चारित्रके आचरणपर बल देना।

गर्हा ३०६

गुरुकी साक्षीपूर्वक दोषोका प्रकट करना गर्हा है।

गाथा

गुण ७५

जो द्रव्यके आश्रय रहे परन्तु दूसरे गुणसे रहित हो उसे गुण कहते हैं। ये गुण सामान्य और विशेषकी अपेक्षा दो प्रकारके हैं।

गुणस्थान ५५

मोह और योगके निमित्तसे होनेवाले आत्मपरिणामोंके तारतम्यको गुणस्थान कहते हैं। इसके १४ भेद हैं—१ मिथ्यात्व, २ सासादन, ३ मिश्र, ४ असयत सम्यग्दृष्टि, ५ देशसयत, ६ प्रमत्तसंयत, ७ अप्रमत्तसयत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्मसाम्पराय, ११ उपशान्तमोह, १२ क्षीणमोह, १३ सयोगकेवली और १४ अयोगकेवली।

विशेष ज्ञानके लिये जीवकाण्डका गुणस्थानाधिकार द्रष्टव्य है।

गुप्ति २७३

मन वचन कायरूप योगोंका अच्छी तरह निग्रह करनेको गुप्ति कहते हैं। इसके ३ भेद हैं—१ मनोगुप्ति, २ वचनगुप्ति और ३ कायगुप्ति।

चारित्र २

निश्चयसे आत्मस्वरूपमें स्थिरताको चारित्र कहते हैं। व्यवहारसे आत्मस्वरूपमें स्थिरता प्राप्त करानेमें सहायक व्रत, समिति, गुप्ति आदिको चारित्र कहते हैं।

चिदात्मा २७५ (क)

चैतन्यस्वरूप आत्मा

जितेन्द्रिय ३१

जो स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पांच इन्द्रियोंको अपने नियन्त्रणमें रखता है वह जितेन्द्रिय है।

जीवस्थान ५५

जीवोंके समस्त भेदोंको संगृहीत करना जीवसमास है। उसके १४ भेद हैं। यथा—एकेन्द्रियके बादर और सूक्ष्मकी अपेक्षा दो भेद, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय तथा असैनी पञ्चेन्द्रिय इन सात-

गाथा

युगलोंके पर्याप्त और अपर्याप्तकी अपेक्षा दो-दो भेद करनेसे १४ जीवसमास होते हैं। जीवसमासके ५७ तथा ९८ भी भेद होते हैं। विस्तारके लिये जीवकाण्डका जीवसमास प्रकरण द्रष्टव्य है।

ज्ञान २

निश्चयसे आत्मतत्वका संशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित ज्ञान सम्यक्ज्ञान है। व्यवहारसे जीवादि प्रयोजनभूत पदार्थोंमें यथार्थज्ञानको सम्यक्ज्ञान कहते हैं। यही ज्ञान जब मिथ्यात्वके उदयसे दूषित होता है तब मिथ्याज्ञान कहलाता है।

ज्ञायकभाव ६

जीवादि पदार्थोंको जाननेवाला आत्माका भाव ज्ञायकभाव कहलाता है।

ज्ञेय-ज्ञायकभाव ९५

जिसे जाना जावे उसे ज्ञेय कहते हैं और जो जाननेवाला है उसे ज्ञायक कहते हैं।

ज्ञाननय २६६ (क)

जाननेपर बल देना।

तप २७३

इच्छाओंके निरोधको तप कहते हैं। इसके बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो भेद हैं। बाह्य तप अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेशके भेदसे छह प्रकारका है। और आभ्यन्तर तप प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यानके भेदसे छह प्रकारका है।

तीर्थंकर २६

धर्मकी आम्नायको चलानेवाले तीर्थंकर कहलाते हैं। ये प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीमें चौवीस-चौवीस होते हैं।

त्रिविध उपयोग ९५

मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति।

दर्शन २

निश्चयसे परपदार्थसे भिन्न और अपने गुणपर्यायों

गाथा

से अभिन्न आत्मा की श्रद्धा होना दर्शन या सम्यग्दर्शन है। व्यवहारसे जीवादि पदार्थोका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। दर्शनावरण कर्मके क्षय या क्षयोपशम से प्रकट होनेवाला सामान्यावलोकनरूप दर्शन इससे पृथक् गुण है।

द्रव्य ७६

जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जावे अथवा जो गुण और पर्यायोसे सहित हो उसे द्रव्य कहते है। द्रव्य छह हैं—१ जीव, २ पुद्गल, ३ धर्म ४ अधर्म, ५ आकाश और ६ काल।

द्वेष ५१

अप्रीतिरूप परिणाम

धर्म ३७

जीव और पुद्गलके चलनेमें सहायक द्रव्य।

धारणा ३०६

पञ्चनमस्कारादि बाह्य द्रव्यका आलम्बनकर चित्तको स्थिर करना धारणा है

नय १३

जो पदार्थके एक अंश—परस्पर विरोधी दो धर्मोमें से एक धर्मको ग्रहण करता है वह नय कहलाता है। इसके अध्यात्म ग्रन्थोमें निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो भेद किये गये है। तथा सामान्यतया द्रव्यानुयोगमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेद किये गये हैं। इन्ही दो नयोंके नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द और समभिरूढ भेद होते हैं। अन्य ग्रन्थकारोने निश्चय-नयके शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय इस प्रकार दो भेद किये है। तथा व्यवहारनयके सद्भुत और असद्भुतके भेदसे २ भेद कर उनके अनुपचरित और उपचरित भेद किये है। नयका विशिष्ट ज्ञान करनेके लिए आलापपद्धति और पञ्चाध्यायिका नयप्रकरण द्रष्टव्य हैं।

नवतत्त्व १३

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा बन्ध और मोक्ष ये नौ तत्व है इन्हीको नौ पदार्थ कहते हैं।

गाथा

निक्षेप १३

नय और प्रमाणके अनुसार प्रचलित लोकव्यव-हारको निक्षेप कहते हैं। इसके नाम, स्थापना, द्रव्य और भावकी अपेक्षा चार भेद हैं। इनका विस्तृत वर्णन कर्मकाण्ड अथवा सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकमें द्रष्टव्य है।

नि:शङ्कित अंग २२८

इहलोकभय, परलोकभय, अत्राणभय, अगुप्ति-भय, वेदनाभय, अकस्माद्भय और मरणभय इन सात भयोसे रहित होना नि:शङ्कित अंग है। इस अंगका धारक जीव उक्त सात भयोसे भीत होकर श्रद्धानसे विचलित नही होता।

नि:कांक्षित अंग २३१

कर्मफलकी इच्छा नही करना।

निंदा ३०६

आत्मसाक्षीपूर्वक दोषोको प्रकट करना निन्दा है।

निमित्त-नैमित्तिकभाव १००

जो कार्यकी सिद्धिमें सहायक होता है उसे निमित्त कहते हैं और निमित्तसे जो कार्य होता है उसे नैमि-त्तिक कहते है। निमित्तके साक्षात्-निमित्त और परम्परा-निमित्तकी अपेक्षा दो भेद हैं। कुम्भकार अपने योग और उपयोगका कर्ता है, यह साक्षात्-निमित्त है और कुम्भकार घटका कर्ता है, यह परम्परा-निमित्त है

निमित्तकारण ८२

जो उपादानकारणके द्वारा होनेवाली कार्यरूप परिणतिमें सहायक होता है उसे निमित्तकारण कहते हैं। जैसे घडाकी उत्पत्तिमें कुम्भकार आदि।

निर्जरा १९३

कर्मोका एकदेश क्षय होना निर्जरा है। इसके सविपाक और अविपाकके भेदसे दो भेद हैं।

निर्विचिकित्सा अंग २३१

जुगुप्सा नही करना।

निवृत्ति ३०६

बहिरङ्ग विषय-कषायादिकमें होनेवाली चेष्टासे चित्तकी प्रवृत्तिको रोकना निवृत्ति है।

गाथा

नोकर्म १९

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक और तैजस ये चार शरीर नोकर्म कहलाते है ।

पञ्चत्व ४३

मृत्यु । मृत्युके समय जीवका शरीर पञ्चभूतोमे बिखर जाता है । इसलिये पञ्चरूप हो जानेको मृत्यु कहते है ।

परसमय २

जो पुद्गलकर्म प्रदेशोमें स्थित है अर्थात् उन्हें आत्मरूप या आत्माके मानता है वह परसमय है ।

परिग्रह २०८

बाह्य पदार्थोंके ममत्वभावको परिग्रह कहते है । इसके अन्तरङ्ग और बहिरङ्गके भेदसे २ भेद हैं । अन्तरङ्ग १४ प्रकारका और बहिरङ्ग १० प्रकार है ।

परिहार ३०६

मिथ्यात्व तथा रागादिक दोषोंसे आत्माका निवारण करना परिहार हैं ।

पर्याय ७६

कालक्रमसे होनेवाली द्रव्यकी अवस्थाको पर्याय कहते हैं ।

पर्याप्त ६७

जिनकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण हो चुकती है उन्हें पर्याप्त कहते है ।

पुद्गल २

रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे सहित द्रव्य पुद्गलद्रव्य है । ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलद्रव्य ही है ।

प्रतिक्रमण ३८३

पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोसे अपनेको पश्चात्ताप करना ।

प्रतिक्रमण ३०६

किये हुए दोषोका निराकरण करना प्रतिक्रमण है

प्रज्ञा २९४

भेदज्ञान रूपबुद्धि ।

प्रतिसरण ३०६

सम्यक्चारित्रमें आत्माको प्रेरित करना प्रतिसरण है ।

गाथा

प्रत्याख्यान ३४

परका त्याग करना ।

प्रत्याख्यान ३८४

आगामी दोषोका त्याग करना ।

प्रत्यय ५१

आस्रवके कारण । मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग ।

प्रमत्त ६

प्रथमसे षष्ठगुणस्थान तकके जीव प्रमत्त कहलाते है ।

प्रभावना अंग २३६

विद्यारूपी रथपर आरूढ होकर जिनेन्द्रदेवके ज्ञान की प्रभावना करना ।

प्रमाण १३

जो पदार्थके परस्पर विरोधी दोनो धर्मोंको ग्रहण करता है उसे प्रमाण कहते है । प्रमाणनाम ज्ञानका है । इसके प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो भेद हैं । सर्वदेशप्रत्यक्ष और एकदेशप्रत्यक्षकी अपेक्षा प्रत्यक्षके दो भेद है । परोक्षप्रमाणके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, और आगम ये पांच भेद है । दूसरी विवक्षासे मति और श्रुत परोक्षप्रमाण हैं ।

प्राकरणिक १९७

विवाह आदि कार्योंके स्वामित्वको रखनेवाला व्यक्ति । इसे बुंदेलखण्डमें 'पगरेत' कहते हैं ।

बन्ध ७१

कषायसहित परिणामोके कारण आत्मप्रदेशोके साथ कर्मप्रदेशोका एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध होना बन्ध है ।

गाथा

भाव्यभावक भाव ९५

जिसका अनुभव किया जाता है उसे भाव्य और जो अनुभव करता है उसे भावक कहते है ।

भेदविज्ञान १९

शरीर तथा कर्मजन्य विकारीभावोंसे आत्माको पृथक् भेदविज्ञान जानना है ।

गाथा

मनःपर्ययज्ञान २०४

जो इन्द्रियोकी सहायताके बिना दूसरेके मनमें स्थित रूपी पदार्थोंको जानता है उसे मन पर्ययज्ञान कहते हैं। इसके २ भेद हैं—१ ऋजुमति और २ विपुलमति।

मार्गणास्थान ५३

जिनमें जीवकी खोज की जाये उसे मार्गणा कहते हैं। इसके गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कपाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सज्ञित्व और आहारके भेदसे चौदह भेद है।

मिथ्यात्व ८७

परपदार्थसे भिन्न आत्माकी प्रतीति नही होना मिथ्यात्व है। अथवा जीवादि सात तत्वों या नौ पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान नही होना मिथ्यात्व है।

मुक्ति २७३ (क)

जीवकी समस्त कर्मरहित शुद्ध अवस्था।

मेचक १६

आत्माकी कर्मोदयसे कलुषित अवस्थाको मेचक कहते है।

मोक्षपथ १५५

जीवादि पदार्थोंका श्रद्धानरूप सम्यक्त्व, उनके ज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान और रागादिक परित्यागरूप चारित्र ये तीनो ही मोक्षके पथ है।

योगस्थान ५३

काय, वचन और मनके निमित्तसे आत्मप्रदेशोंमें होनेवाले परिस्पन्दको योगस्थान कहते हैं।

राग ५१

प्रीतिरूप परिणाम

लवणखिल्यलीला १५

जिस प्रकार नमकडली सब ओरसे खारी है उसी प्रकार आत्मा सब ओरसे ज्ञायक स्वभाव है।

वर्ग ५२

अविभागप्रतिच्छेदोंके धारक कर्मपरमाणुओंको वर्ग कहते हैं।

गाथा

वर्गणा ५२

वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं।

वात्सल्य अंग २३५

साधुओंके मोक्षमार्गमें स्नेहभाव होना।

विकल्प १३

चारित्रमोहके उदयसे परपदार्थोंमें जो ममत्वभाव होता है उसे विकल्प कहते है।

विशुद्धिस्थान ५४

कपायके उदयकी मन्दतारूप स्थान।

वेद्य-वेदकभाव २१६

आत्मा जिस भावका वेदन करता है वह वेद्य है और वेदन करनेवाला आत्मा वेदक है।

व्यवहारनय ११

जो किसी अखण्डद्रव्यमें गुण-गुणीका भेद करता है। अथवा दूसरे द्रव्यके संयोगसे होनेवाले भावोको दूसरे द्रव्यका जानता है वह व्यवहारनय है।

व्रत २७३

हिंसादि पाँच पापोंके त्यागको व्रत कहते है। यह त्याग एकदेश और सर्वदेशकी अपेक्षा दो प्रकारका है। एकदेशत्यागको अणुव्रत और सर्वदेशत्यागको महाव्रत कहते हैं।

व्याप्य-व्यापकभाव ७५

जिसमें व्याप्त हुआ जावे उसे व्याप्य और जो व्याप्त हो उसे व्यापक कहते है। जैसे मिट्टीका घडा। यहाँ घडा व्याप्य है और मिट्टी व्यापक है। यह व्याप्य-व्यापकभाव एक ही द्रव्यमें बनता है।

शील २७३

इन्द्रियदमनको शील कहते हैं।

शुद्धनय ११

जो द्रव्यको अभेदरूपसे जानता है तथा परद्रव्यके सयोगसे होनेवाले भावको उस द्रव्यका स्वभाव नहीं समझता वह शुद्धनय है। इसीका नाम निश्चय नय है।

	गाथा
शुद्धि	३०६

गुरुके द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्तको धारण करना शुद्धि है।

श्रुतज्ञान — २०४

मतिज्ञानके द्वारा जाने हुए पदार्थको विशेषतासे जानना श्रुतज्ञान है। इसके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मकके भेदसे २ भेद हैं।

श्रुतकेवली — १

द्वादशाङ्गके ज्ञाता मुनि। ये मुनि छठवें गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक होते हैं। श्रुतकेवलीका लक्षण ९-१० गाथामें देखें।

समय — १

आत्मा, अथवा जीवाजीवादि समस्त पदार्थ।

समयप्राभृत — १

जीवका निरूपण करनेवाला शास्त्र अथवा समस्तपदार्थोंका सार—जीवतत्व।

समिति — २७३

प्रमादरहित प्रवृत्तिको समिति कहते हैं। इसके पाँच भेद है–१ ईर्या, २ भाषा, ३ एषणा, ४ आदाननिक्षेपण और ५ प्रतिष्ठापन।

सर्वज्ञ — २४

समस्त द्रव्य तथा उनकी अनन्तानन्त पर्यायोको जाननेवाला सर्वज्ञ कहलाता है।

संकल्प — १३

दर्शनमोहके उदयसे परपदार्थोंमें जो आत्मबुद्धि होती है उसे संकल्प कहते हैं।

संक्लेशस्थान — ५४

कषायके उदयकी तीव्रताके स्थान।

संयमलब्धिस्थान — ५४

चारित्रमोहके विपाककी क्रमसे निवृत्ति होनेरूप स्थान।

	गाथा
संवर	१८१

नवीन कर्मोंका नही आना संवर है।

संस्थान — ५०

आकृति। इसके समचतुरस्रसंस्थान आदि ६ भेद है।

संहनन — ५०

शरीरगत हड्डियोका विन्यास। इसके वज्रवृषभनाराचसंहनन आदि ६ भेद हैं।

सिद्ध — १

जिनकी आत्मासे समस्त कर्मोंका सम्बन्ध सदाके लिये छूट जाता है वे सिद्ध कहलाते है। ये सिद्ध लोकके अग्रभागमें तनुवातवलयसम्बन्धी उपरितन ५२५ धनुषके क्षेत्रमें रहते है।

स्थितिबन्धस्थान — ५४

भिन्न-भिन्न स्वभाववाली कर्मप्रकृतियोंका कालान्तरमें स्थित रह सकना।

स्थितीकरण — २३४

उन्मार्गमें जाते हुए अपने आपको तथा परको स्थिर करना।

स्पर्द्धक — ५२

वर्गणाओंके समूहको स्पर्द्धक कहते हैं।

संयम — २६६ (क)

इन्द्रिय-मनोनिग्रह और प्राणिरक्षण।

स्याद्वाद — २४६, २६६, २६८ (क)

स्यात् (कथंचित्) की अपेक्षासे कथन करना। इसे अपेक्षावाद भी कहते है।

स्याद्वादशुद्धि — २६४ (क)

एकान्तका निराश करके अनेकान्तका प्रतिपादन करना।

स्वसमय — २

जो अपने दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वभावमें स्थित है उसे स्वसमय कहते हैं।